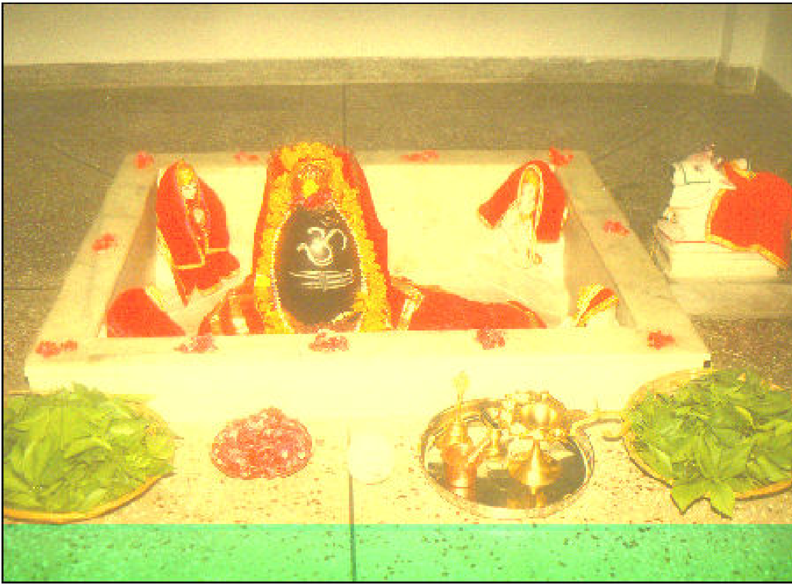
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

कैलासविद्याप्रकाशिकासत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्याद्वयोपेता

–स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्



समर्पणम्.........

ॐ श्रीगोकुलधाम्नः परमाधिष्ठातृदेवस्य भगवतः
श्रीगोकुलेश्वरमहादेवस्य करसरोजयोः
सादरं समर्पयति

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः
श्रीगोकुलधाम कनखलः
हरिद्वारः (उत्तराखण्डः)

अनन्त श्रीविभूषित आ.म.मं.श्रीमत् स्वामिविद्यानन्दगिरिजी महाराज



दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत् तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामस्मसारम्।।
न स्पर्शस्त्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीय शिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरूपमस्तेन चालौकिकोऽपि।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस—
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरि—
शिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया कैलासविद्याप्रकाशिकया
सत्यानन्दप्रबोधिकया च समलङ्कृता

प्रथमो भागः

सम्पादकः प्रकाशकश्च
स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

पुस्तकप्राप्तिस्थान

श्रीगोकुलधाम पहाड़ीबाजार, कनखल,
हरिद्वार (उत्तराखण्ड) फोन : ०१३३४—२४५१९४
एवम्
श्रीशिवमठधाम
बरनाला (सेखाफाटक रेलवेलाइन के पास)
संगरुर (पंजाब)
एवम्
स्वामिभोलानन्दविद्याभवन बी ८/४१ बाड़ागम्भीरसिंह
वाराणसी (उ.प्र.)

प्रथम संस्करण — १०००
विक्रमी सम्वत् — २०६४— (दीपावली)
शाङ्कराब्द — १२२०
दिनाङ्क — ०९—११—२००७
मूल्य — १५०.००

-: सम्पादक एवं प्रकाशक :-

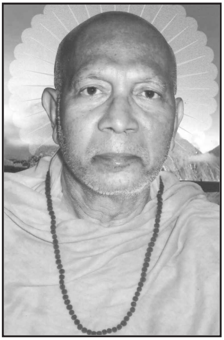
स्वामिविशुद्धानन्दगिरि

श्रीगोकुलधाम पुजारीगली (नयाघाट)
पहाड़ी बाजार, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)(पिन—२४९४०८)

(अंशिका कम्प्यूटर्स, कनखल-हरिद्वार, मो.-9411371487)

ॐ श्रीकाशीविश्वनाथो विजयतेतराम्

भूमिका



(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज
—वेदान्ताचार्य, भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष)

आदौ वाग्भवमिन्दुबिन्दुमधुरं झान्ते च कामात्मकम्
योगान्तेकषयोस्तृतीयमिति ते बीजत्रयं ध्यायता।
सार्द्धं मातृकयाविलोमविषमं सन्धाय बन्धच्छिदा,
वाचान्तर्गतया महेश्वरि मया मात्राशतं जप्यते।।

अद्वैतचिन्तन भारतीय वाङ्मय की एक महत्वपूर्ण देन है। आध्यात्मिकचिन्तन के सभी प्रकारों में अद्वैतचिन्तन की भरपूर झलक मिलती है। श्रुतिसम्मत अद्वैतसिद्धान्त के प्रबल प्रचारक एवं पोषक जगद्गुरु भगवान् आदिश्रीशङ्कराचार्य जी थे। आप के पश्चात् भी अनेक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य हुए जिन्होंने अद्वैतसिद्धान्त का प्रचार—प्रसार किया। उनमें से एक प्रसिद्ध नाम आचार्यप्रवर श्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वती जी का है। आपके विषय में प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि आप मूलतः बङ्ग देश के थे। आपने अपने समय के प्रसिद्ध न्यायाचार्य श्रीमथुरानाथ तर्कवागीश से न्याय का गहन अध्ययन किया। इसके पश्चात् आप अद्वैतसिद्धान्त का अवगाहन करने की इच्छा से भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथ जी की पावन नगरी काशी (वाराणसी) आ गये। जिस काशी की अद्भुत महिमा का वर्णन करते हुए आचार्यप्रवर श्रीश्रीहर्ष जी कहते हैं—

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्रस्थितिर्मखभुजां भुवनेनिवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक्।।

(काशी में निवास करने वाला व्यक्ति पृथ्वीलोक में निवास नहीं करता है, अपितु काशी में रहना देवलोक में वास करना है। इसलिए काशी तीर्थ में शरीर का त्याग करने वालों को मुक्ति मिलती है, अन्यथा मुक्ति से अतिरिक्त स्वर्ग में श्रेष्ठ कौन पद है जो अधिक आनन्ददायक हो सकता है।) ऐसी पावन नगरी में निवास करते हुए आचार्यप्रवर श्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी ने दण्डिस्वामिश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीजी से अद्वैतसिद्धान्त का गहन अध्ययन किया और बाद में उन्हीं से सन्यासदीक्षा लेकर श्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वती के रूप में विद्वद् मण्डली के अग्रगण्य और अद्वैतवाद के सुदृढ़स्तम्भ बने रहे। आप की नव्यन्यायादि में अप्रतिहत गति थी। जिसका सङ्केत इन पंक्तियों से भी मिलता है—

नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ। चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः।।

आप के द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें प्रमुख हैं— अद्वैतसिद्धि, श्रीमद्भगवद्गीता पर गूढ़ार्थदीपिका, महिम्नस्त्रोत्रव्याख्या, वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु, भक्तिरसायन, अद्वैतरत्नरक्षण, सारसंग्रह आदि हैं। इन ग्रन्थों में से सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है— अद्वैतसिद्धि। अद्वैतसिद्धि

विषयप्रतिपादन की दृष्टि से अद्वैतमत का एक वादग्रन्थ है। इसमें विपक्षियों के सिद्धान्तों का खण्डन पूर्वक अद्वैतसिद्धान्त का मण्डन किया गया है। माध्व विद्वान् व्यासतीर्थ द्वारा रचित न्यायामृत ग्रन्थ का यह खण्डन ग्रन्थ है। न्यायामृत ग्रन्थ के रचयिता व्यासतीर्थ ने अपने ग्रन्थ में अनेक युक्तियों के द्वारा अद्वैतसिद्धान्त पर आक्षेप किया था। इतना ही नहीं इन्होंने अद्वैतवेदान्त के पूर्व विद्वानों के ग्रन्थों से अनेक उदाहरण देकर उनके आपस में मतभेद की कल्पना करने का प्रयास भी किया। आचार्यप्रवरश्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वती जी के पूर्व तक न्यायामृत के तथ्यों का पूर्णरूप से खण्डन अन्य किसी विद्वान् ने नहीं किया था। अत: आचार्यप्रवरश्रीमत्स्वामिमध ुसूदनसरस्वती जी ने अपनी अद्वैतसिद्धि में न्यायामृत के सभी खण्डन योग्य बातों की पूर्णरूप से आलोचना की।

न्यायामृत में मुख्यत: उन बातों का उल्लेख है जिन्हें उनके पूर्ववर्ती वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक एवं जयतीर्थ ने सङ्ग्रह किया था। विशिष्टाद्वैत वादी वेङ्कटनाथ ने अपने ''शतदूषणी'' नामक ग्रन्थ में अद्वैतमत के ६६ दोषों का उद्भावन किया था और माध्व सम्प्रदाय के जयतीर्थ ने अपने ''वादावली'' नामक ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के ''प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका'' (चित्सुखी) नामक ग्रन्थ की समालोचना करते हुए ३४ दोषों का उद्भावन किया था। इन दोनों ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री से प्राप्त सामग्री को अपनी वाक्शक्ति एवं प्रतिभा से परिपक्व कर व्यासतीर्थ ने न्यायामृत का प्रणयन किया था। अत: इतने महत्वपूर्णग्रन्थ की समालोचना कर उनकी कमियों को दर्शाना अद्वैतसिद्धान्तवालों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया था; जिसे आचार्यप्रवरश्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी ने सहजतापूर्वक पूर्णरूप से निभाया।

यद्यपि ''अद्वैतसिद्धि'' ''न्यायामृत'' ग्रन्थ का ही क्रमवार पर्यालोचिका है, फिर भी आचार्यप्रवरश्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वती जी ने यह कहीं पर भी मुखर नहीं होने दिया कि वे स्वपक्षस्थापना की अपेक्षा किसी खास ग्रन्थोक्त परपक्ष खण्डन को ज्यादा महत्व दे रहे हैं। ग्रन्थविषय की गम्भीरता को दृष्टिपथ में रखते हुए आप ने यही कोशिश किया कि वेदानुकूल सिद्धान्तों का रक्षण हो और तत्प्रतिकूल तथ्यें का खण्डन हो। इस तरह यह कहा जा सकता है कि आपने सनातनवैदिकसत्य की संस्थापना को महत्व दिया।

अद्वैतसिद्धि के लेखन के बाद अनेक अद्वैतवादी विद्वानों ने अद्वैतसिद्धि पर पाण्डित्यपूर्ण टीकाएँ की। इनमें से मुख्य हैं– श्री वलभद्रभट्टाचार्य द्वारा प्रणीत ''सिद्धि व्याख्या''। इस टीका में ग्रन्थ का हृदय प्रकट करते हुए ''न्यायामृत'' की तरङ्गिणी टीका की आलोचना भी प्रस्तुत की गयी है। एवं श्री गौड़ब्रह्मानन्दसरस्वतीजी द्वारा विरचित ''गुरुचन्द्रिका'' और ''लघुचन्द्रिका'' टीका हैं। जिसमें सुदृढ़ तर्कों के द्वारा अद्वैतसिद्धि के वादों की पुष्टि की गयी है। श्रीयोगेन्द्रनाथवागची की बालबोधिनि व्याख्या भी अद्वैतसिद्धि के कुछ भाग पर उपलब्ध है। अद्वैतसिद्धि की हिन्दी टीकाओं में ब्र. श्रीरामेश्वरदत्तशर्माजी द्वारा विरचित सरला व्याख्या और उदासीन सम्प्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् श्रीमत्स्वामियोगीन्द्रानन्दजी महाराज द्वारा निर्मित प्रौढ़ हिन्दी भाषा में अद्वैतसिद्धिव्याख्या है। वर्तमान समय में स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के द्वारा सरल हिन्दी भाषा में प्रस्तुत सत्यानन्दप्रबोधिका नामक टीका भी काफी उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी हम आशा करते हैं। स्वामिविशुद्धानन्दगिरि की इस टीका में कुछ विशेषताएँ हैं– जैसे वर्तमान समय में पूर्वमीमांसादर्शन का अध्ययन अध यापन प्राय: लुप्त हो गया है। अत: जहाँ पर पूर्वमीमांसा दर्शन सम्बन्धी प्रसङ्ग आते हैं, वहाँ पर सामान्य लोगों को समझने में काफी परेशानी का सामना करना पड़ता है। ऐसे स्थलों पर

व्याख्याकार ने सरल शब्दों में विस्तृत चर्चा की है। जिससे सरलता पूर्वक उक्त प्रसङ्गों को समझने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार जहाँ पर अनुमान आये हैं वहाँ पर दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय तथा पक्ष में हेतु का समन्वय बहुत ही सरल प्रकार से इस टीका में प्रस्तुत किया गया है। अद्वैतसिद्धि एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। यदि इसकी टीका भी पौढ़ हिन्दी में लिखी जाती है तो सामान्य लोगों को समझने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए टीकाकार ने अति सरल हिन्दी में टीका लिखी है। जिससे सामान्यजिज्ञासु भी समझ सके। प्रकृत ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रश्नोत्तरी को संलग्न किया गया है, जो परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

अद्वैतसिद्धि के इस प्रथम परिच्छेद में जिन प्रसङ्गों पर यह टीका लिखी गई है, उन प्रसङ्गों का संक्षेप से सार यह है—

(१) जगत् के मिथ्यात्व में विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन

व्यावहारिकप्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि के पश्चात् ही अद्वैत की सिद्धि हो सकती है, अत: सबसे पहले व्यावहारिक प्रपञ्च के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करना चाहिए। जिस कथा में मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया जाता है, उसके आरम्भ में मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्तिवाक्य का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए, जिससे वादी, प्रतिवादी, मध्यस्थ अथवा सभा के सदस्यवृन्द, जिसके भी मन में संशय है, उस संशय को कथा के द्वारा निवृत्त किया जा सके। मिथ्यात्व में विप्रतिपत्ति इस प्रकार है। ब्रह्मप्रमा से भिन्न किसी से जिसका बाध नहीं होता है, सत्त्व के रूप से प्रतीत होने के जो योग्य है और ब्रह्म से जो भिन्न है (ऐसा व्यावहारिक जगत् पक्ष है) उसमें मिथ्यात्व (साध्य) है अथवा नहीं। प्रातिभासिक पदार्थों में सिद्धसाधनदोष का निवारण करने के लिए पक्ष का प्रथमविशेषण दिया गया है। शेष दोनों विशेषण तुच्छ और ब्रह्म में बाध दोष को वारण करने के लिए दिये गये हैं।

(२) जगत् के मिथ्यात्व में अनुमान

व्यावहारिक जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए सिद्धान्ती इस प्रकार से अनुमान प्रस्तुत करते हैं:— व्यावहारिक जगत् मिथ्या है क्योंकि उसमें दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व है, जैसे कि शुक्तिरूप्य में।

(३) प्रथममिथ्यात्व पर विचार

उक्त अनुमान के साध्य—मिथ्यात्व का लक्षण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पञ्चपादिकाकार ने कहा है:— सत्त्व और असत्व का अधिकरण जो न हो वह मिथ्या है। अर्थात् सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्व का अत्यन्ताभाव इन दो धर्मों के मिलित रूप को मिथ्यात्व कहा जाता है। यदि कहें कि जहाँ सत्त्व का अत्यन्ताभाव रहता है। वहाँ असत्व का रहना अनिवार्य है और जहाँ असत्त्व का अत्यन्ताभाव रहता है वहाँ सत्त्व का रहना अनिवार्य है, क्योंकि सत्त्व को असत्त्वाभावरूप और असत्त्व को सत्त्वाभावरूप माना जाता है। अत: सत्त्व और असत्त्व दोनों का अत्यन्ताभाव एकत्र मानने पर व्याघातदोष आयेगा। तो इसका समाधान यह है कि त्रिकालाबाध्यत्व अद्वैतमत में सत्त्व है और तादृश सत्त्व का अभाव असत्त्व नहीं है। किन्तु किसी आश्रय में जो सत्त्व के रूप में प्रतीयमान न हो उसको असत् कहा जाता है। अथवा सत् का भेद और असत् का भेद इन दोनों धर्मों के मिलितरूप को मिथ्यात्व मानने में भी कोई दोष नहीं है। अथवा सत्त्वात्यन्ताभाव से विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव को भी मिथ्यात्व माना जा सकता

है। ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण सत्त्व और असत्वरूप धर्मद्वय के ब्रह्म में न रहने से उक्त लक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ब्रह्म जब निर्धर्मक है तब सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय भी ब्रह्म में नहीं रह सकते हैं। अत: निर्धर्मक ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(४) द्वितीयमिथ्यात्व पर विचार

जिस अधिकरण में जो वस्तु ज्ञात है उसी अधिकरण में उस वस्तु का तीनों काल में न रहना ही उस वस्तु का मिथ्यात्व है। ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव को यदि पारमार्थिक माना भी जाय तो भी अद्वैतसिद्धान्त की हानि नहीं होगी क्योंकि अद्वैतमत में अत्यन्ताभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है और प्रकृत में वह अधिकरण ब्रह्म ही है। उक्त अत्यन्ताभाव को व्यावहारिक मानने पर भी कोई दोष नहीं। यदि शङ्का करें कि व्यावहारिक अत्यन्ताभाव बाध्य होने के कारण अपने प्रतियोगी के पारमार्थिकसत्त्व का विरोध नहीं कर पायेगा। तो इसका समाधान यह है कि यदि अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी की अपेक्षा से न्यूनसत्तावाला हो तभी वह अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी के पारमार्थिकसत्ता का अविरोधी होता है। प्रकृत में अत्यन्ताभाव और प्रतियोगी दोनों व्यावहारिक होने के कारण समसत्तावाले हैं। यद्यपि प्रपञ्च न तो ब्रह्मरूप अधिकरण में रहता है और न तो अन्यत्र ही रहता है, अर्थात् कही भी नहीं रहता है तो भी प्रपञ्च के असत् होने की आपत्ति इसलिए नहीं आती है कि प्रपञ्च का ब्रह्मरूप अधिकरण में सत्त्व के रूप से प्रतीति होती है, जब कि असत् पदार्थ की वैसी प्रतीति किसी भी अधिकरण में नहीं होती है।

(५) तृतीय मिथ्यात्व में विचार

ज्ञान से जो बाध्य है वह मिथ्या है। अर्थात् ज्ञान से जिसका स्वरूप से या कारणरूप से अवस्थिति न रहती हो वह मिथ्या है। अत: विवरणाचार्य ने कहा है– अज्ञान की प्रविलीन या वर्तमान स्वकार्य के साथ ज्ञान के द्वारा निवृत्ति को बाध कहा जाता है। वार्तिककार ने भी कहा कि तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यजन्य तत्त्वज्ञान से अज्ञान अपने कार्य से साथ न था, न रहेगा। वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्व के रूप से ज्ञान के द्वारा जिसका बाध होता है वह मिथ्या है। इस प्रकार लक्षण करने से उत्तरवर्ति आत्मगुणत्व के रूप से उत्तरज्ञान के द्वारा निवर्त्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति नहीं होगी और स्मृतित्व के रूप से ज्ञाननिवर्त्य संस्कार में भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि स्मृति से संस्कार की निवृत्ति होती है ऐसा मानने में कोई युक्ति भी नहीं है। अपितु स्मृति उत्पन्न होने पर संस्कार पूर्व की अपेक्षा से अधिक दृढ़ होता है यही अनुभवसिद्ध है।

(६) चतुर्थमिथ्यात्व पर विचार

जिस अधिकरण में जो वस्तु नहीं है उसी अधिकरण में यदि वस्तु प्रतीयमान हो तो उस वस्तु को मिथ्या कहा जाता है। यदि कोई प्रश्न करता है कि जिस अधिकरण में घट संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहता है उसी अधिकरण में घट के अत्यन्ताभाव का रहना सम्भव नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे काल में घट और घट का अत्यन्ताभाव एक साथ रहते हैं, उसी प्रकार कपालादि देश में भी घट और घट के अत्यन्ताभाव का रहना सम्भव हो ही सकता है। मिथ्यात्वानुमिति और श्रुत्यादिप्रमाणों के बल पर वैसा माना ही जा सकता है। अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में सत्त्व के रूप से प्रतीयमान होना ही मिथ्यात्व है, इस प्रकार से इस लक्षण का अर्थ विवक्षित होने के कारण असत् पदार्थों में मिथ्यात्व के इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(७) पञ्चममिथ्यात्व पर विचार

दोष से असहकृत ज्ञानकरण के द्वारा सिद्ध पदार्थ से जो भिन्न हो और सत्त्वेन प्रतीयमान हो उस को मिथ्या कहा जाता है। सत्त्वेन प्रतीयमानत्व का अर्थ—सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व है। वह धर्म न तो निर्धर्मक ब्रह्म में रहता है, न असत् में। अत: ब्रह्म या असत् में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(८) मिथ्यात्व के मिथ्यात्व पर विचार

प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त प्रपञ्चमिथ्यात्व को मिथ्या मानने पर प्रपञ्च में सत्यत्व की सिद्धि हो जाएगी और मिथ्यात्व को सत्य मानने पर मिथ्यात्व के जैसे ही प्रपञ्च को भी सत्य माना जा सकेगा। इसका उत्तर यह है कि शुक्ति में रहने वाले रजतत्व और रजतत्वाभाव इन दोनों में से रजतत्व ही मिथ्या है, रजतत्वाभाव मिथ्या नहीं। क्योंकि मिथ्यात्वावच्छेदक रजतत्वत्व केवल रजतत्व में ही है, रजतत्वाभाव में नहीं, परन्तु प्रकृत में प्रपञ्च और प्रपञ्चमिथ्यात्व दोनों ही मिथ्या इसलिए हैं कि मिथ्यात्वावच्छेदक दृश्यत्वादि प्रपञ्च और प्रपञ्चमिथ्यात्व दोनों में रहते हैं।

(९) दृश्यत्व हेतु पर विचार

दृश्यत्व हेतु में दोष देने के विचार से पूर्वपक्षी कह रहा है कि दृश्यत्व का क्या अर्थ सिद्धान्ती को अभिप्रेत है— वृत्तिव्याप्यत्व अथवा फलव्याप्यत्व अथवा उभयसाधारण, अथवा कदाचित्कथञ्चिच्चिद्विषयत्व अथवा अपने व्यवहार में अपने से भिन्न ज्ञान की नियमपूर्वक अपेक्षा अथवा अस्वप्रकाशत्व। इनमें से सिद्धान्ती के द्वारा प्रथम पक्ष को मानने पर आत्मा को वेदान्तजन्यवृत्ति का व्याप्य मानने के कारण आत्मा में व्याभिचार होगा। इसी कारण से तृतीयपक्ष भी माना नहीं जा सका है। द्वितीयपक्ष मानने पर नित्यातीन्द्रिय पदार्थों में फलव्याप्यता न रहने के कारण भागासिद्धिदोष होगा और शुक्तिरूप्य में फलव्याप्यता न रहने के कारण साधनविकलता भी होगी। चतुर्थ पक्ष स्वीकार करने पर ब्रह्म पूर्व में ज्ञात नहीं था, इदानीं वेदान्त से ज्ञात है इस प्रकार अनुभव होने के कारण आत्मा में व्यभिचार होगा। पञ्चमपक्ष स्वीकार करने पर ब्रह्म में अद्वितीयत्वादि विशिष्ट व्यवहार में श्रुतिजन्यज्ञान की नियमपूर्वक अपेक्षा होनें के कारण ब्रह्म में व्यभिचार होगा। अन्तिमपक्ष मानने पर दृष्टान्त में साधनविकलता होगी, क्योंकि स्वप्रकाशत्व का अर्थ है अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व, वह शुक्तिरूप्य में है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि फलव्याप्यत्व को छोड़कर और किसी पक्ष में कोई दोष नहीं है। क्योंकि शुद्धब्रह्म वृतिव्याप्य नहीं, किन्तु उपहितब्रह्म वृतिव्याप्य है— वह मिथ्या ही है, अत: प्रथमपक्ष में कोई दोष नहीं है। प्रथमपक्ष का समर्थन हो जाने से तृतीयपक्ष का भी समर्थन हो गया। चतुर्थपक्ष में चिद्विषयत्व माने चित्सम्बन्धित्व जो कि चित् में नहीं है, क्योंकि भेद में ही सम्बन्ध होता है अत: ब्रह्म में व्यभिचारदोष नहीं होगा, पञ्चमपक्ष में ब्रह्म का स्फुरणरूप व्यवहार में अपने से अतिरिक्त किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। अत: नियतिपद के द्वारा व्यभिचार का वारण हो जायेगा। अन्तिम पक्ष में स्वप्रकाशत्व का अर्थ है— अपने अपरोक्षत्व में अपने से भिन्न किसी की अपेक्षा न रखना, वह अपरोक्षस्वरूप ब्रह्म में है ही। अत: उससे भिन्न में दृश्यत्व मानने पर कोई दोष नहीं है।

(१०) जड़त्व हेतु पर विचार

ज्ञान से भिन्न को जड़ कहा जाता है इस पक्ष में शङ्का होती है कि यदि वृत्ति से उपरक्त

चैतन्य ज्ञानशब्दार्थ हैं तो शुद्धचैतन्य ज्ञान से भिन्न होने के कारण शुद्धचैतन्य में व्यभिचारदोष होगा। जिसमें आत्मत्व नहीं है वह जड़ होता है ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आत्मत्व का निरूपण सम्भव नहीं है। आत्मत्व को जाति नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मा एक है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अर्थोपलक्षितप्रकाश को ज्ञान कहा जाता है, मोक्षकालीन शुद्धब्रह्म भी अर्थोपलक्षितप्रकाशस्वरूप होने के कारण शुद्धब्रह्म में व्यभिचार नहीं होगा।

(११) परिच्छिन्नत्व हेतु पर विचार

परिच्छिन्नत्व तीन प्रकार का होता है। जिसका अत्यन्ताभाव होता है वह देशतः परिच्छिन्न है। जिसका ध्वंस होता है वह कालतः परिच्छिन्न है। जिसका भेद कहीं रहता है, वह वस्तुतः परिच्छिन्न है। अत्यन्ताभाव और भेद उभयत्र प्रतियोगिसमसत्ताकत्व विशेषण के दे देने से आत्मा में व्यभिचार नहीं होगा। श्रुति के अनुसार आकाशादि जन्य है अतः उनका भी ध्वंस होता है, इसलिए आकाशादि में ध्वंसप्रतियोगित्व असिद्ध नहीं हैं। आनन्दबोधाचार्य के द्वारा किया गया यह अनुमान भी निर्दुष्ट है कि– घट पटादि अपने साथ तादात्म्य से भासने योग्य वस्तु में कल्पित है, क्योंकि वे वस्तुतः परिच्छिन्न है, जैसे सर्पमाला आदि अपने साथ तादात्म्येन भासने योग्य रज्जु में कल्पित है। इसी प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार का यह अनुमान भी निर्दुष्ट है कि– घटादि सद्रूप में कल्पित है, क्योंकि घटादि प्रत्येकपदार्थ सत् के साथ तादात्म्यापन्न होकर प्रतीयमान है जैसे बिम्ब चन्द्र से तादात्म्यपन्न होकर प्रतीयमान प्रत्येक प्रतिबिम्बचन्द्र बिम्वचन्द्र में कल्पित है।

(१२) अंशित्व हेतु पर विचार

चित्सुखाचार्य का यह अनुमान भी निर्दुष्ट है कि– यह पट अपने उपादानीभूत तन्तु में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अंशित्व रहने से, अन्य अंशियों के जैसे। यहाँ शङ्का होती है कि कार्यकारण में अभेद होने के कारण, कारण में कार्य नहीं रहता है, अतः सिद्ध– साधनदोष है। इसका उत्तर यह है कि अभेद में कार्यकारणभाव ही नहीं बन सकता है। अतः कार्यकारण में कथञ्चिद् भेद मानना ही होगा।

(१३) दृश्यत्वादि हेतुओं के सोपधिकत्व पर विचार

पूर्वपक्षी दृश्यत्वादि हेतुओं में यह उपाधि देता है कि– स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व अथवा स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ब्रह्मज्ञानमात्र से बाध्य देहात्म्यैक्य में साध्य है, किन्तु उपाधि नहीं, अतः उपाधि में साध्यव्यापकता नहीं होनें से उपाधि दुष्ट है। उपाधि देने वाले की ओर से यह जो अनुमान होगा कि वियदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्– यहाँ हेतु में स्वबाधकाभिमताबाध्य इस विशेषण भाग के न देने पर भी व्याप्ति में कोई व्यभिचार नहीं आता है। अतः व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण उक्त उपाधि दुष्ट है। इसी प्रकार प्रातिभासिकत्व को भी उपाधि नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ है ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व, जो कि मिथ्याभूत देहात्मैक्य में रहने के कारण साध्यव्यापक नहीं है।

(१४) दृश्यत्वादि हेतुओं के आभाससाम्य पर विचार

पूर्वपक्षी के द्वारा अनुमानाभास प्रस्तुत किया जा रहा है– विमतं प्रातिभासिकम्,

दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत् अथवा ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, असद्विलक्षणत्वाद् वा शुक्तिरूप्यवत्। परन्तु ये अनुमान प्रतिकूलतर्क से पराहत है, क्योंकि जगत में व्यावहारिकसत्त्व न मानने से जगत् का व्यवहार ही उपपन्न नहीं होगा और ब्रह्म को मिथ्या मानने से शून्यवाद की आपत्ति आयेगी।

(१५) प्रत्यक्षयोग्य सत्त्व पर विचार

सिद्धान्ती का उक्त मिथ्यात्वानुमान ''सन् घटः'' इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित है– यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है। क्योंकि पूर्वपक्षी सत्त्व का ऐसा लक्षण बतला नहीं सकता है जो चक्षुरादि प्रत्यक्षयोग्य हो और मिथ्यात्वविरोधी हो। प्रमाविषयत्व, प्रमाविषयत्वयोग्यत्व अथवा भ्रमाविषयत्व को सत्व का लक्षण नहीं माना जाता सकता है। क्योंकि यह लक्षण चक्षुरादि के अयोग्य भ्रम और प्रमा से घटित है। आत्माश्रयदोष से दुष्ट होने के कारण सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्व यह भी लक्षण मान्य नहीं हो सकता। सत्ताजाति, अर्थक्रियाकारित्व अथवा असद्वैलक्षण्य को भी सत्व का लक्षण मानने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार के सत्त्व मिथ्यात्व के विरोधी नहीं हैं।

(१६) सन् घटः इस प्रत्यक्ष में अधिष्ठान ब्रह्म का अनुवेध

सन् घटः इस प्रत्यक्ष में 'सत्' इस प्रकार से अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म ही भासता है, न कि घटगत सत्त्व। प्रश्न होता है कि चाक्षुषज्ञान में रूपादिहीन ब्रह्म का स्फुरण नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि रूपादिहीनकाल के जैसे ब्रह्म सर्वेन्द्रियग्राह्य होने के कारण चाक्षुषज्ञान में भास सकता है।

(१७) प्रत्यक्ष का युक्ति से प्राबल्य पर विचार

श्रुति और अनुमान के साथ विरोध होने के कारण प्रत्यक्ष का प्रामाण्य निश्चित नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षत्वेन प्रत्यक्ष से अनुमान का बाध होना सम्भव नहीं। चन्द्र की प्रादेशिकता के प्रत्यक्ष में आगम और अनुमान से विरोध होने के कारण अप्रामाण्य है यह सर्वमान्य है। जहाँ वह्नि की उष्णता के त्वाचप्रत्यक्ष के द्वारा वह्नि के शैत्यानुमान का बाध होता है, वहाँ भी उपजीव्यत्येन ही त्वाचप्रत्यक्ष प्रबल है, न कि जात्या (प्रत्यक्षत्वेन), क्योंकि त्वाचप्रत्यक्ष के बिना दृष्टान्त में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। शीघ्रगामी होने के कारण भी प्रत्यक्ष का प्राबाल्यमान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि जो प्रमाण परीक्षित है मन्थर गामी होने पर भी उसका प्राबल्य स्वीकार्य है।

(१८) प्रत्यक्ष के उपजीव्यत्वेन प्राबल्य पर विचार

प्रत्यक्ष का जात्या प्राबल्य न मानने पर भी उपजीव्यत्वेन प्राबल्य मानना चाहिए, पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान यह है कि यद्यपि अनुमान और आगम के लिए अपेक्षित अशेष अर्थों का ग्राहक होने के कारण प्रत्यक्ष उपजीव्य है, तथापि उपजीव्य प्रत्यक्ष के साथ प्रकृत में श्रुति या मिथ्यात्वानुमान का कोई विरोध ही नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष का जो व्यावहारिक स्वरूप उपजीव्य है उसका श्रुति अथवा मिथ्यात्वानुमान विरोध ही नहीं करते हैं। प्रत्यक्ष के जिस पारमार्थिक स्वरूप के साथ श्रुत्यादि का विरोध है वह उपजीव्य नहीं होता है। **(१९) प्रत्यक्ष के अनुमानबाध्यत्व पर विचार**

विपक्ष बाधकतर्क की सहायता से अनुमान भी प्रत्यक्ष का बाधक होता है। प्रश्न– ऐसा मानने पर ''औदुम्बरी स्पृष्ट्वा उद्गायेत्'' इस श्रुति का ग्राहक श्रोत्रजप्रत्यक्ष का ''औदुम्बरी सर्वा

वेष्टयितव्या'' इस स्मृतिरूप सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमान के द्वारा बाध होना चाहिए था, जो मीमांसाशास्त्रविरुद्ध है। उत्तर— यहाँ प्रत्यक्ष का विषय है श्रुति, और अनुमान का विषय है स्मृति, अत: प्रत्यक्ष और अनुमान में बाध्यबाधकभाव (यहाँ मीमांसाशास्त्र का विचार्य विषय) ही नहीं है। अत: मीमांसाशास्त्र से विरोध नहीं दिखलाया जा सकता है।

(२०) प्रत्यक्ष के शब्दबाध्यत्व पर विचार

सिद्धान्ती का कथन है परीक्षित शब्द से भी प्रत्यक्ष का बाध होता है। शङ्का— तब तो ''तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चि:'' इस अर्थवाद का प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने के कारण अप्रामाण्य प्राप्त होने पर मीमांसाशास्त्र में गौणार्थक नहीं कहना चाहिए था। अपितु श्रुति विरोध के कारण प्रत्यक्ष का ही अप्रामाण्य मानकर अर्थवाद को मुख्यार्थक कहना चाहिए था। उत्तर— यहाँ प्रत्यक्ष परीक्षित होने के कारण प्रत्यक्षविरुद्धार्थग्राही अर्थवाद को गौणार्थक व्यवहारदशा में मानना उचित ही है। परन्तु प्रकृत में अद्वैतश्रुति का किसी परीक्षितप्रमाण के साथ विरोध न होने के कारण मुख्यार्थक मानना ही उचित है। वही वाक्य अमुख्यार्थक होता है जो अन्यशेष हो और वह वाक्य मुख्यार्थक होता है जो अनन्यशेष हो। अद्वैतवाक्य अन्यशेष न होने के कारण मुख्यार्थक है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि वह वाक्य अमुख्यार्थक है जिसके साथ मानान्तर का विरोध है और वह वाक्य मुख्यार्थक है जिसके साथ मानान्तर का विरोध नहीं है। तभी तो ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस सूत्र में मानान्तर के साथ विरोध होने के कारण जिज्ञासा पद की विचार अर्थ में लक्षणा स्वीकार कर मुख्यार्थ का त्याग किया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का बोधक वाक्य ही मुख्यार्थक होता है। अत: उक्त सूत्र में लक्षणा के द्वारा तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का प्रतिपादन होने से मुख्यार्थ का त्याग नहीं किया गया है।

(२१) अपच्छेदन्यायवैषम्य पर विचार

अपच्छेदन्याय से भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा से आगम प्रबल है। अर्थात् जैसे पश्चाद्भावी उद्गाता के अपच्छेद से होने वाले अदक्षिणयाग के द्वारा पूर्वभावी प्रतिहर्ता के अपच्छेद से होने वाले सर्वस्वदक्षिणयाग का बाध होता है, वैसे ही पश्चाद्भावी आगम के द्वारा पूर्वभावी प्रत्यक्ष का बाध होता है।

(२२) मिथ्यात्वानुमान के आभाससाम्य पर विचार

पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रत्यक्षबाधित अनुमान यदि अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है तब तो अयं वह्निरनुष्ण: द्रव्यत्वात्, जलवत्, इस अनुमान को भी साधु माना जाय, क्योंकि औष्ण्यप्रत्यक्ष का प्रामाण्य जैसे परीक्षित है ठीक वैसे ही जगत् के सत्यत्वप्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी समानरूपेण परीक्षित है। अत: मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्च के सत्त्वप्रत्यक्ष का बाध नहीं होगा इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि, दृष्टान्त में प्रत्यक्षसिद्ध औष्ण्य के जैसे अनुमानग्राह्य अनौष्ण्य भी समानरूपेण व्यावहारिक है, अत: उक्तस्थल पर प्रत्यक्ष से अनुमान का बाध होता है। परन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष से सिद्ध जगत् का सत्त्व व्यावहारिक है, उसका विरोधी मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु पारमार्थिकसत्त्व का विरोधी है। अत: प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं हो सकता है।

(२३) प्रत्यक्ष का शब्द अनुमान के द्वारा अबाध्यत्व पर विचार

प्रत्यक्ष यदि परीक्षित नहीं है तो शब्द अथवा अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध सर्वमान्य है। जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रत्यक्ष का अनुमान अथवा आप्तवचन के द्वारा बाध होता है। प्रश्न होता है कि प्रत्यक्षभ्रम का प्रत्यक्षप्रमा से ही बाध होता है, न कि अनुमानादिरूप परोक्ष प्रमा से। अन्यथा

वेदान्तवाक्य को प्रत्यक्षप्रमा का जनक मानना व्यर्थ हो जाएगा। इसका समाधान यह है कि यद्यपि ''नायं सर्पः'' इत्यादि आप्तवाक्यादि से जन्य परोक्षज्ञान से कार्यसहित—अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, तो भी भ्रम में अप्रमात्व का ज्ञापन हो जाने से भ्रम में प्रामाण्यबुद्धि और भ्रमविषय में सत्यता बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। उतने मात्र से ही परोक्षप्रमा को भ्रमनिवर्तक कह दिया जाता है।

(२४) प्रत्यक्ष के भाविबाध पर विचार

''सन् घटः'' इस प्रपञ्च के सत्त्वप्रत्यक्ष का मिथ्यात्वबोधक आगम के द्वारा बाध होता है। प्रत्यक्ष और श्रुति इनमें कौन प्रबल है और कौन दुर्बल है ऐसी शंका होने पर षड्विधतात्पर्य लिङ्गों के द्वारा श्रुति का श्रूयमाण अर्थ में तात्पर्य का निश्चय हो जाने से श्रुति का प्राबल्य अवधारित है। अतः निश्चित प्रामाण्यवाले आगम के द्वारा प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्ष का बाध होता है। इस प्रकार भाविबाधकमान से बाध होने के कारण द्वैतग्राहिप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य है।

(२५) मिथ्यात्वानुमान का अनुमान के द्वारा बाध पर विचार

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यक्ष से मिथ्यात्वानुमान का बाध होना यदि सम्भव नहीं है तब अनुमान ही से मिथ्यात्वानुमान का बाधक हो सकता है। अनुमान इस प्रकार हैं— ब्रह्मप्रमा से भिन्न के द्वारा अबाध्य होता हुआ और असत्त्व का अनधिकरण होता हुआ ब्रह्मभिन्न पदार्थ परमार्थसत् है प्रातिभासिकत्व का अनधिकरण होते हुए असद् से भिन्न होने के कारण ब्रह्म के जैसे। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के मत से प्रातिभासिक को असत् मानने के कारण हेतु का विशेषण व्यर्थ है, यदि अद्वैतमत के अनुसार विशेषण दिया गया है, तब भी देहात्मैक्य में व्यभिचार है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप प्रातिभासिकत्व देहात्मैक्य में नहीं है। प्रपञ्च सद्विलक्षण नहीं, असत् से विलक्षण होनें से, आत्मा के जैसे। यह भी अनुमान प्रातिभासिक शुक्तिरूप्य में व्यभिचरित होने के कारण निर्दुष्ट नहीं। प्रातिभासिक पदार्थ यदि असत् होता तो अपरोक्षतया प्रातिभासिक की भी प्रतीति नहीं होती। पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्च आत्मा में अध्यस्त नहीं है, आत्मा का साक्षात्कार करनेवालों की प्रवृत्ति का विषय होने से, जैसे घटसाक्षात्कारवाले पुरुष की प्रवृत्ति का विषय पट घट में अध्यस्त नहीं होता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त हेतु प्रतिबिम्ब में व्यभिचरित है, क्योंकि बिम्बमुख के साथ एकत्व का साक्षात्कार करनेवाले की प्रवृत्ति का विषय प्रतिबिम्ब बिम्बमुख में अध्यस्त है। सामान्यानुमान के निराकृत हो जाने पर पूर्वपक्षी विशेषानुमान करता है— ब्रह्म से भिन्न अनादिपदार्थ परमार्थसत् है, अनादि होने से, जैसे ब्रह्म। सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त अनुमान ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप उपाधि से ग्रस्त होने के कारण दुष्ट है। इन सभी प्रसङ्गों पर विस्तृत विवेचन हिन्दी टीकाकार ने तत्तद् स्थलों पर किया है।

स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के द्वारा अद्वैतसिद्धि पर लिखी गयी यह सत्यानन्दप्रबोधिका टीका अद्वैततत्त्व जिज्ञासुओं के अद्वैतबोध में सहायक हो ऐसी भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथजी से प्रार्थना करते हैं और स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के मंगलमयजीवन की शुभकामना करते हैं। एवं आशा करते हैं कि भविष्य में भी विचारपूर्ण टीकाएं आप लिखते रहेंगे। इति शिवम्।

श्री रामनवमी

विक्रमी संवत् — २०५९

दिनांक— २१—४—२००२

भगवत्पादीय

स्वामिसत्यानन्दगिरि

रुद्रावास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी (उत्तराञ्चल)

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

निवेदनम्



शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

श्रुतिसम्मत अद्वैतसिद्धान्त अनादिकाल से ही दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्ति और परमपद की प्राप्ति का साधन रहा है। अद्वैतसिद्धान्त में सत्—चित्—आनन्द स्वरूप निर्विशेष—अद्वितीयब्रह्म ही परमार्थसत् है। वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव स्वतः सिद्ध है। वही व्यापक होने से सभी प्राणियों का आत्मा कहा जाता है। अतः आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। इसलिए आत्मज्ञान से ही सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस रहस्य को तत्त्वजिज्ञासुओं के प्रति तत्त्वज्ञमहापुरुषों ने इस प्रकार से कहा है—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखीभव।।
जड़तां वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा।।

इस रहस्य का समर्थन श्रुति भगवती स्पष्टरूप से कर रही है— ''तरतिशोकमात्मवित्'' (छा० ७—१—३)। तत्त्वजिज्ञासुओं के द्वारा इस अद्वैतसिद्धान्त का अवगाहन श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के शरणापत्र होकर वाद कथा के द्वारा होता रहा है। ठीक इसी प्रकार इस सिद्धान्त पर जब आस्तिक प्रतिवादी और नास्तिक प्रतिवादी का प्रहार हुआ तब इस सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् सामने आए और जल्प अथवा वितण्डा कथा का आश्रय करके पूर्वपक्षियों का मर्दन किया। इसी परम्परा में पूर्वपक्षियों के कुतर्करूपी तम नाशक प्रचण्डभास्कर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी हुए। आपने न्यायामृत में किये गये आक्षेपों का बहुत ही सरलता पूर्वक समाधान अद्वैतसिद्धि में किया है। एवं अद्वैतसिद्धि में अद्वैतसिद्धान्त के क्या पदार्थ हैं उनका भी बहुत सहजतापूर्वक प्रतिपादन किया है। यहाँ पर एक विशेष बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि द्वैतवादियों के द्वारा अद्वैतसिद्धान्त का खण्डन करने के लिए जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उन ग्रन्थों में उनका सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता है। उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् भी उनके पदार्थों का अवगाहन कर उससे लाभ प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है। जैसे कोई व्यक्ति न्यायामृत अथवा उस पर लिखी गयी टीका—तरङ्गिणी को पढ़कर माध्व—

साधना से सिद्धि प्राप्त करने की आशा करता हो तो उसकी आशा व्यर्थ है, किन्तु कुतर्कों को निराकरण करने के लिए प्रवृत्त हुए अद्वैताचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थ का अवगाहन करने पर अद्वैतसिद्धान्त के पदार्थों का स्पष्ट बोध होता है। जैसे कि अद्वैतसिद्धि और उसकी टीकाओं को मनन करने पर समग्र अद्वैतवेदान्त साधनाएँ स्फुट हो जाती है। प्रकृत में जिस ग्रन्थ का विचार चल रहा है, वह एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है कि वीतराग तत्त्वज्ञ महापुरुषों को भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। तब तत्त्वजिज्ञासुओं को अपनी तरफ आकर्षित कर ले इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सामान्य तत्त्वजिज्ञासुओं को भी अद्वैतसिद्धान्त का बोध हो इस विचार से इस ग्रन्थ पर जो दो शब्द लिखने का साहस किया है वह गुरुजनों की कृपादृष्टि के कारण ही हो सका है। अतः सद्‌गुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिस्वामि– विष्णुदेवानन्दगिरिजीमहाराज एवं दीक्षागुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिविद्यानन्दगिरिजीमहाराज और विद्यागुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिसत्यानन्दगिरिजीमहाराज के युगलचरणकमलों में भूयसः प्रणाम निवेदन करता हूँ। इस लेखन कार्य में जो कुछ श्रेयस्कर है उसके प्रति आप सभी गुरुजनों की दृष्ट और अदृष्ट कृपामात्र ही कारण है। कुछ महानुभावों के अनुरोध पर ग्रन्थ के इस भाग के परिशिष्ट में ग्रन्थ के इसी भाग से सम्बन्धित कुछ ही प्रश्नों का उत्तर लिखा गया है। क्योंकि ज्ञात हुआ है कि वर्तमान समय में प्रश्नपत्र में परिवर्तन किया जा रहा है। आशा करते हैं कि परीक्षार्थियों को इससे सहयोगप्राप्त होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में परमादरणीय श्रीमत्स्वामिब्रह्मानन्दतीर्थजीमहाराज का असीम सहयोग रहा है। आप का स्नेह एवं सहयोग लगभग दो दशक से हमें प्राप्त होता रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग आप के ही भक्तमण्डली के सम्माननीय दिल्ली निवासी धर्मपरायण लाला श्रीनौहरचन्दजीगर्ग एवं श्रीमतीशान्तिदेवीगर्ग (हमीदी–बरनाला वाले) और उनके परिवारजनों ने किया है। सपरिवार आपका जीवन मङ्गलमय हो इसके लिए हम भगवान् श्रीगोकुलेश्वरमहादेवजी के चरणकमलों में प्रार्थना करते हैं। इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधनादि कार्य में गोकुलधाम के सन्त महानुभावों का पूर्ण सहयोग रहा है। इसके लिए हम आप सभी के प्रति आभार प्रकट करते हैं। सावधानी पूर्वक संशोधनादि कार्य करने पर भी त्रुटि रह गयी हो तो उसे–

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

इस प्राचीनोक्ति के अनुसार मनीषीगण समाधान कर लेंगे एवं संकेत करने पर अग्रिम संस्करण में उन त्रुटियों का सुधार कर दिया जाएगा। इति शिवम्।।

श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद जयन्ती
विक्रमी संवत्– २०५९, शाङ्कराब्द– १२१५
दिनाङ्क– १७–५–२००२

सतामनुचरः
स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः
श्रीगोकुलधाम कनखलः
हरिद्वारः (उत्तराखण्डः)

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

निवेदनम्

(द्वितीय संस्करण)



क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देव एकः।
तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।
दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः,
स्पर्शश्चेत् तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामस्मसारम्।।
न स्पर्शस्त्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीय शिष्ये,
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरूपमस्तेन चालौकिकोऽपि।।

श्रुतिमात्रोपजीवी जिज्ञासुओं के सुगमता पूर्वक बोध के लिए जगद्गुरु भगवान् आदि श्रीशङ्कराचार्यजी ने उपनिषदों पर भाग्य लिखा। सुगम पदावली एवं गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करने वाले भाष्य के विषय में श्रीपद्मपादाचार्यजी ने पञ्चपादिका के मङ्गलाचरण के अवसर पर कहा– ''भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे''। इसी प्रकार भाष्य के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए भामती टीका के मङ्गलाचरण के अवसर पर आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा–

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते।।

इस प्रकार से श्रुतिमात्रोपजीवी जिज्ञासुओं के लिए शङ्करोक्त्युपजीवी शब्द भी सार्थक होने लगा। शङ्करोक्तियों के अन्तःपाती यह उक्ति भी है–''यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तम्, न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कञ्चित्सिद्धान्तं साधपितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति...'' (ब्र.सू.शां.भां. २–२–१) इस शङ्करोक्ति से प्रभावित हो कर द्वैतवादियों के द्वारा अपने–अपने सिद्धान्तों के संरक्षणार्थ असफल प्रयत्न किये गये। इन्हीं असफल प्रयत्नों के फलों में से एक ''न्यायामृत'' की रचना रूप फल भी है। इस ''न्यायामृत'' का निराकरण ''अद्वैतसिद्धि'' में श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी ने किया है। इस ''अद्वैतसिद्धि'' के विषय में स्वयम् अद्वैतसिद्धिकार ने इस प्रकार कहा है–

ससंभ्रममपेक्षया परगुणोन्नतिर्दुःसहा, नितान्तमनपेक्षया निजपुमर्थहानिःपरा।
अतः सुमतयो यथानयमुपेक्ष्य दुर्मत्सरं प्रयोजनवशानुगाः कुरुत मत्कृतौ सत्कृतिम्।।

विमलान्तःकरणवाले मुमुक्षुओं के सुगमता पूर्वक बोध के लिए अनन्तगुणों से अलङ्कृत

और परमपुरुषार्थ को प्रदान करने वाली अद्वैतसिद्धि की ''सत्यानन्दप्रबोधिका'' नामक टीका से युक्त प्रथम संस्करण का प्रकाशन विक्रमी संवत्२०५९ (सन् २००२) में हुआ था। गुरुजनों की दृष्ट और अदृष्ट कृपा दृष्टि का आश्रय कर के इस द्वितीय संस्करण में संक्षेप से मूलार्थ बोध के लिए ''कैलासविद्याप्रकाशिका'' नामक टीका दी गई है और ''सत्यानन्दप्रबोधिका'' टीका का पर्याप्त संशोधन और परिवर्धन किया गया है। आशा करते हैं कि इससे तत्त्व जिज्ञासुओं को सहयोग प्राप्त होगा। इस संस्करण के प्रकाशन में सहयोग अलवर (राजस्थान) निवासी ध ार्मपरायण सम्माननीय श्रीशशिकान्तगुप्ता जी एवं श्रीमतीरूपागुप्ताजी और उनके परिवारजनों ने किया है। सपरिवार आप का जीवन मङ्गलमय हो—इसके लिए भगवान् श्रीगोकुलेश्वरमहादेव जी के युगलचरणकमलों में प्रार्थना करते हैं। इस संस्करण के प्रूफ संशाधनादि कार्य में श्रीगोकुलध ाम के सन्त एवं भक्त महानुभावों का पूर्ण सहयोग रहा है। इसके लिए आप सभी के प्रति आभार प्रकट करते हैं। इति शिवम्।।

सतामनुचरः

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

श्रीगोकुलधाम कनखलः

हरिद्वारः (उत्तराखण्ड)

दीपावली
विक्रमी संवत्—२०६४
शाङ्कराब्द—१२२०
दिनाङ्क—९—११—२००७

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्ड़नखण्ड़खाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिहो०	नृसिंहतापिनी उपनीषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक
शां०भा०	शाङ्कर भाष्य

अनुक्रमणिका

प्रथमभागे

ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

।। अद्वैतसिद्धिः ।।

प्रथमः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः।

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता
कैलासविद्याप्रकाशिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रैः।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूणं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे।।
कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि।।
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं वादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

माया द्वारा प्रयुक्त प्रमातृत्व मुख्य वाले आत्मभिन्नमिथ्यात्मकप्रपञ्च का अधिष्ठान सच्चिदानन्दस्वरूप, मिथ्यारूप बन्ध की निवृत्ति के द्वारा दृश्य रहित, श्रुतियों में शिरोमणि वेदान्तमहावाक्य जन्य

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता
सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विश्वोद्भवस्थितिलयादिषु हेतुमेकं गौरीपतिं विदिततत्त्वमनन्तकीर्तिम्।
मायाश्रयं विगतमायमचिन्त्यरूपं बोधस्वरूपममलं हि शिवं नमामि।।
वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्।।

प्रारिप्सित ग्रन्थ के निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थ स्वान्तःकरण में किया गया इष्टदेवतानुसन्धानरूप मङ्गलाचरण शिष्यों को शिक्षा प्रदान करने के लिए अर्थात् हमारे शिष्य भी मङ्गलाचरण करें– इसके लिए आचार्यप्रवरश्रीमधुसूदनसरस्वती जी ग्रन्थारम्भ में संलग्न करते हैं–मायाद्वारा प्रयुक्त अर्थात् अज्ञान के रहने पर जिसकी प्रतीति होती हैं और अज्ञान के नाश होने पर जिसका नाश हो जाता है ऐसे, प्रमातृत्व मुख्यवाले आत्मभिन्नमिथ्यात्मकप्रपञ्च (जिसमें प्रमातृत्व, प्रमाणत्व, एवं प्रमेयत्व हैं) का आश्रय (अधिष्ठान) भूत सत्य–ज्ञान–आनन्दात्मक, मिथ्यारूप बन्ध की निवृत्ति के द्वारा दृश्यरहित, वेदान्तमहावाक्यजन्य–अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय विष्णु (व्यापक जीव) निरतिशय–अपरिच्छिन्नसुखस्वरूप पूर्वप्राप्तमोक्ष को ही प्राप्त करके स्वयं प्रकाशित हो रहा है। परब्रह्म ही इस ग्रन्थ का विषय और प्रयोजन है, इस आशय को प्रथम मङ्गलश्लोक से प्रतिपादित किया गया है।

यहां पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का विधेय में भान होने का

मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकम्,
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः।। १ ।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय विष्णु निरतिशय परमानन्दरूप पूर्व प्राप्त मोक्ष को ही प्राप्त कर के स्वयं प्रकाशित हो रहा है।।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नियम है। जैसे वैराग्यवान् सुखी। यहां पर वैराग्यवत् पदार्थ उद्देश्य है। उद्देश्यतावच्छेदक वैराग्य है और विधेय = सुख है। यहां पर उद्देश्य वैराग्यवान् देवदत्तादि में एक ही काल में वैराग्य और सुख दोनों रहते है। अर्थात् सुख में उद्देश्यतावच्छेदकरूपवैराग्यावच्छिन्नकालावच्छिन्नत्व का भान होता है। किन्तु प्रकृत में उक्त नियम चरितार्थ नहीं हो रहा है क्योंकि ''अखण्डधीगोचरो विष्णुर्मोक्षं प्राप्तः'' इस स्थल पर उद्देश्य = अखण्डधीगोचर जीवस्वरूप (आत्मा)। उद्देश्यतावच्छेदक = विषयता सम्बन्ध से अखण्डधीविषयत्व। विधेय = मोक्ष = स्थूल और सूक्ष्म एतदुभयरूपेण अविद्या निवृत्ति है, जिसको अविद्यास्तमय कहते है। जिस समय उद्देश्य = आत्मा में अखण्डधी की विषयता रहती है, उसी समय उस आत्मा का मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि मोक्ष का स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म उभयरूपेण अविद्या की निवृत्ति है। अखण्डाकार वृत्ति की विषयता जिस काल में आत्मा में है, उस काल में संस्कारादि रूप से अविद्या रहती है। अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति दशा में तो स्वतः ही वृत्ति अविद्या का परिणाम होने के कारण अविद्या का विद्यमानत्व ही है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के भिन्नकालिनत्व होने से उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नकालावच्छिन्नत्व विधेय में नहीं है इसलिए ''अखण्डधीगोचरो विष्णुर्मोक्षं प्राप्तः'' — यह अद्वैतसिद्धिकार का कथन असङ्गत है।

यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त नियम औत्सर्गिक है, सार्वत्रिक नहीं, क्योंकि उक्त नियम का अपवाद स्थल भी देखा जाता है। जैसे— सर्गाद्यकालीनं द्व्यणुकं जन्यतासम्बन्धेन कर्तृमत्, कार्यत्वात्, घटवत्। इस स्थल पर सर्गाद्यकालीन द्व्यणुकपक्षक और जन्यतासम्बन्ध से सकर्तृकत्वसाध्यक अनुमिति में निरवच्छिन्न ईश्वररूप एक ही कर्त्ता विधेय है। अर्थात् कर्ता में सर्गाद्यकालावच्छिन्नत्व विवक्षित नहीं है। अर्थात् उद्देश्य = पक्ष = द्व्यणुक है। उद्देश्यतावच्छेदककाल = सर्गाद्यकाल है। तत्कालावच्छिन्नत्व ईश्वर (विधेय) में नहीं है, क्योंकि ईश्वर काल से परिछिन्न नहीं होता है अपितु निरवच्छिन्न ही होता है। इस प्रकार से बाध के विद्यमान होने के कारण उक्त अनुमान में जैसे विधेयगत उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का नियम नहीं स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृत में भी विधेयगत (मोक्ष में) उद्देश्यतावच्छेदक (अखण्डधीविषयत्व) कालावच्छिन्नत्व का बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि यहां पर भी बाध दोष है। यहां पर बाध दोष इसलिए होता है कि तत्त्वज्ञान अज्ञाननिवृत्ति का हेतु है। इसलिए दोनों (कार्य और कारण) एक काल में नहीं रह सकते है। इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आचार्यप्रवर ने ''मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः'' यह वाक्य कहा है। यहां पर बन्धविधूनन शब्द से अविद्या तत्कार्य की निवृत्ति को कहा गया है और विकल्पोज्झित शब्द से ब्रह्मातिरिक्त शेष सभी अनादि और सादि दृश्यों की निवृत्ति को कहा गया है। इसलिए दोनों का अर्थ भिन्न—भिन्न है। आचार्यप्रवर ने बन्ध में ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्व का निवेश किया है। इसलिए यह द्योतित होता है कि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय में भिन्नकालीनता है। क्योंकि समानकालिन पदार्थों का निवर्त्यनिर्वतकभाव अनुपपन्न है। इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका की सत्यानन्दप्रबोधिका में देखें।।१ ।।

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः।।२।।
बहुभिर्विहिता बुधैः परार्थं विजयन्तेऽमितविस्तृता निबन्धाः।
मम तु श्रम एष नूनमात्मम्भरितां भावयितुं भविष्यतीह।।३।।
श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन संगृह्य शास्त्रनिचयं रचितातियत्नात्।
बोधाय वादिविजयाय च सत्वराणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम्।।४।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

परमात्मा से आत्मा का ऐक्यरूप से साक्षात्कार किए हुए हमारे परम गुरु श्रीरामसरस्वती, दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वरसरस्वती एवं विद्यागुरु श्रीमाधवसरस्वती के चरणों से उत्थित उन धूली कणों को नमस्कार है जो गुरुजनों के चरण स्पर्श से तम—रज दोष से रहित होकर विशुद्धसत्त्वमय हो गये हैं।।२।।

इस विचारणीय विषय में अनेक विद्वानों द्वारा परहित के लिए रचित अत्यन्त विस्तृत अनेक ग्रन्थ विराजमान हैं। किन्तु मेरा यह श्रम तो निश्चय ही मन्निष्ठ स्वार्थ सम्पादकता को उत्पन्न करने के लिए ही होगा।।३।।

श्रद्धा के धनी एवं मननशील श्रीमधुसूदनसरस्वती के द्वारा शास्त्र समूह से संग्रह करके ब्रह्माभिन्नात्मबोध के लिए और वादि विजय के लिए अतिप्रयत्न से विरचित यह अद्वैतसिद्धि प्रबुद्ध ज्ञानियों के हर्ष का कारण बने।।४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जिन गुरुजनों से अध्यात्मपथ आलोकित हुआ, उन प्रातःस्मरणीय गुरुजनों का ग्रन्थकार भावपूर्ण स्मरण कर रहे हैं— परमात्मा से आत्मा का ऐक्यरूप से साक्षात्कार किए हुए हमारे परमगुरु श्रीराम सरस्वती, दीक्षागुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती एवं विद्यागुरु श्रीमाधव सरस्वती के चरणों से उत्थित धूलिकणों, जो उन गुरुओं के पावन स्पर्श से तम—रज दोष से विहीन होकर विशुद्धसत्त्वमय हो गये हैं, उन धूलिकणों को नमस्कार है। अर्थात् ''यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ,तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। (श्वे. ६—२३)'' इस श्रुति के द्वारा उक्त गुरुभक्ति को आत्मज्ञान में अन्तरङ्गता का बोधन इस श्लोक के द्वारा अद्वैतसिद्धिकार ने किया है।।२।।

अगले दो श्लोकसुमनों के द्वारा आचार्यप्रवर अन्यविद्वानों के द्वारा रचित ग्रन्थों की अपेक्षा से अपने ग्रन्थरत्न का वैशिष्ट्य उद्घोषित कर रहे हैं। दूसरों के प्रयोजन के लिए बहुत से विद्वानों के द्वारा रचित अनेक विस्तृत निबन्ध (ग्रन्थ) सुशोभित हो रहें हैं, परन्तु मेरा यह प्रयास निश्चित ही आत्मतृप्ति के सम्पादन के लिए होगा। कहने का तत्पर्य यह है कि दूसरों के द्वारा उक्त जो दोष हैं, उन दोषों का उद्धारपूर्वक स्वसिद्धान्त समर्थक यह जो क्रियमाण ग्रन्थ है, वह अतिलोकोत्तर है। इसलिए जब तक दूसरे लोगों को इसका ज्ञान नहीं होगा तब तक उन लोगों को इसकी इच्छा नहीं होगी और इस ग्रन्थ के विचार से जन्य जो तत्त्वज्ञान है, उसको यह ग्रन्थ उन लोगों के लिए उत्पन्न नहीं करेगा। एतद् ग्रन्थ जन्य तत्त्वज्ञान सर्वप्रथम ग्रन्थकार द्वारा कामित होने से सर्वप्रथम ग्रन्थकार में तत्त्वज्ञान उत्पन्न करेगा। अर्थात् ग्रन्थकार का ही कामित जो स्वार्थ है, उसका साधक यह ग्रन्थ सर्वप्रथम होगा।।३।।

श्रद्धा के धनी एवं मननशील (आचार्यप्रवर) श्रीमधुसूदन सरस्वती के द्वारा सूत्र—भाष्य—वार्तिक आदि शास्त्रों से संग्रह कर अतिप्रयत्न (परपक्ष के शब्दतः खण्डन आदि से युक्त) से विरचित अद्वैतनिश्चय (अद्वैतसिद्धि) का निष्पादक यह ग्रन्थ तीव्र—जिज्ञासुओं के बोधार्थ हो, आशु परपक्ष खण्डनोद्यतों को परपक्ष वादियों पर विजयार्थ हो एवं प्रबुद्धज्ञानियों के हर्ष का कारण बने। श्लोकस्थ अद्वैतसिद्धि शब्द का घटक सिद्धि शब्द का अर्थ है—निश्चय। इदम् शब्द का अर्थ है—इस ग्रन्थ के अधीन। अर्थात् अद्वैतसिद्धि का अर्थ है—इस ग्रन्थ के अधीन होने वाला अद्वैतनिश्चिय।।४।।

१. मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च

तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्।।१।।

उपपादनं च स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्यतमां कथामाश्रित्य सम्पादनीयम्।।२।।

तत्र च विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वान्मध्यस्थेनादौ विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया।।३।।

यद्यपि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य न पक्षतासम्पादकतयोपयोगः,सिषाधयिषाविरहसहकृत—

कैलासविद्याप्रकाशिका

अद्वैतसिद्धि में द्वैतधर्मिक मिथ्यात्व ही सर्वप्रथम निरूपण करने योग्य है, क्योंकि अद्वैतनिश्चय द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय पूर्वक होता है।।१।।

द्वैतमिथ्यात्व का निरूपण तो स्वपक्ष साधन और परपक्ष निराकरण से होता है। इसलिए मिथ्यात्व का साधन और सत्यत्व का निराकरण इन दोनों का वाद—जल्प और वितण्डा में से किसी एक कथा का आश्रय कर के सम्पादन करना चाहिए।।२।।

वादकथारूप विचार में सर्वप्रथम मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्ति {एकविशेष्यकपरस्पर—विरूद्धधर्मप्रकारकबोधजनकवाक्यरूप विप्रतिपत्ति। (विशेष्यक = धर्मिक)} का प्रदर्शन करना चाहिए, क्योंकि विप्रतिपत्ति से जन्य संशय विचार का अङ्ग है।।३।।

यद्यपि विप्रतिपत्ति जन्य संशय का पक्षता के सम्पादन में कोई उपयोग नहीं है क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रारिप्सित जो अद्वैतसिद्धि (द्वैताभाव से उपलक्षितब्रह्म का निर्विकल्पकनिश्चय) में द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय कारण होता है। अर्थात् ''यत्र यत्र अद्वैतसिद्धिः तत्र तत्र द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति यहां अभिष्ट है। इसलिए द्वैतवत्ब्रह्मधर्मिकद्वैताभावविशिष्टबुद्धिरूप मिथ्यात्वनिश्चिय को निर्विकल्पक अद्वैतनिश्चिय के प्रति हेतुता = व्यापारता होने से प्रथमद्वैतमिथ्यात्व का ही निरूपण करना उचित ही है। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्वप्रथम द्वैतमिथ्यात्व का प्रतिपादन करना चाहिए, जो अद्वैतनिश्चय के अनुगुण होगा।।१।।

किसी वस्तु का प्रतिपादन स्वपक्ष के मण्डन और परपक्ष के खण्डन के माध्यम से होता है। स्वपक्ष का मण्डन एवं परपक्ष का खण्डन, वादकथा, जल्पकथा एवं वितण्डाकथा में से किसी एक का आश्रय लेकर किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रतिज्ञा—हेतु—उदाहरण—उपनय और निगमन इन पञ्चावयवसहकारियुक्त वाक्यात्मिका कथा होती है। अर्थात् कथा उस वाक्यावली का नाम है, जिसमें प्रतिज्ञादि पञ्च अवयवों से युक्त अनुमान आदि प्रमाण और सत्तर्क निहित होते हैं। उनमें से तत्त्वजिज्ञासार्थ जो कथा होती है, वह वाद कथा होती है और इसका पर्यवसान तत्त्वनिर्णय में होता है। विजिगीषुओं में जो कथा होती है उसे जल्पकथा कहते हैं और इसका पर्यवसान विजय तथा निग्रह में होता है। वितण्डाकथा स्वपक्षस्थापन से रहित परपक्ष के खण्डन मात्र में पर्यवसान होने वाली होती है।। २।।

वाद कथा या जल्पकथा के आरम्भ में मध्यस्थ को विप्रतिपत्तिवाक्य('विरुद्धकोटिद्वयोपस्थापकवाक्यं विप्रतिपत्तिः', संशय को उत्पन्न करनेवाली विरुद्धार्थ—प्रतिपादक वाक्यद्वयस्वरूप, जगत् मिथ्या न वा?) का उच्चारण करना चाहिए। क्योंकि विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय, विचार का अङ्ग है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक संशय नहीं होगा, तब तक विचार प्रारम्भ नहीं हो पाता है।।३।।

द्वैतवादी न्यायामृतकार ने संशय को विचार का अङ्ग नहीं माना है। उसका खण्डन करने के लिए

साधकमानाभावरूपायास्तस्याः संशयाघटितत्वात्।।४।।

अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽनुमित्सया तदनुमानं न स्यात्, वाद्यादीनां निश्चयवत्त्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

सिषाधयिषाविरहविशिष्टसाध्यसिद्ध्यभाव रूप पक्षता संशय से घटित नहीं है।।४।।

पक्षता में संशयघटित्व को स्वीकार कर लेने पर श्रुतिरूप प्रमाण से आत्म–निश्चय वाले को अनुमित्सा होने पर आत्मा विषयक अनुमान नहीं होना चाहिए किन्तु होता है। वादी–प्रतिवादी स्व–स्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्ष के रूप से शङ्का उठा रहे हैं कि विप्रतिपत्तिजन्यसंशय का पक्षता के सम्पादन में कोई उपयोग नहीं हैं, क्योंकि पक्षता का लक्षण 'सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वम्' ऐसा नहीं है, किन्तु सिषाधयिषा–(स्वादिगणीय साध–संसिद्धौ, धातु से णिच् और सन् प्रत्यय करके बना है) विरहविशिष्टसिद्ध्यभावः। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन नैयायिकों ने साध्यसिद्ध्यभाव से युक्त पक्ष में विषयता सम्बन्ध से रहने वाले साध्य सन्देह को पक्षता का लक्षण मानते है। इसमें प्रमाण रूप से न्याय भाष्य की इस वात्स्यायनीय पंक्ति को उद्धृत करते हैं–''नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धेऽर्थे।'' इस पंक्ति में कहा गया कि निर्णीतार्थ में न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति नहीं होती है और सन्दिग्ध शब्द से संशय में कारणता का कथन किया गया है, परन्तु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है, क्योंकि कहीं पर प्रमाणान्तर से निर्णीतार्थ में भी अनुमित्सावसात् न्याय का प्रयोग होता है, जैसा कि आचार्यप्रवर टीकाकार श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा है–''प्रत्यक्षेणाऽऽकलितमप्यर्थं तर्केण बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः।'' इसी प्रकार जहां पर ''गगनं मेघवत्, घनगर्जनात्।'' ऐसा अनुमान होता है, वहां पर अनुमित्सा और सन्देह दोनों ही नहीं होते हैं। इस प्रकार से इस पक्षता के लक्षण में दोष को देख कर न्यायचिन्तामणिकार श्रीगङ्गेशोपाध्याय ने पक्षता का लक्षण बनाया–''सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः।'' पक्षता के इस लक्षण का समन्वय करने से पूर्व लक्षण में उपस्थित विशेषण, विशेष्य और विशिष्ट कोटि को जानना आवश्यक है। उक्त लक्षण में विशेषण है–सिषाधयिषाभाव, विशेष्य है– सिद्धि और विशिष्ट है–सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि। यहाँ विशिष्ट का अभाव होने से सिद्धि स्थल पर अर्थात् सिद्धिरूप विशेष्य का अभाव न होने पर भी पुनः अनुमित्सा होने पर अर्थात् सिषाधयिषाभावरूप विशेषण का अभाव होने पर विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से लक्षण समन्वय होता है और जहाँ सिद्धि नहीं है परन्तु अनुमित्सा (सिषाधयिषा) है, वहाँ उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से लक्षण समन्वय होगा। और जहाँ अनुमित्सा नहीं है एवं सिद्धि भी नहीं है वहाँ विशेष्याभावप्रयुक्तविशष्टाभाव को लेकर लक्षण समन्वय होता है, इस प्रकार पक्षता के लक्षण का घटक संशय नहीं है।।४।।

यदि पक्ष में साध्य के संशय को ही पक्षता माना जाय तो क्या दोष होगा? इसे आगे दिखा रहे हैं। किसी व्यक्ति ने 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि महावाक्यों के द्वारा 'मै ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय कर लिया, बाद में उसे अनुमिति करने की इच्छा हुई–'अहं ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपत्वात्' ऐसे स्थल पर पक्ष में साध्य का संशय न होने से उसे अनुमिति नहीं होनी चाहिए, जबकि अनुमिति होती है। वहाँ पर पूर्वोक्त पक्षता का लक्षण विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से विद्यमान है। इस प्रकार से यह देखा गया कि 'सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वं पक्षत्वम्', इस प्रकार के लक्षण को मान कर जो संशय को विचार का अङ्ग कहा गया था, वह ठीक नहीं है। इस प्रकार यह दिखाया गया कि विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय, विचार का अङ्ग नहीं बनता है। अब पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा हैं कि विप्रतिपत्तिवाक्य से वादी–प्रतिवादी को संशय उत्पन्न नहीं होता है। संशय उत्पन्न क्यों नहीं होता है? उसको स्पष्ट कर रहे हैं। वादी–प्रतिवादी

संशयासम्भवादाहार्यसंशयस्यातिप्रसञ्जकत्वाच्च।।५।।

नापि विप्रतिपत्तेः स्वरूपत एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः। 'त्वयेदं साधनीयम्,' 'अनेनेदं दूषणीयम्' इत्यादिमध्यस्थवाक्यादेव तल्लाभेन विप्रतिपत्तिवैयर्थ्यात्।।६।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

पक्ष के निश्चय वाले होते हैं। अतः उनको विप्रतिपत्तिवाक्य का श्रवण होने पर भी संशय नहीं होता है। वादी–प्रतिवादी में आहार्य संशय मानने पर अतिप्रसक्ति होगी।।५।।

विप्रतिपत्तिजन्य संशय की उपयोगिता पक्षता में सिद्ध न होने पर भी विप्रतिपत्तिवाक्य का साक्षात् ही पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः, पक्ष=धर्मी में, प्रतिपक्ष= प्रतिनियत–भावाभावान्यतर का, परिग्रहफलकतया=प्रयोगरूप जो फल है तत्कत्वेन भी विप्रतिपत्ति का उपयोग है–ऐसी बात नहीं, क्योंकि " तुम्हें यह सिद्ध करना चाहिए" और "तुम्हें इसमें दोष देना चाहिए" ऐसा जो मध्यस्थ का वाक्य है, उस वाक्य से ही एक धर्मि में प्रतिनियत पक्ष के परिग्रह का लाभ हो जाने से विप्रतिपत्तिवाक्य व्यर्थ होगा।।६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपने–अपने पक्ष के निश्चयवाले होते हैं। अतः उनको विप्रतिपत्तिवाक्य का श्रवण होने पर भी संशय नहीं होता है। जैसे–देवदत्त को गौ पिण्ड में 'यह गौ है' इस प्रकार से निश्चय होने के बाद किसी के द्वारा 'यह गौ है या नहीं है?' ऐसा कहने पर उसे संशय नहीं होता है। क्योंकि देवदत्त को गौपिण्ड में यह गौविशेष है– ऐसा निश्चय है। विशेषनिश्चय संशय को उत्पन्न नहीं होने देता है, यह सर्वमान्य नियम है। अतः विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यसंशय का विचार में उपयोग नहीं होगा। यदि कहो कि वादी–प्रतिवादी को स्वपक्ष का निश्चय होने पर भी आहार्यसंशय ('वह्न्यभाववान् ह्रदो वह्निमान् न वा' इत्याकारक) होता है, क्योंकि निश्चय आहार्यसंशय का प्रतिबन्धक नहीं होता है। इसलिए वह आहार्यसंशय विचार का अङ्ग बनेगा, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस व्यक्ति को साध्य का निश्चय है और अनुमिति करने की इच्छा भी नहीं हैं, वहाँ अनुमिति नहीं होती है। क्योंकि ऐसे स्थल पर किसी भी प्रकार की पक्षता नहीं है, चाहे वह "सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वं पक्षत्वम्" हो अथवा 'सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाववत्त्वं पक्षत्वम्' हो। अतः ऐसे स्थल पर भी आहार्यसंशय होने से अनुमिति होने की आपत्ति होगी। इस प्रकार विप्रतिपत्ति से जन्य संशय, विचार का अङ्ग नहीं होता है, यह पूर्वपक्षी के द्वारा दिखाया गया ।।५।।

अब पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा हैं कि स्वरूपतः(साक्षात् न कि संशय उत्पत्ति के द्वारा) विप्रतिपत्तिवाक्य विचार का अङ्ग बनता नहीं है। विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग वादी–प्रतिवादी को अपना–अपना पक्ष ग्रहण कराने में होता है। अतः विप्रतिपत्तिवाक्य को सर्वप्रथम मध्यस्थ द्वारा उच्चारण करना चाहिये, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यह कार्य (स्व–स्व पक्ष का चयन) मध्यस्थवाक्य (तुम्हें यह सिद्ध करना चाहिए और तुम्हें इसमें दोष देना चाहिए) से ही हो जायेगा, उसके लिए विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण करना व्यर्थ है ।। ६।।

अब "तथापि ––" से सिद्धान्ती समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं कि पूर्वोक्त पक्षताका लक्षण संशयघटित न होने से विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय अनुमिति का अङ्ग न होने पर भी संशय में विचार से जन्य संशयाभाव का प्रतियोगितया विचाराङ्गत्व है। मूल में "अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि" का अपि पद समुच्चयार्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से विप्रतिपत्तिवाक्य से जन्य संशय में अनुमिति का अनङ्गत्व सहित विचाराङ्गत्व है। अर्थात् विचार में प्रवृत्ति के उपयोगीभूत संशयाभाव रूप फल के ज्ञान में विशेषणज्ञानविधया कारणीभूतसंशयज्ञान का विषयत्व संशय में है। मूलकार

तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्यानुमित्यनङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयतया विचाराङ्गत्वमस्त्येव।।७।। तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिना प्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वाद्।।८।।

वाद्यादीनाञ्च निश्चयवत्त्वे नियमाभावात्, 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इत्याभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्, परपक्षमालम्ब्याप्यहङ्कारिणो विपरीतनिश्चयवतो जल्पादौ प्रवृत्तिदर्शनात्।।९।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

तथापि विप्रतिपत्ति जन्य संशय पक्षतादिरूपेण अनुमिति का अङ्ग न होने पर भी विचार से साध्य जो संशयाभाव है, उसका प्रतियोगितया विचाराङ्गत्व संशय में होता ही है।।७।।

ऐसे विचार के अङ्गभूत संशय के प्रति कदाचित् निश्चयादि रूप प्रतिबन्धक के कारण विप्रतिपत्ति वाक्य में विचार के अङ्गभूत संशय के प्रति अजनकत्व होने पर भी, विप्रतिपत्ति वाक्य में संशय को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता होती ही है।।८।।

वादी–प्रतिवादी और मध्यस्थ–ये सभी कथा के पहले से ही तत्त्वनिश्चय वाले होते हैं–ऐसा नियम नहीं हैं। ''निश्चितौ हि वादं कुरुतः'' यह वचन ''मैं निश्चय वाला हूँ'' इस प्रकार से ज्ञापन करते हुए ही वादी–प्रतिवादी विचार करते हैं–इत्याकारक आभिमानिक निश्चय के अभिप्राय से कहा गया है, क्योंकि वाद कथा के उत्तर में तत्त्वनिश्चय होता है।।९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा विप्रतिपत्तिजन्यसंशय में जो विचाराङ्गत्व कहा गया है, उसका यही हृदय है। फलतः विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय के उत्पन्न हो जाने पर ''मैं संशय करता हूँ'' (संदेह्मि) इस प्रकार अनुव्यवसाय से संशय रूपविशेषण का ज्ञान हो जाता है, तब संशयाभावरूपफलज्ञानजन्य इच्छा (विचार के द्वारा मैं संशय की निवृत्ति करूँ, ऐसी ईच्छा) के द्वारा विचार में वादी–प्रतिवादी की प्रवृत्ति हो जाती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विचार में विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग आवश्यक है।।७।।

ऐसे विचार का अङ्ग, संशय के प्रति कहीं–कहीं निश्चयादिरूप प्रतिबन्धक के कारण विप्रतिपत्तिवाक्य से संशय उत्पन्न न होने पर भी विप्रतिपत्तिवाक्य में संशय के उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता (कारणता) तो है ही। इसी सन्दर्भ में श्रीवाचस्पतिमिश्र का यह कथन भी चरितार्थ हो जाता है कि–'' अनधिगततत्त्वबोधः, संशयनिवृतिः, अध्यवसायाभ्यनुज्ञानमिति फलानि त्रीणि'' अर्थात् कथा से जो पदार्थ पहले से ज्ञात नहीं था उसका तत्त्वबोध हो जाता है, संशय की निवृति हो जाती है और जो निश्चय था उसमें स्वीकृति अर्थात् पहले से जो मुझे निश्चय था वह ठीक है, ऐसी सन्तुष्टि हो जाती है ।।८।।

पहले जो पूर्वपक्ष की तरफ से कहा गया था कि वादी–प्रतिवादी अपने–अपने पक्ष में निश्चयवाले होते हैं उसका खण्डन कर रहे हैं। ''यत्र यत्र वाद्यादीनामन्यतमत्वं तत्र तत्र स्वपक्षनिश्चयवत्त्वम्'' ऐसी व्याप्ति आप नहीं दिखा सकते हैं। इसका व्यभिचार परपक्ष का आलम्बन करने वाले वादी–प्रतिवादी में है। श्रीवाचस्पतिमिश्र के द्वारा उक्त 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' यहाँ निश्चितौ का अर्थ आभिमानिकनिश्चय (जो दुसरे का पक्ष है उसे भी कुछ समय के लिए अपना पक्ष मान लेना) के अभिप्राय से कहा है। उसी को आगे स्पष्ट कर रहे हैं। परपक्ष का आलम्बन करके अपने सिद्धान्त के विरुद्ध निश्चयवाले अहङ्कारी लोग जल्पकथा में प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं। (अहङ्कारी शब्द का प्रयोग करके आचार्यप्रवर ने यह दिखाया हैं कि तत्त्ववित् ऐसा नहीं करते है)। यतिकुलचूड़ामणी आचार्यप्रवर परमश्रद्धेय श्री शङ्करचैतन्य भारती जी के शब्दों में इसे इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है–

विविधवचनजालैरस्ति नास्तीति पक्षैः विवदनपरमाणां याति कालो वृथैव।
क्षणमपि जगदम्ब त्वत्कलां चिन्मयीं ये निजहृदि विमृशन्तः संस्थिताः ते हि धन्याः ।।९।।

तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव।।१०।।

तत्र मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिः— ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि, न वा? पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि, न वेति?।।११।।

अत्र च पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

इसलिए मध्यस्थ के द्वारा स्वकर्तव्यता निर्वहन के लिए जैसे समयबन्धादि का निर्धारण किया जाता है,ठीक वैसे ही कथा के प्रारम्भ में विप्रतिपत्ति को भी दिखलाना चाहिए।।१०।।

(यहां से पक्षतावच्छेदक पर विचार प्रारम्भ होता है) पूर्वोक्त प्रकार से विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन आवश्यक सिद्ध हो जाने पर मिथ्यात्वसिद्धि के अनुकूल जो विप्रतिपत्तियां हैं,उनको दिखला रहे हैं— वेदान्ततात्पर्यविषयीभूत ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा से अबाधित, सत्त्वेन प्रतीति योग्य, ब्रह्मभिन्न (प्रपञ्च) स्वसम्बन्धितया ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है या नहीं? अथवा वेदान्ततात्पर्यविषयीभूत ब्रह्म विषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा से अबाधित, सत्त्वेन प्रतीति योग्य, ब्रह्मभिन्न (प्रपञ्च) स्वसम्बन्धितया ज्ञात अधिकरण में पारमार्थिकत्वेन त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है या नहीं?।।११।।

प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में पक्षान्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति में पक्षतावच्छेदक धर्म के साथ समानाधिकरण होकर साध्यसिद्धिरूप अनुमिति को उद्देश्य मान लेने पर पक्ष के एक देश में साध्य का निश्चय होने

सत्यानन्दप्रबोधिका

विचार के प्रति विप्रतिपत्तिवाक्य कारण है ऐसा सिद्ध हो जाने पर मध्यस्थ के द्वारा अपनी कर्त्तव्यता के निर्वहण के लिए जैसे समयबन्धादि का निर्धारण करना होता है, वैसे ही विचार के प्रारम्भ में विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण करना चाहिए।।१०।।

अब अनेक विप्रतिपत्तियों में से जो मिथ्यात्व के विषय में विप्रतिपत्ति है, उसको दिखा रहे हैं। ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा के द्वारा अबाधित, सद्रूप से प्रतीति के योग्य, ब्रह्मभिन्न (जगत्), ज्ञात—अधिकरण में त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी (मिथ्या) है या नहीं? मिथ्यात्व के विषय में दूसरी विप्रतिपत्ति का आकार इस प्रकार है— ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा के द्वारा अबाधित, सद्रूप से प्रतीतियोग्य ब्रह्मभिन्न (व्यवहारिक जगत्), ज्ञात—अधिकरण में पारमार्थिकत्वेन त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी (मिथ्या) है या नहीं? ।।११।।

पक्ष में ''बह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व'' इसको पक्ष का विशेषणरूप से क्यों दिया गया इस को बतला रहे हैं। अनुमान में पक्ष को उद्देश्य बनाकर साध्य सिद्धि किया जाता है, तो वहाँ प्रश्न होता है कि यत्किञ्चित्पक्ष को उद्देश्य बनाकर साध्य सिद्ध कर रहे हो अथवा सकलपक्ष (पक्षतावच्छेदकावच्छिन्न) पर साध्य सिद्ध कर रहे हो। पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्य— सिद्धि उद्देश्य है जहाँ, वहाँ अनुमान करने से पहले ही यदि यत्किञ्चित्पक्ष पर साध्य सिद्ध हो अथवा अनुमान करने से पहले ही सकलपक्ष पर साध्य सिद्ध हो। तो दोनो ही प्रकारों से सिद्धसाधनदोष होता है। यदि सकलपक्ष को उद्देश्य बनाकर साध्य सिद्ध करना चाह रहे हैं। अर्थात पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि उद्देश्य है, तो ऐसे स्थल पर सिद्धसाधनदोष तभी आयेगा यदि अनुमान से पहले सकलपक्ष पर साध्य सिद्ध हो। इस पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नपक्ष के यत्किञ्चित्पक्ष में साध्यसिद्ध होने पर भी सिद्धसाधनदोष नहीं आता है। प्रकृत में यदि पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्य की सिद्धि की जाती है तो पक्ष के एकदेश (शुक्तिरजत) में नैयायिकादि के मत

सिद्धसाधनतेति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम्।।१२।।

यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या, तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनाभावात्, तद्वारकं विशेषणमनुपादेयम्।।१३।।

इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायादरणीयमेव।।१४।।

प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः—वियन्मिथ्या, न वा? पृथिवी मिथ्या, न वेति।।१५।।

एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता, पक्षसमत्वाद् घटादेः।

कैलासविद्याप्रकाशिका

पर सिद्धसाधनता होती है—ऐसा मानने वालों के मत में शुक्तिरजत में सिद्धसाधनदोष होगा। उसको वारण करने के लिए पक्ष के विशेषण के रूप से ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व कहा गया है।।१२।।

यदि पुनः समुदायरूप से यावत्पक्ष में साध्यसिद्धिरूप अनुमिति को उद्देश्य मान लेते हैं, तब तो पक्ष के एक देश में साध्य का निश्चय होने पर भी (पक्षतावच्छेदकविशिष्ट एकदेश में साध्यसिद्धि होने पर भी) सिद्धसाधनदोष न होने के कारण सिद्धसाधनदोष निवारक ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व विशेषण पक्ष में नहीं देना चाहिए।।१३।।

शशशृङ्गादि असत् पदार्थों और ब्रह्म में बाधदोष के निवारणार्थ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व इन दोनों विशेषणों को अवश्य देना चाहिए।।१४।।

पहले सम्पूर्ण प्रपञ्च को पक्षकोटि में रखकर विप्रतिपत्तिवाक्य का प्रदर्शन किया गया। अब एक—एक को पक्षकोटि में रखकर विप्रतिपत्तिवाक्य को दिखला रहे हैं। जैसे—''आकाशो मिथ्या न वा?'' ''पृथिवी मिथ्या न वा?''।।१५।।

इस प्रकार से प्रत्येक आकाशादि का पक्षत्व होने पर भी घटादि में सन्दिग्ध व्यभिचार दोष

सत्यानन्दप्रबोधिका

से सिद्धसाधनदोष होगा, उसको वारण करने के लिए ब्रह्मप्रमातिरिक्त— अबाध्यत्व कहा गया।।१२।।
यदि पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य सिद्धि की जाती है तो पक्ष के एकदेश (शुक्तिरजत) में साध्यसिद्ध होने पर भी सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। अतः सिद्धसाधनदोषवारक ''ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व'' यह विशेषण पक्ष में नहीं देना चाहिए।।१३।।

''सत्त्वेन प्रतीत्यर्हम्'' और ''चिद्भिन्नम्'' यह दोनो विशेषण तुच्छ और ब्रह्म में बाध दोष वारण करने के लिए दिए गये हैं। जैसे— यदि ''चिद्भिन्नम्'' नहीं कहते, तो पक्ष'' ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हम्'' होता, तब ब्रह्म में यह लक्षण चला जाता और ब्रह्म मिथ्या है नहीं, अतः बाधदोष होता। इस लिए ''चिद्भिन्नम्'' विशेषण पक्ष का दिया गया और 'सत्त्वेन प्रतीर्त्यहम्' इस को न देने पर 'ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति चिद्भिन्नम्'' ऐसा कहने पर पक्षकोटि में अलीकपदार्थ भी प्रविष्ट हो जाता जबकि अलीक मिथ्या नहीं होता है, अतः बाधदोष आ जाता। बाधदोषवारण के लिए 'सत्त्वेन प्रतीर्त्यहम्'' यह पक्ष का विशेषण दिया गया।।१४।।

पहले सम्पूर्ण जगत् को पक्षकोटि में रखकर विप्रतिपत्तिवाक्य को दिखाया। अब एक—एक को पक्षकोटि में रखकर विप्रतिपत्तिवाक्य को दिखा रहे हैं। जैसे— 'आकाशो मिथ्या न वा', ''पृथ्वी मिथ्या न वा''।।१५।।

ऐसा विप्रतिपत्तिवाक्य बनाने पर न्यायामृतकार ने दोष दिया है— 'नापि वियदित्येव पक्षनिर्देशः घटादिस्तु पक्षतुल्य इति वाच्यम्, पक्षादन्यत्र निश्चितसाध्याभाववति हेतुसन्देह इव निश्चितहेतुमति साध्यसन्देहेऽपि

तथा हि—पक्षे साध्याभाव(साध्य)सन्देहस्यानुगुणत्वात् पक्षभिन्न एव तस्य दूषणत्वं वाच्यम्। अत एवोक्तं 'साध्याभावनिश्चयवति हेतुसन्देह एव सन्दिग्धानैकान्तिकता' इति ।।१६।।

पक्षत्वं तु साध्यसन्देहवत्त्वं साध्यगोचरसाधकमानाभाववत्त्वं वा। एतच्च घटादिसाधारणम्। अत एव तत्रापि सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं न दोषः, पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेण।

कैलासविद्याप्रकाशिका

नहीं होगा, क्योंकि घटादि पक्षसम है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि पक्ष में विषयतासम्बन्ध से साध्यसन्देह तो अनुमिति के अनुकूल ही होता है। अतः पक्ष और पक्षसम से भिन्न में ही अर्थात् सन्दिग्धहेतुमत् विपक्ष में ही सन्दिग्धव्यभिचार का दूषणत्व कहना चाहिए। इसीलिए प्राचीन नैयायिकों ने कहा है—साध्याभावनिश्चय वाले विपक्ष में हेतु विषयक सन्देह होने पर सन्दिग्धव्यभिचारदोष होता है।।१६।।

प्राचीनों के मतानुसार पक्षता का लक्षण है—विषयतासम्बन्ध के साध्यसन्देहवत्त्व। नवीनों के मतानुसार पक्षता का लक्षण है—साध्यविषयकनिश्चयाभाववत्त्व। ये दोनों ही पक्षता के लक्षण वियत् और

सत्यानन्दप्रबोधिका

सन्दिग्धानैकान्त्यात्'। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे निश्चितसाध्याभाववाले में हेतु का सन्देह होने पर संदिग्धानैकान्तिकतादोष होता है वैसे ही निश्चतहेतुवाले में साध्य का सन्देह होने पर भी संदिग्धानैकान्तिकतादोष होना चाहिए। किन्तु ऐसा यदि मान लिया जाय तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस सदनुमान में भी दोष होगा, क्योंकि पर्वत में धूम का निश्चय है और साध्य का सन्देह है। अतः धूमहेतु में भी सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष होना चाहिए। जबकि ऐसा कोई भी मानता नहीं है। अतः यह कहना होगा कि पक्ष में साध्याभाव का सन्देह या साध्य का सन्देह अनुमिति के अनुकूल ही होता है और जैसे पक्ष में व्यभिचार नहीं दिया जाता है, वैसे ही पक्ष के समानवाले में भी व्यभिचार नहीं दिया जा सकता है। जैसे कि दीधितिकार ने कहा है— ''न हि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः'' अतः 'वियन्मिथ्या' इत्यादि स्थलों पर घट में सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि घट पक्ष के समान है। अतः पक्ष या पक्षसम से भिन्न में ही सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष देना चाहिए। अत एव प्राचीन आचार्यों का यह कथन चरितार्थ हो जाता है—साध्याभावनिश्चय वाले विपक्ष में हेतु के सन्देह को सन्दिग्धानैकान्तिकता कहते हैं। अतः घट में साध्याभाव का निश्चय न रहने के कारण घट में सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष नहीं दिया जा सकता है ।।१६।।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार पक्षता का लक्षण ''सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वं पक्षत्वम्'' है और नवीनों के अनुसार ''सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभाववत्त्वं पक्षत्वम्'', है। ये दोनों ही पक्षता के लक्षण वियत् और घटादि में हैं, क्योंकि घट में साध्य का सन्देह होने से प्राचीनों के द्वारा किया गया पक्षता का लक्षण और उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से नवीनों का पक्षतालक्षण भी घटादि में है। अतः घटादि में उक्त पक्षता का लक्षण होने से घटादि में सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष नहीं दे सकते हैं। (यहाँ एक विशेष बात यह है कि सन्दिग्धानैकानितकतादोष वहीं पर लगता है, जहाँ अनुकूल तर्क न हो। प्रकृत में अनुकूल तर्कों का निरूपण आगे किया जाएगा। अतः कुछ क्षणों के लिए आपकी बात मान भी लें, तो भी दोष नहीं आयेगा, क्योंकि हमारे पास अनेक अनुकूलतर्क हैं, उन्हें आचार्यप्रवर ने आगे दिखाया है) पक्षता के उक्त दोनों लक्षणों के जाने पर भी घटादि को पक्ष न कहकर पक्षसम कहने का कारण यह है कि घटादि में प्रतिज्ञाविषयत्व नहीं है। अर्थात् ''वियन्मिथ्या'' इस प्रतिज्ञावाक्य का विषय वियद् है, न कि घटादि। अतः घटादि को पक्षसम कहा। (घटादि पक्षसम कैसे हैं? इसका उत्तर पहले ही दिया गया कि वियद्रुप

न च तर्हि प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्, स्वार्थानुमाने तदभावात्।।१७।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च —

कैलासविद्याप्रकाशिका

घटादि में हैं। इसलिए घटादि में सन्दिग्धव्यभिचारदोष नहीं होगा। घटादि में पक्षसमत्व का कथन यदि प्रतिज्ञाविषयत्व के अभाव के कारण है तब तो प्रतिज्ञाविषयत्व को ही पक्षता का लक्षण मान लेना चाहिए—ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि स्वार्थानुमान में प्रतिज्ञाविषयत्व का अभाव होता है।।१७।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्ष के समान ही घटादि में पक्षता के उक्त दोनों लक्षण जा रहे हैं।) पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि प्रतिज्ञा का विषय न होने से घटादि को पक्षसम कहा, तब तो प्रतिज्ञा की विषयता को पक्षता कहना चाहिए और ऐसा यदि मान लिया जाय तो पक्ष कोटि में वियद् ही होगा, घटादि नहीं होगें, तब घटादि में पुनः सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष आयेगा। उसका खण्डन करते हुए कहा गया कि यदि ''प्रतिज्ञाविषयत्वं पक्षत्वम्'' ऐसा मानेंगे तो स्वार्थानुमान में प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग न होने से, वहाँ पक्षता का सम्पादन न हो पाने से परामर्श नहीं बनेगा, तब तो स्वार्थनुमिति ही नहीं होगी।।१७।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च —

२. प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमानप्रयोगाः

एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः——विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवदिति। ना(त्रा)वयवेष्वाग्रहः।।१।।

अत्र स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः।।२।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

पूर्वोक्त प्रकार से विप्रतिपत्तिवाक्य की उपयोगिता सिद्ध हो जाने पर पूर्वाचार्यों के द्वारा किये गये अनुमान प्रयोगों को दिखा रहे हैं—पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति का विशेष्यभूत प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व धर्म है, जैसे शुक्ति में कल्पित अनिर्वचनीय रजत। वेदान्तसिद्धान्त में प्रतिज्ञादिरूप अवयवों के संख्या विशेष का आग्रह नहीं है।।१।।

इन प्रयोगों में स्व (विप्रतिपत्ति) के नियामक (विप्रतिपत्तिनिष्ठ प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्व की योग्यता के सम्पादक जो ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वादिविशिष्ट विशेष्यकत्व) उससे नियत विषयवाली लघुभूता विप्रतिपत्ति का पक्षतावच्छेद होने में कोई विरोध नहीं है।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण मध्यस्थ को कथा के प्रारम्भ में करना चाहिए, यह सिद्ध हो जाने पर पूर्वाचार्यों के द्वारा किये गए मिथ्यात्वसाधक अनुमानों को दिखा रहे हैं—'' विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'', 'विमतं मिथ्या जडत्वात् शुक्तिरूप्यवत्'', 'विमतं मिथ्या परिछिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्''। आचार्यप्रवर यहाँ एक विशेष कथन कर रहे हैं कि परार्थनुमान के जो पाँच अवयव हैं, उन में से पूर्वपक्षी जितने अवयवों को मानकर विचार शुरू करना चाहता हो, उतने ही अवयव मानकर हम अपने मन्तव्यों को सिद्ध कर देंगे। हमारा कोई यह आग्रह नहीं है कि तीन अवयव माना जाय या पाँच ।।१।।

सामान्यत: यह नियम है कि जो विप्रतिपत्तिवाक्य का प्रयोग किया जाता है, उसमें विप्रतिपत्तिवाक्य के विशेष्यभाग को पक्ष बनाया जाता है। विशेषण भाग को साध्य बनाया जाता है। अत: इस नियम के अनुसार यहाँ पर, पक्ष 'ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्'' को कहना चाहिए, न कि 'विमतं' को। ऐसे ही साध्य ''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषधप्रतियोगित्वम्'' को कहना चाहिए, न कि मिथ्यात्व को। इस शङ्का का समाधान देने जा रहे हैं (विप्रतिपत्ति और विमति ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं। विप्रतिपत्तिविशिष्टम्—विप्रतिपन्नम्—पक्ष: अथवा विमतिविशिष्टम्—विमतम्—पक्ष:) कि यदि "ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्धन्नम्" को पक्ष बनाते हैं तो ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व को पक्षतावच्छेदक मानना पड़ता जिसमें गौरव होता। इसकी अपेक्षा विप्रतिपत्तिविशिष्ट को पक्ष बनाते हैं तो पक्षतावच्छेदक, विप्रतिपत्ति होगी और इसमें लाघव है। इस पर प्रश्न होता है कि संसार में विप्रतिपत्तियाँ अनेक हैं। अप्रासङ्गिक जो विप्रतिपत्तियाँ हैं उनसे विशिष्ट को कोई पक्ष न बनाने लग जाय, इसके लिए कहा गया है कि इस मिथ्यात्वानुमान में स्व—विप्रतिपत्ति, उसके नियामक—पक्ष के तीनों भागों (ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्) के अवच्छेदक—ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व से नियत जो हो, ऐसी विप्रतिपत्ति को लेंगे तब दूसरी विप्रतिपत्ति का ग्रहण नहीं हो पायेगा। इस प्रकार से विप्रतिपत्ति (विमति) विशिष्ट विमत को पक्ष बनाने में कोई विरोध नहीं है।।२।।

पुन: यहाँ शङ्का होती है कि विप्रतिपत्तिविशिष्ट को पक्ष कैसे बनाया गया, क्योंकि विप्रतिपत्तिवाक्य का उच्चारण मध्यस्थ कथा के प्रारम्भ में करता है; उसके बाद समयबन्धादि (मध्यस्थ के द्वारा कथा के नियमों की प्रतिज्ञा में वादी—प्रतिवादी को बांधना) का निर्धारण करता है। इसके बाद वादी—प्रतिवादी

समयबन्धादिनाव्यवधानात्तस्या अनुमानकालासत्त्वेऽप्युपलक्षणतया पक्षतावच्छेद–कत्वम्।।३।।

यद्वा (अथवा) विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम्। प्राचां प्रयोगेष्वपि विमतमिति पदं विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नाभिप्रायेणेत्यदोषः।।४।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमानप्रयोगाः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

समयबन्धादि से व्यवधान होने के कारण तद्विप्रतिपत्ति व्यक्तित्व का अनुमान काल में असत्त्व होने पर भी उसमें उपलक्षण विधया पक्षतावच्छेदकत्व हो ही सकता है।।३।।

अथवा विप्रतिपत्ति की विषयता (विशेष्यता) का अवच्छेदक ब्रह्मप्रमेतराबाध्यत्वादि ही पक्षतावच्छेदक है। पूर्वाचार्यों के अनुमानों में भी विप्रतिपत्ति की जो विषयता (विशेष्यता) पक्षनिष्ठा है, तादृश विषयतावच्छेदक जो ब्रह्मप्रमेतराबाध्यत्वादि हैं, उससे अवच्छिन्न जो पक्ष है, तादृश पक्ष के बोधन के अभिप्राय से ''विमतम्'' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिए कोई दोष नहीं है।।४।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमान प्रयोगाः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपने–अपने मत में प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं और तब तक विप्रतिपत्ति तो रहेगी नहीं, तो फिर आपने विप्रतिप त्तिरूप विशेषण से विशिष्ट को पक्ष कैसे कहा? क्योंकि विशेषण का लक्षण "कार्यान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम्" है। अतः विशेषण विप्रतिपत्ति को वर्तमान में रहना चाहिए, जबकि यह अनुमान काल में है ही नहीं। इसका समाधान यह है कि विप्रतिपत्ति से उपलक्षित को पक्ष कहेंगे; अतः अनुमानकाल में विप्रतिपत्ति के न रहने पर भी उपलक्षण के रूप से पक्षतावच्छेदक विप्रतिपत्ति बन जायेगी।।३।।

पहले "विमतम्" का अर्थ 'विप्रतिपत्तिविशिष्टः पक्षः' किया गया था। पश्चात् विप्रतिपत्ति–उपलक्षित पक्ष किया गया और विप्रतिपत्ति अनेक होने से उसमें स्वनियामक– नियत इत्यादि आर्थिक गौरव के कारण अरुचि होने से कह रहे हैं कि विप्रतिपत्ति का विषय (विशेष्य) "ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्" है। अतः विषयता (विशेष्यता) ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यादि में, उसका अवच्छेदक ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व–सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व–चिद्भिन्नत्व होगा। यही पक्षतावच्छेदक है और इसी से पक्ष अवच्छिन्न होगा। प्राचीन आचार्यों के अनुमान में "विमतम्" (पक्ष) कहा गया है। वहाँ भी विप्रतिपत्ति की विषयता (विशेष्यता) ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यादि में, विषयता का अवच्छेदक (विशेष्यतावच्छेदक) ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वादि से अवच्छिन्न ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यादि जो पक्ष है, वही विमतं पद से कहा गया है। अतः कोई दोष नहीं है।।४।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमानप्रयोगाः —

३ः प्रथममिथ्यात्वविचारः

ननु किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते? न तावत् 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' इति पञ्चपादिकावचनात् सदसत्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्। तद्धि किं सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावः? उत सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयम्। आहोस्वित् सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम्?।।१।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का – मिथ्या शब्दार्थता का अवच्छेदक (मिथ्यात्व) जो पक्ष के विशेषणरूप से निर्दिश्यमान है, वह क्या है? यदि कहो कि ''मिथ्या शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है।'' इस पञ्चपादिकाकार के वचन से ''सत्त्व और असत्त्व का अनधिकरणत्व रूप अनिर्वाच्यत्व = मिथ्यात्व है'' ऐसा सिद्धान्ती का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सदसत्त्वानधिकरणत्वरूप मिथ्यात्व का निरूपण नहीं हो सकता है। जैसे यदि उसका अर्थ सत्त्वविशिष्ट असत्त्व का अभाव है?अथवा सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावधर्मद्वय है? अथवा सत्त्वात्यन्ताभाव से विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव है?।।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतसिद्धि में पञ्च प्रकार के मिथ्यात्वलक्षण बतलाये गये हैं। उनमें से प्रथम लक्षण पञ्चपादिकाचार्य का है। द्वितीय व तृतीय लक्षण विवरणाचार्य के हैं। चतुर्थ लक्षण प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाकार का है; और अन्तिम लक्षण आनन्दबोधाचार्य का है। जैसा कि कहा गया है कि :

आद्यं पञ्चपाद्युक्तं ततो विवरणोदिते। चित्सुखीयं चतुर्थं स्यादन्त्यमानन्दबोधजम्।।

इसमें से प्रथम लक्षण पर शङ्का—समाधान के रूप में विचार प्रारम्भ किया जा रहा है।

विप्रतिपत्तिवाक्य के प्रदर्शन के बाद वेदान्ती द्वारा मान्य, जगन्मिथ्यात्व में प्रमाणरूप से प्राचीन आचार्यों का अनुमान "प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्" उपस्थापित किया गया। पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि उक्त अनुमान का घटक जो साध्य 'मिथ्यात्व' (मिथ्याशब्दार्थ) क्या है, जिसको आप वेदान्ती (सिद्धान्ती) सिद्ध करना चाह रहे हैं? यदि आप कहो कि पञ्चपादिकाचार्य के द्वारा प्रतिपादित मिथ्या शब्द का जो अर्थ है वही हम सिद्ध करना चाहते हैं, तो आप (वेदान्ती) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पञ्चपादिकाचार्य के अनुसार मिथ्या शब्द अनिर्वचनीयता का बोधक है; और अनिर्वचनीयता है 'सदसत्त्वानधिकरणत्त्वम्'। 'सच्च तद् असच्च सदसत् तस्य भावः सदसत्त्वम्, तस्य अनधिकरणत्वम्' क्या ऐसा कर्मधारय समास अङ्गीकार करके 'सदसत्त्वानधिकरणत्व' से आप सत्त्वविशिष्ट असत्त्व का अभाव कहना चाहते हैं, या 'सच्च असच्च सदसती (द्वन्द्व समास) तयोर्भावः सदसत्त्वम्, तस्य अनधिकरणत्वम्' अर्थात् सत्त्वानधिकरणत्व एवं असत्त्वानधिकरणत्वरूपी धर्मद्वय को सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वचनीयत्वम् कहते हो? अथवा क्या आप 'सदसत्त्वानधिकरणत्वम्' का अर्थ 'सत्त्वात्यन्ताभाववत्वे सति असत्वात्यन्ताभाववत्वं विशिष्टम्', यानी सत्त्वात्यन्ताभाव से विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव को कहना चाह रहे हैं? (सति सप्तमी का समानाधिकरणत्वार्थ होने से सत्त्वात्यन्ताभाव के समान अधिकरणत्व वाला असत्त्वात्यन्ताभाव यह अर्थ निष्पन्न होगा)। ऐसे में 'सदसत्त्वानधिकरणत्वम्' में जो सत् पद है, वह भावपरक अर्थ देगा। "सदनधिकरणत्वञ्च तदसत्त्वानधिकरणञ्च" इस प्रकार से यहाँ मध्यमपदलोपी कर्मधारय समास है, क्योंकि सत्पद के उत्तर अनधिकरणत्व पद का लोप हो गया है। अतः सदसत्त्वानधिकरणत्वम्— इस पद की सिद्धि हो जाती है। कर्मधारयसमास का आश्रय करने से यहां पर सत्त्वानधिकरणत्व को विशेषणरूप से एवं असत्त्वानधिकरणत्व को विशेष्यरूप से ग्रहण किया गया है।।१।।

नाद्यः, सत्त्वमात्राधारे जगत्यसत्त्वविशिष्टसत्त्वानभ्युपगमात्, विशिष्टाभावसाधने सिद्ध–साधनात्।।२।।

न द्वितीयः, सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावेऽपरसत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मवत् सत्त्वासत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनाऽमिथ्यात्त्वोपपत्त्याऽर्थान्तराच्च। शुक्तिरूप्येऽबाध्यत्वरूपसत्त्व–व्यतिरेकस्य सत्त्वेऽपि बाध्यत्वरूपासत्त्वस्य व्यतिरेकासिद्ध्या साध्यवैकल्याच्च ।।३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि माध्वमत में सत्त्वमात्र का आधार प्रपञ्च है। इसलिए केवल सत्त्वधर्म के आधारभूत प्रपञ्च में सत्त्वविशिष्ट असत्त्व नहीं माना जाता है। सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभाव को साध्य बनाने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव माध्वमत से प्रपञ्च में सिद्ध ही है।।२।।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व परस्पर अभावरूप होने से एक का अभाव होने पर दूसरे का सत्त्व (अस्तित्व) आवश्यक होने से व्याघात दोष होगा। दूसरा दोष यह भी होगा कि सत्त्वासत्त्व का राहित्य होने पर भी प्रपञ्च में ब्रह्मवत् सद्‌रूपता होने से अर्थान्तर दोष होगा। ''अबाध्यत्वं सत्त्वम्'' इस नियमानुसार दृष्टान्त में अबाध्यत्वरूप सत्त्व का अभाव होने पर भी ''बाध्यत्वमसत्त्वम्'' इस नियमानुसार बाध्यत्वरूप असत्त्व का अभाव दृष्टान्त में न होने के कारण साध्य वैकल्य है।।३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस प्रकार मिथ्यात्व लक्षण के तीन विकल्प करके पूर्वपक्षी प्रत्येक में दोष देने का प्रयास कर रहा है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि माध्वमत में प्रपञ्च को सत् माना जाता है। अतः प्रपञ्च में सत्त्व रहता है और प्रपञ्च में असत्त्व नहीं रहता है। इसलिए केवल सत्त्व धर्म के आधारभूत जगत् में सत्त्वविशिष्ट असत्त्व नही माना जा सकता है। अतः सत्त्वविशिष्टासत्वाभाव को साध्य बनाने पर माध्वमत से सिद्धसाधनदोष आयेगा, क्योंकि माध्वमत में भी जगत् में असत्त्वधर्म नहीं माना जाता है। अतः जगत् में विशेष्य के न होने से विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव के रूप में उक्त लक्षण जगत् में जाने से सिद्धसाधनदोष है।।२।।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व में से एक का अभाव करने पर दूसरे का भाव सिद्ध हो जाता है। जैसे सत्त्वाभाव–असत्त्व एवं असत्त्वाभाव–सत्त्व है। अतः जगत् में सत्त्व का अभाव एवं असत्त्व का अभाव मानने पर अर्थ यह होगा कि जगत् में असत्त्व है और सत्त्व भी है, अर्थात् जगत् असत् है और सत् भी। ऐसा अर्थ करने पर व्याघातदोष होगा और दूसरा दोष यह होगा कि सिद्धान्ती ब्रह्म में सत्त्व का अत्यन्ताभाव एवं असत्त्व का अत्यन्ताभाव दोनों मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म में कोई भी धर्म नहीं रहता है, चाहे वह सत्त्वरूप हो या असत्त्वरूप। फिर भी ब्रह्म को पारमार्थिकसत् मानते हैं। ठीक वैसे ही जगत् में सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्त्व का अत्यन्ताभाव दोनों के रहने पर जगत् को भी पारमार्थिकसत् मानना चाहिए और ऐसा मानने पर जगत् मिथ्या सिद्ध न होकर पारमार्थिकसत् सिद्ध हो जाने से अर्थान्तरदोष आयेगा। न्यायदर्शनकार ने निग्रहस्थानों की जो गणना की है, उसमें अर्थान्तर भी एक निग्रहस्थान माना गया है–'प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्' (न्या.सू. ५/२१६) मूल प्रसङ्ग से असम्बद्ध पदार्थ की सिद्धि हो जाना, अर्थान्तर दोष कहलाता है। अब दृष्टान्त में साध्याभाव दिखा रहे हैं–सत्त्वात्यन्ताभाव में सत्त्व का अर्थ–अबाध्यत्व, उसका अभाव–बाध्यत्व के शुक्तिरूप्य में रहने पर भी असत्त्वात्यन्ताभाव शुक्तिरूप्य में नहीं रहेगा, क्योंकि असत्त्व–बाध्यत्व, उसका अभाव–अबाध्यत्व, वह शुक्तिरूप्य में नहीं है। अतः दृष्टान्त में साध्यविकलता आ गयी।।३।।

अत एव न तृतीयः, पूर्ववद् व्याघातात्, अर्थान्तरात्साध्यवैकल्याच्चेति चेत्।।४।।

मैवम्। सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात्। न च व्याहतिः। सा हि सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया वा? परस्परविरहव्यापकतया वा? परस्परविरह व्याप्यतया वा? तत्र नाद्यः, तदनङ्गीकारात्। तथा ह्यत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्त्वानधिकरणत्वम्। तद्व्यतिरेकश्च साध्यत्वेन विवक्षितः। तथा च त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम्। एवं च सति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि। बाध्यत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

पूर्ववत् दोषत्रय के होने के कारण ही तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तृतीय पक्ष में भी दूसरे पक्ष के समान ही व्याघात दोष, अर्थान्तर दोष और दृष्टान्त में साध्यविकलता है।।४।।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि द्वितीय विकल्पोक्त सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वय को मिथ्यात्व रूप से स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षी ने जो व्याघात दोष दिया था, वह क्या सत्त्व और असत्त्व का परस्परविरहरूपत्व है? अथवा परस्पर विरह व्यापकत्वरूप है? अथवा परस्परविरहव्याप्यत्वरूप है? उन तीनों में से प्रथम पक्ष इसलिए उचित नहीं है क्योंकि उसको सिद्धान्त मत में माना नहीं जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इस लक्षण

सत्यानन्दप्रबोधिका

अब तृतीयपक्ष में दोष दे रहे हैं:–अत एव–द्वितीय पक्ष के समान ही, न तृतीयः–तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तृतीय कल्प में भी व्याघातदोष, अर्थान्तरदोष और दृष्टान्त में साध्यविकलता, दूसरे पक्ष के समान ही समझ लेना चाहिए, क्योंकि जैसे द्वितीय पक्ष अभावद्वय से घटित है, वैसे ही तृतीय पक्ष भी अभावद्वय से घटित है। भेद केवल इतना है कि द्वितीय पक्ष में अभावों का परस्पर सामानाधिकरण्येन वैशिष्ट्य विवक्षित नहीं है किन्तु तृतीय पक्ष में विवक्षित है परन्तु अभावद्वय से घटित होने के कारण द्वितीय और तृतीय दोनों ही पक्षों में समान रूप से दोष होगा।।४।।

इस प्रकार पूर्वपक्ष का उपपादन हो जाने पर सिद्धान्तपक्ष से समाधान दे रहे हैं कि मिथ्यात्व को सत्त्व का अत्यन्ताभाव एवं असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्मद्वय (दूसरा विकल्प) को मानने पर कोई दोष नहीं होगा। मिथ्यात्व का ऐसा लक्षण मानने पर पूर्वपक्षी ने जो तीन दोष (व्याघात, अर्थान्तर और साध्यविकलता) दिये थे। उनमें से प्रथम व्याघातदोष नहीं लगेगा। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से पूछ रहे हैं कि जो तुमने व्याघातदोष दिया है, वह क्या इसलिए कि सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरह रूप हैं–अर्थात् सत्त्व का अभाव असत्त्वरूप है और असत्त्व का अभाव सत्त्वरूप है; अथवा सत्त्व और असत्त्व परस्परविरह के व्यापक हैं–अर्थात् 'यत्र यत्र असत्त्वाभावः तत्र तत्र सत्त्वम्' एवं 'यत्र यत्र सत्त्वाभावः तत्र तत्र असत्त्वम्' ऐसी व्याप्ति होने से व्याघातदोष दे रहे हो? अथवा सत्त्व और असत्त्व परस्परविरहव्याप्य रूप हैः अर्थात् 'यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र असत्त्वाभावः' एवं 'यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र सत्त्वाभावः' ऐसी व्याप्ति को ध्यान में रखकर क्या व्याघातदोष दे रहे हो? उन तीनों पक्षों में से प्रथम पक्ष तो तुम कह नहीं सकते हो। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व को परस्पर अभावरूप हम (सिद्धान्ती) नहीं मानते हैं। जैसे त्रिकालाबाध्यत्व को हम सत्त्व मानते हैं, किन्तु सत्त्व के अभाव को असत्त्व नहीं मानते हैं। प्रश्न होगा कि सिद्धन्ती असत्त्व किसे मानते हैं? इसका उत्तर है:–किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीयमानता का जो अनधिकरण हो, अर्थात् जो कभी भी सत्त्वेन प्रतीयमान न होता हो उसको असत्त्व कहते हैं। तादृश असत्त्व का व्यतिरेक साध्य

साध्याप्रवेशात्। नापि व्याघातः, परस्परविरहरूपत्वाभावात्। अत एव न द्वितीयोऽपि, सत्त्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्त्वव्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्। नापि तृतीयः, तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात्, गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोरुष्ट्रादावेकत्र सहोपलम्भात्।।५।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

में त्रिकालाबाध्यत्वरूप जो सत्त्व है, उसके अभाव को हम असत्त्व नहीं मानते हैं किन्तु किसी भी अधिकरण में सद्रूप से प्रतीयमानत्व का अनधिकरणत्व ही असत्त्व है। ऐसे असत्त्व का अभाव ही साध्य के घटकरूप से कहा गया है। अतः त्रिकालाबाध्य से विलक्षण होकर किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीयमानत्व ही साध्य का स्वरूप पर्यवसित हुआ। ऐसा होने पर दृष्टान्त शुक्तिरजत में साध्यवैकल्य भी नहीं होगा। क्योंकि बाध्यत्वरूप असत्व के अभाव को साध्य में प्रवेश नहीं किया गया है। पूर्वोक्त व्याघात दोष भी नहीं होगा, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व को परस्पर अभाव रूप हम नहीं मानते हैं। इसलिए द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप जो सत्त्व है उसका अभाव शुक्तिरजत में रहने पर भी उसमें सिद्धान्ती मतानुसार उक्त असत्त्व नहीं है। अतः सत्त्वाभाव का व्यापक असत्त्व होता है— यह व्याप्ति व्यभिचार दोष से ग्रसित हो गयी। व्याघात को सिद्ध करने वाला तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरहव्याप्यत्व को व्याघात का हेतु नहीं माना जाता है। जैसे गोत्व और अश्वत्व परस्पराभाव के व्याप्य होते हैं किन्तु गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव में विरोध नहीं माना जाता है, क्योंकि दोनों ही उक्त अभाव उष्ट्रादि में एक साथ उपलब्ध होते हैं।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में प्रविष्ट है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि एतादृश असत्त्व का व्यतिरेक साध्य में प्रविष्ट होने से पक्ष मात्र में सत्त्वेन प्रतियमानत्व ज्ञापित होता है। परन्तु सत्त्वेन प्रतियमानत्व दृश्यमात्र में नहीं है, क्योंकि ''घटो गुरुः'' इत्यादि प्रमामात्र से सिद्ध जो गुरुत्व है, उसके सत्त्वेन प्रतियमानत्व में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण न होने के कारण उसमें सत्त्वेन प्रतियमानत्व योग्यत्व भी नहीं कह सकते है। ऐसी शङ्का के समाधानार्थ अद्वैतसिद्धिकार ने सत्त्व का विशेषण ''क्वचिदप्युपाधौ'' दिया है। अतः यह अर्थ होगा कि — यत्किञ्चिदधिकरणनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टं यत्सत्त्वं तेन सत्त्वेन प्रतियमानत्वम्। अर्थात् कोई भीअधिकरण में रहने वाला जो सत्त्व है उस सत्त्व से प्रतियमानत्व। ऐसा करने से यह लाभ होगा कि गुरुत्वादि भी घटाद्यवच्छिन्न चेतन में आरोपित हैं। इसलिए घटाद्यवच्छिन्न चेतन के सत्त्व का आरोप गुरुत्वादि में होगा। ऐसा होने पर ''पृथिव्यादिनिष्ठं गुरुत्वादिकं सत्'' ऐसे प्रत्यय की उपपत्ति हो जाएगी और तब सर्वदृश्य में सत्त्वेन प्रतियमानत्व योग्यत्व की उपपत्ति भी हो जाएगी। इस प्रकार से सत्त्वात्यन्ताभाव, अर्थात् त्रिकालाबाध्यत्व का अभाव और असत्त्वात्यन्ताभाव, अर्थात् किसी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीयमान हो ऐसा साध्य हमें विवक्षित है। अब शुक्तिरूप्य में साध्य का समन्वय हो जायेगा, क्योंकि शुक्तिरूप्य में त्रिकालाबाध्यत्व का अत्यन्ताभाव है और शुक्ति अधिकरण में रजत सत्त्वेन प्रतीयमान भी हो रहा है। (और) पूर्वपक्षी ने बाध्यत्वरूप असत्त्व का अभाव—अबाध्यत्व को साध्यकोटि में प्रवेश करा कर जो दोष दिया है उसका निराकरण कर दिया गया, क्योंकि बाध्यत्व को हम असत्त्व नहीं मानते हैं। पूर्वपक्षी ने पहले यह कहा था कि सत्त्व और असत्त्व दोनों में से एक का अभाव कर देने पर दूसरे की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि सत्त्व और असत्त्व परस्पर अभावरूप नहीं है। अर्थात् सत्त्वाभाव—असत्त्व, और असत्त्वाभाव—सत्त्वरूप ही होता है ऐसा नहीं है। इसलिए दूसरा पक्ष भी खण्डित

यच्च निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्ववत्प्रपञ्चस्य सद्रूपत्त्वेनामिथ्या–त्वोपपत्त्याऽर्थान्तरमुक्तम्। तन्न, एकेनैव सर्वानुगतेन सत्त्वेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ ब्रह्मवत् प्रत्येकं प्रपञ्चस्य सत्स्वभावताकल्पने मानाभावात्, अनुगतव्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च।।६।।

सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं वा साध्यम्। तथा चोभयात्मकत्वेऽन्यतरात्मकत्वे

कैलासविद्याप्रकाशिका

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि निर्धर्मक ब्रह्म में जैसे सत्त्व और असत्त्व का अभाव रहने पर भी ब्रह्म को सत् ही माना जाता है, न कि मिथ्या, ठीक वैसे ही प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व का अभाव होने पर भी प्रपञ्च को सद्रूप माना ही जा सकता है। अतः अर्थान्तरदोष होगा–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक ही सर्वानुगत सद्रूप ब्रह्म से घट–पटादि सभी में ''घटः सन्'' ''पटः सन्'' इस प्रकार से सर्वत्र सदाकार प्रत्यय की उपपत्ति हो सकती है, तब ब्रह्मवत् प्रपञ्च की घट–पटादि प्रत्येक वस्तु में सत्स्वरूपता की कल्पना करने में प्रमाणाभाव है। यदि प्रपञ्च की घट–पटादि प्रत्येक वस्तु में सत्स्वरूपता की कल्पना करेंगे तो सत्त्वेन अनुगतव्यवहार के अभाव का प्रसङ्ग आयेगा।।६।।

अथवा सत् प्रतियोगी है जिस भेद का और असत् प्रतियोगी है जिस भेद का एवम्भूत जो भेद द्वय है उसको साध्य बनाने पर अर्थान्तर दोष नहीं होगा, क्योंकि जिस मत में प्रपञ्च को

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो गया, क्योंकि "यत्र यत्र सत्त्वाभावः तत्र तत्र असत्त्वम्" इस व्याप्ति का शुक्तिरजत में व्यभिचार है, क्योंकि शुक्तिरजत में सत्त्वाभाव के रहने पर भी वेदान्ती के द्वारा मान्य जो असत्त्व वह शुक्तिरजत में नहीं है। तृतीय पक्ष (परस्पर विरहव्याप्यता) को व्याघात का हेतु कहीं भी नहीं माना जाता है। जैसे गोत्व एवं अश्वत्व परस्पर विरहव्याप्य है– 'यत्र यत्र गोत्वं तत्र तत्राश्वत्वाभावः' एवं 'यत्र यत्राश्वत्वं तत्र तत्र गोत्त्वाभावः' इस प्रकार परस्पर विरहव्याप्यता होने पर भी उष्ट्रादि में अश्वत्वाभाव और गोत्वाभाव दोनों की साथ–साथ उपलब्धि होती है ऐसे स्थल पर व्याघातदोष कोई भी नहीं मानता है।।५।।

पूर्वपक्षी ने पहले ब्रह्म को दृष्टान्त बनाकर प्रपञ्च को पारमार्थिकसत्य सिद्ध किया था कि ब्रह्म में जैसे सत्त्वासत्त्व के न रहने पर भी ब्रह्म को पारमार्थिकसत् माना जाता है, ठीक वैसे ही जगत् में सत्त्वासत्त्व के न रहने पर भी जगत् को पारमार्थिक सत् सिद्धान्ती को मानना चाहिए और ऐसा मान लेने पर अर्थान्तरदोष होगा। ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि एक ही सद्ब्रह्म के द्वारा जब सर्वत्र (घटः सन्, पटः सन्, इत्यादि स्थलों में) सत् की प्रतीति हो रही है, तब ब्रह्म के समान ही सभी को सत् मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से गौरव होगा और अनेक सत् मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायमत में छोटे या बड़े घट को देखकर सर्वत्र "अयं घटः अयं घटः" ऐसी प्रतीति होती है। इस एकाकार प्रतीति के प्रति सभी घटों में रहने वाले घटत्व को कारण नैयायिक मानते हैं। ऐसे ही 'घटः सन्, पटः सन्' इत्यादि व्यवहार के प्रति एक सत् (ब्रह्म) को कारण माना जाता है, क्योंकि वह सर्वत्र अनुगत है। अब यदि प्रपञ्च के प्रत्येक पदार्थ को सत् मानेंगे, तो घटादि भी सत् होंगे। तब घटादि की सब के साथ अनुगतप्रतीति होनी चाहिए, किन्तु ऐसी अनुगत ('घटः पटः, घटो मठः' इस प्रकार) प्रतीति होती नहीं है। इस प्रकार से सत्त्वात्यन्ताभाव, असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय को साध्य बनाने पर जो अर्थान्तर का आरोप लगाया था उसका निराकरण हो गया।।६।।

अब उक्त अर्थान्तर को "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार स्वीकार करके साध्यान्तर को कह रहे हैं। सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वय को साध्य बनायेंगे। ऐसा साध्य बनाने से जो लोग (न्यायपेटिकाकार

वा, तादृग्भेदासम्भवेन ताभ्यामर्थान्तरानवकाशः।।७।।

न चासत्त्वव्यतिरेकांशस्यासद्भेदस्य च प्रपञ्चे सिद्धत्वेनांशतः सिद्धसाधनमिति वाच्यम्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

सदसदुभयस्वरूप अथवा सद्रूप या असद्रूप माना जाता है, उनके मत में सत्प्रतियोगिक और असत्प्रतियोगिक भेदद्वय प्रपञ्च में असम्भव होने से उभयात्मकत्व या अन्यतरात्मकत्व के द्वारा अर्थान्तर दोष नहीं दिया जा सकता है।।७।।

शङ्का – मिथ्यात्वानुमान के साध्य में प्रविष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव भाग और असत्प्रतियोगिक भेद पक्षरूप प्रपञ्च में प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण मिथ्यात्वानुमान में अंशतः सिद्धसाधन दोष है।

समाधान– उभयत्वरूपावच्छिन्नविषयकत्व विशिष्ट अनुमिति में प्रत्येक रूपावच्छिन्नसाध्यसिद्धि को प्रतिबन्धक नहीं माना जाता है। जैसे गुण–क्रिया–जाति–अवयवी आदि ये सभी क्रमशः गुणी, क्रियावान्, व्यक्ति–अवयव आदि के साथ भेद तथा अभेद वाले है, क्योंकि अभेद संसर्गक ज्ञानीय

सत्यानन्दप्रबोधिका

आदि) प्रपञ्च को सदसत् उभय रूप मानते हैं तथा माध्वादि प्रपञ्च को सत् मानते हैं एवं बौद्ध आदि प्रपञ्च को अलीक मानते हैं, इनमें से किसी के मत द्वारा सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि जो लोग प्रपञ्च को सदसत् उभयरूप मानते हैं, उनके मत में भी सत्प्रतियोगिकभेद–असत्प्रतियोगिकभेद प्रपञ्च में सिद्ध न होने से सिद्धसाधन दोष नहीं आयेगा। ऐसे ही जो प्रपञ्च को सत् मानते हैं, उनके मत में भी साध्य का घटक सत्प्रतियोगिकभेद प्रपञ्च में सिद्ध न होने से सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। जो प्रपञ्च को अलीक मानते हैं उनके मत में भी साध्य का घटक असत्प्रतियोगिकभेद प्रपञ्च में सिद्ध न होने से सिद्धसाधनदोष नहीं होगा और दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में साध्य का समन्वय होने से साध्यविकलता भी नहीं होगी। मूलस्थ अर्थान्तर शब्द से यहाँ सिद्धसाधन अभिप्रेत है। अर्थात् जिसे आप मिथ्या सिद्ध करना चाह रहे थे, वह मिथ्या सिद्ध न होकर सत्य सिद्ध होगा और उसे हम पहले से ही सत्य मानते हैं।।७।।

यह नियम है कि पक्षतावच्छेदकधर्म के नाना होने पर अथवा साध्यतावच्छेदकधर्म के नाना होने पर अंशतः सिद्धसाधनदोष होता है। अब आगे जो विचार होगा उसमें पूर्वपक्षी साध्यतावच्छेदकधर्म को नाना(सत्त्वात्यन्ताभावत्व, असत्त्वात्यन्ताभावत्व, सत्प्रतियोगिकत्व, असत्प्रतियोगिकत्व) मानकर दोष देगा और सिद्धान्ती साध्यतावच्छेदक उक्त उभयत्व को मानकर समाधान देंगे। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा जो अनुमान किया गया उसमें से साध्य के असत्त्वात्यन्ताभाव और असद्भेद, इस अंश को प्रपञ्च में हम भी मानते हैं। अतः सिद्धसाधनदोष एक अंश में है। तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि भेदाभेदवादी मीमांसकादियों के द्वारा नैयायिकों के प्रति जो अनुमान किया गया, 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वात्'। इस अनुमान में हेतु–समानाधिकृतत्व का अर्थ समानविभक्तिकप्रतिपाद्यता नहीं करना चाहिए, क्योंकि (कोशादि में) 'घटः कुम्भः' में समानविभक्तिकप्रतिपाद्यत्व के रहने पर भी उक्त साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। अतः उक्त हेतु का अर्थ 'संसर्गकधीविषयतायोग्यत्व' करने पर 'घटः कुम्भः' में अत्यन्त अभेद होने के कारण संसर्गक–धीविषयतायोग्यत्व नहीं है, क्योंकि संसर्ग भिन्न में ही होता है, इसलिए साध्य भी नहीं है, अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। यहाँ अनुमान को अलग–अलग इस प्रकार से समझना चाहिए–'गुणः गुणिप्रतियोगिकभेदाभेदोभयवान् समानाधिकृतत्वात्', 'क्रिया–क्रियावत्प्रतियोगिक–भेदाभेदोभयवती समानाधिकृतत्वात्', 'जातिः व्यक्तिप्रतियोगिकभेदाभेदोभयवती समानाधिकृतत्वात्' इत्यादि। उक्त अनुमान में नैयायिकादिकों के द्वारा गुण–गुणी आदि में भिन्नत्व अनुमान से पहले ही सिद्ध होने पर भी सिद्धसाधनदोष नहीं माना जाता है। यहाँ विशेष बात यह है कि प्रमाणपद्धति में माध्वाचार्य जयतीर्थ

'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वादिति' भेदाभेदवादिप्रयोगे तार्किकाद्यङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावप्युद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेर्यथा न सिद्धसाधनम्, तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनम्।।८।।

यथा च तत्राभेदे (तत्त्वाभेदे) घटः कुम्भ इति सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनेन मिलितसिद्धिरुद्देश्या,

कैलासविद्याप्रकाशिका

विषयता के योग्य होने से—इत्याकारक भट्टसांख्यपातञ्जलादि द्वारा नैयायिकों के प्रति क्रियमाण अनुमान में नैयायिकों द्वारा अङ्गीकृत जो गुणादि का गुण्यादि के साथ भेद है, उसके निश्चित होने पर भी उक्त प्रयोग की तात्पर्यविषयीभूत भेदाभेदोभयवत्त्व की प्रतीति की असिद्धि होने से जिस प्रकार से सिद्धसाधनदोष नहीं माना जाता है, ठीक उसी प्रकार से प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में सत्त्वासत्त्वोभयात्यन्ताभाव अथवा सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिक—भेदद्वय की मिलित प्रतीति ही उद्देश्य होने से सिद्धसाधनदोष नहीं होगा।।८।।

जैसे भेदाभेदवादी के अनुमान में केवल अभिन्नत्व को साध्य बनाने पर ''घटः कुम्भः'' इस स्थल पर अभिन्नत्वरूप साध्य के रहने पर भी हेतु नहीं रहता, क्योंकि ''घटः कुम्भः'' इस स्थल पर अत्यन्त अभेद होने के कारण भेदसमानाधिकरणाभेदसंसर्गकप्रतीति नहीं होती है। अतः भेदाभेदवादियों के अनुमान के मिलित भेदाभेद की सिद्धि ही उद्देश्य है, ठीक वैसे ही मिथ्यात्वानुमान में केवल सत्त्वात्यन्ताभाव अथवा

सत्यानन्दप्रबोधिका

ने गुणादि का गुणी आदि से भिन्नाभिन्नत्व का समर्थन किया है, उन्होंने उक्त अनुमान में अंशतः सिद्धसाधनदोष नहीं माना है, क्योंकि साध्य का एक अंश पक्ष में सिद्ध होने पर भी उक्त न्याय प्रयोग की तात्पर्यविषयीभूता भिन्नाभिन्नत्व मिलितप्रतीति सिद्ध नहीं है। ठीक उसी प्रकार जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाले अनुमान में भी सत्त्वात्यन्ताभाव असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय को एवं सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदरूप धर्मद्वय को मिलितरूप से साध्य बनाया गया है। अतः साध्य के एकांश की पक्ष में सिद्धि अनुमान से पहले से रहने पर भी सिद्धसाधनदोष नहीं होगा।।८।।

सिद्धान्ती ने भेदाभेदवादी के अनुमान को दृष्टान्त बनकर अपने अनुमान में आ रहे अंशतः सिद्धसाधनदोष का वारण किया। अब पूर्वपक्षी यदि कहता है कि दृष्टान्त—दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि भेदाभेदवादी के अनुमान में भेद—अंश को छोड़कर अभेद—अंश को साध्य बनाते तो हेतु में अप्रयोजकत्व की शङ्का होती, क्योंकि 'घटः कुम्भः' ऐसे स्थलों में अत्यन्त अभेद है किन्तु उक्त हेतु नहीं है। अर्थात् यह हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है ऐसी शङ्का होती। इस शङ्का के वारण के लिए भेद को भी साध्यकोटि में रखा गया। तब 'घटः कुम्भः' में हेतु और साध्य दोनों के न रहने से कोई दोष नहीं होता है। किन्तु सिद्धान्ती के अनुमान में सत्त्वात्यन्ताभाव को या सत्प्रतियोगिकभेद को साध्य बनाने पर कोई दोष नहीं है। अतः असत्प्रतियोगिकभेदादि को साध्यकोटि में रखने पर अंशतः सिद्धसाधनदोष आयेगा, इसका समाधान दिया जा रहा है—जैसे भेदाभेदवादी के अनुमान में अभिन्नत्व को साध्य बनाया जाय तो 'घटः कुम्भः' में अत्यन्त अभेद होने के कारण भेदसमानाधिकरणाभेद— संसर्गविषयकप्रतीति नहीं होती है। जैसे— 'रक्तो घटः' यहाँ पर रक्त—गुण, घट—गुणी होने के कारण भेदसमानाधिकरणाभेदसंसर्गविषयकप्रतीति होती है। अतः 'घटः कुम्भः' में अभिन्नत्वरूप साध्य के रहने पर भी समानाधिकृतत्व (भेदसमानाधिकरणाभेदसंसर्गकधीविषयतायोग्यत्व) रूप हेतु के न रहने से हेतु में अप्रयोजकत्व की शङ्का होती है; ठीक उसी प्रकार जगत् के मिथ्यात्व अनुमान में यदि सत्त्वात्यन्ताभाव को साध्य बनाए, या सत्प्रतियोगिकभेद को साध्य बनाए तो उक्त दोनों साध्य अलीक बन्ध्यासुत में हैं, किन्तु

तथा प्रकृतेऽपि सत्त्वरहिते तुच्छे दृश्यत्वादर्शनेन मिलितस्य तत्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्येति समानम्।।९।।

अत एव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं साध्यमित्यपि साधु ।।१०।।

न च मिलितस्य विशिष्टस्य वा साध्यत्वे तस्य कुत्राप्यप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्, प्रत्येकं

कैलासविद्याप्रकाशिका

सत्प्रतियोगिकभेद को साध्य बनाने पर वन्ध्यासुतादि अलीक पदार्थो में साध्य के रहने पर भी दृश्यत्व हेतु नहीं रहता। अतः उभयाभाव अथवा उभयभेद का ही प्रयोजक दृश्यत्व हेतु के होने के कारण मिथ्यात्वसाधकानुमान में भी उभयाभाव अथवा उभयभेद की मिलितसिद्धि ही उद्देश्य है।।९।।

अत एव = पूर्वपक्षी के द्वारा द्वितीयविकल्प में कथित दोषों का निराश हो जाने से। सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूपविशिष्ट जो साध्य है—वह भी निर्दुष्ट है।।१०।।

शङ्का— उक्त मिथ्यात्वानुमान का साध्य (उभयाभाव अथवा विशिष्टाभाव) कहीं पर प्रसिद्ध न होने के कारण साध्याप्रसिद्धि दोष है। प्रत्येक की प्रसिद्धि के द्वारा मिलित या विशिष्ट का साधन करने पर शशीयशृङ्ग की भी सिद्धि होनी चाहिए, क्योंकि शश के अवयवों में शश की प्रसिद्धि और गौ में शृङ्ग की प्रसिद्धि हो जायेगी।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृश्यत्व हेतु अलीक में नहीं हैं, अतः हेतु में अप्रयोजकत्व की शङ्का होगी। उसको वारण करने के लिए सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वान्त्यन्ताभावरूप धर्मद्वय को एवं सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वय को मिलितरूप से उद्देश्य बनाने से हेतु में अप्रयोजकत्व की शङ्का निरस्त हो जाती है। इस प्रकार दृष्टान्त—दार्ष्टान्त में जो विषमता दिखाई गयी थी उसका खण्डन हो गया, अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता है।।९।।

अब आचार्यप्रवर तृतीयपक्ष का समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि अत्यन्ताभावघटित द्वितीय पक्ष को साध्य बनाने पर पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावित व्याघात, अर्थान्तर, अंशतः सिद्धसाधन और साध्यवैकल्य नामक चारों दोषों का खण्डन कर दिए जाने के कारण तृतीय पक्ष (सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्ट—असत्त्वात्यन्ताभाव) में पूर्वपक्षी द्वारा उद्भावितदोष का भी निरास द्वितीय पक्ष के समान हो जाने से तृतीयपक्ष भी ठीक है।।१०।।

अब पूर्वपक्ष की तरफ से साध्याप्रसिद्धिदोष दिया जा रहा है। सिद्धान्ती का मिलितसाध्य (सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय) अथवा विशिष्टसाध्य (सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्टा— सत्त्वात्यन्ताभाव) की कहीं पर भी प्रसिद्धि नहीं है, क्योंकि एक जगह पर साध्य की सिद्धि मानने पर व्याघात आदि दोष आयेगा और यदि साध्य के एक—एक भाग की अलग—अलग प्रसिद्धि दिखाए, जैसे सत्त्वाभाव असत् में है और असत्त्वाभाव सत् में है और बाद में दोनों अभावों को मिलित या विशिष्टरूप से सिद्ध करने से साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा, ऐसा कहते हैं तो शशीयशृङ्ग को भी सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि शश के अवयवों में शश की प्रसिद्धि और गौ में शृङ्ग की प्रसिद्धि है। जबकि ऐसी सिद्धि होती नहीं है—ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, क्योंकि पहले ही जहाँ साध्य का परिष्कृतरूप दिखाया गया, वहीं पर साध्याप्रसिद्धि का निराकरण कर दिया गया है—"त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम्, एवं च सति शुक्तिरूप्ये न साध्यवैकल्यमपि, बाध्यत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात्"। अब पूर्वपक्षी मिथ्यात्व के अत्यन्ताभावघटित लक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति दिखा रहा है। जब ब्रह्म निर्धर्मक है तब उसमें सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्त्व का अत्यन्ताभाव रहेगा ही, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व यह तो धर्म है, और ब्रह्म में कोई धर्म रहता नहीं। अर्थात् सत्त्वादिधर्मोपहितब्रह्म

प्रसिद्ध्या मिलितस्य विशिष्टस्य वा साधने, शशशृङ्गयोः प्रत्येकं प्रसिद्ध्या शशीयशृङ्गसा धनमपि स्यादिति वाच्यम्, तथाविधप्रसिद्धेः शुक्तिरूप्य एवोक्तत्वात्। न च निर्धर्मकत्वाद् ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वरूपधर्मद्वयशून्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिः, सद्रूपत्वेन ब्रह्मणः तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वात् निर्धर्मकत्वेनैवाभावरूपधर्मानधिकरणत्वाच्चेति दिक्।।११।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मिलित अथवा विशिष्ट की प्रसिद्धि (खण्ड संख्या ५ में) शुक्तिरूप्यादि में दिखलाया जा चुका है।

शङ्का— निर्धर्मक होने के कारण ब्रह्म सत्त्वासत्त्वधर्मद्वय से शून्य है। अतः ब्रह्म में मिथ्यात्व के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सद्रूप है। इसलिए इसमें सत्त्वात्यन्ताभाव नहीं रह सकता है और ब्रह्म के निर्धर्मक होने के कारण उसमें उपरोक्त दोनों अभावरूप मिथ्यात्व भी ब्रह्म में नहीं रह सकता है। इस प्रकार से प्रथममिथ्यात्व का निरूपण संक्षेप से किया गया।।११।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में सत्त्वादि धर्म रहते हैं शुद्धब्रह्म में नहीं रहते हैं। अतः मिथ्यात्व का लक्षण ब्रह्म में जाने से अतिव्याप्ति होगी। सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सद्रूपत्वेनबाध्यत्वाभाववत्त्वेन, अर्थात् भावरूपधर्म हम ब्रह्म में नहीं मानते हैं किन्तु अभावरूपधर्म ब्रह्म में मानते हैं। जैसा कि आचार्यप्रवर श्री मधुसूदन सरस्वती स्वयं द्वितीयमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर कहेगें—''ब्रह्मणो भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽप्यभावरूपधर्माश्रयत्वेन सत्यादिधर्मवत्त्वम्''। अतः बाध्यत्वाभावरूपसत्त्व ब्रह्म में रह जाने से उसका अत्यन्ताभाव ब्रह्म में नही रहा। इसलिए ब्रह्म में मिथ्यात्वलक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे सत्त्वादि भावरूपधर्म सत्त्वादि उपहितब्रह्म मे रहते हैं, ठीक उसी प्रकार बाध्यत्वाभावरूपधर्म भी अभावरूपधर्मोपहितब्रह्म में रहेगा शुद्धब्रह्म में नहीं। अतः बाध्यत्वाभावरुपसत्त्व का अत्यन्ताभाव शुद्धब्रह्म में रह जाने से अतिव्याप्तिदोष पूर्ववत् बना रहा। इस पर आचार्यप्रवर कह रहें हैं कि ब्रह्म जब निर्धर्मक है तब उसमें जैसे भावरूप—धर्म नहीं रहता है वैसे ही अभावरूपधर्म भी नहीं रहेगा। अतः सत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्म और असत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्म ब्रह्म में न रहने से ब्रह्म में मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। उक्ताभावद्वयोपहितब्रह्म में ही उक्ताभावद्वय रहेगा। सिद्धान्त में उपहितब्रह्म को मिथ्या माना जाता है। अतः मिथ्यात्व का लक्षण उपहितब्रह्म में जाना इष्ट ही है। इस प्रकार पञ्चपादिकाचार्यकृत मिथ्यात्वलक्षण निर्दुष्ट सिद्ध कर दिया गया।।११।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचार :—

४: द्वितीयमिथ्यात्वविचार:

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्।।१।।

ननु प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानि:, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनम्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रतिपन्न का अर्थ है—स्वप्रकारकधीविशेष्य। उप = समीपे आधीयते यत्किञ्चिद् अस्मिन्निति उपाधि: – इस प्रकार की व्युत्पत्ति से उपाधि पद का अर्थ है–अधिकरण। प्रतिपन्न और उपाधि पदार्थों का अभेदेन अन्वय है। सप्तमी का अर्थ = वृत्तित्व। इसका अन्वय निषेध के साथ होता है। त्रैकालिक निषेध का अर्थ है = अत्यन्ताभाव। इसका अन्वय प्रतियोगित्व के साथ है। इस प्रकार से मिलितार्थ यह हुआ— स्वप्रकारकविशेष्याभिन्नाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व = मिथ्यात्व। दृष्टान्त में समन्वय– स्व = रजत। रजतप्रकारक जो धी = ''इदं रजतम्'' इसमें विशेष्य = इदमभिन्नशुक्ति का समान्यस्वरूप, उस अधिकरण में त्रैकालिक निषेध अर्थात् ''शुक्तौ रजतं नासीत्, नास्ति, न भविष्यति'' इत्याकारक अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता रजत में होने से रजत मिथ्या है। दार्ष्टान्त में समन्वय–स्व = द्वैत, स्वप्रकारक धी = द्वैतवद्ब्रह्म – इत्याकारक धी। उसमें विशेष्य = ब्रह्म। उस अधिकरण में रहने वाला जो ''नेह नानास्ति किञ्चन'' श्रुति से बोधित द्वैत का अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता द्वैत में होने से द्वैत मिथ्या है।।१।।

शङ्का – प्रतिपन्न उपाधि में रहने वाला जो द्वैत का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है, वह यदि पारमार्थिक है तब तो द्वैतापत्ति के कारण अद्वैत की हानि होगी। यदि उक्त अभाव प्रातिभासिक है, तब तो सिद्धसाधनदोष होगा अथवा यदि उक्त अभाव व्यावहारिक है तो वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होने के कारण

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वप्रथम पञ्चपादिकाचार्य द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्वलक्षण के निरूपणानन्तर पञ्चपादिका पर विवरण लिखने वाले श्रद्धेय श्री प्रकाशात्मयति द्वारा उद्धृत मिथ्यात्वलक्षण को दिखा रहे हैं—'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषधप्रतियोगित्वम्'। प्रतिपन्न माने ज्ञात, उपाधि माने आश्रय (अधिकरण) जिस अधिकरण में जो वस्तु प्रतीत हो रही है, उसी अधिकरण पर तीनों कालों में उसी वस्तु का निषेध यदि सिद्ध हो जाय तो उस निषध की प्रतियोगिता जिसमें है, वह मिथ्या माना जायेगा।।१।।

इस पर पूर्वपक्षी शङ्का उठा रहा है कि ब्रह्मरूपज्ञात—आश्रय में जो प्रपञ्च का त्रैकालिक– निषेध कहा, उस निषेध (प्रपञ्चाभाव) को पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक में से कौन सा मानते हो? पारमार्थिक मानने पर अद्वैतहानि (द्वैतापत्ति) होगी। प्रातिभासिक मानने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि माध्वमत में जगत् को सत्य माना जाता है, अत: जगत् का प्रातिभासिकनिषेध करने पर, अर्थात् जगत् का वास्तविकनिषेध न मानने पर जगत् के सत्यत्व की कोई हानि नहीं होती है। प्रपञ्चाभाव (निषेध) को व्यावहारिक माना जाय तो व्यावहारिक प्रपञ्चाभाव का भी ब्रह्मज्ञान से बाध हो जायेगा। जब जगत् के पारमार्थिकसत्त्व का विरोधी जो जगदभाव, यदि उस जगदभाव का ही बाध हो गया, अर्थात् जगत् के पारमार्थिक सत्त्व का विरोधी ही नहीं रहा, तब जगत् पारमार्थिकसत्य स्वत: ही सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार अर्थान्तर दोष की प्रसक्ति होगी। "नेह नानास्ति..." श्रुति के द्वारा बोधित व्यावहारिकजगदभाव का ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाने के कारण श्रुति बाधित अर्थ को बतलानेवाली होने से श्रुति में अप्रमाणता आ जायेगी। क्योंकि "अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्" इस प्रमा के लक्षण में अबाधितविषय जिस ज्ञान का है उस ज्ञान को प्रमा कहा गया और प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है। यहाँ श्रुति, बाधितविषय को बतला

व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधितयाऽर्थान्तरमद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वञ्च, तत्प्रतियोगिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वञ्च स्यादिति चेत्।।२।।

न, प्रपञ्चनिषेधाधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्त्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्।।३।।

न च तात्त्विकाभावप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्तिः, तात्त्विकाभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात्।।४।।

अतात्त्विक एव वा निषेधोऽयम्। अतात्त्विकत्वेऽपि न प्रातिभासिकः, किन्तु व्यावहारिकः।।५।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्चगत तात्त्विकत्व का विरोधी न होने के कारण प्रपञ्च में तात्त्विकत्व का अविरोधी मिथ्यात्व सिद्ध होने से अर्थान्तर दोष होगा। दूसरा दोष यह भी होगा कि व्यावहारिक होने से उक्त अभाव जब बाधित है तब ऐसे बाधित अर्थ को बतलाने वाली अद्वैत श्रुति में अप्रमाणता की प्रसक्ति होगी और बाधित उक्त अभाव के प्रतियोगी अप्रातिभासिक प्रपञ्च में तात्त्विकत्व सिद्ध हो जायेगा।।२।।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च निषेध के अधिकरणीभूत ब्रह्मस्वरूप से उक्त अभाव अभिन्न होने के कारण उसके तात्त्विक होने पर भी द्वैतापत्ति नहीं होगी।।३।।

तात्त्विकाभाव के प्रतियोगी प्रपञ्च के तात्त्विकत्व की भी आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि जो तात्त्विक स्वरूप अभाव का प्रतियोगी होता है वह तात्त्विक होता है—इस व्याप्ति में व्यभिचार दोष है, क्योंकि ''नेदं रजतम्'' इस तात्त्विक निषेध का प्रतियोगी शुक्तिरजत तात्त्विक नहीं होता है।।४।।

अथवा उपरोक्त प्रपञ्चप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव अतात्त्विक ही है किन्तु अतात्त्विक होने पर भी प्रातिभासिक नहीं है, अपितु व्यावहारिक है।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

रही है। अतः श्रुति में अप्रमाणता की प्रसक्ति होगी। व्यावहारिकसत्त्ववाला जो जगदभाव है उसके प्रतियोगी (जगत्) को प्रातिभासिक तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि प्रातिभासिक वह होता है जो ब्रह्म प्रमा से भिन्न प्रमा से बाधित हो। जगत् ब्रह्मप्रमा से भिन्नप्रमा से बाधित नहीं है। अतः जगत् प्रातिभासिक नहीं होगा और व्यावहारिकजगदभाव के प्रतियोगी जगत् को व्यावहारिक भी नहीं मान सकते हो, क्योंकि निषेध और प्रतियोगी की भिन्न–भिन्न सत्ता होती है। यहाँ निषेध(जगदभाव) व्यावहारिक है। अतः प्रतियोगी(जगत्) व्यावहारिक नहीं हो सकता है। जैसे शुक्तिनिष्ठरजताभाव व्यावहारिक होने पर उसका प्रतियोगी रजत व्यावहारिक न होकर प्रातिभासिक माना जाता है, इसी प्रकार प्रपञ्चाभाव का प्रतियोगी प्रपञ्च प्रातिभासिक या व्यावहारिक सिद्ध न होने से परिशेषन्याय से पारमार्थिक ही मानना पड़ेगा।।२।।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के उपपादन होने पर सिद्धान्त पक्ष से आचार्यप्रवर समाधान दे रहे हैं कि हम जगदभावरूपनिषेध को अधिकरण(ब्रह्म) स्वरूप मानते हैं। अतः निषेध के ब्रह्मस्वरूप (पारमार्थिक) होने पर भी अद्वैतसिद्धान्त की हानि नहीं होगी।।३।।

यदि कहो कि तात्त्विक–अभाव (जगदभाव) का प्रतियोगी(जगत्) तात्त्विक होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि अभाव की सत्ता के समान ही प्रतियोगी की सत्ता हो। इस नियम का व्यभिचार 'नेदं रजतम्' के द्वारा बोधित रजताभाव स्थल पर देखा जाता है। वहाँ रजताभाव व्यावहारिक है और प्रतियोगी रजत प्रातिभासिक है।।४।।

अब आगे जगदभाव को अतात्त्विक मानकर समाधान देने जा रहे हैं— जगदभाव को यदि हम अतात्त्विक भी मानते हैं, तो भी कोई दोष नहीं आता है। किन्तु अतात्त्विक के दो भाग हैं—प्रातिभासिक और व्यावहारिक। उसमें से जगदभाव को प्रातिभासिक नहीं मानते हैं किन्तु व्यावहारिक मानते हैं।।५।।

न च तर्हि निषेधस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वादर्थान्तरमिति वाच्यम्, स्वाप्नार्थस्य स्वाप्ननिषेधेन बाधदर्शनात्।।६।।

निषेधस्य बाध्यत्वं पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे न तन्त्रम्, किन्तु निषेध्यापेक्षया

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — प्रपञ्चप्रतियोगिकनिषेध को बाधित मानने पर स्वप्रतियोगीभूत प्रपञ्चवृत्ति पारमार्थिकसत्त्व का विरोधित्व न होने से सिद्धान्ती को अभिप्रेत जो प्रपञ्च में मिथ्यात्व है, वह सिद्ध न हो कर उसमें पारमार्थिकत्व के सिद्ध हो जाने से अर्थान्तर दोष होगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में आरोपित गजादि के स्वप्न में ही आरोपित निषेध से बाध देखने के कारण निषेध का बाध्यत्व पारमार्थिकसत्त्व के अविरोधित्व में व्याप्य नहीं माना जा सकता है, अपितु निषेध का निषेध्य की अपेक्षा से न्यूनसत्ताकत्व ही पारमार्थिक सत्त्व के अविरोधित्व से व्याप्य है। अतः व्यावहारिक प्रपञ्च और उसका निषेध तथा स्वाप्न पदार्थ और उसका स्वप्नकाल में होने वाला निषेध—इन स्थलों पर निषेध और प्रतियोगी की समानसत्ता होने से निषेध को

सत्यानन्दप्रबोधिका

यहाँ पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जगत् के निषेध (जगदभाव) का बाध (जगदभाव व्यावहारिकसत्तावाला होने से ब्रह्मज्ञान से बाध) होने से निषेध का प्रतियोगी जो जगत्, उस जगत् के सत्यत्व का विरोधी वह निषेध (जगदभाव) हो नहीं सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिपन्नोपाधि में जगत् के त्रैकालिकनिषेध कर दिये जाने मात्र से जगत् के तात्त्विक सत्य का विरोध नहीं हो सकता है, अपितु यदि जगत् का उक्त निषेध सत्य हो (बाध्य न हो) तभी वह निषेध जगत् के तात्त्विकसत्त्व का विरोधी होगा। किन्तु जगत् के उक्त निषेध को व्यावहारिक मानने से तो उक्त निषेध ब्रह्मज्ञान से बाध्य होगा (सत्य नहीं होगा)। अतः जगत् का उक्त निषेध जगत् के तात्त्विकसत्त्व का विरोधी नहीं होगा। ऐसे में जगत् मिथ्या सिद्ध न होकर सत्य सिद्ध हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा। अर्थात् "यत्र यत्र निषेधस्य बाध्यत्वं, तत्र तत्र निषेधे पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वम्" ऐसी व्याप्ति पूर्वपक्षी के कथनानुसार बनती है। इसमें सिद्धान्ती व्यभिचार दे रहे हैं कि स्वप्न में दिखायी देने वाले जो मिथ्या गजादि पदार्थ, उनका स्वप्न में ही यदि निषेध हो जाता है, तो जागने के पश्चात् गजादिपदार्थ और उनका निषेध दोनों का एक ही साथ बाध हो जाता है। वहाँ निषेध में बाध्यत्व तो है, परन्तु निषेध में पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्व न रहने के कारण उक्त व्याप्ति में व्यभिचार हो गया।।६।।

अतः पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्व का व्याप्य निषेधबाध्यत्व को नहीं माना जा सकता है। किन्तु यहाँ ऐसी व्याप्ति माननी चाहिए—"यत्र यत्र निषेधस्य निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वं, तत्र तत्र निषेधे पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वम्"। जैसे सामने सत्यरजत है, वहाँ भ्रम से 'रजत नहीं है' ऐसा ज्ञान हुआ। यहाँ निषेध—रजताभाव, निषेध्य—रजत है। यहाँ निषेध (रजताभाव) की सत्ता प्रातिभासिक है। निषेध्य रजत की सत्ता व्यावहारिक है। अतः निषेध्य (रजत) की सत्ता से निषेध (रजताभाव) की सत्ता न्यून है। अतः यहाँ रजताभाव का बाध कर देने से रजत के तात्त्विक सत्त्व का विरोध नहीं होता है। अर्थात् वास्तविकरजत ही सिद्ध होता है। स्वप्न में गजादि भी प्रातिभासिक है और गजाभाव भी प्रातिभासिक है। अतः निषेध्य गज की सत्ता और निषेध (गजाभाव) दोनों की सत्ता प्रातिभासिक होने से न्यूनसत्ताकत्व नहीं है, अपितु समसत्ताकत्व है। अतः यहाँ निषेध का बाध करने पर भी प्रतियोगिनिषेध्यगज में पारमार्थिकत्व का अविरोधित्व नहीं आयेगा, अर्थात् विरोधी ही होगा। ऐसे ही जगत् और जगदभाव दोनों की समसत्ता, अर्थात्

न्यूनसत्ताकत्वम्, प्रकृते च तुल्यसत्ताकत्वात् कथं न विरोधित्वम्?॥७॥

न च निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वमायाति यत्र निषेधस्य निषेधबुद्ध्या प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते, (न) निषेधमात्रं निषिध्यते, यथा रजते नेदं रजतमिति ज्ञानानन्तरम् इदं नारजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते।

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्वप्रतियोगिपारमार्थिकत्व का विरोधी माना जायेगा। अतः अर्थान्तर दोष नहीं होगा। इस प्रकार से मिथ्यात्व के लक्षण का आकार हुआ– स्वान्यूनसत्ताक स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्॥६–७॥

उपरोक्त प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव का अभाव होने पर प्रतियोगिरूप प्रपञ्च के सत्त्व की प्राप्ति होगी– ऐसी शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि वहीं पर निषेध का निषेध होने पर प्रतियोगी का सत्त्व सिद्ध होता है, जहां पर निषेधप्रतियोगिक जो निषेध है, तादृशनिषेधविषयत्वविशिष्टबुद्धि से प्रतियोगी के सत्त्व को व्यवस्थित किया जाता है और निषेध मात्र को ही निषिद्ध नहीं किया जाता है। जैसे व्यावहारिक

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यावहारिकसत्ता होने से जगदभाव का बाध करने पर जगत् में पारमार्थिक सत्त्व नहीं आयेगा, अर्थात् जगत् पारमार्थिकसत्य सिद्ध नहीं होगा।॥७॥

प्रपञ्चाभाव को व्यावहारिक मानने पर उसका ब्रह्मज्ञान से बाध होने से प्रपञ्चाभाव का प्रतियोगी जो प्रपञ्च, वह बाधित (मिथ्या) न सिद्ध होकर सत्य सिद्ध हो जायेगा। जैसे लोक व्यवहार में घटदेश पर जहाँ भ्रम से घटाभाव का भ्रमज्ञान होता है, और भ्रम निवृत्ति के अनन्तर घटाभावाभाव का ज्ञान होता है। वहाँ घटाभाव के प्रतियोगी घट के सत्त्व की सिद्धि होती है। ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है। क्योंकि सर्वत्र यह नियम नहीं माना जाता है कि निषेध का निषेध कर देने पर प्रतियोगी के सत्त्व की सिद्धि हो जाती है। कुछ स्थल पर प्रतियोगी के सत्त्व की सिद्धि होती है ओर कुछ स्थल पर नहीं होती है। उनमें से प्रतियोगी के सत्त्व की सिद्ध कहाँ होती है? उसको दिखा रहे हैं–जहाँ निषेध (अभाव) का निषेधकबुद्धि (बाधज्ञान) द्वारा प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था की जाती है, वहाँ पर प्रतियोगी के सत्त्व की सिद्धि होती है। आगे "न निषेधमात्रं निषिध्यते" तथा "निषेधमात्रं निषिध्यते" इस प्रकार उभयविध पाठ मिलते हैं। 'न निषेधमात्रं निषिध्यते' ऐसा पाठ स्वीकार करने पर अर्थ होगा–केवल निषेध ही नहीं किया गया है, अपितु प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था भी की गयी है। तथा "निषेधमात्रं निषिध्यते" ऐसा पाठ स्वीकार करने पर अर्थ होगा–निषेध मात्र का निषेध किया गया है, निषेध और प्रतियोगी दोनों का निषेध नहीं किया गया है। जैसे सामने रजत रखा हुआ है, देवदत्त को भ्रम से "नेदं रजतम्" (रजत नहीं है) ऐसा ज्ञान हुआ। उस भ्रम ज्ञान के अनन्तर "इदं नारजतम्" (यह अरजत नहीं है अपितु रजत है) इस बाधज्ञान के द्वारा केवल निषेध का निषेध ही नहीं किया गया, किन्तु प्रतियोगी (रजत) के सत्त्व की व्यवस्था भी की गई है। इस प्रकार निषेध का निषेध कर देने पर प्रतियोगी का सत्त्व दिखाया गया। आगे यह दिखा रहे हैं कि निषेध का निषेध कर देने पर प्रतियोगी का सत्त्व किस स्थल पर सिद्ध नहीं होता है:– जहाँ प्रतियोगी और निषेध दोनों का निषेध हो जाता है, वहाँ प्रतियोगी का सत्त्व नहीं आता है। जैसे जिस समय घट है, उस समय घट के प्रागभाव का अभाव है और जब घट का ध्वंस हुआ उस समय भी घट के प्रागभाव का अभाव है एवं घट का ध्वंस भी है। अतः ऐसे स्थल पर प्रतियोगी घट एवं घट का प्रागभाव (निषेध), अर्थात् प्रतियोगी और निषेध (घटप्रागभाव) दोनों का निषेध हो जाता है। ऐसा प्रागभाव का निषेध (अभाव) न मानने पर घटप्रागभावाभावाभाव–घटप्रागभाव की सिद्धि हो जायेगी, तब फूटे हुए घट में घटप्रागभाव मानने से उससे भी वही घट उत्पन्न होने की आपत्ति होगी। अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव होने पर प्रतियोगी का

यत्र तु प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्त्वम्, यथा ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधः॥८॥

एवञ्च प्रकृतेऽपि निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तन्निषेधस्य च बाधनान्न निषेधस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

रजतस्थल पर ''यह रजत नहीं है'' इस प्रकार से भ्रमात्मक ज्ञान के अनन्तर ''यह अरजत नहीं है।'' इत्याकारक ज्ञान से रजतत्व व्यवस्थित किया जाता है किन्तु जिस स्थल पर प्रतियोगी और निषेध दोनों का ही निषेध एक काल में होता है, उस स्थल पर प्रतियोगी का सत्त्व सिद्ध नहीं होता है—जैसे घटध्वंस के समय घटप्रागभाव और घटप्रागभाव के प्रतियोगी घट— इन दोनों का ही निषेध हो जाता है। इसका कारण यह है कि घटप्रागभाव, घटप्रागभाव का प्रतियोगी घट और घटध्वंस—इन तीनों में से अन्यतम का अधिकरणीभूतकाल इतरद्वय का अनधिकरणीभूतकाल होता है—ऐसा नियम माना जाता है। इस नियम को न मानने पर घटप्रागभावाभाव—घट प्रागभाव की सिद्ध हो जाने से फूटे हुए घट में घटप्रागभाव मानने पर उस फूटे हुए घट से वही घट पुनः उत्पन्न होने की आपत्ति होगी॥८॥

इसी प्रकार प्रकृत में भी निषेध (प्रपञ्चाभाव) का बाधक (=नेह नानास्ति किञ्चन इस श्रुति) प्रमाण से प्रतियोगीभूतप्रपञ्च और निषेध दोनों के बाध होने पर भी प्रपञ्चगत तात्त्विकत्व सिद्ध नहीं

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्त्व होता है। इस प्रकृत प्रसङ्ग को स्पष्ट करने के लिए प्रागभाव के अत्यन्ताभाव को दृष्टान्त बनाने पर दृष्टान्त— दार्ष्टान्त में वैषम्य होने के कारण लघुचन्द्रिकाकार ने मूलस्थ '' यथा ध्वंससमये.......'' की व्याख्या अन्य प्रकार से की है। जिस समय घट का ध्वंस हो गया है, उस समय कपाल में यद्यपि घट का व्यावहारिक अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता है क्योंकि प्राचीन न्यायमत में यत्कालावच्छेदेन जिस वस्तु में जिस वस्तु का एक संसर्गाभाव होता है, तत्कालावच्छेदेन उसी वस्तु में उस वस्तु का दूसरा संसर्गाभाव नहीं रह सकता है, किन्तु दूसरे संसर्गाभाव का आरोप हो ही सकता है। इसलिए ''इदं कपालं घटवन्न वेति'' (इस कपाल में घट है या घट का अत्यन्ताभाव है?) ऐसा आरोप हो ही सकता है। इसके पश्चात् ''अत्र घटस्तदत्यन्ताभावश्च नास्ति'' इस निषेध धी के द्वारा प्रतियोगी — घट और घटात्यन्ताभाव का निषेध होने पर अर्थात् घटात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव होने पर घटगत सत्त्व सिद्ध नहीं होता है। { ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधः —इसका अर्थ लघुचन्द्रिकाकार ने इस प्रकार से किया है—प्राक् = निषेधधी (अत्र घटस्तदत्यान्ताभावश्च नास्ति —इत्याकारकनिषेधधीः) से पूर्व, अभाव शब्द का अर्थ अत्यन्ताभाव करना है। इन दोनों (प्राक् और अभाव) के मध्य में आरोपित शब्द का अध्याहार करना है। और वह आरोपित शब्द अभाव और प्रतियोगी कां विशेषण होगा। इस प्रकार से सम्मिलित अर्थ होगा — ध्वंस के समय निषेधधी से पूर्व (अज्ञात) आरोपित जो अत्यन्ताभाव और प्रतियोगी इन दोनों का (निषेधधी के द्वारा) निषेध होता है। (किन्तु अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव होने पर भी प्रतियोगी के सत्त्व की आपत्ति नहीं होती है।) निषेधधी से पूर्व यहां पूर्व का अर्थ अज्ञात किया गया है, क्योकि आरोपित प्रातिभासिक पदार्थ प्रतीति काल में उत्पन्न होने के कारण उत्पत्ति से पहले अज्ञात होता है।}॥८॥

ठीक इसी प्रकार से दार्ष्टान्त में निषेध (प्रपञ्चाभाव) बोधक "नेह नानास्ति किञ्चन" श्रुति द्वारा प्रतियोगी प्रपञ्च और प्रपञ्च का निषेध दोनों का बाध कर दिया जाता है। अतः निषेध का बाध होने पर भी निषेध के प्रतियोगी (प्रपञ्च) में सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उक्त श्रुति द्वारा प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों को दृश्यत्वादिरूप से (आदि से परिच्छिन्नत्वेन, जडत्वेन) दृश्यादि मानकर निषेध किया जाता है। यहाँ

बाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वम्, उभयोरपि निषेध्यतावच्छेदकस्य दृश्यत्वादेस्तुल्यत्वात्।।९।।

न चातात्त्विकनिषेधबोधकत्वे श्रुतेरप्रामाण्यापत्तिः, ब्रह्मभिन्नं प्रपञ्चनिषेधादिकमतात्त्विक–मित्यतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेरप्रामाण्यासम्भवात्।।१०।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

होता है,क्योंकि प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों में ही निषेध्यतावच्छेदक धर्म दृश्यत्वादि समानरूप से विद्यमान है।।९।।

''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों में अतात्त्विक निषेध (बाधित प्रपञ्चाभाव) बोधकत्व होने पर भी अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव सभी अतात्विक हैं– इस प्रकार से अतात्विक पदार्थ को अतात्त्विक रूप से बोधन कराने वाली श्रुति का अप्रामाण्य असम्भव है। अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थ को उसी रूप से बोधन कराने वाली श्रुति में अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं हो सकता है।।१०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध्यतावच्छेदक दृश्यत्वादिधर्म प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों में है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ निषेध्यतावच्छेदकधर्म प्रतियोगी और निषेध दोनों में एक ही होता है, वहाँ पर निषेध का निषेध कर देने से प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था नहीं होती है और जहाँ प्रतियोगी और निषेध में निषेध्यतावच्छेदकधर्म भिन्न–भिन्न होता है वहाँ निषेध का निषेध कर देने से प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था हो जाती है। जैसे जहाँ घट है, वहाँ भ्रम से घटाभाव का ज्ञान हुआ, यहाँ निषेध्य–घट, उसका अवच्छेदक–घटत्व है, और भ्रमज्ञान का बाध होने के बाद 'घटाभावो नास्ति' ऐसा ज्ञान हुआ। यहाँ निषेध्य घटाभाव है और निषेध्यतावच्छेदक है घटाभावत्व। यहाँ पर निषेध्यतावच्छेदक धर्म भिन्न–भिन्न होने से निषेध का निषेध करने पर प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था हो जाती है। दार्ष्टान्त में प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों में निषेध्यतावच्छेदक दृश्यत्वादि समान हैं। अतः निषेध का निषेध कर देने से प्रतियोगी के सत्त्व की व्यवस्था नहीं होगी।।९।।

"नेह नानास्ति..." यह श्रुति अतात्त्विक(बाधित) निषेध (प्रपञ्चाभाव) की बोधिका होने से श्रुति में अप्रमाणता की प्रसक्ति होगी, ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव दोनों को अतात्त्विक माना गया है। अतः अतात्त्विक का अतात्त्विकत्वेन बोधा कराने से श्रुति में अप्रमाणता की प्रसक्ति नहीं होगी। यहाँ विशेष यह है कि "अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्" ऐसा प्रमा का लक्षण मानकर पूर्वपक्षी ने दोष दिया था। क्योंकि जगत् का अभाव व्यावहारिक मानने पर उसका ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाता है। अतः श्रुति में बाधितविषय (प्रपञ्चाभाव) का बोध कराने से प्रमा के उक्त लक्षण के न जाने के कारण श्रुति में पूर्वपक्षी मतानुसार अप्रामाण्य आ गया। सिद्धान्त पक्ष से "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थज्ञानम्" ऐसा प्रमाज्ञान का लक्षण मानकर समाधान दिया गया। यदि"अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्" इस प्रमाज्ञान के लक्षणानुसार समाधान देना है तो, यहाँ प्रमा के लक्षण में अबाधित पद का अर्थ है– संसारदशा में अबाधित। अतः श्रुति के द्वारा बोधित प्रपञ्चाभाव को व्यावहारिक मानने पर भी कोई दोष नहीं आयेगा, क्योंकि प्रपञ्चाभाव का बाध संसार दशा में होता नहीं है (उसका बाध ब्रह्मज्ञान से परमार्थदशा में होता है)। अतः श्रुति के द्वारा बोधित प्रपञ्चाभावरूप विषय संसारदशा में अबाधित होने के कारण श्रुति में अप्रामाण्य की प्रसक्ति नहीं होगी।।१०।।

ननु एतन्निषेधप्रतियोगित्वं किं स्वरूपेण? उतासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन पारमार्थिकत्वाकारेण? ।११।।

नाद्यः, श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्यार्थक्रियासमर्थस्याविद्योपादानकस्य तत्त्वज्ञाननाश्यस्य च

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतश्रुतियों से ज्ञायमान जो प्रपञ्चगत निषेध प्रतियोगित्व है, वह क्या स्वरूपेण है? अथवा असत् से विलक्षण स्वरूप का उपमर्दन किये बिना पारमार्थिकत्वरूप से जगत् में निषेधप्रतियोगित्व है? (जिस अधिकरण में यद्देशावच्छेदेन यत्कालावच्छेदेन यद्रूपावच्छिन्न जो वस्तु रहती है, यदि उसी अधिकरण में तद्देशावच्छेदेन तत्कालावच्छेदेन तद्रूपावच्छिन्न उसी वस्तु का अभाव सिद्ध हो जाने पर उसके स्वरूप का उपमर्द कहा जाता है। किन्तु उसी अधिकरण में तत्कालावच्छेदेन तद्देशावच्छेदेन व्यधिकरणाधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक उसी वस्तु का अभाव होने पर भी उस वस्तु के स्वरूप का उपमर्द नहीं होता है, क्योंकि जिस रूप से वस्तु की प्रतीति हो रही थी, उस रूप से वह वस्तु विद्यमान ही है।) अर्थात प्रपञ्च का जो असद्विलक्षण स्वरूप प्रतीत हो रहा है, उस रूप से रहने पर भी ब्रह्मवृत्ति जो पारमार्थिकत्व है, तद्रूप से नहीं है।।११।।

प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ''तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत'' (तै.उ.२—१) इस प्रकार श्रुति आदियों से प्रपञ्च की उत्पत्ति सिद्ध है। {श्रुत्यादि के घटक आदि शब्द से अनुमान और स्मृति का ग्रहण कर लेना चाहिए। अनुमान का आकार होगा—प्रपञ्चः उत्पत्तिमान्, सावयवत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटाभाव की प्रतियोगिता घट में है, यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व है। अर्थात् घटत्वेन घट का अभाव भूतल में लिया गया है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म में जो त्रैकालिक प्रपञ्च का अभाव लिया गया है, वह किस रूप (धर्म) से लिया गया है? क्या स्वरूपेण लिया गया है? अर्थात् किसी वस्तु के दो स्वरूप होते हैं। एक साधारणस्वरूप और दूसरा असाधारणस्वरूप। जैसे प्रपञ्च का साधारणस्वरूप दृश्यत्वादि और असाधारणस्वरूप है, घटत्व, पटत्वादि। अतः उक्त निषेध की प्रतियोगिता जो प्रपञ्च में है, वह क्या साधारण, असाधारण उभयधर्मत्वेन (दृश्यत्वादिरूप से एवं घटत्व, पटत्वादि रूप से) है? अथवा असत् से विलक्षण स्वरूप वाला जगत् को मानकर उस स्वरूप का अपलाप न करते हुए ब्रह्म में जगत् पारमार्थिकत्वेन नहीं है? अर्थात् उक्त निषेध की प्रतियोगिता का अवच्छेदकधर्म पारमार्थिकत्व है। अतः पारमार्थिकत्वेन जगत् ब्रह्म में नहीं है, ऐसा कहना चाह रहे हो क्या? ।।११।।

प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। सिद्धान्तपक्ष से जो अनुमान किया गया है, उसमें पक्ष—वियदादि प्रपञ्च और दृष्टान्त रजत है। इन दोनों का त्रैकालिकनिषेध स्वरूपेण नहीं हो सकता है। इसमें चार हेतु दे रहे हैं — (१) प्रपञ्च की उत्पत्ति श्रुतिप्रमाण से एवं रजत की उत्पत्ति अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्ध है। (२) प्रपञ्च और रजत, दोनों में अर्थक्रियासामर्थ्य (हेय—उपादेय रूप प्रयोजन) है। (३) प्रपञ्च और रजत दोनों का उपादानकारण अविद्या को माना जाता है। तथा (४) प्रपञ्च और रजत का तत्त्वज्ञान से नाश होता है। उक्त चारों हेतुओं के कारण प्रपञ्च एवं रजत को असत् से विलक्षण मानना पड़ेगा। क्योंकि असत् की उत्पत्ति आदि नहीं होती है और व्यवहारकाल में प्रपञ्च एवं प्रातिभासिककाल में रजत के विद्यमान रहने से प्रपञ्च और रजत का स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि यदि शुक्ति में रजत का स्वरूपेण (दृश्यत्वेन, रजतत्वेन—उभय धर्मेण) त्रैकालिकनिषेध होता, तो शुक्ति में प्रातिभासिक रजत उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि जो जिस अधिकरण में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी होता है, वह उस

वियदादेः रूप्यादेश्च धीकालविद्यमानेनाऽसद्विलक्षणस्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगात्।।१२।।

नापि द्वितीयः, अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्य–त्वेनाऽन्योन्याश्रयात्, पारमार्थिकत्वस्यापि स्वरूपेण निषेधे प्रथमपक्षोक्तदोषापत्तिः, अतस्तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधेऽनवस्था स्यादिति चेत्? ।।१३।

कैलासविद्याप्रकाशिका

घटादिवत्।} और अर्थापत्ति प्रमाण से शुक्तिरजत की उत्पत्ति सिद्ध है। अर्थक्रिया के सम्पादन में समर्थ अविद्योपादानक तथा तत्त्वज्ञाननाश्य आकाशादि और शुक्तिरजतादि दोनों है। इस प्रकार पूर्वोक्त चारों विशेषणों से विशिष्ट उभयविधप्रपञ्च (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) असद्विलक्षणत्वेन अपनी प्रतीति के समय अवश्य विद्यमान होता है। इसलिए पूर्वोक्त विशेषण चतुष्टय से विशेषित उभयविधप्रपञ्च का स्ववृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्रैकालिकात्यन्ताभाव अनुपपन्न है।।१२।।

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है,क्योंकि अबाध्यत्व रूप जो पारमार्थिकत्व है, वह बाध्यत्वरूप मिथ्यात्व से घटित है। अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा। अर्थात् मिथ्यात्व के ज्ञान के बिना मिथ्यात्व से घटित पारमार्थिकत्व का ज्ञान नहीं होगा और पारमार्थिकत्व के ज्ञान के बिना पारमार्थिकत्व से घटित मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं होगा। इसलिए अन्योन्याश्रयदोष प्रसक्त होगा। इस द्वितीय पक्ष में अप्रसक्तप्रतिषेध रूप दोष के निवारणार्थ प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का आरोप मानना होगा और तब उस आरोपित पारमार्थिकत्व का स्वरूपेण निषेध करने पर प्रथम पक्षोक्त दोष आयेंगे और आरोपि उस पारमार्थिकत्व का भी पारमार्थिकत्व रूप से पुनः निषेध करने पर अनवस्थादोष होगा।।१३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिकरण में स्वरूपेण उत्पन्न नहीं होता है, जैसे बन्ध्यासुत। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रपञ्च का यदि स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध होगा तो, ब्रह्म में प्रपञ्च की उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु शुक्ति में प्रातिभासिकरजत और ब्रह्म में प्रपञ्च की उत्पत्ति आप (सिद्धान्ती) स्वयं मानते हैं, तब आप प्रपञ्च और रजत का स्वरूप से त्रैकालिकनिषेध नहीं मान सकते हैं। यदि आप प्रपञ्च और रजत का त्रैकालिकनिषेध करेंगे तो प्रपञ्च और रजत को अलीक मानना पड़ेगा।।१२।।

इस प्रकार प्रथम पक्ष का खण्डन हो जाने के बाद अन्योन्याश्रयदोष के माध्यम से द्वितीय पक्ष का निराकरण किया जा रहा है। सिद्धान्तपक्ष में अबाध्यत्व को पारमार्थिकत्व माना जाता है। अतः पारमार्थिकत्व के ज्ञान के लिए बाध्यत्व (मिथ्यात्व) का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण होता है और बाध्यत्व (मिथ्यात्व) ज्ञान के लिए पारमार्थिकत्व के ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि मिथ्यात्व के लक्षण में आप ने पारमार्थिकत्व का प्रवेश किया है (अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वज्ञाने सति तद्घटितमिथ्यात्वज्ञानं, बाध्यत्वज्ञाने (मिथ्यात्वज्ञाने) सति पारमार्थिकत्वज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात् पारमार्थिकत्वेन निषेधासिद्धिरित्यर्थः)। “पारमार्थिकत्वेन प्रपञ्चो नास्ति” इस प्रकार से प्रपञ्च में पारमार्थिकत्वधर्म का निषेध जो कर रहे हो, उस पर प्रश्न होता है कि प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व को स्वरूपेण निषेध कर रहे हो? अथवा प्रथम पारमार्थिकत्व को द्वितीय पारमार्थिकत्व के रूप से निषेध कर रहे हो? अर्थात् प्रपञ्च में पारमार्थिकत्वेन पारमार्थिकत्व नहीं है ऐसा कह रहे हो? यदि स्वरूपेण निषेध करोगे तो पूर्वोक्त प्रथमपक्ष के अनुसार पारमार्थिकत्व को अलीक मानना पड़ेगा। यदि अलीक नहीं मानोगे तो स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध हो नहीं सकता। और पारमार्थिकत्वेन पारमार्थिकत्व का निषेध करोगे तो पुनः आपको द्वितीयपारमार्थिकत्व का निषेध तृतीय पारमार्थिकत्व के रूप से करने पर अनवस्थादोष आयेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा दोनों विकल्पों (स्वरूपेण और पारमार्थिकत्वेन) में दोष दिया गया।।१३।।

मैवम्; स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये चाङ्गीकारात्।।१४।। तथा हि शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति स्वरूपेणेव, 'नेह नाना...' इति श्रुत्या च प्रपञ्चस्य स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः।।१५।।

न च तत्र लौकिकपरमार्थरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगीति वाच्यम्। भ्रमबाधयोर्वैयधि–

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में व्यावहारिक और प्रातिभासिक उभयविध प्रपञ्च में स्वरूपेण ही त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता मानी जाती है, क्योंकि शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर अधिष्ठान का साक्षात्कार (इयं शुक्तिः) होने पर ''रजत नहीं है, न ही था और न होगा।'' इस प्रकार से स्वरूप से ही निषेध होता है, ठीक इसी प्रकार ''नेह नाना'' इस श्रुति के द्वारा व्यावहारिक प्रपञ्च का भी स्वरूपतः ही निषेध प्रतीत होता है।।१४।।—।।१५।।

शङ्का — शुक्ति में परमार्थरूप से लोक में प्रसिद्ध व्यावहारिक रजत ही स्वरूप से निषेध का प्रतियोगी होता है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''इदं रजतम्'' इस भ्रम का विषय प्रातिभासिक रजत और ''नेदं रजतम्'' इस बाध का विषय व्यावहारिक रजत होने पर भ्रम और बाध के विषय

सत्यानन्दप्रबोधिका

अब सिद्धान्ती प्रथमपक्ष (स्वरूपेण) को स्वीकार करके समाधान दे रहे हैं कि त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता स्वरूपेण ही प्रपञ्च और शुक्तिरूप्य में हम मानते हैं।।१४।।

इसके बाद अब अनुभव के बल पर दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में स्वरूपेण ही त्रैकालिकनिषेध होता है, यह दिखा रहे हैं। शुक्ति में रजतभ्रम के बाद अधिष्ठान (शुक्ति) का साक्षात्कार होने पर इस शुक्ति में "रजत नहीं है, रजत नहीं था, रजत नहीं होगा" इस प्रकार रजत का स्वरूपतः त्रैकालिकनिषेध होने पर भी शुक्तिरजत में अलीकत्व की आपत्ति नहीं आती है। क्योंकि अलीक की सत्त्वेन प्रतीति नहीं होती है, जब कि रजत की सत्त्वेन प्रतीति होती है। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय किया गया। दृष्टान्त में हेतु है ही, अतः व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु रहने से पक्षधर्मता मिल गयी। अतः पूर्वपक्षी को 'गले पादुकान्यायेन' पक्ष पर साध्य को मानना पडेगा, अर्थात् प्रपञ्च का स्वरूपतः त्रैकालिकनिषेध होता है ऐसा मानना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार "नेह नानास्ति.........." इस श्रुति के द्वारा और 'च' पद से मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्च का स्वरूपतः त्रैकालिकनिषेध किया गया है।।१५।।

आगे न्यायदर्शन (अन्यथाख्यातिवादी) के अनुसार शङ्का उठा रहे हैं—न्यायमत में शुक्ति में हट्टस्थव्यावहारिकरजत भासता है। अतः 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान के द्वारा वहाँ निषेध का प्रतियोगी हट्टस्थरजत (व्यावहारिकरजत) होता है। और शुक्ति का हट्टस्थरजत के साथ जो सम्बन्ध भास रहा था वह 'नेदं रजतम्' इस निषेधज्ञान के द्वारा बाधित होता है। यहाँ पर अद्वैत वेदान्ती, निषेध का प्रतियोगी प्रातिभासिकरजत और रजत का शुक्ति के साथ जो सम्बन्ध, दोनों को बाधित मानते हैं। अतः न्यायमत के अनुसार "रूप्यं नास्ति, नासीत्, न भविष्यति" इस अनुभवसिद्ध प्रतीति के अनुसार निषेध का प्रतियोगी व्यावहारिकरजत है न कि प्रातिभासिकरजत। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि इस न्यायमत को मानने पर भ्रम और बाधज्ञान के भिन्न—भिन्न विषय हो जायेंगे। अर्थात् भ्रमज्ञान का विषय—प्रातिभासिक रजत है, क्योंकि "इदं रजतम्" यह भ्रमज्ञान प्रत्यक्षात्मक होने से व्यवहितव्यावहारिकरजत को विषय नहीं कर सकता है और बाधज्ञान का विषय व्यावहारिकरजत है, जब कि बाध्यबाधकभाव वहीं होता है जहाँ दोनों

करण्यापत्तेः, अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्च।।१६।।

न च तर्ह्युत्पत्त्याद्यसम्भवः, न ह्यनिषिद्धस्वरूपत्वमुत्पत्त्यादिमत्त्वे तन्त्रम्, परैरनिषेध्य–रूपत्वेनाङ्गीकृतस्य वियदादेरुत्पत्त्याद्यनङ्गीकारात्, किन्तु वस्तुस्वभावादिकमन्यदेव किञ्चित् प्रयोजकं

कैलासविद्याप्रकाशिका

भिन्न–भिन्न हो जायेंगे। दूसरा दोष यह भी होगा कि शुक्ति में व्यावहारिक रजत की तादात्म्यसम्बन्ध से ज्ञातत्व रूप प्रसक्ति के न होने के कारण शुक्ति में व्यावहारिक रजत का निषेध मानने पर अप्रसक्त प्रतिषेध की आपत्ति भी होगी।।१६।।

शङ्का – प्रपञ्च और शुक्तिरूप्यादि में स्वरूप से ही त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता स्वीकार करने पर प्रपञ्च और शुक्तिरूप्यादि की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी।

समाधान – नहीं, क्योंकि अनिषिद्धस्वरूपत्व तथा उत्पत्यादिमत्त्व ये दोनों समव्यापक अर्थात् व्याप्य और व्यापक नहीं हैं, क्योंकि नैयायिकों के द्वारा अनिषेध्यस्वरूपत्वेन स्वीकृत आकाशादि की

सत्यानन्दप्रबोधिका

का विषय एक हो। जैसे, घटज्ञान का विषय घट और घट–अज्ञान का विषय भी घट है। अतः घटज्ञान के द्वारा घट–अज्ञान का नाश होता है। प्रकृत में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का विषय प्रातिभासिकरजत है, अतः 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान का विषय भी प्रातिभासिकरजत मानना पड़ेगा। अतः त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी प्रतिभासिकरजत ही होगा। त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी व्यावहारिकरजत को मानने पर दूसरा दोष यह है कि किसी वस्तु के प्राप्त होने पर ही उसका निषेध किया जाता है, भ्रमस्थल पर व्यावहारिकरजत की प्राप्ति नहीं है। क्योंकि व्यवहितव्यावहारिकरजत प्रत्यक्षात्मकभ्रमज्ञान में भासित नहीं हो सकता है, किन्तु प्रतिभासिकरजत ही भासित हो सकता है। अतः जो प्राप्त ही नहीं है उसका प्रतिषेध मानना पड़ेगा, जो कि अनुभव विरुद्ध है।।१६।।

पूर्वपक्षी ने इस व्याप्ति–'यद् यद् उत्पत्तिमत् तत् तदनिषिद्धस्वरूपम्' के बल पर जो कहा कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका स्वरूपेण निषेध नहीं हो सकता है। क्योंकि सिद्धान्ती ने रजत की उत्पत्ति मानी है। अतः रजत का स्वरूपेण निषेध नहीं हो सकता है। ठीक इसी प्रकार सिद्धान्ती ने जगत् की उत्पत्ति मानी है, अतः जगत् का स्वरूपेण निषेध नहीं हो सकता, अर्थात् उत्पत्तिवाले रजत और जगत् को अनिषिद्धस्वरूपवाला मानना पड़ेगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि अनिषिद्धस्वरूपत्व एवं उत्पत्त्यादिमत्व समव्यापक नहीं है। समव्यापक उसे कहते हैं जिसमें व्याप्यत्व और व्यापकत्व दोनों हों। प्रकृत में अनिषिद्धस्वरूपत्व में "यत्र यत्र उत्पत्त्यादिमत्त्वं तत्र तत्र अनिषिद्धस्वरूपत्वम्" इस प्रकार व्यापकत्व नहीं है और "यत्र यत्र अनिषिद्धस्वरूपत्वं तत्र तत्र उत्पत्त्यादिमत्त्वम्" इस प्रकार व्याप्यत्व भी नहीं है, यही सिद्धान्ती का कथन है। मूल में आये हुए 'तन्त्रम्' पद का अर्थ, समव्यापकम्–समनियतम् ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् "यत्र यत्र अनिषिद्धस्वरूपत्वं तत्र तत्र उत्पत्त्यादिमत्त्वम्" यह व्याप्ति व्यभिचरित है, क्योंकि माध्वमत में आकाशादि को अनिषिद्धस्वरूपवाला माना गया है, किन्तु उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गयी है। 'यत्र यत्र उत्पत्त्यादिमत्त्वं तत्र तत्र अनिषिद्धस्वरूपत्वम्' यह व्याप्ति भी व्यभिचरित है, क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इस श्रुति के द्वारा स्वप्नसृष्ट रथादि में उत्पत्त्यादिमत्त्वं के रहने पर भी 'न तत्र रथाः' इत्यादि श्रुति के द्वारा और जाग्रदनुभव के द्वारा स्वप्नसृष्ट रथादि में निषिद्धस्वरूपत्व सिद्ध है। अतः दूसरी व्याप्ति भी खण्डित हो गयी। फिर प्रश्न होता है कि उत्पत्त्यादिमत्त्व का व्याप्य यदि अनिषिद्धस्वरूपत्व नहीं है तो उत्पत्त्यादिमत्त्व का व्याप्य कौन है? अर्थात् किसकी उत्पत्ति मानी जाय? इसके उत्तर में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि किसी–किसी वस्तु के उत्पन्न होने का स्वभाव होता है और किसी–किसी वस्तु के उत्पन्न

वक्तव्यम्; तस्य मयापि कल्पितस्य स्वीकारात्।।१७।।

न च त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगीति मतहानिः स्यादिति वाच्यम्; अस्याचार्यवचसः पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन प्रतीतं प्रातिभासिकमेव रजतं प्रतियोगीत्यर्थः।।१८।।

तच्च स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेत्यनास्थायां वा शब्दः।।१९।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

उत्पत्यादि नहीं मानी जाती है। अतः उत्पत्ति—अनुत्पत्त्यादि में वस्तुस्वभावादि कोई अन्य ही प्रयोजक (अनादिषट्भावभिन्नत्वे सति दृश्यत्वम्) कहना होगा और उस प्रयोजक को कल्पित शुक्तिरूप्यादि की उत्पत्ति में हम मानते ही हैं।।१७।।

शङ्का — त्रैकालिकनिषेध के प्रति स्वरूप से हट्टस्थ रजत प्रतियोगी है अथवा प्रातिभासिकरजत पारमार्थिकत्व रूप से प्रतियोगी है—इस विवरणाचार्य के कथन से विरोध होगा, क्योंकि आप त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता प्रातिभासिक रजत में स्वरूपेण मान रहे हैं।

समाधान — नहीं, क्योंकि आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि पारमार्थिकत्वेन जो लोक में प्रसिद्ध रजत है अर्थात् व्यावहारिक रजत, ऐसे व्यावहारिक रजताकार रूप से प्रतीत प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है। वह प्रातिभासिक रजत स्वरूप से अथवा पारमार्थिकत्वेन प्रतियोगी है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष में अनास्था द्योतन करने के लिए वा शब्द का प्रयोग किया गया है।।१८।।—।।१९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने का स्वभाव नहीं होता है। इस आधार पर सिद्धान्त पक्ष की यह व्याप्ति बनेगी — 'यत्र यत्र अनादिषड्भावभिन्नत्वे सति दृश्यत्वं तत्र तत्र उत्पत्त्यादिमत्त्वम्'। इस प्रकार से कल्पितपदार्थों की उत्पत्ति सिद्धान्ती को भी मान्य है। अतः ज्ञात—अधिकरण में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध करने पर उत्पत्त्यादि असम्भव हो जायेगी, इस कथन का निराकरण कर दिया गया।।१७।।

सिद्धान्ती के द्वारा ज्ञात—आश्रय में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी प्रातिभासिकरजत को मानने पर उसका विवरणाचार्य के वाक्य के साथ पूर्वपक्षी विरोध दिखा रहा है। विवरणवाक्य है 'त्रैकालिकनिषधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं, पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगि'। इस वाक्य के अनुसार ज्ञात—आश्रय में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी व्यावहारिकरजत को मानना चाहिए, अथवा व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकरजत को मानना चाहिए, अतः ज्ञात—आश्रय में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी प्रातिभासिकरजत है, ऐसा मानकर जो समाधान दिया गया है, वह समाधान उक्त विवरणवाक्य के साथ विरोध होने के कारण ठीक नहीं है। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर यह दिखा रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने विवरणवाक्य का अर्थ ही नहीं समझा। विवरणवाक्य का क्या अर्थ है? उसे दिखा रहे हैं। उक्त वाक्य का ऐसा अन्वय है— 'त्रैकालिकनिषेधं प्रति आपणस्थं रूप्यम्,' अर्थात् 'पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन प्रतीतं प्रातिभासिकं रूप्यमेव प्रतियोगीति'। 'केन रूपेण?— स्वरूपेण, पारमार्थिकत्वाकारेण वा।' शुक्ति में व्यावहारिकरजत से तादात्म्यापन्न होकर प्रतीत होनेवाला प्रातिभासिकरजत ही प्रतियोगी होता है। अतः विवरणवाक्य से विरोध नहीं हैं।।१८।।

व्यावहारिकरजत से तादात्म्यापन्न होकर दिखनेवाला प्रातिभासिकरजत को स्वरूपेण प्रतियोगी मानो अथवा पारमार्थिकत्वेन (व्यावहारिकत्वेन)। यहाँ पर 'वा'(अथवा) शब्द से यह दिखाया गया है कि प्रथम पक्ष ही अधिक उचित है, द्वितीय पक्ष नहीं। अर्थात् पारमार्थिकत्वेन प्रातिभासिकरजत का निषेध होता है— यह पक्ष सभी ने नहीं माना है। क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता सभी वादियों को सम्मत नहीं है।।१९।।

एतावदुक्तिश्च पुरोवर्तितादात्म्येनैव रजतं प्रतीयत इति मतनिरासार्थं लौकिकपर–मार्थरजततादात्म्येनापि प्रतीयत इति प्रतिपादयितुञ्च।।२०।।

तदुक्तं तत्त्वप्रदीपिकायाम्' तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्याणां वाचो युक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाद् लौकिकपरमार्थरजतत्वेनापरोक्षतया

कैलासविद्याप्रकाशिका

विवरणाचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि ''पुरोवर्ति पदार्थ के साथ तादात्म्यापन्न होकर केवल प्रातिभासिक रजत प्रतीत है।'' इस मत का निरास करके '' प्रातिभासिक रजत में पूरोवर्ति पदार्थ के तादात्म्य के जैसे ही व्यावहारिक रजत का भी तादात्म्य प्रतीत होता है।'' इसका प्रतिपादन करने में है।।२०।।

इसलिए श्रीचित्सुखाचार्य ने ''तत्त्वप्रदीपिका'' में कहा है–''लौकिकपरमार्थरजत (व्यावहारिक रजत) ही ''नेदं रजतम्'' इस निषेध का प्रतियोगी है।'' ऐसा जो पूर्वाचार्यों का कथन है, वह पुरोवर्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति देखने से व्यावहारिक रजत के साथ तादात्म्यापन्नत्वेन अपरोक्षरूप से ज्ञात

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्ववादी का प्रश्न है कि विवरणाचार्य के वाक्य ("त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं प्रतियोगि") में 'आपणस्थं रूप्यं' पद का अर्थ हट्टस्थ व्यावहारिकरजत न लेकर हट्टस्थ व्यावहारिकरजत से तादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजतरूप अर्थ आपने क्यों लिया? इसका समाधान दे रहे हैं कि उक्त विवरणवाक्य का ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि– शुक्ति से तादात्म्यापन्न होकर ही प्रातिभासिक रजत प्रतीत होता है, इस मत का निराकरण करके यह दिखा रहे हैं कि जैसे शुक्ति से तादात्म्यापन्न होकर प्रातिभासिक रजत प्रतीत होता है ठीक उसी प्रकार व्यावहारिकरजत से भी तादात्म्यापन्न होकर प्रातिभासिक रजत प्रतीत होता है। इस प्रकार पुरोवर्तिवस्तु में रजतार्थी की प्रवृत्ति के लिए पुरोवर्तिवस्तु से तादात्म्यापन्न और व्यावहारिकरजत से तादात्म्यापन्न प्रातिभासिक रजत की प्रतीति होती है, ऐसा मानना चाहिए। इस लिए आपणस्थ पद का स्वारसिक अर्थ छोड़कर व्यावहारिकरजततादात्म्यापन्न अर्थ किया गया। यदि "आपणस्थं रूप्यं" का अर्थ हट्टस्थ व्यावहारिकरजत लिया जाता तो भ्रम और बाध के भिन्न–भिन्न विषय हो जाते। यदि भ्रम का विषयीभूतरजत प्रातिभासिक होता और बाध का विषय व्यावहारिकरजत होता तब अप्रसक्त– प्रतिषेध की आपत्ति होती। अतः इन सभी दोषों के परिहारार्थ "आपणस्थं रूप्यं" का अर्थ 'हट्टस्थव्यावहारिकरजततादात्म्यापन्नं रजतम्' किया गया।।२०।।

पूर्वोक्त प्रकार की व्याख्या में चित्सुखाचार्य की सम्मति दिखा रहे हैं– चित्सुखाचार्य के द्वारा रचित 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' में अनिर्वचनीयता के सिद्धान्तपक्ष के निरूपण के अवसर पर लिखा है– "न देशान्तरादौ प्रमितस्य लौकिकपरमार्थरजतस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमाभास– विषयत्वात् तस्य, अन्यथा जगति रजतमेव न स्यात्"। अर्थात् 'नेदं रजतम्' इस त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता हट्ट में प्रमित व्यावहारिकरजत में नहीं है। अपितु उक्त निषेध की प्रतियोगिता का विषय प्रातिभासिकरजत है। ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो, उक्त निषेध के द्वारा व्यावहारिकरजत का त्रैकालिकनिषेध हो जाने पर जगत् में कहीं पर भी रजत नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर विवरणवाक्य से विरोध होगा। विवरणवाक्य– "तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगि" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी व्यावहारिकरजत है। तब आप कैसे 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी प्रातिभासिक रजत को कह रहे हैं? इस शङ्का का समाधान चित्सुखाचार्य ने दिया कि यहाँ विवरणाचार्य का आशय यह है कि रजतार्थी की पुरोवर्तिवस्तु में प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए व्यावहारिकरजततादात्म्येन अपरोक्षप्रतीतप्रातिभासिकरजत में तीनों कालों में यह व्यावहारिकरजत नहीं हो सकता–इस प्रकार भेदात्मक

प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकपरमार्थरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या' इति।।२१।।

अयमाशयः–एकविभक्त्यन्तपदोपस्थापिते धर्मिणि, प्रतियोगिनि च नञोऽन्योन्याभावबोधक–त्वनियमस्य व्युत्पत्तिबलसिद्धत्वाद् 'घटः पटो न भवति' इति वाक्यवद् 'इदं रजतं न भवति' इति वाक्यस्य अन्योऽन्याभावबोधकत्वे स्थिते अभिलापजन्यप्रतीतितुल्यत्वादभिलप्यमानप्रतीतेः 'नेदं रजतम्' इति वाक्याभिलप्यप्रतीतेरन्योऽन्याभावविषयत्वमेव।।२२।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रातिभासिकनिष्ठ जो तीनों कालों में भी व्यावहारिक रजत नहीं है– इत्याकारक अन्योन्याभाव की जो प्रतियोगिता है उसको मानकर किया गया है–ऐसा समझना चाहिए।।२१।।

इसका आशय यह है कि समानविभक्त्यन्त प्रातिपादिकों से अनुयोगी और प्रतियोगी के उपस्थापित होने पर वहां उपस्थित नञ् का अन्योन्याभाव बोधकत्व नियम शब्दनिष्ठशक्ति के बल पर सिद्ध होने के कारण ''घटः पटो न भवति'' इस वाक्य में जैसे अन्योन्याभावबोधकत्व है ठीक वैसे ही ''इदं रजतं न भवति'' इस वाक्य में भी अन्योन्याभावबोधकत्व होने के कारण नञ् घटित वाक्यरूप अभिलाप जन्य जो प्रतीति है, उस प्रतीति के तुल्य अभिलप्यमान प्रतीति के होने के कारण ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक वाक्य से अभिलप्य जो प्रतीति है,वह अन्योन्याभावविषयक ही है।।२२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध की प्रतियोगिता को अङ्गीकार करके कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ति में निषेध प्रातिभासिकरजत का होता है और उस प्रातिभासिकरजत से व्यावहारिकरजत भिन्न है। ऐसा ही अर्थ चित्सुखाचार्य ने भी विवरणवाक्य का किया है। ऐसा अर्थ लेने पर भ्रम स्थल पर प्रातिभासिकरजत की प्रतीति होती है और उसी का निषेध होता है, यह सिद्ध हो जाता है।।२१।।

प्रश्न होता है कि यह आपने कैसे मान लिया कि 'नेदं रजतम्' इस वाक्य में आये हुए 'नञ्' का अर्थ अन्योन्याभाव है अत्यन्ताभाव नहीं है? इसका उत्तर दे रहे हैं कि जहाँ अनुयोगी–प्रतियोगी समानविभक्तिवाले पदों अर्थात् समानविभक्त्यन्त प्रातिपदिकों से उपस्थापित होते हैं, वहाँ 'नञ्' से अन्योन्याभाव का बोध होता है, यह व्युत्पत्तिबल (शाब्दबोध की मर्यादा) से निश्चित है। जैसे "घटः पटो न भवति" इस वाक्य में 'नञ्' के द्वारा घट में पट का अन्योन्याभाव का बोध कराया जाता है। (मूलस्थ ''एकविभक्त्यन्तपद......'' के घटक पद शब्द से प्रातिपदिक का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ''चैत्रो न पचति'' यहां पर समानविभक्त्यन्त पद समभिव्याहृत नञ् अन्योन्याभाव का बोधक नहीं है, अपितु अत्यन्ताभाव का बोधक है। अतः उक्त नियम में व्यभिचार दोष होगा किन्तु जब उक्त पद शब्द का प्रातिपदिक अर्थ करेंगे तब ''पचति'' की प्रातिपदिक संज्ञा न होने से उक्त स्थल पर व्यभिचार दोष नहीं होगा।) ठीक इसी प्रकार 'इदं रजतं न भवति' इस वाक्य में भी नञ् के द्वारा अन्योन्याभाव का ही बोध होगा। ऐसा स्पष्ट हो जाने पर रजतबाध (रजताभाव) का प्रत्यक्षदर्शी आप्तपुरुष अपने अनुभूतविषय का श्रोता को बोध कराने के लिए 'नेदं रजतम्' यह अभिलाप (वाक्य का कथन) करता है। अतः अभिलापजन्यप्रतीति (वाक्यार्थबोध) के समान ही वक्ता को अभिलप्यमान (रजतबाध) की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है। अतः 'नेदं रजतम्' इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित (रजताभावरूप) अर्थ की (वक्तृगत) प्रत्यक्षप्रतीति अन्योन्याभावविषयक सिद्ध होती है। इस प्रकार 'नेदं रजतम्' का अर्थ यह होगा– इदम्–पुरोवर्तिप्रातिभासिकरजत, रजतं–व्यावहारिकरजत और न (नञ्)–अन्योन्याभाव। इस प्रकार प्रातिभासिकरजत में व्यावहारिकरजत का भेद सिद्ध हुआ।।२२।।

तथा चेदंशब्दनिर्दिष्टे पुरोवर्तिप्रातीतिकरजते रजतशब्दनिर्दिष्टव्यावहारिकरजता–न्योऽन्याभावप्रतीतेरार्थिकं मिथ्यात्वम्। नात्र रजतमिति वाक्याभिलप्या तु प्रतीतिरत्यन्ताभावविषया; भिन्नविभक्त्यन्तपदोपस्थापितयोरेव धर्मिप्रतियोगिनोर्नञः संसर्गाभावबोधकत्वनियमात्।।२३।।

सा च पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्यैव व्यावहारिकमत्यन्ताभावं विषयीकरोतीति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्।।२४।।

अतो नापसिद्धान्तो नान्यथाख्यात्यापत्तिर्न वा ग्रन्थविरोध इत्यनवद्यम्।।२५।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

फलितार्थ–यह हुआ कि ''नेदं रजतम्'' इस वाक्य के ''इदम्'' शब्द से निर्दिष्ट पूरोवर्ति प्रातिभासिक रजत में उपरोक्त वाक्यघटक रजत शब्द से निर्दिष्ट व्यावहारिक रजत का अन्योन्याभाव प्रतीत होने के कारण पूरोवर्ति प्रातीतिक रजत का मिथ्यात्व अर्थत: सिद्ध होता है, किन्तु ''नात्र रजतम्'' इस वाक्य से अभिलप्य जो भ्रम के बाधकाल में सर्वानुभव सिद्ध प्रतीति तो अत्यन्ताभावविषयक होती है, क्योंकि भिन्न–भिन्न विभक्तियों से युक्त पदों के द्वारा जहां अनुयोगी और प्रतियोगी की उपस्थिति होती है, वहां नञ् के द्वारा संसर्गाभाव का बोध होता है। इसलिए उक्त अत्यन्ताभाव विषयक प्रतीति पुरोवर्ति वस्तु में प्रतीत रजत के स्वरूप से या पारमार्थिकत्वरूप से व्यावहारिक अत्यन्ताभाव को विषय करती है। इसलिए ऐसे स्थल पर साक्षात् मिथ्यात्व की प्रतीति होती है। इसलिए हमारे पक्ष में अपसिद्धान्त या अन्यथाख्याति की आपत्ति नहीं आयेगी और पूर्वाचार्यों के वाक्य से विरोध भी नहीं होगा। इस प्रकार से लक्षण दोष रहित हो गया।।२३।।–।।२४।।–।।२५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रश्न होता है कि प्रातिभासिकरजत में व्यावहारिकरजत का भेद सिद्ध हो जाने से प्रातिभासिकरजत मिथ्या है, यह कैसे सिद्ध हुआ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि प्रातिभासिकरजत में व्यावहारिकरजत का भेद सिद्ध हो जाने से, अर्थात् मिथ्यात्व (प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वम्) पर्यवसित होता है। अर्थात् प्रातिभासिकरजत मिथ्या है, यह 'नेदं रजतम्' इस वाक्य से साक्षात् सिद्ध न होकर अर्थापत्तिप्रमाण (पुरोवर्तिनि रजते व्यावहारिकरजतभेद: पुरोवर्तिरजतस्य मिथ्यात्वं विनाऽनुपपन्नम्) से सिद्ध होता है। किन्तु जो लोग अर्थापत्ति नहीं मानते हैं उनके लिए मूल में आए हुए आर्थिक शब्द का अर्थापत्ति अर्थ न करके अनुमान अर्थ करना चाहिए। यहाँ अनुमान का आकार इस प्रकार होगा–"प्रातीतिकरजतं मिथ्या व्यावहारिकरजतभिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा हट्टस्थं रजतम्"। किन्तु "नात्र रजतम्" इस वाक्य के द्वारा बोधित वाक्यार्थ की प्रतीति में 'नञ्' के द्वारा अत्यन्ताभाव का बोध होता है, क्योंकि जहाँ भिन्न–भिन्न विभक्तिवाले पदों से उपस्थापित अनुयोगी और प्रतियोगी होते हैं वहाँ 'नञ्' से अत्यन्ताभाव का बोध होने का नियम है ।।२३।।

और वह अत्यन्ताभाव को विषय करने वाली प्रतीति पुरोवर्तिवस्तु में प्रातिभासिकरजत के अत्यन्ताभाव (व्यावहारिक–अत्यन्ताभाव) को विषय करती है, ऐसा होने पर प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषे–धप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व को साक्षात् 'नात्र रजतम्' इस वाक्य से कह दिया गया है ।।२४।।

इस प्रकार व्यावहारिकरजत से तादात्म्यापन्नप्रातिभासिकरजत का स्वरूपेण निषेध करने पर अपसिद्धान्त नहीं होगा। क्योंकि हमारे आचार्यों ने स्वरूपेण व्यावहारिकरजत को निषेध का प्रतियोगी नहीं माना है और स्वरूपेण व्यावहारिकरजत को निषेध करने पर जो अन्यथाख्याति मानने की आपत्ति दी गयी थी, वह भी खण्डित हो गयी, क्योंकि हम व्यावहारिकरजत को प्रतियोगी न मानकर प्रातिभासिकरजत को ही प्रतियोगी मानते हैं, एवं प्रातिभासिकरजत को त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी मानने पर विवरणाचार्य, चित्सुखाचार्यादि प्राचीन–आचार्यों से विरोध भी नहीं है।।२५।।

नन्वेवमत्यन्तासत्त्वापातः, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं ह्यन्यत्रासत्त्वेन सम्प्रतिपन्नस्य घटादेः सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्; अन्यथा तेषामन्यत्र सत्त्वापातात्, न हि तेषामन्यत्र सत्ता सम्भवतीति त्वदुक्तेश्च; तथा च कथमसद्वैलक्षण्यम्, न हि शशशृङ्गादेरितोऽन्यदसत्त्वम्।।२६।।

न च निरुपाख्यत्वमेव तदसत्त्वम्; निरुपाख्यपदेनैव ख्यायमानत्वात्।।२७।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— घटादि का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेध मानने पर घटादि प्रपञ्च में अलीकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता होने से स्वानधिकरण में असत्त्वेन प्रमित घटादि प्रपञ्च का स्वाधिकरण और स्वानाधिकरण सर्वत्र त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगितत्व पर्यवसित होता है। घटादि प्रपञ्च में सर्वाधिकरणनिष्ठत्रैकालिकात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं मानने पर मिथ्यात्वेन अभिमत घटादिकों की स्वानधिकरण में सत्त्वापति होगी किन्तु आप के आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते हैं। अपितु कार्य कारण से पृथक नहीं रहता है— ऐसा ही प्रतिपादन आप के आचार्यों के द्वारा भिन्न–भिन्न स्थलों पर किया गया है। इसलिए मिथ्यात्व के उक्त लक्षण को स्वीकार करने पर घटादि में असद् वैलक्षण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व से भिन्न शशशृङ्गादि निष्ठ असत्त्व माना नहीं जाता है।।२६।।

शशशृङ्गादिनिष्ठ असत्त्व तो निरूपाख्यत्व ही है—ऐसा भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निरूपाख्य पद से ही शशशृङ्गादि कथ्यमान हैं। असत्त्व का अर्थ प्रतीयमानत्व भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि असत् की प्रतीति न होने पर असद्वैलक्षण्य ज्ञान, असत्प्रतीति का निरास और असत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये समाधान से सन्तुष्ट न होकर पूर्वपक्षी पुनः प्रपञ्चादि का स्वरूपतः त्रैकालिकनिषेध मानने पर प्रपञ्चादि में अलीकत्व की आपत्ति दे रहा है। ज्ञात–आश्रय में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता प्रपञ्चादि में मानने पर, प्रपञ्चादि को अत्यन्त असत् मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रपञ्चादि जिस अधिकरण में प्रतीत हो रहे हैं, उसी अधिकरण में प्रपञ्चादि का आप त्रैकालिकनिषेध कर रहे हैं। अर्थात् मिथ्यात्व का लक्षण— 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्' रूप है और प्रपञ्चादि का जो अधिकरण है उससे भिन्न में प्रपञ्चादि की अधिकरणता किसी के मत मे भी सिद्ध नहीं है। इस प्रकार घटादिप्रपञ्च की कहीं पर भी अधिकरणता सिद्ध न होने से घटादिप्रपञ्च में सर्वाधिकरणनिष्ठत्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता सिद्ध हो जाने से घटादि अत्यन्त–असत् हो जायेगा। यदि घटादि में सर्वाधिकरणनिष्ठत्रैकालिकात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का पर्यवसान नहीं मानोगे तो घटादि का जो अधिकरण (कपालादि) है उससे भिन्न अधिकरण (तन्तु आदि) में घटादि की अधिकरणता माननी पड़ेगी। किन्तु घट की अपने अधिकरण (कपाल) से भिन्न अधिकरण (तन्तु) में सत्ता सम्भव नहीं है। यह बात आपके पूर्वाचार्यों ने भिन्न–भिन्न स्थलों पर प्रतिपादित किया है कि कार्य कारण से पृथक नहीं रहता है। इस प्रकार घटादिप्रपञ्च अत्यन्त असत् सिद्ध हो गया। तब आप मिथ्यात्व में असद्वैलक्षण्य है, यह कैसे कह सकते हो? सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप असत् का जो लक्षण है, उस लक्षण से भिन्न प्रकार का असत् का लक्षण शशशृङ्गादि पदार्थों में नहीं माना जाता है।।२६।।

यदि कहो कि निरुपाख्य, अर्थात् किसी भी पद के द्वारा जिसका कथन न हो उसे असत् कहते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि आप स्वयं निरुपाख्य पद के द्वारा असत् का कथन कर रहे हैं। यदि

नाप्यप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्; असतोऽप्रतीतावसद्वैलक्षण्यज्ञानस्यासत्प्रतीतिनिरासस्यासत्पदप्रयोगस्य चायोगात् ॥२८॥

न चापरोक्षतयाऽप्रतीयमानत्वं तत्; नित्यातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तेरिति चेत् ॥२९॥

मैवम्; सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणम्; तथापि

कैलासविद्याप्रकाशिका

पद का प्रयोग नहीं हो सकता है। अपरोक्षत्वरूप से अप्रतीयमानत्व को भी असत्त्व नहीं कह सकते हैं,क्योंकि धर्मादि नित्यातीन्द्रिपदार्थों में असत् के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी॥२७॥–॥२८॥–॥२९॥

समाधान – पूर्वपक्षी का उक्त आक्षेप असङ्गत है, क्योंकि सर्वत्र त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता तुच्छ और अनिवर्चनीय पदार्थों में यद्यपि समान रूप से रहती है, तथापि किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीति का अयोग्यत्व ही अत्यन्त असत्त्व है, ऐसी असद्रूपता प्रातिभासिक रजत और प्रपञ्च के बाध से पहले शुक्तिरजत और प्रपञ्च में नहीं रहती है। इसलिए उनमें तुच्छत्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

निरुपाख्य पद में असत् को बोध कराने की शक्ति नहीं होती तब निरुपाख्य पद से असत् अर्थ का बोध नहीं होता। ॥२७॥

यदि कहो कि प्रतीति के अविषय को असत् कहते हैं, अर्थात् जो ज्ञान का विषय नहीं बनता है उसे असत् कहते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि असत् का ज्ञान न होने पर असत् के भेद का ज्ञान भी मिथ्यापदार्थ में सिद्धान्ती को नहीं होगा, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है और असत् की प्रतीति यदि नहीं होती है, तब ''असत् प्रतीतिर्न भवति'' इस प्रकार असत्प्रतीति का निरास भी आप नहीं कर पायेंगे। क्योंकि असत् प्रतीत्यभाव के प्रति उसका प्रतियोगिभूत–असत्प्रतीति कारण है। विद्वानों के द्वारा शब्द का प्रयोग शब्दार्थज्ञानपूर्वक होता है। अतः 'असत्' शब्द के प्रयोग के लिए 'असत्' के शब्दार्थ का ज्ञान आवश्यक है। यदि 'असत्' को ज्ञान का विषय नही मानोगे तो 'असत्' अर्थवाले 'असत्' शब्द का प्रयोग भी नहीं हो पायेगा। ॥२८॥

यदि इस पर कोई कहे कि हम असत् की प्रतीति मानते हैं किन्तु अपरोक्षप्रतीति नहीं मानते हैं। इस प्रकार असत् की परोक्षप्रतीति मान लेने से असत् का भेदज्ञान, असत्प्रतीति का निरास, असत् पद का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं होगा। अतः अपरोक्षरूप से जिसकी प्रतीति न हो उसे असत् कहते हैं– ऐसा असत् का लक्षण माना जाय। इस पक्ष का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि असत् के इस लक्षण की नित्यातीन्द्रियपदार्थ (धर्म, अधर्म, गुरुत्वादि) में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि धर्मादि की अपरोक्षप्रतीति कभी भी नहीं होती है। मूलस्थ ''अपरोक्षतया अप्रतियमानत्वम्'' का अर्थ ''प्रमाणजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वम्'' करना चाहिए। ऐसा अर्थ न करने पर नित्य अतीन्द्रिय पदार्थों में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें ईश्वरीय ज्ञान को लेकर अपरोक्षतया प्रतियमानत्व ही है। पूर्वोक्त प्रकार से अर्थ करने पर नित्य अतीन्द्रिय पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रमाणजन्यप्रत्यक्षाविषयत्व नित्यातीन्द्रिय पदार्थ में रहता ही है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने असत् के उक्त लक्षणों का खण्डन करके अपने लक्षण (सर्वत्र त्रैकालिकनिषेध–प्रतियोगित्वम्) को निर्दुष्ट सिद्ध किया और यह लक्षण घटादिप्रपञ्च में जा रहा है। अतः प्रपञ्च को अत्यन्त असत् मानने की आपत्ति सिद्धान्ती के ऊपर आयेगी॥२९॥

इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि सर्वत्र त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता अलीक और मिथ्या पदार्थों में समानरूप से है, तथापि किसी भी अधिकरण में सद्रूप से जो प्रतीत न हो ऐसे वन्ध्यासुतादि को असत् कहा जाता है। इस प्रकार का असत्त्व, रजत और प्रपञ्च के निषेध (बाध)

क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमत्यन्तासत्त्वम्, तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं नास्त्येवेति न तुच्छत्वापत्ति:।।३०।।

न च बाधात् पूर्वं शुक्तिरूप्यं प्रपञ्चो वा सत्त्वेन न प्रतीयते। एतदेव सदर्थकेनोपाधिापदेन सूचितम् ।।३१।।

शून्यवादिभि: सदधिष्ठानकभ्रमानङ्गीकारेण क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपासद्वै–लक्षण्यस्य (क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपस्य) शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे चानङ्गीकारात् ।।३२।।

नन्वेवं सति यावत्सदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम् ।।३३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

की आपत्ति नहीं होगी। बाध से पहले शुक्तिरूप्यादि और प्रपञ्च सद्रूप से प्रतीत नहीं होते हैं—ऐसी बात नहीं, किन्तु उनकी किसी न किसी अधिकरण में सत्तादात्म्यरूप से प्रतीति अवश्य होती है। प्रपञ्च का सत्तादात्म्यरूप से प्रतीयमानत्व ही सदर्थक अर्थात् अबाध्यार्थक प्रतिपन्नपदयुक्त उपाधि पद से विवरणाचार्य ने सूचित किया है।।३०।।—।।३१।।

शून्यवादी बौद्धों के द्वारा सदधिष्ठानकभ्रम स्वीकार न किये जाने से किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूप जो असत्त्व है, तद्वत् जो असत् है, उस असत् का भेद किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूप शुक्तिरजत और प्रपञ्च में वे नहीं मानते हैं।।३२।।

शङ्का — एवं सति=मिथ्यात्व के सर्वप्रतिपन्नोपाधि से घटित होने पर, फलितार्थ यह होता है कि

सत्यानन्दप्रबोधिका

से पहले, रजत और प्रपञ्च में नहीं रहता है। अत: रजत और प्रपञ्च के बाध से पहले रजतादि में तुच्छत्व की आपत्ति नहीं होगी।।३०।।

रजत और प्रपञ्च की अपने अधिकरण में सद्रूप से प्रतीति, बाध से पहले नहीं होती है ऐसी बात नही, अपितु अवश्य होती है। इस प्रकार बाध्यपदार्थों का बाध से पूर्व सद्रूप से प्रतीयमानता उक्तमिथ्यात्व लक्षण के घटक 'उपाधि' पद के द्वारा विवरणाचार्य ने सूचित किया है। अत: रजत और प्रपञ्च को असत् नहीं कहा जा सकता है।।३१।।

सिद्धान्ती ने बाध से पहले ज्ञात—अधिष्ठान में प्रपञ्चादि की सत्त्वेन प्रतीति मानी और बाध के बाद सर्वत्र त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगी प्रपञ्चादि को माना। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ऐसा तो शून्यवादी (माध्यमिक) भी मानता है। वह भी शून्यभावना के द्वारा प्रपञ्च के बाध से पहले उसकी (प्रपञ्च की) सत्त्वेन प्रतीति मानता है और बाध के बाद प्रपञ्च का निषेध मानता है। अत: आप शून्यवादी के मत में प्रविष्ट हो गये। इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कहा रहे हैं कि शून्यवादी प्रपञ्च के बाध से पहले उसमें (प्रपञ्च में) अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व मानता है, न कि ज्ञात—अधिष्ठान में सत्त्वेन प्रतीति मानता है। क्योंकि शून्यवादी सदधिष्ठानकभ्रम नहीं मानता, अपितु निरधिष्ठानकभ्रम मानता हैं। अत: शून्यवाद और अद्वैतवाद में महान अन्तर है। इन सब बातों का स्पष्टीकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शून्यवादी भ्रम का अबाध्यरूपसदधिष्ठान नहीं मानता है। अत: शून्यवादी किसी भी अधिष्ठान में सत्त्वेन प्रतीति की अयोग्यतारूप जो असत्, उसका वैलक्षण्य रजत और प्रपञ्च में नहीं मान सकता है। जब कि अद्वैतसिद्धान्त में प्रातिभासिकरजत और प्रपञ्च में बाध से पूर्व सदधिष्ठान में सत्त्वेन प्रतीति मान्य है। अत: सिद्धान्ती पर शून्यवाद में प्रवेश होने की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।।३२।।

अब पूर्वपक्षी मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनादिदोषों के उद्भावन के द्वारा प्रकृत अनुमान को दूषित

तथा च केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिष्ववृत्तिषु गगनादिषु तार्किकाणां सिद्धसाधनम्।।३४।।

यदधिकरणं यत्सत् तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति विवक्षायाम्, अधिकरणपदेनावृत्तिनिराकरणेऽपि संयोगसम्बन्धेन समवायसम्बन्धेन वा यद् घटाधिकरणं समवायसम्बन्धेन संयोगसम्बन्धेन वा घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनम् ।।३५।।

येन सम्बन्धेन यद्यस्याधिकरणं तेन सम्बन्धेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

समस्त सद्रूप अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। ऐसा होने पर मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि नैयायिक मतानुसार अवृत्तिपदार्थ गगनादि है, उनका अभाव केवलान्वयी माना जाता है। ऐसे अभाव की प्रतियोगिता गगनादि में सिद्ध ही है।।३३।।–।।३४।।

जिस वस्तु का जो सद्रूप अधिकरण होता है, उस अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को उस वस्तु का मिथ्यात्व कहा जाता है– इस प्रकार की विवक्षा करने पर अधिकरण पद के द्वारा अवृत्तिपदार्थों का निराकरण होने पर भी घट जिस भूतल में संयोग सम्बन्ध से रहता है, उसी भूतल में समवाय सम्बन्ध से घट का अभाव रहता है। इसी प्रकार जिस कपाल में घट समवाय सम्बन्ध से रहता है, उसी कपाल में घट संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता है। इस प्रकार से उक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सभी वृत्तिमत् पदार्थों में सिद्ध होने से सिद्धसाधनता का निवारण करना असम्भव है।।३५।।

जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जिस अधिकरण में होती है, उसी सम्बन्ध से उस वस्तु का उसी अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को उस वस्तु का मिथ्यात्व कहा जाता है– ऐसी

सत्यानन्दप्रबोधिका

करने का प्रयत्न करते हुए कह रहा है– सिद्धान्ती के द्वारा उपाधि पद का सद्रूप अधिकरण अर्थ लेने पर प्रकृत अनुमान के साध्य मिथ्यात्व का यही अर्थ निकलता है कि जो सभी सद्रूप अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो, वह मिथ्या है। अर्थात् जो किसी भी सद्रूप अधिकरण में नहीं रहता है वह मिथ्या है।।३३।।

ऐसा अर्थ लेने पर गगनादि का अभाव जो कि केवलान्वयी (अर्थात् सर्वत्र रहने वाला) है, उस अभाव का प्रतियोगित्व गगनादि में नैयायिकगण पहले से ही मानते हैं। अतः गगनादि में सिद्धसाधन दोष होगा।।३४।।

यदि कहो कि जिस वस्तु का जो सद्रूप अधिकरण हो उस अधिकरण में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता जिसमें है वह मिथ्या है, तो ऐसा अर्थ करने पर गगनादि का कोई अधिकरण प्रसिद्ध न होने से गगनादि में सिद्धसाधन का वारण होने पर भी व्यधिकरण– सम्बन्ध से सिद्धसाधनदोष आयेगा। क्योंकि संयोगसम्बन्ध से जिस भूतल में घट है उसी भूतल में समवायसम्बन्ध से घट नहीं है। ऐसे ही समवायसम्बन्ध से जिस कपाल में घट है उसी कपाल में संयोगसम्बन्ध से घट नहीं है। अतः उक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता वृत्तिमत् (आधार–आधेय भाव से रहने वाले) घटादि सभी पदार्थों में नैयायिकों द्वारा पहले से ही मान्य है। अतः सिद्धसाधनदोष का वारण करना असम्भव होगा।।३५।।

यदि सिद्धान्ती कहे कि अधिकरणतावच्छेदकसम्बन्ध और प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध के भिन्न–भिन्न होने से सिद्धसाधन होने पर भी अधिकरणतावच्छेदक सम्बन्ध और प्रतियोगितावाच्छेदकसम्बन्ध एक लेने पर

विवक्षायाम्, अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु सिद्धसाधनमिति चेत् ।।३६।।

न, येन रूपेण यदधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्नपदेन सूचितत्वात् ।।३७।।

तच्च रूपं सम्बन्धविशेषोऽवच्छेदकविशेषश्च। न हि सम्बन्धविशेषमन्तरेण भूतले घटा–धिकरणता प्रतीयते ।।३८।।

अवच्छेदकविशेषमन्तरेण वा वृक्षे कपिसंयोगाधिकरणता ।।३९।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

विवक्षा करने पर भी अव्याप्यवृत्ति संयोगादि में सिद्धसाधन दोष बना ही रहेगा।।३६।।

समाधान – पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जिस रूप (जिस सम्बन्ध और धर्म) से जिस अधिकरण में जो वस्तु ज्ञात है, उस रूप (उस सम्बन्ध और धर्म) से उस अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही मिथ्यात्व है– इसे मिथ्यात्व लक्षण के घटक प्रतिपन्न पद से सूचित किया गया है। यहां पर रूप शब्द सम्बन्ध विशेष और अवच्छेदक धर्म विशेष दोनों का ही बोधक है, क्योंकि सम्बन्ध विशेष के बिना भूतल में घटादि की अधिकरणता प्रतीत नहीं होती है। इसी प्रकार अवच्छेदक विशेष के बिना वृक्ष में कपिसंयोगादि की भी अधिकरणता प्रतीत नहीं होती है। इस प्रकार से फलितार्थ यह हुआ कि –"यत्सम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मा वच्छिन्नयद्देशावच्छिन्नयत्कालावच्छिन्नाधे–यतानिरूपिताधिकरणता यत्र तत्रैव तत्सम्बन्धावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नतद्देशावच्छिन्नातत्काला–वच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।।" इस प्रकार से मिथ्यात्व के लक्षण का परिष्कार होने पर सिद्धसाधनता दोष की आपत्ति नहीं होगी।।३७।।–।।३८।।–।।३९।।–४०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस सम्बन्ध से जो वस्तु जिस अधिकरण में प्रतिपन्न है, यदि उस सम्बन्ध से उसी अधिकरण में उस वस्तु में रहने वाली अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता को प्रतिपन्न पद से लेंगे तो पूर्वोक्त सिद्धसाधन दोष का वारण यद्यपि हो जायेगा, परन्तु तब भी अव्याप्यवृत्ति (स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणम्) संयोगादि में सिद्धसाधनदोष बना ही रहेगा। क्योंकि कपिसंयोगादि पदार्थ समवायेन जिस वृक्षादि में है, वहीं पर समवायेन उनका अत्यन्ताभाव भी रहता है। अतः अधिकरणतावच्छेदकसम्बन्ध और प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध के एक होने पर भी सिद्धसाधनदोष का वारण नहीं किया जा सकता है ।। ३६।।

इस प्रकार नैयायिकों के द्वारा दिये गये सिद्धसाधनदोष का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अधिकरणता का अवच्छेदकसम्बन्ध और धर्म तथा प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध और धर्म के एक होने पर पूर्वोक्त सिद्धसाधनदोष नहीं लगेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस रूप से जिस अधिकरण में जो वस्तु प्रतीत हो रही है उसी रूप से उस अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी को मिथ्या कहा जाता है, इस प्रकार का परिष्कार मिथ्यात्वलक्षण का घटक 'प्रतिपन्न' पद के द्वारा मूलकार (विवरणाचार्य) ने सूचित किया है ।।३७।।

यहाँ 'रूप' पद का अर्थ अवच्छेदकसम्बन्धविशेष और अवच्छेदकधर्मविशेष है। संयोगादि सम्बन्ध के बिना घटादि की भूतलादि में अधिकरणता की प्रतीति नहीं होती है।।३८।।

इसी प्रकार शाखादिरूप अवच्छेदकविशेष के बिना वृक्ष में कपिसंयोगादि की अधिकरणता की भी प्रतीति नहीं होती है ।।३९।।

तथा च येन सम्बन्धविशेषेण येन चावच्छेदकविशेषेण यदधिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुमर्हति, तेनैव सम्बन्धविशेषेण तेनैव चावच्छेदकविशेषेण तदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति पर्यवसिते क्व सिद्धसाधनम्? ।।४०।।

यदि पुनः ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वमिवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादौ न स्यात्;

कैलासविद्याप्रकाशिका

जिस प्रकार से आकाशादि में ध्वंसाभाव और प्रागभाव की प्रतियोगिता नहीं मानी जाती है, ठीक उसी प्रकार से आकाशादि में अत्यन्ताभाव की भी प्रतियोगिता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि जैसे आकाशादि में ध्वंसाभाव और प्रागभाव की प्रतियोगिता का कोई साधक प्रमाण नहीं है, ठीक वैसे ही आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का भी कोई साधक प्रमाण नहीं है। जैसे आकाशादि के अत्यन्ताभाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि ''यहां आकाश नहीं है।'' इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति असम्भव है। अनुमान प्रमाण के द्वारा भी आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध नहीं की जा सकती है, क्योंकि अनुमान में व्यभिचार शङ्का निवारक अनुकूल तर्क का अभाव है। यदि अनुकूल तर्क के बिना भी सामान्यतो दृष्ट अनुमान के द्वारा आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता मानी जाती है, तब तो उसी प्रकार अनुमान प्रमाण के द्वारा आकाशादि में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की भी प्रतियोगिता सिद्ध हो जायेगी। आकाशादि के अत्यन्ताभाव को न मानने से किसी

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः फलितार्थ यह हुआ कि जिस अवच्छेदकसम्बन्धविशेष और अवच्छेदकधर्मवि– शेष से अवच्छिन्न जिस वस्तु की अधिकरणता जहाँ सम्भव है, उसी अधिकरण में उसी सम्बन्धविशेष और उसी अवच्छेदकधर्मविशेष से अवच्छिन्न उस वस्तु में स्वरूपेण त्रैकालिकात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है, यही मिथ्यात्व है। ऐसा मानने पर वृत्तिमत्पदार्थ घटादि में और अव्याप्यवृत्ति वाले पदार्थ संयोगादि में सिद्धसाधनदोष का वारण हो गया ।।४०।।

नैयायिकों द्वारा अवृत्तिपदार्थ गगनादि का अत्यन्ताभाव केवलान्वयी माना जाता है। सिद्धान्ती ने नैयायिकों के द्वारा सम्मत गगनादि के अत्यन्ताभाव को केवलान्वयी मानकर सिद्धसाधन दोष का समाधान दिया। अब सिद्धान्ती यह दिखाने जा रहे हैं कि नैयायिक स्वमत से अवृत्तिपदार्थ गगनादि के अत्यन्ताभाव को केवलान्वयी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि नैयायिक जिस प्रकार से ''इह गगनं ध्वस्तम्, इह गगनं भविष्यति'' ऐसी प्रतीति न होने से आकाश में प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव की प्रतियोगिता नहीं मानता है, ठीक उसी प्रकार से ''इह गगनं नास्ति'' ऐसी प्रतीति न होने से आकाश में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता भी नहीं मान सकता है। क्योंकि आकाश के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को सिद्ध करने वाली प्रतीति के अभाव के तुल्य ही आकाश के अत्यन्ताभाव को सिद्ध करने वाली प्रतीति का भी अभाव है। अथवा अनुमान के द्वारा तुल्यता इस प्रकार से दिखा सकते हैं–''अत्यन्ताभावो न गगन– प्रतियोगिकः, संसर्गाभावत्वात्, ध्वंसाभावप्रागभाववत्''। यदि पूर्वपक्षी हठ करता है कि ''इहाकाशो नास्ति'' ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है, तो ऐसा नहीं कह सकता है। क्योंकि अभाव के प्रत्यक्षज्ञान के प्रति प्रतियोगी का प्रत्यक्षज्ञान कारण होता है। प्रकृत में प्रतियोगी गगन का प्रत्यक्षज्ञान नैयायिक नहीं मानता है। अतः आकाश के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्षप्रतीति के बल पर गगन का अत्यन्ताभाव सिद्ध न होने पर अनुमान के द्वारा गगन का अत्यन्ताभाव सिद्ध करेगे, यदि ऐसा विचार कर पूर्वपक्षी अनुमान करें– ''गगनं भूतलनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, भूतलादिनिष्ठवृत्तिनियामकसम्बन्धस्याप्रतियोगित्वात्, भूतलावृत्ति–

साधकमानाभावस्य तुल्यत्वात्, इहाकाशो नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसम्भवादनुमाने चानुकूलतर्काभावात्, सामान्यतो दृष्टमात्रेण ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात्, तद्व्यतिरेकेण कस्यचित् कार्यस्यानुपपत्तेरभावाच्च, एवं संयोगसम्बन्धेन घटवति भूतले

कैलासविद्याप्रकाशिका

कार्य की अनुपपत्ति भी नहीं होती है। (अतः आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध न होने से आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता मानकर सिद्धसाधनदोष वारण के लिए जो ''यदधिकरणं यत्सत्....'' यह भाग जो मिथ्यात्व के लक्षण में दिया गया था, उसकी अब कोई आवश्यकता नहीं है।) इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से घटवद्भूतल में समवाय सम्बन्ध से घटाभाव के रहने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए सम्बन्ध घटित अभाव और प्रतियोगी में विरोध की कल्पना की अपेक्षा सम्बन्ध अघटित अभाव और प्रतियोगी में विरोध की कल्पना में लाघव है। इसलिए घटत्वावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव (घटात्यन्ताभाव) का घट के साथ सामानाधिकरण्य के प्रति विरोधित्व की कल्पना की जाती है। अभाव में विशेषण के रूप से (संयोगेन घटाभाव— इस प्रकार

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्मवत्', तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष के अयोग्यवस्तु में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का वहीं अनुमान किया जाता है, जहाँ उसको अङ्गीकार न करने से अनिष्ट की प्रसक्ति होती है। जैसे अतीन्द्रिय गुरुत्वादि का तेजादि में अत्यन्ताभाव का अनुमान किया जाता है। अन्यथा तेजादि में गुरुत्व के मानने पर उन तेजादि में पतनादि की उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसङ्ग आयेगा। अतः तेजादि में गुरुत्वाभाव का अनुमान किया जाता है। प्रकृत में भूतल में गगन के अत्यन्ताभाव को न मानने पर किसी भी प्रकार के अनिष्ट का प्रसङ्ग नहीं आता है। अतः गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार इस अनुमान में अनुकूल तर्क नहीं है। यदि अनुकूल तर्क से रहित उक्त अनुमान के द्वारा गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता मानेंगे तो गगन में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की भी प्रतियोगिता माननी पड़ेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अनुकूलतर्क से रहित सामान्यतोदृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) अनुमान के द्वारा गगन में प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव की प्रतियोगिता को मानने की आपत्ति आयेगी। गगन में प्रध्वंसाभाव को सिद्ध करने वाला अनुमान— ''गगनं ध्वंसप्रतियोगि, गगनघटान्यतरत्वात्, घटवत्'' और गगन के प्रागभाव को सिद्ध करने वाला अनुमान 'गगनं प्रागभावप्रतियोगि, गगनघटान्यतरत्वात्, घटवत्'। जैसे इन अनुमानों में अनुकूलतर्क के न रहने से गगन में प्रध्वंसाभाव और प्रागभाव की प्रतियोगिता उक्त अनुमान के बल पर भी नहीं मानी जाती है, उसी प्रकार अनुकूलतर्क के न रहने से गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता भी पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती है। जैसे धूम के रहने पर वह्नि की सिद्धि न मानने पर कार्यकारणभावरूप अनिष्टता का प्रसङ्ग आता है, क्योकि वह्नि से धूम जन्य है, इसी प्रकार अत्यन्ताभाव का प्रतियोगि गगन को न मानने पर किसी भी अनिष्टता के प्रसङ्ग का आपादान नहीं किया जा सकता हैं। यदि नैयायिक द्वारा यह शङ्का की जाय कि यदि सिद्धान्ती ''इह गगनं नास्ति'' ऐसी प्रत्यक्षप्रतीति के न रहने के कारण गगन का अत्यन्ताभाव नहीं मान रहे हैं, तो ऐसी अवस्था में घटादि—प्रतियोगिकभेद भी गगन में सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि जिस भेद का अनुयोगी प्रत्यक्ष के अयोग्य हो, ऐसे भेद का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः अयोग्य अधिकरणक भेद का प्रत्यक्ष न होने से गगन में घटभेद भी सिद्ध नहीं होगा। यदि सिद्धान्ती कहे कि अनुमान ('गगनं घटभेदवत्, गगनपटान्यतरत्वात्, पटवत्) के द्वारा गगन में घटभेद सिद्ध कर देंगे तो नैयायिक द्वारा अनुकूल तर्क के अभाव की शङ्का उठायी जा सकती है। ऐसी शङ्का का भी

समवायसम्बन्धेन घटाभावसत्त्वे मानाभावाल्लाघवेन घटात्यन्ताभावत्वेनैवघटसामानाधि–करण्यविरोधित्वकल्पनात् सम्बन्धविशेषप्रवेशे च गौरवाद् घटसमवायाद्यभावमात्रविषयकतया प्रतीतेरुपपत्तेः। आधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन घटस्यावृत्तित्वशङ्कानुदयाद्। उक्तयुक्तेश्चन

कैलासविद्याप्रकाशिका

से) सम्बन्ध विशेष का प्रवेश करके संयोगेन घट के आधार में विरोध मानने पर अनन्तसम्बन्ध प्रवेश मूलक गौरव दोष होगा। भूतल में ''समवायेन घटो नास्ति'' इत्याकारक निषेध धी का विषय घटीय समवाय है, न कि घट। भूतल और घट में आधार–आधेयभाव प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण भूतल में घट के अवृत्तित्व की शङ्का भी नहीं हो सकती है। ''घटसंयोगी घटात्यन्ताभाववान्, घटसमवायाभावात्, नित्यरूपवत्'' इस अनुमान में भी उक्त युक्तिरूप अनुकूल तर्क का अभाव होने से इस अनुमान के

सत्यानन्दप्रबोधिका

उत्तर मूल में ''तद्व्यतिरेकेण'' इत्यादि से दिया गया है कि भूतल में गगन का अत्यन्ताभाव न मानने से किसी भी प्रकार के कार्य की अनुपपत्ति नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध न होने पर उस वस्तु को माना नहीं जा सकता है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष के अयोग्य अतीन्द्रिय वस्तुओं की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु का अनुमान से सिद्धि होती है। किन्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तुओं का अनुमान के द्वारा सिद्धि वहीं की जाती है, जहाँ उनकी सिद्धि न होने पर किसी कार्य की अनुपपत्ति हो रही हो। प्रकृत में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता गगन में न मानने पर किसी कार्य की अनुपपत्ति नहीं हो रही है। तथा गगन में घट का भेद न मानने पर घट और आकाश अभिन्न हो जाने से आकाश में भी घटत्व मानने की आपत्ति और घट में नित्यत्व मानने की आपत्ति होगी, जब कि कपालादि का कार्य घटादि अनित्य है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः गगन में घट का भेद न मानने पर घटादियों का जो कपालादि की कार्यता का प्रत्यक्ष होता है, उसकी अनुपपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार गगन का अत्यन्ताभाव सिद्ध न होने से गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता मान कर सिद्धसाधनदोषवारण के लिए जो ''यदधिकरणं यत् सत् ...'' लक्षण में यह भाग दिया गया था उसको देने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का साधक प्रत्यक्ष और अनुमानादि के न होने से गगन में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध नहीं हुई, उसी प्रकार न्यायमतानुसार जहाँ घट है वहीं पर सम्बन्धान्तर से घट का अत्यन्ताभाव है इसका साधक प्रत्यक्ष और अनुमानादि के न होने से और घट एवं घटाभाव एक अधिकरण में रहते हैं, इसको न मानने से किसी भी कार्य की अनुपपत्ति भी न होने से घट को अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में नहीं माना जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि संयोगसम्बन्ध से जिस भूतल में घट है वहीं पर समवायसम्बन्ध से घटाभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अपितु सम्बन्धान्तरविशेष का प्रवेश न करके घट और घटाभाव में विरोध मानने में लाघव है। क्योंकि सम्बन्ध विशेष से घट है और सम्बन्धविशेष से घट नहीं है, ऐसा मानने में गौरव होगा। जहाँ संयोगसम्बन्ध से घट है वहाँ समवायसम्बन्ध से घट नहीं है ऐसी जो प्रतीति होती है, उसका तात्पर्य यह है कि जहाँ संयोग सम्बन्ध से घट है वहाँ घट का समवायसम्बन्ध नहीं रहता है किन्तु वहाँ घट रहता है। जैसे 'शिखी चैत्रो नष्टः' यहाँ पर चैत्र का नाश नहीं होता है। अपितु चैत्र की शिखा का नाश होता है। ठीक उसी प्रकार ''समवायेन घटो नास्ति'' इस स्थल पर घट के समवाय का अभाव होता है, न कि घट का। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि जैसे ''समवायेन घटो नास्ति'' इस स्थल पर सिद्धान्ती ने घट के समवाय का अभाव माना है वैसे ही ''समवायेन घटोऽस्ति, संयोगेन घटोऽस्ति'' इन स्थलों पर समवाय और

घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम्; एवं संयोगतदभावयोर्नैकाधिकरण्यम्; 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी मूले न' इति प्रतीतेरग्रमूलयोरेव संयोगतदभाववत्तयोपपत्तेः, तदा सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियो–

कैलासविद्याप्रकाशिका

द्वारा स्वसाध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकार से फलितार्थ यह हुआ कि घटादिनिष्ठ स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य नहीं होता है। इसी प्रकार संयोग और संयोगाभाव का भी सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अग्रावच्छेदेन वृक्ष कपि संयोग वाला है। मूलावच्छेदेन नहीं—इस प्रकार की प्रतीति होने से अग्रभाग और मूलभाग में क्रमशः संयोग और संयोगाभाव के प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है। अतः उपरोक्त युक्तियों के बल पर उपरोक्त दोषों का निवारण हो जाने

सत्यानन्दप्रबोधिका

संयोगादिसम्बन्ध ही रहता है घट नहीं रहता, ऐसा मानना पड़ेगा। और ऐसा मानने पर संसार में कहीं पर घटादिपदार्थ रहते हैं, यह सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् घट आकाशादि के जैसे अवृत्तिपदार्थ हो जायेगा। इसका समाधान दे रहे हैं कि घट और भूतल में आधार—आधेय भाव प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होने के कारण घट अवृत्ति पदार्थ हो जायेगा, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि जहाँ संयोगेन घट है वहीं पर समवायेन घटाभाव है, ऐसा हम अनुमान से सिद्ध करेंगे और उस अनुमान का आकार बनायेंगे— 'घटसंयोगी घटात्यन्ताभाववान्, घटप्रतियोगिकसमवायाभावात्, नित्यरूपवत्'। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि तुम्हारे अनुमान में अनुकूलतर्क नहीं है। अतः यह अनुमान अपने साध्य की सिद्धी नहीं कर सकता है। यदि अनुकूलतर्क के न रहने पर भी उक्त अनुमान से घट के अधिकरण में घट के अत्यन्ताभाव की सिद्धि करोगे तो हम भी ऐसे ही अनुमान से यह सिद्ध करेंगे कि जहाँ घट है वहीं घटध्वंस है, जैसे 'घटसंयोगि भूतलं घटध्वंसवत् कपालभूतलान्यतरत्वात् कपालवत्'। अतः हमारी जो युक्ति है कि जहाँ घट है वहाँ घटाभाव नहीं रहता, ऐसा मानने में लाघव रूप अनुकूलतर्क है। अतः सम्बन्ध प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्वलक्षण के परिष्कार में भी सम्बन्ध प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि संयोगेन जहाँ घट है वहाँ समवायेन घट नहीं है, ऐसा मानकर जो सिद्धसाधनदोष दिया है, उसका निराकरण सिद्धान्ती ने यह कह करके किया की वैसे मानने में कोई प्रमाण नहीं है और उसमें गौरवादिदोष भी है। अभी तक सिद्धान्ती ने यह सिद्ध किया कि वैयधिकरण्यसम्बन्ध से वृत्तिमत् घटादिपदार्थो के अभाव को लेकर प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है। अब यह दिखा रहे हैं कि अव्याप्यवृत्तिवाले संयोगादि को लेकर प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनदोष वारण करने के लिए मिथ्यात्व के लक्षण में जिस अवच्छेदक—धर्मविशेष का प्रवेश किया गया था, उस अवच्छेदकधर्मविशेष को मिथ्यात्व के लक्षण में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि संयोग को अव्याप्यवृत्तिपदार्थ नहीं माना जा सकता है। अव्याप्यवृत्तिपदार्थ उसी को माना जाता है जो अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहता है। किन्तु संयोग और संयोगाभाव एक अधिकरण में नहीं रहते हैं। संयोग आदि की व्याप्यवृत्ति के रूप से प्रतीति होती है। इसी को स्पष्ट कर रहे हैं कि कपिसंयोग शाखा में है, मूल में नहीं। अर्थात् कपिसंयोग ओर कपिसंयोग के अभाव का अधिकरण वृक्ष नहीं है, किन्तु कपिसंयोग का अधिकरण वृक्ष का शाखाभाग है और कपिसंयोग के अभाव का अधिकरण वृक्ष का मूल भाग है, अथवा शाखावच्छिन्नवृक्ष कपिसंयोग वाला है, और मूलावच्छिन्नवृक्ष कपिसंयोग के अभाव वाला है। एवं शाखावच्छिन्न वृक्ष से मूलावच्छिन्नवृक्ष भिन्न है। अतः संयोग और संयोगाभाव का एक अधिकरण न होने से संयोगादि को लेकर प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनदोष का वारण करने के लिए मिथ्यात्वलक्षण में अवच्छेदकधर्मविषेश

गित्वमेव मिथ्यात्वं मन्तव्यम्।।४१।।

न चैवं सति भावाभावयोरविरोधात्तज्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावो न स्यादिति वाच्यम्; भिन्नसत्ताकयोरविरोधेऽपि समसत्ताकयोर्विरोधात् ।।४२।।

यत्र भूतले यस्य घटस्यात्यन्ताभावो व्यावहारिकः, तत्र स घटो न व्यावहारिक इति नियमात् ।।४३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

से मिथ्यात्व लक्षण का आकार होगा—''सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्''।।४१।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा कथित मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्च के आधार में ही प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जाने पर भाव और अभाव में समानाधिकरण सिद्ध हो जाने से भाव और अभाव में विरोध ही नहीं होगा। इन दोनों में विरोध न होने पर भाव ज्ञान और अभाव ज्ञान में जो बाध्यबाधक भाव प्रसिद्ध है, उस की उपपत्ति भी नहीं होगी।

समाधान— नहीं, क्योंकि भिन्न—भिन्न सत्ता वाले भाव और अभाव में विरोध न होने पर भी समान सत्ता वाले भाव और अभाव में विरोध होता है। जैसे जिस भूतल में जिस घट का अत्यन्ताभाव व्यावहारिक है, उस भूतल में व्यावहारिक घट नहीं रह सकता है किन्तु प्रातिभासिक घट रह सकता है।।४२।।—।।४३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का प्रवेश किया गया था, उसको देने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार केवलान्वयी गगन के अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी गगन में सिद्धसाधन वारण करने के लिए ''यद् यस्याधिकारणम्'' इत्यादि नहीं कहना चाहिए। इसी प्रकार वैयधिकरण्य सम्बन्ध से वृत्तिमद् घटादिपदार्थो में सिद्धसाधनदोष वारण के लिए ''येन सम्बन्धेन यद् यस्याधिकरणम्'' इत्यादि नहीं देना चाहिए और कपिसंयोगादि में सिद्धसाधनदोष वारण करने के लिए जिस अवच्छेदकधर्मविशेष का प्रवेश किया गया था, उस अवच्छेदकधर्मविशेष को भी मिथ्यात्व के लक्षण में नहीं देना चाहिए। तब प्रश्न होता है कि किस प्रकार का आप मिथ्यात्व का लक्षण मानते है? इसका उत्तर दे रहे हैं कि केवल सन्मात्र में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व माना जाता है।।४१।।

यहाँ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती ने प्रकृत मिथ्यात्वानुमान से पहले घट और घटाभाव को एक अधिकरण में नहीं माना। किन्तु मिथ्यात्वानुमान से सिद्धन्ती ने यही सिद्ध किया कि जहाँ घट है वहीं पर घट का अभाव है। ऐसा मानने पर घट और घट के अत्यन्ताभाव के एक ही अधिकरण में रह जाने से घट और घटाभाव में विरोध नहीं होगा एवं घट और घटाभाव में विरोध न मानने पर घटज्ञान और घटाभावज्ञान में जो लोकसिद्ध बाध्य— बाधकभाव है वह भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। ऐसी अवस्था में ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस श्रुति के द्वारा बोधित घटादि प्रपञ्च के अभावज्ञान द्वारा घटादिप्रपञ्चज्ञान का बाध नहीं हो पोयगा— ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। क्योंकि भिन्नसत्तावाले भाव और अभाव पदार्थो में विरोध के न होने पर भी समानसत्तावाले घटादि भाव और घटाद्यभाव पदार्थों में विरोध माना जाता है ।।४२।।

जैसे जिस भूतल में घट का व्यावहारिक—अत्यन्ताभाव है, उस भूतल में व्यावहारिकघट नही रहता है, क्योंकि समान सत्तावाले भाव और अभाव में विरोध होता है। किन्तु जहाँ घट का अत्यन्ताभाव प्रातिभासिक है वहाँ पर व्यावहारिकघट रहता है, क्योंकि दोनों की समसत्ता नहीं है और भिन्न—भिन्न सत्तवाले में विरोध भी नहीं माना जाता है ।।४३।।

न चैवं सति 'शुक्तिरियं न रजतम्' इति ज्ञानविषयीभूताभावस्य व्यावहारिकत्वेन पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकसत्त्वानपहाराद् बाधोत्तरकालेऽपि 'इदं रजतम्' इति प्रतीतिः स्यादिति वाच्यम्; तत्र 'इयं शुक्तिः' इत्यपरोक्षप्रमया प्रातीतिकरजतोपादानाज्ञाननिवृत्तौ प्रातीतिकसत्त्वस्याप्यपहारात्, शुक्त्यज्ञानस्य प्रातीतिकरजतोपादानत्वेन तदसत्त्वे प्रातीतिकरजतासत्त्वस्यावश्यकत्वात् ।।४४।।

अत एव यत्र परोक्षयाऽधिष्ठानप्रमया न भ्रमोपादानाज्ञाननिवृत्तिः, तत्र

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— एवं सति= समानसत्तावाले भावों और अभावों में विरोध होता है—ऐसा स्वीकार करने पर। ''यह शुक्ति है रजत नहीं'' इत्याकारक ज्ञान का विषयीभूत जो अभाव है, उसके व्यावहारिक होने से पुरोवर्ति (शुक्ति) में प्रतीत रजत में कल्पित व्यवहारिकत्व का उच्छेद होने पर भी प्रातिभासिक स्वरूप का उच्छेद न होने से उपरोक्त बाध के उत्तरकाल में भी ''इदं रजतम्'' इत्याकारक प्रतीति होती रहनी चाहिए।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यह शुक्ति है'' इत्याकारिका जो अपरोक्ष प्रमा है, उस प्रमा से प्रातिभासिक रजत के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर प्रातिभासिकस्वरूप का भी उच्छेद हो जाता है, क्योंकि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ आगन्तुकदोष सहित अज्ञान को ही प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण माना जाता है। अतः उपादान कारण (उक्त अज्ञान) के न रहने पर उसका कार्य (प्रातिभासिक रजत) भी नहीं रहेगा।।४४।।

अतएव =अज्ञान के उच्छेद होते ही अज्ञान के कार्य का भी उच्छेद हो जाता है—ऐसा नियम

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि भिन्नसत्तावाले भाव—अभाव पदार्थों में विरोध न मानने पर, एवं भिन्नसत्तावाले भाव—अभाव पदार्थों के ज्ञानों में बाध्यबाधक भाव न मानने पर सिद्धान्ती को अनिष्ट की आपत्ति होगी। जैसे शुक्ति में रजतभ्रम के बाद ''शुक्तिरियं न रजतम्'' इस बाध ज्ञान का विषयीभूतरजताभाव की व्यावहारिकसत्ता सिद्धान्ती मानते हैं और पुरोवर्त्ति देश में प्रतीत रजत को प्रातिभासिक मानते हैं। अतः 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान से प्रातिभासिकरजत में तादात्म्यापन्न होकर भासित होने वाला व्यावहारिकत्व का बाध होने पर भी रजत में भासित होने वाले प्रातिभासिकत्व का बाध नहीं होगा, क्योंकि जहाँ रजतात्यन्ताभाव व्यावहारिक है वहाँ रजत को प्रातिभासिक मानने में सिद्धान्ती ने विरोध नहीं माना है। अतः बाधज्ञान के बाद भी 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति बनी रहनी चाहिए। जबकि सिद्धान्ती इसे मानते नहीं हैं। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त में अधिष्ठान के साक्षात्कार से अधिष्ठान को विषय करने वाली अविद्या और अविद्या का कार्य दोनों का उच्छेद माना जाता है। अतः 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार से अधिष्ठान का साक्षात्कार हो जाने से प्रातिभासिकरजत के उपादानकारण अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उक्त अज्ञान से जन्य प्रातिभासिकरजत की भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि शुक्ति का अज्ञान ही प्रातिभासिकरजत का उपादानकारण होता है। उस अज्ञान के न रहने पर प्रातिभासिकरजत का न रहना आवश्यक हो जाता है। अतः बाधज्ञान के बाद भी 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति के बने रहने की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।।४४।।

इस प्रकार अधिष्ठानसाक्षात्कार से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है, ऐसा मानने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर अधिष्ठान का परोक्षज्ञान होता है, वहाँ पर भ्रम के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। ऐसे स्थल पर वस्तु के व्यावहारिकत्व की निवृत्ति होने पर भी प्रातीतिकत्व की निवृत्ति नहीं होती

व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकत्वानपहारात् 'तिक्तो गुडः' इत्यादिप्रतीतिरनुवर्तत एव।।४५।।

एवमखण्डब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वं परोक्षबोधेन प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रतीतिरनुवर्तत एव, अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यते ।।४६।।

एतेनोपाधिशब्देनाधिकरणमात्रविवक्षायामर्थान्तरम्, वाय्वधिकरणकात्यन्ता–

कैलासविद्याप्रकाशिका

होने के कारण ही। जहां पर परोक्ष रूप से अधिष्ठानविषयक प्रमा ज्ञान होने से भ्रम के उपादान कारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। वहां पर व्यावहारिक सत्त्व की निवृत्ति होने पर भी प्रातीतिक सत्त्व की निवृत्ति नहीं होती है। इसलिए ही ''तिक्तो गुडः'' इत्यादि प्रतीति की अनुवृत्ति होती रहती है।।४५।।

इसी प्रकार प्रकृत में भी अखण्ड ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान के पूर्व अखण्ड ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान के द्वारा प्रपञ्चगत व्यावहारिकसत्त्व की निवृत्ति होने पर भी प्रपञ्च के प्रतीति की अनुवृत्ति होती रहती है। जब अखण्डब्रह्म के अपरोक्षज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब अज्ञान का कार्य जो प्रपञ्च है उसके भी निवृत्त हो जाने से प्रपञ्च के प्रतीति की अनुवृत्ति नहीं होती है।।४६।।

एतेन= ''प्रतिपन्नोपाधौ....'' इत्यादि द्वितीयमिथ्यात्व लक्षण के घटक पदों का पूर्वोक्त प्रकार से व्याख्यान होने के कारण। उपाधि शब्द से अधिकरणमात्र की विवक्षा होने पर अर्थान्तरदोष होगा, क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः वहाँ आप्तपुरुष के कहने से होने वाले अधिष्ठान के परोक्षज्ञान के बाद भी 'इदं रजतम्' इस प्रकार भ्रमप्रतीति की अनुवृत्ति होती रहती है। यहाँ पर विशेष ज्ञातव्य यह है कि भ्रम दो प्रकार का होता है। एक परोक्षभ्रम और दूसरा अपरोक्ष– भ्रम। परोक्षभ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान दोनों से होती है और अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के अपरोक्षज्ञानमात्र से ही होती है। अधिष्ठान के परोक्षज्ञान से अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे ज्वरग्रस्त व्यक्ति को गुड़ खाने पर गुड़ की तिक्तता का अपरोक्षभ्रम होता है और उस व्यक्ति को उस काल में भी यह परोक्षज्ञान रहता है कि गुड़ मीठा है। इस परोक्षज्ञान से गुड़ तिक्त है, इसके व्यावहारिकत्व का बाध होने पर भी प्रातीतिकत्व का बाध नहीं होता है। अतः परोक्षज्ञान के बाद भी 'गुड़ तिक्त है' ऐसे भ्रमज्ञान की अनुवृत्ति होती रहती है।।४५।।

इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले जो ब्रह्म का परोक्षज्ञान होता है, उस ज्ञान के द्वारा प्रपञ्चगतव्यावहारिकत्व = पारमार्थिकत्व का बाध होने पर भी प्रपञ्चगत प्रातीतिकत्व का बाध न होने के कारण प्रपञ्च की प्रतीति की अनुवृत्ति होती रहती है। (मूलस्थ ''व्यावहारिकत्वापहारेऽपि'' के घटक व्यावहारिकत्व का अर्थ पारमार्थिकत्व करना ही उचित है, क्योंकि ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से व्यावहारिकता की निवृत्ति नहीं होती है अपितु प्रपञ्चगत पारमार्थिकत्व की ही निवृत्ति होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए लघुचन्द्रिकार ने '' प्रारब्धनाशात् प्रतिभासनाशः'' इस स्मृति को उद्धृत किया है। यह पूरा श्लोक वराहोपनिषत् २–६९ में है। वहां पर '' शास्त्रेण न स्यात् परमार्थदृष्टिः'' कहा गया है।) ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अज्ञानजन्यप्रपञ्च की भी निवृत्ति हो जाने से प्रपञ्च की अनुवृत्ति नहीं होती है।।४६।।

इस प्रकार मिथ्यात्व लक्षण के घटकपदों का परिष्कृत अर्थ कर देने से पूर्वपक्षी द्वारा आगे दिये जाने वाले अर्थान्तर दोष का भी खण्डन हो जायेगा। क्योंकि पूर्वपक्षी ने उपाधि पद से अधिकरणमात्र अर्थ लेकर जो यह अर्थान्तरदोष दिया कि वायु अधिकरण में त्रैकालिकनिषेध का प्रतियोगिरूप है। वह रूप मिथ्या नहीं माना जाता है और उपाधि पद का अधिष्ठान अर्थ करने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। क्योंकि भ्रम के

भावप्रतियोगित्वेऽपि रूपस्यामिथ्यात्वात्, अधिष्ठानविवक्षायां तु भ्रमोपादानाज्ञानविषयस्याधिष्ठानत्वेनान्योन्याश्रयत्वं ज्ञानस्य भ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वम्, विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य भ्रमत्वमिति परास्तम्; उक्तरीत्याऽधिकरणविवक्षायां दोषाभावात् ।।४७।।

न च 'स एवाधस्तात्' इति श्रुत्या प्रतिपन्ने देशकालाद्युपाधौ परमार्थतो ब्रह्मणोऽभावा-त्तत्रातिव्याप्तिरिति वाच्यम्: निर्धर्मके तस्मिन्नभावप्रतियोगित्वरूपधर्माभावात् ।।४८।।

न चैवं सत्यत्वमपि तत्र न स्यात्, तथा च 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादिश्रुतिव्याकोप इति

कैलासविद्याप्रकाशिका

वायुरूपाधिकरण में रहने वाले रूप के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता रूप में रहने पर भी रूप को मिथ्या नहीं माना जाता है। उपाधि शब्द का अर्थ अधिष्ठान करने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि भ्रमोपादान अज्ञान का विषय ही अधिष्ठान होता है। अन्योन्याश्रयदोष का आकार होगा—ज्ञानगत भ्रमत्व सिद्ध होने पर विषयगत मिथ्यात्व सिद्ध होगा और विषयगत मिथ्यात्व सिद्ध होने पर ज्ञानगत भ्रमत्व सिद्ध होगा—ऐसा जो पूर्वपक्षी का आक्षेप है, वह पूर्वोक्त प्रकार से द्वितीयमिथ्यात्व के लक्षण का परिष्कार करने से खण्डित हो गया ।।४७।।—।।४८।।—।।४९।।—।।५०।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां द्वितीयमिथ्यात्वविचारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपादानभूत—अज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहते है। अतः यदि ज्ञान भ्रम है, यह सिद्ध हो जाय तब उस भ्रम का उपादान जो अज्ञान उसका विषय शुक्ति अथवा शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य को अधिष्ठान कहेंगे। तब प्रतिपन्न उपाधि (अधिष्ठान) में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व घटादिविषय में सिद्ध होगा। यह मूलस्थ ''ज्ञानस्य भ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वम्'' का अर्थ है। विषय यदि मिथ्या (बाधित) हो तब उस बाधितविषयकज्ञान को भ्रमज्ञान कहेंगे। ''विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य भ्रमत्वम्'' का यह अर्थ है, क्योंकि भ्रमज्ञान का लक्षण है— 'बाधितविषयकज्ञानत्वम्'। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा अकाण्ड—ताण्डव किया गया है। क्योंकि उपधि पद का हम ने 'यस्याधिकरणं यत् सत्'' अर्थ लिया है, न कि पूर्वपक्षी के द्वारा उत्थापित अर्थों को। ''यस्याधिकरणं यत् सत्'' ऐसा अर्थ उपाधि शब्द का करने पर उक्त अर्थान्तर दोष नहीं होगा, क्योंकि रूप का अधिकरण वायु होता ही नहीं। अतः ''प्रतिपन्नोपाधौ........'' के घटक उपाधि शब्द से वायु का ग्रहण नहीं हो सकता है।।४७।।

अब पूर्वपक्षी मिथ्यात्वलक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति दिखा रहा है। ''स एवाधस्तात्'' (छा० ७/२५/१) ''ब्रह्म सभी देश में है'' इस श्रुति द्वारा ज्ञात देशकालादि—अधिकरणों में ब्रह्म का परमार्थतः अभाव माना जाता है। क्योंकि ब्रह्म देशकालादि से परिच्छिन्न न होने के कारण, देशकालादि के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं है और ब्रह्म के सम्बन्ध का अभाव होने के कारण सम्बन्धीभूतब्रह्म का अभाव भी मानना पड़ेगा। अतः ज्ञात—अधिकरणदेशकालादि में ब्रह्म का अभाव सिद्ध हो जाने से उक्तमिथ्यात्वलक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है। अतः उक्त त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपधर्म भी ब्रह्म में न रहने से उक्त मिथ्यात्व लक्षण की ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी।।४८।।

यदि ब्रह्म को निर्धर्मक मानेगें तो ब्रह्म में सत्यत्वधर्म भी नहीं रहेगा। तब ब्रह्म में सत्यत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' का बाध हो जायेगा। ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि सिद्धान्त में अभाव को अधिकरणस्वरूप माना जाता है। अतः सत्यत्व अर्थात् मिथ्यात्वाभाव को

वाच्यम्; अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्व–रूपाविरोधात्।।४९।।

एतेन स्वप्रकाशत्वाद्यपि व्याख्यातम्–परप्रकाश्यत्वाभावो हि स्वप्रकाशत्वम्, कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि। तथा च भावभूतधर्मानाश्रयत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वधर्माभावरूपतया न काप्यनुपपत्तिरिति सर्वमवदातम्।।५०।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ द्वितीयमिथ्यात्वविचारः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्मस्वरूप मानने से ब्रह्म को सत्य कहने पर कोई दोष नहीं होगा।।४९।।

इसी प्रकार स्वप्रकाशत्व–परप्रकाश्याभाव, नित्यत्व–कालपरिच्छेदाभाव, विभुत्व–देश परिच्छेदाभाव और पूर्णत्व–वस्तुपरिच्छेदाभावरूप अर्थ करने से किसी भी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होगा, क्योंकि भावरूपधर्मों का अधिकरण ब्रह्म के न होने पर भी स्वाधिष्ठानक सभी धर्मों के अभावों को अधिकरणस्वरूप ब्रह्म माना ही गया है और अभाव के अधिकरणस्वरूप होने से किसी प्रकार का दोष भी नहीं होगा। इस प्रकार से जो कुछ इस प्रकरण में उपादेय बुद्धि से कहा गया है, वह सभी दोष रहित है।।५०।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां द्वितीयमिथ्यात्वविचार :—

५: तृतीयमिथ्यात्वविचार:

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्।।१।।

नन्वुत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्ति:, मुद्‌गरपातादिनिवर्त्ये च घटादावव्याप्ति:, ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायामप्ययं दोष:, अधिष्ठानसाक्षात्कारत्वेन निवर्त्ये शुक्तिरजतादौ च ज्ञानत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

ज्ञान निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है। अर्थात् ज्ञान प्रयुक्त जो अभाव, तादृश अभाव की प्रतियोगिता जिसमें है वह मिथ्या पदार्थ होगा। दृष्टान्त में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार से होगा—ज्ञान शब्द से ''शुक्तिरियं नेदं रजतम्'' इत्याकारक ज्ञान को लेंगे। ऐसे ज्ञान से प्रयुक्त अभाव=रजताभाव। इस अभाव की प्रतियोगिता शुक्तिरजत में है। अत: शुक्तिरजत मिथ्या पदार्थ है। दार्ष्टान्त में इस लक्षण का समन्वय इस प्रकार से होगा—ज्ञान शब्द से ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारक ब्रह्मज्ञान लेंगे। ऐसे ज्ञान से प्रयुक्त अभाव=प्रपञ्चाभाव। इस अभाव की प्रतियोगिता प्रपञ्च में है। अत: प्रपञ्च मिथ्या पदार्थ है।।१।।

शङ्का— मिथ्यात्व का ऐसा लक्षण करने पर उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् सिद्धसाधनदोष होगा और मुद्‌गर के आघातादि से निवर्त्य घटादि में अव्याप्ति होगी, क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

विवरणाचार्य के द्वारा ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस श्रुति के अनुसार प्रतिपादित, 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्' इस प्रकार के मिथ्यात्व के द्वितीय लक्षण पर शङ्कासमाधानरूप विचार का प्रतिपादन पहले किया गया। अब 'तरति शोकमात्मवित्' ''विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त:'' इत्यादि श्रुतियों को ध्यान में रखकर विवरणाचार्य द्वारा बनाया गया ''ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' इस प्रकार के मिथ्यात्वलक्षण पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। विवरणाचार्य के द्वारा बनाये गये ''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्'' इस मिथ्यात्व के लक्षण में किसी प्रकार का दोष था, इस लिए ''ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' ऐसा मिथ्यात्व का लक्षण बनाया गया ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त मिथ्यात्व के लक्षण की सभी शङ्काओं का उन्मूलन आचार्यप्रवर पहले कर चुके हैं। प्रकृत लक्षण में शुक्तिज्ञान रजत का निवर्तक है और रजत शुक्तिज्ञान से निवर्त्य है। अत: ज्ञाननिवर्त्य होने से रजत मिथ्या है।।१।।

इस पर पूर्वपक्षी के द्वारा शङ्का की जा रही है कि ज्ञानमात्र से जो निवर्त्य होता है उसे मिथ्या कहते हो? अथवा ज्ञानत्वेन ज्ञान से निवर्त्य जो होता है उसे मिथ्या कहते हो? अथवा ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्य को मिथ्या कहते हो? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि न्यायमत में ''योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वम्'' इस प्रकार का नियम होने से उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में इस मिथ्यात्वलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यहाँ अतिव्याप्ति कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनदोष होगा और मुद्‌गर के प्रहार द्वारा घट के निवर्त्य होने पर भी यह लक्षण घट में जायेगा नहीं, क्योंकि घटज्ञान से घटनिवर्त्य नहीं है। अत: इस मिथ्यात्वलक्षण में अव्याप्ति भी होगी। अव्याप्ति होने से प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में अंशत: बाधदोष होगा। द्वितीय पक्ष के अनुसार ज्ञानत्वेन ज्ञान से निवर्त्य को मिथ्या मानने पर पूर्वोक्त अतिव्याप्तिदोष हट जायेगा, क्योंकि न्यायमत में जहाँ उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान का नाश माना गया है, वहाँ नाशकतावचछेदक उदीच्यात्मविशेषगुणत्व है, न कि ज्ञानत्व, क्योंकि नाशकतावच्छेदकज्ञानत्व को मानने पर जहाँ इच्छादि से ज्ञानादि का नाश होता है, वहाँ नाशकतावच्छेदकज्ञानत्व नहीं होता है। अत: ज्ञानत्वेन ज्ञान से पूर्वज्ञान की निवृत्ति न होने से अतिव्याप्तिदोष नहीं होगा। किन्तु मुद्‌गरप्रहार से निवर्त्य घटादि में अव्याप्तिदोष पूर्ववत् बना रहेगा। क्योंकि घटादि ज्ञानत्वेन ज्ञान से निवर्त्य नहीं है, किन्तु घटादि

ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् साध्यविकलता, ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां ज्ञानत्वव्याप्येन स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारेऽतिव्याप्तिरिति चेत् ।।२।।

न, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।।३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

मिथ्याभूत घट, ज्ञान से निवृत्त न होकर मुद्गर प्रहार से निवृत्त हुआ है। ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व की विवक्षा करने पर अतिव्याप्ति दोष के न होने पर भी अव्याप्तिदोष तो बना ही रहेगा और दृष्टान्त में साध्यविकलता भी होगी, क्योंकि शुक्तिरजत का निवर्तक जो शुक्ति का ज्ञान है, वह अधिष्ठान साक्षात्कारत्वेन निवर्तक होता है, ज्ञानत्वेन नहीं। ज्ञानत्वव्याप्य धर्मत्वेन ज्ञान निवर्त्यत्व की विवक्षा करने पर ज्ञानत्वव्याप्यस्मृतित्वेन स्मृति से निवर्त्य संस्कार में अतिव्याप्ति अर्थात सिद्धसाधन दोष होगा।।२।।

समाधान – ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानविषयक जो तत्त्वज्ञान तादृशज्ञान का व्यापकीभूत जो अवस्थितिसामान्याभाव तादृश अभाव का प्रतियोगित्व ही ज्ञाननिवर्त्यत्व है।।३।।–।।४।।–।।५।।–।।६।।–।।७।।–।।८।।–।।९।।–।।१०।।–।।११।।–।।१२।।–।।१३।।– ।।१४।।–।।१५।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां तृतीयमिथ्यात्वविचारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

का नाश मुद्गरप्रहार से होता है एवं ज्ञानत्वेन ज्ञान से निवर्त्य को मिथ्या मानने पर मिथ्यात्वलक्षण में असम्भवदोष भी होगा, अर्थात् दृष्टान्त में साध्यविकलता होगी। क्योंकि सिद्धान्ती के मत में अधिष्ठान–साक्षात्कारत्वेन ज्ञान से निवर्त्य रजतादि माने जाते हैं, न कि ज्ञानत्वेन ज्ञान से निवर्त्य। क्योंकि अधिष्ठान का सामान्यज्ञान अज्ञान और अज्ञान के कार्य का साधक होता है, न कि बाधक। अतः अधिष्ठान का साक्षात्कारत्वेन ज्ञान ही अज्ञान और अज्ञान के कार्य का नाशक होता है। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्यविकलतारूपदोष को हटाने के लिए सिद्धान्ती तृतीय पक्ष का अनुसरण करते हैं, अर्थात् ज्ञानत्वव्याप्यधर्म के रूप से ज्ञान से निवर्त्य को मिथ्या मानने पर दृष्टान्त में जो साध्यविकलतारूपदोष आ रहा था वह निवृत्त हो जायेगा। क्योंकि ज्ञानत्व का व्याप्यधर्म अधिष्ठा– नसाक्षात्कारत्व है। अतः अधिष्ठानसाक्षात्कारत्वेन ज्ञान से निवर्त्य रजतादि के होने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा, किन्तु संस्कार में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि नैयायिक के मत में स्मृतित्व भी ज्ञानत्वव्याप्य धर्म है और स्मृतित्वेन ही स्मृतिज्ञान संस्कार का निवर्तक होता है। मूलस्थ ''संस्कारेऽतिव्याप्तिरिति'' के घटक अतिव्याप्ति का अर्थ सिद्धसाधन करना उचित है। जैसे मूलस्थ '' पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्तिः'' के घटक अतिव्याप्ति का अर्थ लघुचन्द्रिका में सिद्धसाधन किया गया है।।२।।

इस प्रकार की शङ्का पूर्वपक्षी के द्वारा नहीं की जा सकती है, क्योंकि ज्ञाननिवर्त्यत्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञान से होने वाले अवस्थितिसामान्य के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता। अर्थात् मिथ्यात्व का लक्षण यह हुआ कि ज्ञान के द्वारा स्वरूपेण और कारणरूपेण वस्तु के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता जिसमें है, उसको मिथ्या कहेंगे। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का स्वरूपेण और कारणरूपेण अवस्थान का अभाव हो जाता है उस वस्तु को मिथ्या कहा जाता है, जैसे ''इयं शुक्तिः'' इस प्रकार से अधिष्ठान के तत्त्वज्ञान के द्वारा स्वरूपेण और कारण (शुक्ति की अविद्या) रूपेण होने वाले रजत की निवृत्ति (रजताभाव) का प्रतियोगी रजत है। अतः उक्त प्रतियोगिता के रजत में रहने से रजत मिथ्या है।।३।।

अवस्थितिश्च द्वेधा, स्वरूपेण कारणात्मना च, सत्कार्यवादाभ्युपगमात्।।४।।

तथा च मुद्गरपातेन घटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणात्मनावस्थितिविरहाभावाद्, ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त एव स इति नातीतघटादावव्याप्तिः।।५।।

अत एवोत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने न सिद्धसाधनम्; न वा वियदादौ ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेऽपि तद्वदेव मिथ्यात्वासिद्ध्यार्थान्तरम्; उत्तरज्ञानेन लीनस्य पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मनावस्थानादवस्थितिसामान्यविरहानुपपत्तेः।।६।।

शशविषाणादाववस्थितिसामान्यविरहेऽपि तस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाभावान्नातिव्याप्तिः।।७।।

शुक्तिरजतादेश्चापरोक्षप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिभासकालेऽवस्थित्यङ्गीकारान्न बाधकज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

कार्य की अवस्थिति दो प्रकार से होती है— स्वरूपेण और कारणरूपेण। सांख्य के समान ही वेदान्त में भी सत्कार्यवाद माना जाता है। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् कार्य की स्थिति कारण में मानी जाती है।।४।।

इस प्रकार अवस्थिति के दो प्रकार के कथन से प्रकृत में क्या लाभ हुआ? उसे दिखा रहे हैं। मुद्गरपात के द्वारा घट का स्वरूपेण अवस्थिति का अभाव होने पर भी घट के कारणात्मना अवस्थिति का अभाव नहीं हुआ। अन्यथा मुद्गरपात के द्वारा घट स्वरूपेण निवृत्त हो गया, इस प्रकार से जैसे अनुभव होता है, उसी प्रकार से घट कारणात्मना निवृत्त हो गया ऐसे अनुभव की आपत्ति होगी, जब कि ध्वंस के बाद भी घट अपने कारण मृत्तिका के रूप से रह जाता है। इस प्रकार घट के स्वरूपेण और कारणात्मना अवस्थिति का अभाव ब्रह्मज्ञान से होता है। ऐसा होने से जहाँ मुद्गरपात से घट नष्ट हो गया है, ऐसे अतीत—घट में उक्त मिथ्यात्व लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से अतीत—वर्तमान—भविष्यत् कालीन जो भी घट हैं, उनका स्वरूपेण और कारणात्मना अत्यन्ताभाव हो जाता है। अतः उक्त अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता अतीत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन घटों में रहने से अव्याप्ति दोष नहीं होगा।।५।।

ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का लक्षण करने से उत्तर ज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है और उत्तरज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान को जैसे मिथ्या नहीं माना जाता है। उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञान से नाश्य आकाशादि को भी मिथ्या नहीं माना जा सकता है, इस प्रकार अर्थान्तररूपदोष भी नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि उत्तरज्ञान से निवृत्त पूर्वज्ञान सर्वथा नष्ट न होकर कारणात्मना अवस्थित रहता है। अतः पूर्वपक्षी पूर्वज्ञान में सिद्धसाधनदोष नहीं दे सकता है और ब्रह्मज्ञान से आकाशादि की स्वरूपेण और कारणात्मना निवृत्ति होने से आकाशादि में मिथ्यात्व का लक्षण जाने से पूर्वपक्षी आकाशादि में मिथ्यात्व की असिद्धि दिखाकर अर्थान्तरदोष भी नहीं दे सकता है।।६।।

ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व के लक्षण के घटक ज्ञान पद की सार्थकता क्या है ? उसको आगे दिखा रहे हैं कि शशशृङ्गादि के अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव होता है। किन्तु वह ज्ञानप्रयुक्त नहीं होता है, अपितु साधकप्रमाणाभाव के कारण होता है। अतः शशशृङ्ग में उक्त मिथ्यात्व का लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति नहीं होगी।।७।।

यदि पूर्वपक्षी कहता है कि शुक्तिरजत शशशृङ्ग के समान असत् है। अतः दृष्टान्त शुक्तिरजत में ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं जायेगा। क्योंकि सिद्धान्ती ने असत् शशशृङ्ग में साधकप्रमाणाभावप्रयुक्त अवस्थितिसामान्य का अभाव कहा है। ऐसी शङ्का का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि शुक्तिरजत की अपरोक्षप्रतीति होती है। अतः अपरोक्षप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति ('स्वरूपेणावस्थितिं

विना तद्विरह इति न साध्यविकलता।।८।।

अत एवोक्तं विवरणाचार्यैः— 'अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीनेन वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः' इति।।९।।

वार्तिककृद्भिश्चोक्तम्—तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति।। इति'सह कार्येण नासीत्' इति लीनेन कार्येण सह निवृत्त्यभिप्रायम्, 'सह कार्येण न भविष्यति' इति तु भाविकार्यनिवृत्त्यभिप्रायमित्यन्यदेतत्।।१०।।

रूप्योपादानमज्ञानं स्वकार्येण वर्तमानेन लीनेन वा सहाधिष्ठानसाक्षात्कारान्निवर्तते।

सत्यानन्दप्रबोधिका

विना अपरोक्षप्रतीत्यनुपपत्तिः') से शुक्तिरजतादि की प्रतीतिकाल में सत्ता मानी जाती है। अतः बाधकज्ञान के बिना शशशृङ्ग के समान अवस्थितिसामान्य का विरह नहीं होता है। अर्थात् प्रतिभासकाल में विद्यमान जो प्रातिभासिकरजत उसके अवस्थितिसामान्य का विरह अधिष्ठानतत्त्वज्ञानप्रयुक्त ही होता है। अतः दृष्टान्त में साध्यविकलतादोष नहीं होगा।।८।।

अवस्थिति द्वैविध्य में और ज्ञानप्रयुक्त—अवस्थितिसामान्य के अत्यन्ताभाव में विवरणाचार्य की सम्मति दिखा रहे हैं। वर्तमान अथवा अपने में लीन हुए कार्य (स्वकार्य का अर्थ अज्ञानप्रयुक्त करने से अनादि जो दृश्यपदार्थ हैं वह अज्ञान के कार्य न होने पर भी उनका संग्रह हो जायेगा। क्योंकि वह अज्ञानप्रयुक्त तो हैं ही) के साथ अज्ञान का अधिष्ठानसाक्षात्कार के द्वारा निवृत्ति (अत्यन्ताभाव) को बाध कहते हैं।।९।।

विवरणाचार्य के कथन के घटक निवृत्ति पद का अत्यन्ताभाव ऐसा अर्थ जो किया गया उसमें वार्तिककार की सम्मति दिखा रहे हैं— 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से जन्य प्रमारूप अखण्डाकारचित्तवृत्तिविशेष के उत्पत्तिमात्र के द्वारा अतीत, वर्तमान और भाविकार्य के सहित अविद्या का 'नासीत्, नास्ति, न भविष्यति' इस प्रकार त्रैकालिक—अत्यन्ताभाव हो जाता है। अविद्या वर्तमान में प्रसक्त (प्राप्त) होने से अविद्या की सत्ता भी वर्तमान में प्रसक्त है। अतः वर्तमान अविद्या का निषेध उचित है। क्योंकि प्रसक्त का ही प्रतिषेध होता है। किन्तु न तो अतीत अविद्या प्रसक्त है और न भावी। अतः ''नासीत्, न भविष्यति'' यह दोनों निषेध उचित नहीं है। क्योंकि अप्रसक्तप्रतिषेध प्राप्त होता है। ऐसी शङ्का के निवारण हेतु कहा ''सह कार्येण'', अर्थात् अविद्या के कार्य में अतीतत्वादि सम्भव होने से कार्य से विशिष्ट अविद्या में भी अतीतत्वादि सम्भव हो जाने से अप्रसक्तप्रतिषेधरूपदोष नहीं आयेगा। इसी को मूल में कहा अतीतकार्य से विशिष्ट अविद्या की निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए वार्तिककार ने ''सह कार्येण नासीत्'' कहा। और भाविकार्य से विशिष्ट अविद्या की निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए ''सह कार्येण न भविष्यति'' कहा। मूल में भाविकार्य की निवृत्ति जो कही गयी है वह तत्त्वज्ञान के बिना भी होती है। क्योंकि भाविकार्य का जनक अदृष्टादि के न रहने से भाविकार्य नहीं होगा, किन्तु इस प्रकार की निवृत्ति को बाध नहीं कहा जाता है। इसी को ध्यान में रखकर मूलकार ने ''अन्यदेतद्'' कहा। अर्थात् ऐसी निवृत्ति मिथ्यात्व के लिए उपयोगी नहीं होती है।।१०।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जिस पक्ष में अज्ञान एक ही माना जाता है, उस पक्ष में शुक्तिरूप्यादि का उपादानकारण मूलाज्ञान होता है। अतः शुक्तिरूप्यादि की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के बिना होगी नहीं। अतः मिथ्यात्वानुमान से पूर्व शुक्तिरूप्य में ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप साध्य का ग्रहण न होने से व्याप्तिग्रह सम्भव नहीं है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शुक्तिरजत का उपादानभूत अज्ञान अपने वर्तमान या लीन कार्य के साथ अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा निवृत्त हो जाता है। क्योंकि तत्तद्रजतभ्रम

तत्तद्रूप्योपादानानामज्ञानानां भेदाभ्युपगमादिति न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्; मुद्गरपातानन्तरं घटो नास्तीति प्रतीतिवदधिष्ठानज्ञानानन्तरं शुक्त्यज्ञानं तद्गतरूप्यं च नास्तीति प्रतीते: सर्वसम्मतत्वात्।।११।।

ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यपि साधु। उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञाननिवर्तकत्वञ्च न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण? किन्त्विच्छादिसाधारणेनोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन उदीच्यत्वेन वेति न सिद्धसाधनादि।।१२।।

नापीच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारेऽतिव्याप्ति; (स्मृतित्वेन) स्मृते:

सत्यानन्दप्रबोधिका

के उपादानभूत अज्ञान नाना माने गये है। इस प्रकार तत्तद्–अधिष्ठानज्ञान से तत्तद्–अज्ञान की निवृत्ति होगी। अत: दृष्टान्त में साध्यविकलता नहीं होगी। अर्थात् व्याप्तिग्रह असम्भव नहीं होगा। (यह समाधान अज्ञान को नाना मानकर दिया गया है। एक अज्ञान पक्ष में भी दृष्टान्त शुक्तिरजत में ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप साध्य की सिद्धि दूसरे अनुमान में करेंगे। जैसे 'शुक्तिरजतं ज्ञाननिवर्त्यं, दोषजन्यज्ञानविषयत्वात्, रज्जुसर्पवत्'। और रज्जुसर्प में भी दूसरे दृष्टान्त के सहारे उक्त साध्य की सिद्धि करेंगे। ऐसी सिद्धि में अनुमान की परम्परा की अपेक्षा होने पर भी बीजाङ्कुरवत् अनवस्थादोष नहीं होगा। अत: एक अज्ञान पक्ष में भी साध्यविकलता नहीं होगी।) अधिष्ठान के तत्त्वज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य का अभाव हो जाता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसको दिखा रहे हैं– मुद्गरपात के उत्पत्तिक्षण में ही स्वाश्रयकालपूर्वत्व सम्बन्ध के द्वारा 'तद्घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति सर्वसम्मत है। मूलस्थ ''मुद्गरपातानन्तरम्'' इसका अर्थ ''मुद्गरपातोत्पत्तिक्षणे'' करना चाहिए। अर्थात् मुद्गरपातोत्पत्तिक्षण में घट का अभाव नहीं होता है, अपितु उसके द्वितीयक्षण में घट का अभाव होता है। यदि द्वितीयक्षण तद्घटाश्रयकाल होता, तब मुद्गरपातोत्पत्तिक्षण में तद्घटाश्रयकालपूर्वत्व आता। परन्तु द्वितीयक्षण तो तद्घटाश्रयकाल नही है, क्योंकि द्वितीयक्षण में घट नहीं रहता है। अत: मुद्गरपातोत्पत्तिक्षण में तद्घटाश्रयकालपूर्वत्व नही रहता है। अत: मुद्गरपातोत्पत्तिक्षण में तद्घटाश्रयकालपूर्वत्वसम्बन्ध से घट नहीं रहता है। ठीक उसी प्रकार ''अधिष्ठानज्ञानानन्तरम्'' इसका अर्थ ''अधिष्ठानतत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे'' करना चाहिए। अर्थात् शुक्तिसाक्षात्कार के उत्पत्तिक्षण में ही स्वाश्रयकालपूर्वत्वसम्बन्ध के द्वारा शुक्ति का अज्ञान और शुक्ति–अज्ञानगतरूप्य का अभाव हो जाता है। इस प्रकार की अनुभूति सर्वसम्मत है। ।।११।।

''ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' रूप प्रथम कल्प का निरूपण करने के पश्चात् ''ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' रूप तृतीय कल्प को स्वीकार करके यह दिखा रहे हैं कि इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है। यहाँ पर ज्ञानत्व का व्याप्यधर्म अनुभवत्वादि हैं। उत्तरज्ञान जो पूर्वज्ञान का निवर्तक होता है वह ज्ञानत्वव्याप्य–धर्म के द्वारा नहीं होता है। क्योंकि पूर्वज्ञान के उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाले इच्छा–द्वेष आदि से भी पूर्वज्ञानादि की निवृत्ति होती है। अत: इच्छा–द्वेष ज्ञानादि में रहने वाले उदीच्यात्मविशेषगुणत्वरूप से अथवा उदीच्यात्मगुणत्वरूप से उत्तरज्ञान , पूर्वज्ञान का निवर्तक होता है। उदीच्यात्मविशेषगुणत्व यह ज्ञानत्व का व्याप्यधर्म नहीं है, अपितु व्यापक धर्म है। अत: सिद्धसाधनदोष नहीं होगा।।१२।।

इच्छादि से अनिवर्त्य जो संस्कार है वह ज्ञानत्वव्याप्यधर्म स्मृतित्वेन स्मृतिज्ञान से निवर्त्य है। अत: संस्कार में अतिव्याप्ति होगी, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते हो, क्योंकि स्मृति होने से संस्कार का नाश हो जाता हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि स्मृति से संस्कार का नाश हो जाता है, इसमें अनुमान प्रमाण है– ''स्मृति: संस्कारनिवर्तिका, तत्कार्यत्वात्,

संस्कारनिवर्तकत्वे मानाभावात्। स्मृतौ हि जातायां संस्कारो द्रढो भवतीत्यनुभवसिद्धम्। तेषां द्रढत्वञ्च समानविषयकसंस्कारानेकत्वमित्यदोष:।१३।।

वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्; अतो न पूर्वोक्तदोष: ।१४।। नापि निश्चयत्वेन ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्ये संशयेऽतिव्याप्तिरिति सर्वमवदातम्।१५।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ तृतीयमिथ्यात्वविचार: —

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्माधर्मनिवर्तकसुखदु:खादिवत्''। इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि सुख–दु:ख के होने पर धर्माधर्म दृढ़ होते हैं, ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता है। इस लिए सुख–दु:ख के द्वारा धर्माधर्म की निवृत्ति होती है, किन्तु प्रकृत में स्मृति होने से संस्कार दृढ़ होता है, ऐसा सर्वानुभव सिद्धि होने से स्मृति के द्वारा संस्कार का नाश नहीं माना जा सकता है और पूर्वपक्षी के अनुमान में अदृढत्व उपाधि होने से ''तत्कार्यत्व'' हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। संस्कारों में दृढ़ता तो यह है कि समानविषयकसंस्मरण से उत्पन्न नये–नये संस्कारों का पुराने संस्कारों से मिल कर अनेकत्व को प्राप्त हो जाना। इस प्रकार एक ही विषय के अनेक
संस्कार होने से झटिति और दृढ़ स्मृति होती है, यह सर्वानुभव सिद्ध है।१३।।

यदि कोई कहता है कि नैयायिक तो ज्ञानत्वव्याप्यधर्मरूपी स्मृतित्वेन स्मृतिज्ञान से संस्कार का नाश मानता है, अत: न्यायमतानुसार सिद्धसाधन दोष आयेगा, इसको ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि ज्ञानत्वव्याप्यधर्मसाक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व को मिथ्यात्व कहेंगे। ऐसा अर्थ करने से संस्कार में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि संस्कार ज्ञानत्वव्याप्यधर्मसाक्षात्कारत्वेन ज्ञान से निवर्त्य नहीं है, अपितु ज्ञानत्वव्याप्यधर्मस्मृतित्वेन स्मृतिज्ञान से निवर्त्य है।१४।।

इस प्रकार साक्षात्कारत्व को निवर्तकता का अवच्छेदक मानने से ज्ञानत्वव्याप्यनिश्चयत्वेन ज्ञाननिवर्त्य संशय और विपरीतनिश्चय के होने पर मिथ्यात्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि संशयादि ज्ञानत्वव्याप्यसाक्षात्कारत्वेन ज्ञान से निवर्त्य नहीं है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि सेतुदर्शन से नाश्य पाप में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञानत्वव्याप्यसेतु– साक्षात्कारत्वेन ज्ञान से निवर्त्य पाप है, तो ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है। क्योंकि सेतुदर्शन पाप का नाशक साक्षात्कारत्वेन नहीं है, अपितु विहितक्रियात्वेन है। ऐसा यदि नहीं मानेंगे तो समुद्र के समीप रहने वाले म्लेच्छादि का भी सेतुदर्शन से पापनाश मानना पड़ेगा, जब कि शास्त्रीयविधिपूर्वकसेतुदर्शनात्मकक्रिया का अनुष्ठान न करने के कारण समुद्रतटवर्ती म्लेच्छादि का पाप नाश नहीं होता है। और आस्तिक अन्धाव्यक्ति जो सेतु के समीप में पहुँचकर शास्त्रीयविधिपूर्वक समुद्र में स्नान आदि किया है, किन्तु सेतुदर्शन के अभाव के कारण उसमें पापनाश न होने की आपत्ति होगी। अत: ज्ञानत्व व्याप्यसाक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व को मिथ्या का लक्षण मानने पर भी कोई दोष नहीं है। इसप्रकार से उपादेय बुद्धि से जो कुछ इस प्रकरण में कहा गया है,वह सर्व दोष रहित है।। १५।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां तृतीयमिथ्यात्वविचार: —

६: चतुर्थमिथ्यात्वविचार:

स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्।।१।।

तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्, अत: पूर्ववैलक्षण्यम्। दूषणपरिहार: पूर्ववत्।।२।।

न च संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्यन्ताभावासम्भव:, सम्भवे तूपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्वसमानाधिकरण जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व = मिथ्यात्व है। दृष्टान्त में इस मिथ्यात्व लक्षण का समन्वय करते समय स्व शब्द से शुक्तिरूप्य लेंगे। तत्समानाधिकरण जो प्रत्यक्षात्मकबाध से बोधित शुक्तिनिष्ठ शुक्तिरूप्य का अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता शुक्तिरूप्य में है। अत: शुक्तिरूप्य मिथ्या है। दार्ष्टान्त में इस मिथ्यात्व लक्षण का समन्वय करते समय स्व शब्द से व्यावहारिक प्रपञ्च लेंगे। तत्समानाधिकरण जो श्रुत्यादि बोधित ब्रह्मनिष्ठ प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव, उसकी प्रतियोगिता प्रपञ्च में है। अत: प्रपञ्च मिथ्या है।।१।।

उक्त प्रतियोगिता तो स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण में ही प्रतीयमानत्वरूप है। इसलिए चतुर्थ मिथ्यात्व के लक्षण का भिन्नत्व द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण में माना जाता है। इस चतुर्थ मिथ्यात्व लक्षण में पूर्वपक्षी के द्वारा जो दोष दिये गये हैं कि प्रपञ्चाभाव को तात्त्विक मानने पर अद्वैत की हानि होगी और व्यधिकरण सम्बन्ध से और व्यधिकरण धर्म से घटादि का अभाव कपालादि में पूर्वपक्षी को भी मान्य है। अत: सिद्धसाधनादि दोष होंगे। इन सभी दोषों का परिहार द्वितीय मिथ्यात्व लक्षण में प्रदर्शित युक्तियों के द्वारा कर देना चाहिए।।२।।

शङ्का— पटादि संयोगी देश (शरीरादि) अथवा पटादि समवायी देश (तन्त्वादि) में पटादि का

सत्यानन्दप्रबोधिका

विवरणाचार्य के द्वारा प्रतिपादित दोनों लक्षणों के निर्दुष्ट सिद्ध हो जाने के पश्चात् चित्सुखाचार्य सम्मत मिथ्यात्वलक्षण पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। लक्षण का घटक 'स्व' पद से जिसमे मिथ्यात्व का लक्षण ले जाना है उसको ग्रहण करना है। अपने आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता जिसमें रहती है वह मिथ्या होता है। जैसे रजत के आश्रय शुक्ति में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता रजत में रहने से रजत मिथ्या है।।१।।

यहाँ स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिता का तात्पर्य यह है कि मिथ्या वस्तु की अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानता है। अर्थात् 'स्वात्यन्ताभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वं मिथ्यात्वम्' ऐसा अर्थ करने से द्वितीयलक्षण ('प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्') से इस चतुर्थ लक्षण में भेद सिद्ध हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जहाँ नहीं है, वहाँ दिखाई दे, तो वह वस्तु मिथ्या हैं। यह चतुर्थ लक्षण में कहा गया है। और द्वितीय लक्षण में 'जो वस्तु जहाँ प्रतीयमान है वहीं पर उसका अत्यन्ताभाव हो, तो वह वस्तु मिथ्या है' यह कहा गया है। अर्थात् चतुर्थ लक्षण का स्वरूप—''स्वात्यन्ताभाववत्वव्याप्यं स्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वम्'' और द्वितीय लक्षण का स्वरूप ''स्वप्रकारकप्रतीतिविशेष्यत्वव्यापकीभूता—त्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्'' इन दोनों लक्षणों में विशेषण—विशेष्यभाव का व्यत्यय होने से पुनरुक्ति दोष नहीं होगा। इस लक्षण में भी प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव को तात्त्विकादि मानकर अद्वैतहानि आदि आरोपों का परिहार द्वितीयलक्षण में किये गये समाधानों से कर देना चाहिए।।२।।

पूर्वपक्षी मिथ्यात्वानुमान में बाधदोष दे रहा है कि जिस देश में संयोगसम्बन्ध से घट है उसी देश

वाच्यम्, काले सहसम्भववद्देशेऽपि सहसम्भवाविरोधात्, प्रागभावसत्त्वेनोपादानत्वाविरोधाच्च ।।३।।
न चात्यन्ताभावाधिकरणे प्रागभावस्याप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, काले व्यभिचारात्।।४।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अत्यन्ताभाव मानना सम्भव नहीं है। यदि पटादि और पटादि के अत्यन्ताभाव को युगपत् एक देश (तन्त्वादि) में मानते हैं तो तन्त्वादि में पटादि के प्रति उपादानत्वादि की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि जिसका जिसमें अत्यन्ताभाव है, वह उसका उपादान कारण नहीं बनता है। जैसे तेल का अत्यन्ताभाव रेत में है। अत: रेत तेल का उपादान कारण नहीं बनता है।

समाधान— आपकी शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि जैसे काल में प्रतियोगी और उसका अत्यन्ताभाव एक साथ रहते हैं, ठीक उसी प्रकार देश में भी प्रतियोगी और उसका अत्यन्ताभाव एक साथ रह ही सकते हैं। ऐसा होने पर कोई विरोध नहीं होगा, क्योंकि विरोध समसत्ता में माना जाता है, विषमसत्ता में नहीं। तन्त्वादि देश में तन्त्वादि का प्रागभाव विद्यमान रहता है और जहां जिसका प्रागभाव होता है, वहां वह उत्पन्न होता है। अत: पट के प्रति तन्तु को उपादान कारण मानने में भी कोई विरोध नहीं होगा।।३।।

शङ्का— प्राचीन नैयायिकों के मत में अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाता है। अत: पट के अत्यन्ताभाव के अधिकरण तन्तु में पट का प्रागभाव नहीं रह सकता है।

समाधान — प्राचीन नैयायिकों के उक्त नियम (यत्र यस्यात्यन्ताभाव: तत्र तस्य न प्रागभाव:) का

सत्यानन्दप्रबोधिका

में संयोगसम्बन्ध से घट के अत्यन्ताभाव का अनुमान करने पर बाधदोष होगा। इसी प्रकार समवायसम्बन्ध से घट कपाल में है और समवायसम्बन्ध से कपाल में घट के अत्यन्ताभाव का अनुमान करने पर बाधदोष होगा और घट समवायी कपाल में समवायेन घट का अत्यन्ताभाव मानने पर कपाल घट का उपादानकारण नहीं बन पायेगा। यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह है कि यदि घट का अत्यन्ताभाववाला भी घट का उपादानकारण बन सकता है तो घट के अत्यन्ताभाववाले तन्तु से भी घट की उत्पत्ति का प्रसंङ्ग आयेगा। इसलिए घटसमवायी कपाल में घट का अत्यन्ताभाव असम्भव होने से घटादि मिथ्या सिद्ध नहीं हो सकते हैं। 'उपादानत्वाद्यनुपपत्ति:' में आये 'आदि' पद से यह दोष समझना चाहिए— जिस समय कपाल में घट का प्रत्यक्ष हो रहा है, उसी समय कपाल में समवायेन घट के अभाव के अप्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति भी होगी और कपाल में हमेशा समवायेन घट का अभाव रहता है, इस भ्रमज्ञान में अप्रमात्वव्यवहार की अनुपपत्ति भी होगी। इन सभी शङ्काओं का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे काल में कालिकसम्बन्ध से घट और घट का अभाव दोनों रहते हैं, उसी प्रकार से देश में भी घट और घटाभाव के रह जाने से कोई विरोध नहीं है और उपादानत्व की अनुपपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि जैसे कपाल में घट का प्रागभाव के रहने पर भी कपाल घट का उपादान कारण बन जाता है, ठीक वैसे ही कपाल में घट का अत्यन्ताभाव के रहने पर भी कपाल घट का उपादानकारण बन जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि एकत्र भाव और अभाव पदार्थों का विरोध समसत्ता में माना जाता है, विषमसत्ता में नहीं। यह द्वितीय मिथ्यात्वनिरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है ।।३।।

''यत्र यस्यात्यन्ताभाव: तत्र तस्य न प्रागभाव:'' इस व्याप्ति को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता है कि जहाँ घट का अत्यन्ताभाव है वहाँ घट का प्रागभाव नहीं रह सकता है। उक्त व्याप्ति का व्यभिचार घट उत्पत्ति के पूर्वकाल में है। क्यों कि ''घटो भविष्यति'' इस प्रकार से प्रागभाव को विषय करने वाली प्रत्यक्षप्रतीतिकाल में ही 'घटो नास्ति' इस प्रकार से अत्यन्ताभाव को विषय करने वाली

न च काले प्रागभावात्यन्ताभावयोः सामानाधिकरण्यमिदानीं घटात्यन्ताभावः, इदानीं घटप्रागभाव इति प्रतीतिबलादङ्गीकृतम्, देशे तु तदुभयसामानाधिकरण्ये न किञ्चिदपि प्रमाणमिति वाच्यम्, मिथ्यात्वानुमितेः श्रुत्यादेश्च प्रमाणत्वात्।।५।।

विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधः पूर्वमुपपादितः।।६।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

कालरूप अधिकरण में व्यभिचार दोष है, क्योंकि काल में पट प्रागभाव और पट अत्यन्ताभाव का समानाधिकरणत्व माना जाता है। अतः तन्तु में भी पट का प्रागभाव और पट का अत्यन्ताभाव मानने में कोई विरोध नहीं है।।४।।

शङ्का — काल में प्रागभाव और अत्यन्ताभाव का जो सामानाधिकरण्य माना जाता है, उसमें ये दोनों प्रतीतियां प्रमाण हैं। प्रथम—कालिक सम्बन्ध से एतत्कालवृत्ति घटात्यन्ताभाव है। द्वितीय—कालिक सम्बन्ध से एतत्कालवृत्ति घट प्रागभाव है। देश में प्रागभाव और अत्यन्ताभाव के सामानाधिकरण्य में कोई भी प्रमाण नहीं है। ऐसा कथन पूर्वपक्षी का उचित नहीं है, क्योंकि देश में प्रागभाव और अत्यन्ताभाव के सामानाधिकरण्य में मिथ्यात्वानुमान और श्रुत्यादि प्रमाण है।।५।।—।।६।।—।।७।।—।।८।।

— इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां चतुर्थमिथ्यात्वविचारः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्षप्रतीति होती है। इस प्रकार से घट के अत्यन्ताभाव और घट के प्रागभाव का काल में कालिकसम्बन्ध से सामानाधिकरण्य होने से पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है।।४।।

''इदानीं घटात्यन्ताभावः, इदानीं घटप्रागभावः'' इस प्रतीति के बल से काल में कालिकसम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव और घट का प्रागभाव माना जाता है। किन्तु घटप्रागभाव के अधिकरण कपाल में घट—अत्यन्ताभाव के रहने में कोई प्रमाण न होने से कपालादि देश में घटादि का प्रागभाव और घटादि—अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य नहीं माना जा सकता है। ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है, क्योंकि घट प्रागभाव के अधिकरण कपाल में घट के अत्यन्ताभाव का ग्राहक मिथ्यात्व—अनुमिति का करण उक्त मिथ्यात्वानुमान ही प्रमाण है। इस पर यदि शङ्का की जाय कि कपाल में घट है यह बात प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध है, तब उस प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण मिथ्यात्वानुमान के द्वारा कपाल में घट के अत्यन्ताभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके समाधान के रूप से कहा कि अपने अधिकरण में घटादि के अत्यन्ताभाव के रहने में ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि प्रपञ्चमात्र को मिथ्या बतलाने वाली श्रुति प्रमाण है। 'श्रुत्यादि' में 'आदि' पद से यह समझना चाहिए कि मिथ्यात्वानुमान के द्वारा और 'नेह नानास्ति...' श्रुति के द्वारा कपाल में घट के अत्यन्ताभाव सिद्ध होने पर भी कपाल घट का उपादान कारण बन सकता है। यह 'आदि' पद से सूचित किया गया है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि कपाल में घट प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है, अतः घट के मिथ्यात्व का साधक अनुमान का बाध हो जायेगा, उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने यह दिखाया कि बलवान श्रुतिप्रमाण का आश्रय पाकर मिथ्यात्व साधक अनुमानप्रमाण का कोई भी प्रमाण बाध नहीं कर सकता है। यथा राजा का आश्रय प्राप्त सेवक का वरिष्ठ मन्त्री भी तिरस्कार नहीं कर पाता है।।५।।

जहाँ घट है वहाँ घट का अत्यन्ताभाव है, ऐसा मानने पर विरोध होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता

न चासत्यतिव्याप्तिः, स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात्।।७।।

न च 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति श्रुत्याऽसतः सत्त्वप्रतीतेस्तत्रातिव्याप्तिर्दुष्परिहरेति वाच्यम्, 'सदेवेदमग्र आसीत्' इत्यस्यार्थस्याभाव एव नञा प्रतिपाद्यते, न त्वसतः सत्त्वम्, विरोधात्; अतो नातिव्याप्तिः। सर्वं चान्यत् पूर्वोक्तमेवानुसन्धेयमित्युपरम्यते।।८।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ चतुर्थमिथ्यात्वविचारः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, क्योंकि भाव और अभाव का समसत्ता में ही विरोध होता है भिन्नसत्ता में विरोध नहीं होता है, यह द्वितीयमिथ्यात्व के प्रतिपादन के अवसर पर कहा गया है।।६।।

वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि ''अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि''। अर्थात् वन्ध्यासुतादि अत्यन्त असत्पदार्थों का भी शब्द से ज्ञान होता है। अतः अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान वन्ध्यासुतादि भी है। उसमें मिथ्या का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति होगी तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में केवल प्रतीयमानता विवक्षित नहीं है। अपितु 'सत्त्वेन प्रतीयमानता' विवक्षित है। असत् में प्रतीयमानता रहने पर भी सत्त्वेन प्रतीयमानता नहीं है। अतः असत्पदार्थों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार मिथ्या का लक्षण— ''स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वम्'' हुआ।।७।।

ऐसा लक्षण करने पर भी ''असदेवेदमग्र आसीत्'' (छा०उ० ६/२/१) इस श्रुति द्वारा सत्त्वेन प्रतीति असत् की कही गयी है। अतः असत्पदार्थों मे अतिव्याप्ति का परिहार नहीं हुआ। ऐसी शङ्का का उत्थापन पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है, क्योंकि ''असदासीत्'' इस वाक्य का तात्पर्य ''सदासीदिति न'' इसी अर्थ को बतलाने में है; क्योंकि ''अमानोना: निषेधबचना:'' इस अनुशासन से ''अ'' यह नञर्थ बतलाने वाला अव्यय है। अर्थात् 'सदेवेदमग्र आसीत्' इस श्रुति का जो अर्थ है, उस अर्थ के अभाव को बतलाने मात्र में ''असदासीद्'' इस वाक्य का तात्पर्य है, न कि असत् में सत्त्व के बतलाने में। असत् में सत्त्व मानने से व्याघात दोष होगा, अतः असत् में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस लक्षण के ऊपर व्यधिकरणसम्बन्धा से घटाभावादि को लेकर तथा अव्याप्यवृत्तिवाले संयोगादि को लेकर जो अतिव्याप्ति आदि दोष पूर्वपक्षी के द्वारा दिया जाता है, उनका परिहार द्वितीयमिथ्यात्व लक्षण के प्रतिपादन के अवसर पर दिये गये समाधानों से कर लेना चाहिए। अतः यहाँ इतना ही निरूपण करके उपराम होते हैं।।८।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां चतुर्थमिथ्यात्वविचारः —

७: पञ्चममिथ्यात्वविचारः

सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्। सत्त्वञ्च प्रमाणसिद्धत्वम्। प्रमाणत्वञ्च दोषासहकृत-ज्ञानकरणत्वम्, तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिध्यति।१ ।।

प्रमाणसिद्धत्वञ्चाबाध्यत्वव्याप्यमित्यन्यत्। अत्राप्यसति निर्धर्मके ब्रह्मणि चातिव्याप्तिवारणाय

कैलासविद्याप्रकाशिका

न्यायदीपावलीकार श्री आनन्दबोधाचार्य कृत मिथ्यात्व का लक्षण है—सत्प्रतियोगिकभेदवत्त्व। सत्प्रतियोगिकभेद का प्रतियोगितावच्छेदक जो सत्त्व है। वह प्रमाणसिद्धत्वरूप है और प्रमाणत्व दोषासहकृतज्ञानकरणत्वरूप है। (अर्थात् दोषरूप से अविद्या घटादिज्ञान में निमित्तकारण होती है न कि उपादान कारण। इसलिए अविद्यानिष्ठ निमित्तकारणता ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वेदान्त वाक्यों से अजन्य घटादिज्ञान में है, क्योंकि घटादिज्ञान भ्रम रूप होने से अविद्यानिमित्तक है जबकि ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वेदान्त वाक्यों से जन्य ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) प्रमा होने से अविद्यानिमित्तक नहीं है। इस प्रकार से यहां पर प्रमाण शब्द से केवल ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वेदान्त वाक्य को ही ले सकते हैं अन्य को नहीं। उन अद्वितीय वेदान्त वाक्यों से सिद्ध जो अद्वितीय ब्रह्म है, उससे भिन्नत्व प्रपञ्च में है। अतः प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध हो गया।) अतः जिस प्रकार से प्रमाणसिद्ध भिन्नत्वेन स्वप्नादि का मिथ्यात्व सिद्ध होता है, ठीक वैसे ही घटादि प्रपञ्चगत भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।१ ।।

प्रमाणसिद्धत्व अबाध्यत्व का व्याप्य है। प्रपञ्च में जब व्यापक ही नहीं है तब व्याप्य तो रहेगा ही नहीं। इसलिए प्रमाण सिद्ध से भिन्न घटादि प्रपञ्च के सिद्ध हो जाने से घटादि प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। इस पञ्चममिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति शुद्ध ब्रह्म और अलीक में होगी, क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

चित्सुखाचार्य के मिथ्यात्वलक्षण पर विचार करने के पश्चात् न्यायदीपावलीकार श्री आनन्दबोधचार्य के मिथ्यात्वलक्षण ''सद्भिन्नत्वं मिथ्यात्वम्'' पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। सद्रूप ब्रह्म से भिन्न आकाशादि के होने से आकाशादि में इस लक्षण का समन्वय हो जाता है। ''वाक्यार्थविशिष्टबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति वाक्यार्थघटकयावत्पदार्थज्ञानं कारणं भवति'' इस न्याय के अनुसार लक्षणवाक्यार्थबोध के लिए लक्षण घटक 'सत्' पद का अर्थ करने के लिए कह रहे हैं कि सत्त्व का अर्थ प्रमाणसिद्धत्व लेना है। प्रमाणत्व का अर्थ है दोषासहकृतज्ञानकरणत्व, अर्थात् दोष से अजन्य जो प्रमारूपज्ञान, उसके करण को प्रमाण कहेगें। मिथ्यात्व के लक्षण का स्वरूप होगा 'दोषासहकृतज्ञानकरणसिद्धभिन्नत्वम्'। दोष से अजन्य प्रमारूप ज्ञान का जो करण है, उस करण (प्रमाण) से जन्य ज्ञान के विषय से भिन्न को मिथ्या कहते हैं। अर्थात् दोषासहकृतज्ञान– ब्रह्मज्ञान (अखण्डाकारचित्तवृत्ति), उसका कारण—वेदान्तवाक्य, उससे सिद्ध (बोधित) ब्रह्म, उससे भिन्न आकाशादि प्रपञ्च है। इस प्रकार परिष्कृत मिथ्यात्व का लक्षण प्रपञ्च में जाने से जाग्रत्प्रपञ्च वैसे ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है जैसे स्वप्न के पदार्थ गजादि।१ ।।

''यत्र यत्र सत्त्वं, तत्र तत्र अबाध्यत्वम्'' यह सिद्धान्ती के अनुसार व्याप्ति है। यहाँ पर यदि सत्त्व का अर्थ 'अबाध्यत्वम्' कर देंगे तो ''यत्र यत्र अबाध्यत्वं तत्र तत्र अबाध्यत्वम्'' ऐसी दुष्ट व्याप्ति की आपत्ति होगी। इसलिए 'सत्त्वम्' का अर्थ ''अबाध्यत्वम्' न करके 'प्रमाणसिद्धत्वम्' किया। अतः अब व्याप्ति का आकार है– ''यत्र यत्र प्रमाणसिद्धत्वं तत्र तत्र अबाध्यत्वम्''। अतः प्रपञ्च में अबाध्यत्वरूप व्यापक के न रहने से व्याप्य प्रमाणसिद्धत्व भी नहीं रहेगा। अतः प्रमाणसिद्ध से भिन्न प्रपञ्च के सिद्ध होने से प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। मूल में 'अन्यत्' का अर्थ सत्त्व के बाध्यत्वघटित अर्थ

सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं विशेषणं देयम्, तयोः सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावात्।।२।।

अत एव सद्विविक्तत्वमित्यत्र सत्त्वं सत्ताजात्यधिकरणत्वं वा? अबाध्यत्वं वा? ब्रह्मरूपत्वं वा? आद्ये घटादावाविद्यकजातेस्त्वयाभ्युपगमेनासम्भवः, द्वितीये बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसानम्, तृतीये सिद्धसाधनमिति निरस्तम्, अनभ्युपगमादेव।।३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

दोनों में ही प्रमाणसिद्धत्व नहीं हैं। इसलिए पञ्चम मिथ्यात्व के लक्षण में अलीक तथा निर्धर्मक शुद्ध ब्रह्म में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूप विशेषण देना चाहिए, क्योंकि दोनों में सत्त्वप्रकारक प्रतीति की विषयता नहीं मानी जाती है। (कहने का आशय यह है कि तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्यधीविषयत्वाश्रयान्यत्व ही मिथ्यात्व का परिष्कृत लक्षण है। जिस मत में महावाक्य से जन्य वृत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म नहीं होता है अपितु उपहित ब्रह्म होता है, उस मत में उक्तधीविषयत्वाश्रय=उपहित ब्रह्म होगा और उसका भेद जैसे अविद्या और अविद्या प्रयुक्त दृश्य में रहता है। वैसे ही उसका भेद शुद्ध ब्रह्म और अलीक में भी होगा। अतः शुद्ध ब्रह्म और अलीक में अतिव्याप्ति होगी। इसलिए अतिव्याप्ति के निवारणार्थ सत्त्वेन प्रतियमानत्व को पञ्चममिथ्यात्व के लक्षण में विशेषण के रूप से देना चाहिए। जिस पक्ष में महावाक्यजन्यवृत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म होता है, उस पक्ष में यद्यपि शुद्ध ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी तथापि अलीक में होगी ही, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म से भिन्न जैसे अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त दृश्य है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म से भिन्न अलीक भी है। अतः इस पक्ष में भी इस पञ्चम मिथ्यात्व के लक्षण में सत्त्वेन प्रतीयमानत्व देना चाहिए।।२।।—।।३।।—।।४।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां पञ्चममिथ्यात्वविचारः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

(अबाध्यत्व) से भिन्न अर्थ प्रमाणसिद्धत्व लेना है। यदि सत्त्व का बाध्यत्वघटित (अबाध्यत्व) अर्थ करेंगे तब यह भी दोष होगा कि ''सद् भिन्नत्वम्'' का अर्थ ''अबाध्यभिन्नत्वम्'' होगा। तब बाध्यत्व को ही मिथ्या कह देने से काम चल जाता, इतर अंश देना व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार अबाध्यत्व का व्याप्यप्रमाणसिद्धत्व ही सत्त्व है। दोषाजन्यज्ञानकरणजन्यज्ञानविषयभिन्नत्वरूप मिथ्यात्व का लक्षण असद् वन्ध्यासुत और शुद्ध ब्रह्म में जायेगा, क्योंकि वन्ध्यासुत भी दोषाजन्यज्ञानकरणजन्य ज्ञान = प्रमाज्ञान का विषय नहीं होता है और शुद्धब्रह्म भी दोषाजन्यज्ञानकरणजन्य ज्ञान = प्रमाज्ञान का विषय नहीं होता है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए सत्त्वेन प्रतीयमानत्व भी विशेषण देना चाहिए। तब लक्षण का आकार होगा—'सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति दोषासहकृतज्ञानकरणसिद्धभिन्नत्वम्'। ऐसा लक्षण करने से वन्ध्यासुत की सत्त्वेन प्रतीति नहीं होती है, अतः वन्ध्यासुत में अतिव्याप्ति नहीं होगी और निर्धर्मकब्रह्म में सत्त्व के न होने से सत्त्वेन ब्रह्म की भी प्रतीति नहीं होने से निर्धर्मकब्रह्म में भी अतिव्याप्ति नहीं होगी।।२।।

सत्त्व का अर्थ प्रमाणसिद्धत्व करने से न्यायामृतकार ने सत्त्व का अर्थ सत्ताजाति की अधिकरणता, अबाध्यत्व और ब्रह्मरूपत्व अर्थ करके जो दोष दिया था कि प्रथम पक्ष में सिद्धान्ती घट में आविद्यकसत्ताजाति मानता है। अतः घटत्व जाति का अधिकरण घट होगा, उससे भिन्न घट न होने से असम्भवदोष होगा और सत्त्व का अर्थ अबाध्यत्व अर्थ लेने पर ''अबाध्यभिन्नत्वं मिथ्यात्वम्'' ऐसा अर्थ होगा और अबाध्यभिन्नत्व का अर्थ बाध्यत्व है। इसलिए बाध्यत्व को मिथ्या कह दो, इतर अंश देना व्यर्थ है और सत्त्व का अर्थ ब्रह्मरूपत्व करेंगे तो जगत् को ब्रह्म से भिन्न माध्वमत में भी माना जाता है, अतः सिद्धसाधनदोष होगा। यह

सदसद्विलक्षणत्वपक्षोक्तयुक्तयश्चात्रानुसन्धेयाः। अवशिष्टञ्च दृष्टान्तसिद्धौ वक्ष्यामः।।४।।

— इत्यद्वैसिद्धौ पञ्चममिथ्यात्वविचारः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

सभी दोष निरस्त हो गये, क्योंकि उक्त तीनो प्रकार का सत्त्व का अर्थ सिद्धान्ती ने नहीं माना है।।३।।

इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि ''सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति सद्भिन्नत्वं मिथ्यात्वम्'' ऐसा जो लक्षण किया गया उसमें से सत्त्वेन प्रतीयमानत्व लक्षण के इस अंश को घटादि प्रपञ्च में माध्वमत में भी माना जाता है, अतः सिद्धसाधनदोष होगा। इन सिद्धसाधन आदि दोषों का परिहार प्रथममिथ्यात्वलक्षण के अवसर पर 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम्'' इसके निरूपण पर दी गई युक्तियों से कर देना चाहिए। माध्वमत में शुक्तिरजतादि को अलीक स्वीकार किया गया है। अतः शुक्तिरजत दृष्टान्त नहीं बन सकता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शुक्तिरजत सत्त्वेन प्रतीयमान होता है। अतः शुक्तिरजत अलीक नहीं होगा। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सत्ख्यातिवाद में या असत्ख्यातिवाद में ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमों में सत्य रजत का अथवा अलीक रजत का ही भान स्वीकार किए जाने से इस मिथ्यात्वानुमान से पूर्व आरोपणीय रजत में मिलित प्रसिद्धि नहीं है। इसके समाधान में अद्वैतसिद्धिकार ने कहा कि इस विषय में जो अवशिष्ट रह गया है, उसको दृष्टान्त सिद्धि में कहेगें। अर्थात् ''रजतं पश्यामि'' इस अनुभव के अनुरोध से अनिर्वचनीयख्याति पक्ष ही समीचीन है, न कि असत्ख्याति आदि पक्ष। इस पर विशेषरूप से विचार दृष्टान्त निरूपण के अवसर पर असत्ख्याति–आदि का खण्डन करते समय मूलकार के द्वारा किया जायेगा।।४।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां पञ्चममिथ्यात्वविचारः —

८: मिथ्यात्वमिथ्यात्वविचारः

नन्वुक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापातः, एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः विरुद्धधर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वनियमात्।।१।।

मिथ्यात्वसत्यत्वे च तद्वदेव प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेः, उभयथाप्यद्वैतव्याघात इति चेन्न ।।२।।

मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वानुपपत्तेः। तत्र हि विरुद्धयोर्धर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽ–

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का – सिद्धान्ती के द्वारा प्रतिपादित जो मिथ्यात्व धर्म है वह यदि मिथ्या (बाधित) है तो प्रपञ्च के सत्यत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् प्रपञ्चरूपी धर्मी सत्य सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि एक धर्मी में प्राप्त जो विरूद्ध दो धर्मों में से एक धर्म का मिथ्यात्व (बाधितत्व) होने पर दूसरे धर्म के सत्यत्व होने का नियम अवश्यम्भावी है और मिथ्यात्व के सत्यत्व होने पर मिथ्यात्व के जैसे ही मिथ्यात्व के ध ार्मी प्रपञ्च में भी सत्यत्व मानना होगा। इसलिए दोनों प्रकार (मिथ्यात्व को मिथ्या मानने पर और मिथ्यात्व को सत्य मानने पर) से अद्वैत की हानि होगी।।१।।–।।२।।

समाधान – नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व होने पर भी प्रपञ्च के सत्यत्व की उपपत्ति

सत्यानन्दप्रबोधिका

निरुक्त पाँच प्रकार के मिथ्यात्व के निरूपण को सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि पञ्चप्रकार से निरूपित मिथ्यात्व बाध्य है? अथवा अबाध्य? प्रथम पक्ष में पूर्वपक्षी दोष दे रहा हैं कि उक्त पञ्चप्रकार के मिथ्यात्व को मिथ्या (बाध्य) स्वीकार करने पर प्रपञ्च में सत्यत्व की अनुमिति हो जायेगी। यहाँ 'आपातः' पद का अर्थ अनुमिति लेना चाहिए। अतः यहाँ अनुमान का आकार होगा 'जगत् सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वात् (बाध्यभूतमिथ्यात्वधर्म वाला होने से) आत्मवत्'। इस अनुमान के लिए व्याप्ति दिखा रहे हैं। एक धर्मी (प्रपञ्च) में प्रसक्त विरुद्धधर्म (सत्यत्व और मिथ्यात्व) में से एक (मिथ्यात्व) के मिथ्या (बाध्य) होने पर दूसरे (सत्यत्व) धर्म का अबाधित होना निश्चित है। जैसे एक धर्मी (आत्मा) में प्राप्त सत्यत्व और मिथ्यात्व दो विरोधिधर्मों में से एक (मिथ्यात्व) के बाध्य होने पर आत्मा में सत्यत्व का दर्शन होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर न्यायामृतकार ने कहा कि ''मिथ्यात्वं यदि बाध्यं स्याज्जगत्सत्यत्वमापतेत्''।।१।।

मिथ्यात्व को अबाध्य मानने पर दोष दे रहे हैं कि मिथ्यात्वधर्म के सत्य होने पर मिथ्यात्व के सत्यत्व के समान ही प्रपञ्च भी सत्य सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् जब मिथ्यात्वरूप 'धर्म' सत्य है, तब मिथ्यात्व का 'धर्मी' प्रपञ्च भी सत्य सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार मिथ्यात्व को मिथ्या (बाध्य) मानने पर 'जगत् सत्यम्' इत्यादि अनुमान के द्वारा जगत् के सत्य सिद्ध हो जाने से अद्वैत की हानि होगी और मिथ्यात्व को अबाध्य मानने पर ब्रह्म से पृथक् एक अबाध्यपदार्थ स्वीकार करने से भी अद्वैत की हानि होगी। इस प्रकार दोनों विकल्पों में से किसी भी विकल्प को स्वीकार करने पर अद्वैतसिद्धान्त की हानि होगी। इसको ही ध्यान में रखकर न्यायामृतकार ने कहा–'मिथ्यात्वं यद्यबाध्यं स्यात् सदद्वैतमतक्षतिः'। तथा मिथ्यात्व को अबाध्य मानने पर यह भी दोष होगा कि मिथ्यात्वानुमान के दृश्यत्वादि हेतु मिथ्यात्व में व्यभिचरित हो जायेंगे, क्योंकि मिथ्यात्व में दृश्यत्वादि हेतु हैं और मिथ्यात्वरूप साध्य नहीं। क्योंकि मिथ्यात्व को अबाध्य मान लिया गया है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने द्वितीय विकल्प के द्वारा दृश्यत्वादि हेतुओं में व्यभिचारदोष भी दिखाने का प्रयत्न किया है, किन्तु पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है। ।।२।।

क्योंकि मिथ्यात्व के अबाध्यत्वपक्ष को स्वीकार न करने मात्र से ही अबाध्यत्वपक्ष में दिये गये

परसत्यत्वम्, यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत्।।३।।

यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्वतदभावयोः शुक्तौ, यथा वा परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः तत्रैव; तत्र निषेध्यतावच्छेदकभेदनियमात्।।४।।

प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकमेकमेव दृश्यत्वादि, यथा गोत्वाश्वत्वयोरेकस्मिन् गजे निषेधे

कैलासविद्याप्रकाशिका

नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि उसी स्थल पर विरुद्ध दो धर्मों में से एक का मिथ्यात्व होने पर दूसरे का सत्यत्व सिद्ध होता है, जहां पर मिथ्यात्व का अवच्छेदक (दृश्यत्वादि) उभय में न रहकर केवल एक ही में रहता हो। जैसे परस्पर विरह रूप जो रजतत्व और रजतत्वाभाव है। इन दोनों में से एक का शुक्ति में निषेध करने पर दूसरे का सत्यत्व आता है, क्योंकि यहां पर निषेध्यतावच्छेदक (रजतत्व और रजताभावत्व) भिन्न–भिन्न है। इसमें दूसरा दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि उपरोक्त शुक्ति में ही परस्पर विरह के व्यापक रजतभिन्नत्व और रजतत्व है। इन दोनों में एक का निषेध करने पर दूसरे का सत्यत्व आता है। यहां पर भी निषेध्यतावच्छेदक (रजतत्व और रजतभिन्नत्वत्व) भिन्न–भिन्न है।।३।।–।।४।।

प्रकृत में प्रपञ्च रूप धर्मी में दोनों विरोधी धर्मों में निषेध्यतावच्छेदक एक ही दृश्यत्वादि है। जैसे

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोषों का निराकरण हो जाता है, और बाध्यत्वपक्ष में दिये गये दोषों का निरास करने हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मिथ्यात्व को बाध्य मान लेने पर भी प्रपञ्च सत्य सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि वहाँ पर ही दो विरोधिधर्मों में से एक के मिथ्या होने पर, अर्थात् एक धर्म का निषेध कर दिये जाने पर दूसरा ध ार्म सत्य सिद्ध होता है, जहाँ पर निषेध्यतावच्छेदक एक धर्मी में प्रसक्त विरुद्ध दोनों धर्मों में न रहता हो।।३।।

इसको सिद्धान्ती दो दृष्टान्तों से स्पष्ट कर रहे हैं। प्रथम दृष्टान्त–शुक्ति में परस्पर अभावस्वरूप वाले रजतत्व और रजतत्वाभाव। अर्थात् शुक्तिरूपी धर्मी में 'रजतत्वं नास्ति' इस निषेध के द्वारा निषेध्य रजतत्व एवं निषेध्यतावच्छेदक रजतत्वत्व धर्म है। यह रजतत्वत्व धर्म रजतत्वाभाव में नहीं है। अतः 'रजतत्वं नास्ति' इस निषेध के द्वारा रजतत्व का निषेध होगा और रजतत्वाभाव का सत्त्व सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'रजतत्वाभावो नास्ति' इस निषेध का निषेध्य रजतत्वाभाव और निषेध्यतावच्छेदक रजतत्वाभावत्व है। यह रजताभावत्व धर्म रजतत्व में नहीं है। अतः 'रजतत्वाभावो नास्ति' इस निषेध के द्वारा रजतत्वाभाव का निषेध होगा और रजतत्व का सत्त्व सिद्ध होगा। क्योंकि शुक्तिरूपी धर्मी में प्रसक्त विरुद्धधर्म रजतत्व और रजतत्वाभाव के निषेध्यतावच्छेदक भिन्न–भिन्न है। द्वितीय दृष्टान्त– शुक्तिरूपीधर्मी में परस्पर अभाव के व्यापकस्वरूपवाले रजतभिन्नत्व और रजतत्व है। अर्थात् 'यत्र यत्र रजतभिन्नत्वाभावः तत्र तत्र रजतत्वम्' 'यत्र यत्र रजतत्वाभावः तत्र तत्र रजतभिन्नत्वम्'। शुक्तिरूपीधर्मी में रजतभिन्नत्व और रजतत्व इन दोनों धर्मों में से एक धर्म का निषेध करने पर दूसरे धर्म का सत्यत्व सिद्ध होगा। क्योंकि यहाँ निषध्यतावच्छेदक धर्म भिन्न–भिन्न है। अर्थात् शुक्तिरूपीधर्मी में रजतत्व का निषेध करने पर निषेध्य रजतत्व और निषेध्यतावच्छेदक रजतत्वत्व होगा तथा रजतभिन्नत्व का निषेध करने पर निषेध्य रजतभिन्नत्व और निषेध्यतावच्छेदक रजतभिन्नत्वत्व होगा। अतः निषेध्यतावच्छेदक के भिन्न–भिन्न होने से रजतत्व का निषेध करने पर शुक्ति में रजतभिन्नत्व का सत्त्व सिद्ध होगा। शुक्ति में रजतभिन्नत्व का निषेध करने पर रजतत्व का सत्त्व सिद्ध होगा। इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा यह दिखाया गया कि पूर्वपक्षी की व्याप्ति वहीं पर लग सकती है, जहाँ निषेध्यतावच्छेदक भिन्न–भिन्न हो।।४।।

प्रकृत में प्रपञ्चरूप धर्मी में दोनों(सत्यत्व और मिथ्यात्व) विरोधिधर्मों में निषेध्यतावच्छेदक धर्म

गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वं निषेध्यतावच्छेदकमुभयोस्तुल्यमिति नैकतरनिषेधेऽन्यतरसत्त्वम्, तद्वत्॥५॥

यथा च सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, न वा परस्परविरहव्यापकत्वम्, तथोपपादितमधस्तात्। परस्परविरहरूपत्वेऽपि विषमसत्ताकयोरविरोधात्, व्यावहारिकमिथ्यात्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

गोत्व और अश्वत्व इन दोनों का एक गज में निषेध होने पर निषेध्यतावच्छेदक गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्व एक ही है। इसलिए गज में गोत्व या अश्वत्व इन दोनों में से एक का निषेध करने पर दूसरे के सत्त्व की आपत्ति नहीं होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए।।५।।

जिस प्रकार से सत्यत्व और मिथ्यात्व परस्पर विरह रूप नहीं होते हैं और परस्परविरह के व्यापक रूप नहीं होते हैं, उस प्रकार का निरूपण प्रथममिथ्यात्व विचार के अवसर पर किया जा चुका है। मिथ्यात्व और सत्यत्व इन दोनों में परस्परविरहरूपत्व मानने पर भी विषमसत्ताकभाव और अभाव में विरोध न होने के कारण व्यावहारिक मिथ्यात्व से व्यावहारिक सत्यत्व की निवृत्ति होने पर भी

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृश्यत्वादि एक ही होने से, एक का निषेध करने पर दूसरे का सत्त्व सिद्ध नहीं होगा। अपितु प्रपञ्च में रहने वाले मिथ्यात्व का दृश्यत्वेन निषेध करने पर प्रपञ्च में रहने वाले सत्यत्व धर्म का भी दृश्यत्वेन निषेध हो जाता है। अलीक शशविषणादि में सत्यत्व और मिथ्यात्व का अभाव होने से सत्यत्व और मिथ्यात्व परस्पर अभावरूप भी नहीं हैं और परस्पर विरह के व्यापकरूप भी नहीं हैं। किन्तु गोत्व–अश्वत्व के समान विरुद्धमात्र है। अतः मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर प्रपञ्च में सत्यत्व की सिद्धि नहीं होगी। परस्पर विरह रूप न होने से और परस्पर विरह के व्यापकरूप न होने से विरुद्ध दो धर्मों में से एक का निषेध करने पर दूसरे का सत्त्व नहीं सिद्ध होता है। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं– गजरूपधर्मी में गोत्व–अश्वत्व दोनों धर्मों का अभाव होने से गोत्व और अश्वत्व परस्पर विरहरूप भी नहीं है और परस्पर विरह के व्यापकरूप भी नहीं है। इसलिये गजरूपधर्मी में प्रसक्तगोत्व और अश्वत्व का निषेध करने पर निषेध्यतावच्छेदक गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्व गोत्व और अश्वत्व दोनों में है। अतः गज में गोत्व का निषेध करने पर अश्वत्व की सिद्धि गज में नहीं होती है। ऐसे ही गज में अश्वत्व का निषेध करने पर गज में गोत्व की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वेन गोत्व का निषेध गज में करने पर गज में अश्वत्व की भी निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि गोत्व और अश्वत्व दोनों में निषेध्यताच्छेदक गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्व समान रूप से है। इस प्रकार यह दिखाया गया कि जो दो पदार्थ परस्परविरहरूप नहीं है और परस्परविरह के व्यापकरूप भी नहीं हैं, किन्तु उन दोनों पदार्थों में निषेध्यतावच्छेदकधर्म एक ही है, तो एक का निषेध करने पर दूसरे के सत्त्व की सिद्धि नहीं होती है, अपितु एक का निषेध करने पर दूसरे का भी निषेध हो जाता है।।५।।

प्रकृत में प्रपञ्चरूपधर्मी में रहने वाले सत्यत्व और मिथ्यात्व धर्म परस्परविरहरूप नहीं हैं और परस्परविरह के व्यापकरूप भी नहीं हैं। इसका प्रतिपादन प्रथम मिथ्यात्वलक्षण के निरूपण के अवसर पर में किया जा चुका है। और दोनों धर्मों में निषेध्यतावच्छेदक दृश्यत्वरूप एक ही धर्म होने से एक का निषेध होने पर दूसरे के सत्त्व की सिद्धि नहीं होगी, अपितु दूसरे का भी निषेध हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि द्वितीय मिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर स्वयं ग्रन्थकार ने अङ्गीकार किया है कि सत्यत्व और मिथ्यात्व में परस्परविरहरूपत्व है। क्योंकि द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण में ग्रन्थकार ने कहा है–''अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपाविरोधात्''। अतः सत्यत्व

व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात्, तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभाववत् सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समुच्चयाभ्युपगमाच्च॥६॥

एकसाधकेनापरस्य बाध्यत्वं विषमसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यतदभावयोः।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्चनिष्ठकाल्पनिक सत्यत्व की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे तार्किक मत में संयोग और संयोगाभाव को एक अधिकरण में माना जाता है, वैसे ही प्रपञ्चरूप धर्मी में व्यावहारिकसत्यत्व और मिथ्यात्व दोनों को एक साथ माना ही जा सकता है॥६॥

जिन दोनों में से एक के साधक प्रमाण के द्वारा दूसरे का नियमत: बाध होता है। वे दोनों विषमसत्ताक होते हैं, जैसे शुक्तिरूप्य और शुक्तिरूप्याभाव। जिन दोनों में से एक के बाधक प्रमाण के

सत्यानन्दप्रबोधिका

और मिथ्यात्व जब परस्परविरहरूप है तब सत्यत्वेन प्रतीत प्रपञ्च में सिद्धान्ती मिथ्यात्व को अनुमान से सिद्ध नहीं कर सकते हैं। इस शङ्का का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मिथ्यात्वाभाव को सत्यत्वस्वरूप मानने पर भी सत्यत्व और मिथ्यात्व दोनो का एक ही प्रपञ्च में रहने में कोई विरोध नहीं होगा। क्योंकि विषमसत्ताकभाव और अभाव में कोई विरोध नहीं होता है। अत: प्रपञ्च में रहने वाला मिथ्यात्व प्रपञ्च के समसत्तावाला व्यावहारिक होगा और व्यावहारिक मिथ्यात्व वाले प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्यत्व रह नहीं सकता है, क्योंकि समसत्तावाले भावाभाव में विरोध होगा। अत: व्यावहारिकमिथ्यात्ववाले प्रपञ्च में विषमसत्तावाला सत्यत्व माना जायेगा। वह पारमार्थिकसत्यत्व तो हो नहीं सकता, क्योंकि व्यावहारिकमिथ्यात्व के द्वारा प्रपञ्च में व्यवहारकालाबाध्यत्वरूप व्यावहारिकसत्यत्व का बाध हो जाने से प्रपञ्च में व्यवहारकालबा–ध्यत्व आ गया। प्रपञ्च में व्यवहारकालबाध्यत्व को स्वीकार कर लेने पर सर्वदा अबाध्यत्वरूप पारमार्थिकसत्यत्व सम्भव नहीं हो सकता है। अपितु काल्पनिक (प्रातिभासिक) सत्यत्व प्रपञ्च में मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रपञ्च में व्यावहारिकमिथ्यात्व के द्वारा व्यावहारिकसत्यत्व का बाध हो जाने पर भी प्रातिभासिकसत्यत्व का बाध नहीं होगा और व्यावहारिकमिथ्यात्ववाले प्रपञ्च की प्रातिभासिकसत्यत्व के द्वारा प्रतीति की भी उपपत्ति होगी। यदि पूर्वपक्षी आग्रह करता है कि प्रपञ्चगतसत्यत्व और मिथ्यात्व दोनों ही ब्रह्मप्रमैकबाध्य होने के कारण प्रपञ्चगतमिथ्यात्व को जैसे व्यावहारिक माना गया, वैसे ही प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्तावाला सत्यत्व रहेगा। ऐसी दशा में व्यावहारिकसत्तावाले सत्यत्व के अधिकरणीभूतप्रपञ्च में व्यावहारिकसत्तावाला मिथ्यात्व नहीं रहेगा। क्योंकि समसत्ताकभावाभाव में विरोध होता है। ऐसी शङ्का को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि जैसे न्यायमत में समानसत्तावाले संयोग और संयोगाभाव एक ही अधिकरण में रह जाते हैं, वैसे ही हमारे यहाँ भी एक ही प्रपञ्च में समानसत्तावाले मिथ्यात्व और सत्यत्व रह जायेंगे। इसमें यदि पूर्वपक्षी प्रमाण पूछता है तो इसमें ''नेह नानास्ति...'' यह श्रुतिप्रमाण और मिथ्यात्वबोधक अनुमान प्रमाण है और जैसे स्वप्न में समानसत्तावाले गज और गजाभाव एक साथ देखे जाते हैं, वैसे ही व्यवहारकाल में भी व्यावहारिकसत्तावाले सत्यत्व और मिथ्यात्व का समुच्चय मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी॥६॥

शुक्ति में शुक्तिरूप्य और शुक्तिरूप्य का अभाव विषमसत्तावाले हैं। क्योंकि शुक्तिरूप्य की सत्ता प्रातिभासिक है और शुक्तिरूप्य के अभाव की सत्ता व्यावहारिक है। किन्तु प्रपञ्च में सत्यत्व और मिथ्यात्व की समसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) है, इसमें क्या हेतु है? इसका उत्तर दे रहे हैं ''यत्र यत्र एकसाधकेनापरस्य बाध्यत्वम्, तत्र तत्र विषमसत्ताकत्वम्''। जिन दो विरुद्ध धर्मों में से एक धर्म का साधकज्ञान दूसरे धर्म का बाधक

एकबाधकबाध्यत्वञ्च समसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यशुक्तिभिन्नत्वयोः।।७।।

अस्ति च प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरेकब्रह्मज्ञानबाध्यत्वम्। अतः समसत्ताकत्वान्मिथ्यात्वबाधकेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

द्वारा दूसरे का भी नियमतः बाध होता है। वे दोनों समानसत्ताक होते हैं। जैसे शुक्तिरूप्य और शुक्तिभिन्नत्व।।७।।

प्रकृत में प्रपञ्च और प्रपञ्चगत मिथ्यात्व में एक ब्रह्मज्ञानबाध्यत्व है। इसलिए दोनों में

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है, वे दोनों धर्म भिन्नसत्तावाले होते हैं। यदि दोनों को भिन्नसत्तावाला न माना जाय तो दोनो में बाध्यबाधक भाव ही नहीं बनेगा। जैसे शुक्ति में रजत और रजताभाव। शुक्ति में रजताभाव का साधकज्ञान (नेदं रजतम्) के द्वारा रजत का बाध हो जाता है। अतः रजत को प्रातिभासिकसत्तावाला और रजताभाव को व्यावहारिकसत्ता वाला माना जाता है। प्रकृत में प्रपञ्चगतमिथ्यात्व और सत्यत्वधर्म के मध्य में से एक का साधकज्ञान के द्वारा दूसरे में बाध्यत्व नहीं आता है। क्योंकि ''नेह नानास्ति...'' श्रुति के अनुसार प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्धि के द्वारा प्रपञ्चगतपारमार्थिकसत्यत्व का बाध होता है, न कि व्यावहारिक सत्यत्व का। अतः प्रपञ्च में भासित होने वाले मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों समानसत्ता (व्यवहारिकसत्ता) वाले हैं, न कि विषमसत्तावाले। अब प्रपञ्च में सत्यत्व और मिथ्यात्व समानसत्तावाले हैं, इसमें प्रमाण दे रहे हैं कि ''यत्र यत्र ययोरेकबाधकबाध्यत्वं तत्र तत्र तयोः समानसत्ताकत्वम्''। जैसे शुक्तिरूप्य का बाधक शुक्ति का साक्षात्कार के द्वारा रजत और शुक्तिभेद दोनों का बाध हो जाता है। इसलिए रजत और शुक्तिभेद दोनों की समानसत्ता (प्रातिभासिकसत्ता) है।।७।।

प्रपञ्चगतमिथ्यात्व के मिथ्या होने पर भी प्रपञ्च के समानसत्तावाला मिथ्यात्व है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रपञ्च और प्रपञ्चगतमिथ्यात्व दोनों एक ही ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित होते हैं। अतः दोनों समानसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाले हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के द्वारा प्रपञ्चगत सत्यत्व और मिथ्यात्व के सहित प्रपञ्च का बाध हो जाने से अद्वैत की हानि नहीं होगी। इसको स्पष्ट करते हुए मूलकार कह रहे हैं कि प्रपञ्च और प्रपञ्चगत मिथ्यात्व दोनों समानसत्तावाले हैं। अतः प्रपञ्चगत मिथ्यात्व के बाधक ब्रह्मज्ञान के द्वारा प्रपञ्चगतमिथ्यात्व के समान ही प्रपञ्च का भी बाध हो जायेगा। और ''प्रपञ्चस्यापि'' में 'अपि' पद से ''प्रपञ्चगत सत्यत्व का भी बाध हो जायेगा'' यह कहा गया है। इस प्रकार अद्वैत की हानि (द्वैतापत्ति) नहीं होगी। पूर्वपक्षी ने जगत् को सत्य सिद्ध करने के लिए जो अनुमान दिया था—''जगत् सत्यम्, मिथ्यामिथ्यात्वकत्वात्, आत्मवत्'' इस अनुमान में एकबाधकाबाध्यत्व उपाधि है। क्योंकि दृष्टान्त आत्मा में आरोपित मिथ्यात्व के बाधकप्रमाण के द्वारा आत्मा में रहने वाले सत्यत्व का बाध नहीं होता है। अतः साध्य का व्यापक उपाधि सिद्ध हो गयी और पक्ष (जगत्) में मिथ्यात्वबाधकप्रमाण (नेह नाना...) के द्वारा प्रपञ्च, प्रपञ्चगतमिथ्यात्व और सत्यत्व का भी बाध हो जाता है। इस प्रकार उपाधि में साधन की अव्यापकता भी है। अतः सोपाधिक हेतु होने से उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त हो गया। अतः अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, अर्थात् उक्त अनुमान से प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। मूलकार ने ''कृतमधिकेन'' क्यों कहा? इसका उत्तर सिद्धिव्याख्या के अनुसार यह है—पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे ब्रह्म में सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्व दोनों धर्म रहते है, उनमें से सप्रपञ्चत्व व्यावहारिक है और निप्रपञ्चत्व पारमार्थिक है किन्तु ब्रह्मगत सप्रपञ्चत्व से ब्रह्मगत निप्रपञ्चत्व का बाध नहीं होता है, ठीक वैसे ही प्रपञ्चवृत्ति व्यावहारिक मिथ्यात्व से प्रपञ्चवृत्ति सत्यत्व का बाध नहीं होगा। इस शङ्का के समाधानार्थ मूलकार ने कहा—कृतमधिकेन। इस शङ्का का समाधान यह है कि धर्मिक

प्रपञ्चस्यापि बाधान्नाद्वैतक्षति(हानि)रिति कृतमधिकेन।।८।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

समसत्ताकत्व होने से मिथ्यात्व बाधक प्रमाण से ही प्रपञ्च और प्रपञ्चगत सत्यत्व का भी बाध हो जाने से अद्वैत की हानि नहीं होगी।।८।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

से विषमसत्ताक जो धर्म होता है, वह स्वसमानाधिकरण स्वविरोधिधर्म का प्रतिक्षेपक नहीं होता है और धर्मिसमानसत्ताक जो धर्म होता है, वह स्वसमानाधिकरण स्वविरोधिधर्मान्तर का प्रतिक्षेपक होता है। ब्रह्म में सप्रपञ्चत्व नामक जो धर्म है, वह व्यावहारिक होने से ब्रह्मसमानसत्ताक नहीं है। इसलिए स्वविरोधिस्वाधिकरणवृत्ति निष्प्रपञ्चत्व का प्रतिक्षेपक नहीं होगा किन्तु प्रपञ्चवृत्ति जो मिथ्यात्व है, वह धर्मिसमानसत्ताक है। इसलिए स्वविरोधिस्वसमानधिकरण सत्यत्व का प्रतिक्षेपक होगा। इसलिए किसी भी प्रकार की कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए इसपर अधिक लिखने से कोई लाभ नहीं है। ''कृतमधिकेन'' इस विषय का अच्छा निरूपण लघुचन्द्रिकाकार ने भी किया है किन्तु विस्तार के भय से उसका निरूपण यहां पर नहीं किया जा रहा है। विचारकगण उसको लघुचन्द्रिका में देखें।।८।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः —

९: दृश्यत्वहेतुविचारः

ननु मिथ्यात्वे साध्ये हेतूकृतं यद् दृश्यत्वं तदप्युपपादनीयम्। तथा हि किमिदं दृश्यत्वम्? वृत्तिव्याप्यत्वं वा?।।१।। फलव्याप्यत्वं वा? ।।२।। साधारणं वा? ।।३।। कदाचित् कथञ्चिच्चिद्विषयत्वं वा?।।४।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— सिद्धान्ती कृत अनुमान के मिथ्यात्व साध्य में ज्ञापकत्वेन उपन्यस्त जो दृश्यत्व हेतु है, उसका भी उपपादन करना चाहिए, किन्तु सिद्धान्ती इसका उपपादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि क्या वह दृश्यत्व=वृत्ति का आकाराख्य विषयत्व है? या दृश्यत्व= तत्तदाकारान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य का तादात्म्यरूप विषयत्व है? या दृश्यत्व=वृत्तिव्याप्यत्व और फलव्याप्यत्व एतदुभयान्यतरवत्वरूप है?

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए सिद्धान्ती के द्वारा परार्थानुमान का प्रदर्शन किया गया था—''विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्''। प्रदर्शित अनुमान के मिथ्यात्वरूप साध्य का पूर्वाचार्यों के मतानुसार पञ्चप्रकार से निरूपण किया गया। अब उक्त साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिये गये हैं, उनमें से प्रथम हेतु दृश्यत्व के निर्वचन के लिए प्रथमतः न्यायामृतकार के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में हेतु का निर्वचन प्रस्तुत कर रहे हैं— प्रपञ्चरूपधर्मी मे मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए मिथ्यात्वानुमापकत्वेन उपन्यस्त दृश्यत्व हेतु का क्या अर्थ है? उसका प्रतिपादन करना चाहिए। दृश्यत्व शब्द ज्ञानार्थक दृश धातु से कर्मणि 'यत्' प्रत्यय करके सिद्ध जो ''दृश्य'' शब्द उससे भाव में 'त्व' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दृश्यत्व का अर्थ ज्ञानविषयत्व होगा। प्रश्न होता है कि ज्ञान से कौन सा ज्ञान लिया जाय? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को ज्ञान शब्द से कहा गया है। पातञ्जलसूत्र— ''प्रमाणविपर्यय – विकल्पनिद्रास्मृतयः'' में वृत्ति को ज्ञान कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ''ह्रीर्धीर्भीः ....एतत्सर्वं मन एव'' इस श्रुति द्वारा मन के परिणामविशेष को ज्ञान कहा गया है। विवरणाचार्य आदि के मत में संस्कार का आधायक अविद्यावृत्ति को भी ज्ञान कहा गया है। इन सभी अर्थों को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी विकल्प उठा रहा है कि क्या वृत्तिव्याप्यत्व को आप दृश्यत्व शब्द से कह रहे हैं? वृत्तिव्याप्यत्व का अर्थ वृत्ति की विषयता। अर्थात् वृत्तिनिष्ठ जो आकाराख्य विषयत्व है, उसे वृत्तिव्याप्यत्व कहते है।। १।।

अथवा फलव्याप्यत्व को दृश्यत्व शब्द से कह रहे हैं? फलव्याप्यत्व का अर्थ है, वृत्तिप्रतिबिम्बितचेतनविषयत्व अथवा आवरणनाश से उपहितचित् का तादात्म्य।।२।।

अथवा वृत्तिव्याप्यत्व फलव्याप्यत्व दोनों में से किसी एक को दृश्यत्व कह रहे हैं? अर्थात् वृत्ति और वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य दोनों में से किसी एक की विषयता ।।३।।

अथवा कभी किसी प्रकार से चैतन्य की विषयता को दृश्यत्व शब्द से कह रहे है? 'सत्यं ज्ञान. ....' इस श्रुति में चिद्रूपब्रह्म को ही ज्ञान शब्द से कहा गया है। अतः ज्ञानविषयत्व ही दृश्यत्व है। अर्थात् चिद्विषयत्व ही दृश्यत्व है। इसको ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि अतीतादि विषय में इस समय चिद्विषयत्व नहीं है। जब कि अतीतादि के विषय भी मिथ्यात्वानुमान के पक्ष में प्रविष्ट है। वहाँ हेतु न जाने से भागासिद्धिदोष होगा, अतः उसके वारण के लिए कदाचित् चिद्विषयत्व कहा गया। अतीतादि विषय में चिद्विषयत्व था। अतः अतीतादि विषय में कदाचित् चिद्विषयत्व होने से भागासिद्धिदोष का वारण हो गया। साक्षात् (वृत्ति के बिना) चित् का विषय साक्षिभास्य सुखादि है। घट और धर्मादि नहीं है। अतः साक्षात् चिद्विषयत्व घट और धर्मादि में न जाने से पुनः भागासिद्धिदोष होगा। अतः 'कथञ्चित् चिद्विषयत्वम्' कहा। ऐसा कहने से वृत्ति के द्वारा (परम्परया) घटादि में चित् की विषयता है। अतः भागासिद्धिदोष नहीं होगा। ।।४।।

स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविद(न्तरा)पेक्षानियतिर्वा? ।।५।। अस्वप्रकाशत्वं वा? ।।६।।

नाद्यः, आत्मनो वेदान्तजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेन तत्र व्यभिचारात्। अत एव न तृतीयोऽपि।।७।।

नापि द्वितीयः, नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च तदभावेन भागासिद्धिसाधनवैकल्ययोः

कैलासविद्याप्रकाशिका

या दृश्यत्व= किञ्चित्कालावच्छिन्न होकर आवृतानावृत साधारणचित्तादात्म्यरूपविषयत्व है? या दृश्यत्व= स्वविषयक जो स्फुरणरूप तथा शब्द प्रयोगरूप व्यवहार, उस व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा की नियति है? या दृश्यत्व= अस्वप्रकाशत्व है?।।१—।।—।।२—।।—३।।—।।४।।—।।५।।—।।६।।

प्रथम पक्ष ठीक इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि वेदान्तवाक्यों से जनित अखण्डाकार चित्तवृत्ति की विषयता आत्मा में है, किन्तु उसमें साध्य न होने से व्यभिचारदोष है। अत एव=व्यभिचार दोष के कारण ही, तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यतरवत्त्व कहने पर वृत्तिव्याप्यत्व को लेकर प्रथम पक्ष के जैसे ही आत्मा में व्यभिचारदोष होगा।।७।।

फलव्याप्यत्वरूप द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि नित्यातीन्द्रिय पदार्थ (गुरुत्व—धर्मादि) और साक्षिभास्य शुक्तिरूप्यादि पदार्थों में फलव्याप्यत्व न होने के कारण क्रमशः भागासिद्धि और दृष्टान्त

सत्यानन्दप्रबोधिका

अथवा मिथ्या वस्तु घटादि अपने व्यवहार में अपने से अतिरिक्त स्वविषयकज्ञान की अपेक्षा नियमपूर्वक करती है। अतः घटादि में दृश्यत्व है। अतः दृश्य उसी को कहा जाता है जो अपने व्यवहार में अपने से अतिरिक्त ज्ञान की नियमपूर्वक अपेक्षा रखता हो, नियति पद के द्वारा यह बोध कराया गया कि जिसका व्यवहार कभी अपने से न हो, जब भी उसका व्यवहार हो तभी अपने से अतिरिक्त ज्ञान की अपेक्षा किये बिना न होता हो, वह दृश्य है। यहाँ 'अन्तर' पद स्पष्टीकरण के लिए दिया गया है। ।।५।।

अथवा अस्वप्रकाशत्व को दृश्यत्व शब्द से कह रहे हैं? स्वप्रकाशत्व का अर्थ 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यता'। अतः स्वप्रकाशभिन्नत्व—दृश्यत्व, अर्थात् परप्रकाश्यता को दृश्यत्व कह रहे हैं? ।।६।।

उक्त सभी विकल्पों में पूर्वपक्षी दोष देते हुए कह रहा है कि दृश्यत्व का अर्थ (प्रथम विकल्प) वृत्तिव्याप्यत्व करना ठीक नहीं है। क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों से जनित अखण्डाकारचित्तवृत्ति की विषयता आत्मा में है। किन्तु आत्मा में मिथ्यात्वरूप साध्य न होने से साधारणव्यभिचार (साध्याभाववद्वृत्तित्वम्) दोष से युक्त होने के कारण हेतु दुष्ट हो गया। प्रथम पक्ष के दूषित हो जाने के कारण तृतीय पक्ष (वृत्तिव्याप्यत्व—फलव्याप्यत्वसाधारण) भी दूषित हो गया। क्योंकि उभयसाधारण पद से वृत्तिव्याप्यता का भी ग्रहण होता है और वह आत्मा में व्यभिचारी सिद्ध कर दिया गया है। ।।७।।

फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतीतपदार्थ और भाविपदार्थ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति का बहिर्गमन सम्भव न होने से वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त अधिष्ठानचैतन्यरूपफल अथवा वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपफल की विषयता अतीत—भाविपदार्थों में सम्भव नहीं होती है। अतः अतीतादि पदार्थों में फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व नहीं है। अतः भागासिद्धिदोष होगा। इस पर सिद्धान्ती यदि कहें कि अतीत—भावी पदार्थों के सत्ताकाल में फलव्याप्यत्व रहता है। अतः भागासिद्धिदोष नहीं होगा, इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से भागासिद्धिदोष का वारण हो जाने पर भी नित्य—अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि में भागासिद्धिदोष होगा ही, क्योंकि धर्माधर्मादि भी मिथ्यात्वानुमान के पक्षकोटि में प्रविष्ट है और धर्माधर्मादि से कभी इन्द्रियसन्निकर्ष होता नहीं है। अतः धर्माधर्माद्याकार—अपरोक्षवृत्ति नहीं बनती, केवल परोक्षवृत्ति ही बन सकती है। परन्तु परोक्षवृत्ति से केवल

प्रसङ्गात्।।८।।

नापि चतुर्थः, ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुभवेन आत्मनि व्यभिचारात्।।९।।

नापि पञ्चमः, ब्रह्मण्यप्यद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे संविदन्तरापेक्षानियतिदर्शनेन व्यभिचारात्।।१०।।

नापि षष्ठः, स हि अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपः, तथा च शुक्तिरूप्यादेरप्य-

कैलासविद्याप्रकाशिका

में साधनविकलता रूप दोष होगा।।८।।—।।९।।—।।१०।।—।।११।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

असत्त्वापादक अज्ञान का ही नाश सम्भव है, न कि अभानापादक अज्ञान का, अतः परोक्षवृत्ति के द्वारा चैतन्य की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति सम्भव न होने से धर्मादि में फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व नहीं है। अतः भागासिद्धिदोष स्पष्ट है। फलव्याप्यत्वरूपदृश्यत्व मानने पर दूसरा दोष यह है कि केवलसाक्षिभास्य शुक्तिरूप्यादि में फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व के न रहने पर साधनवैकल्य भी होगा। शुक्तिरूप्य में फलव्याप्यत्व इसलिए नहीं मानते हैं कि भ्रमस्थल पर रजत और रजत का ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। यदि रजत ज्ञान से पहले रजत होता और उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष भी होता तब तदाकारमनोवृत्ति बनती और उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप फल की व्याप्यता रजत में जाती। किन्तु रजत और रजत का ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते है। अतः शुक्तिरूप्यादि में फलव्याप्यत्व न मानकर साक्षिभास्यत्व माना जाता है।।८।।

कदाचित् कथञ्चिद् विषयत्वरूप दृश्यत्व (चतुर्थ पक्ष) भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे सर्वदा अतीन्द्रियधर्माधर्मादि पदार्थो में अनुमित्यात्मिका वृत्ति के माध्यम से कथञ्चित् साक्षि— चैतन्य की विषयता होती है, ठीक उसी प्रकार 'ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातम्' इस प्रकार की वृत्ति के माध्यम से ब्रह्म में कथञ्चित् चिद्विषयता है। परन्तु ब्रह्म में मिथ्यात्वरूप साध्य के न होने से इस प्रकार का हेतु भी व्यभिचारी हो जाता है।।९।।

स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूप दृश्यत्व भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे घट को अपने व्यवहार के लिए घट से अतिरिक्त घटज्ञान की नियतरूप से अपेक्षा होती है, उसी प्रकार स्व (ब्रह्म) व्यवहार (अद्वितीयत्वस्वप्रकाशत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म के व्यवहार) में स्व (ब्रह्म) से अतिरिक्त संविद् (अद्वितीयत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान) की अपेक्षा होती है। क्योंकि ब्रह्म का स्वरूपभूतज्ञान से तो केवल ब्रह्म का स्फुरणात्मकव्यवहार हो सकता, अद्वितीयत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का व्यवहार नहीं हो सकता है, उस प्रकार का व्यवहार के लिए तो श्रुत्यादिप्रमाणजन्यज्ञान की अपेक्षा है और श्रुत्यादिप्रमाणजन्यज्ञान ब्रह्म के स्वरूपभूतज्ञान से अतिरिक्त ही है। अतः नियमतः स्वभिन्नज्ञानसापेक्षव्यवहार की विषयता ब्रह्म में भी है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्व नहीं है। अतः इस प्रकार का भी दृश्यत्व हेतु व्यभिचारी है।।१०।।

अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व भी ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्रकाशत्व का अर्थ ''अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्''है। अतः अस्वप्रकाशत्व का अर्थ होगा 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यतात्यन्ताभावः'। यह शुक्ति रजत में नहीं है, क्योंकि 'इदं रजतम्' इस प्रकार का अपरोक्षबोध होता है। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि सिद्धान्ती स्वप्रकाश के लक्षण में अवेद्यत्व का अर्थ फलव्याप्यत्व का अभाव करते हैं। अतः अस्वप्रकाश के लक्षण मे भी अवेद्यत्व का अर्थ फलव्याप्यत्व का अभाव होगा। फलव्याप्यत्वाभावरूप विशेषणभाग शुक्तिरूप्य में है, क्योंकि शुक्तिरूप्य का इन्द्रिय से

परोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन साधनवैकल्यादिति चेन्मैवम्। ।११।।

फलव्याप्यत्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात्। न च वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मणि व्यभिचारः, अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति वाच्यम्, शुद्धं हि ब्रह्म न

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान– पूर्वपक्षी की उक्त शङ्काएं ठीक नहीं हैं, क्योंकि फलव्याप्यत्व रूप पक्ष को छोड़कर शेष सभी पक्षों में विचार सहत्व है। पूर्वपक्षी ने यह जो कथन है कि वृत्तिव्याप्यत्व पक्ष में ब्रह्म में व्यभिचार दोष है। यदि वृत्तिव्याप्यत्व ब्रह्म में नहीं मानेंगे तो ब्रह्मपरत्वेन अङ्गीकृत वेदान्त वाक्यों के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यह शङ्का भी अनुचित है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व नहीं है, क्योंकि जो ''शुद्ध ब्रह्म है वह दृश्य नहीं है'' इस श्रुति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म में दृश्यत्व का निषेध किया गया है। इसलिए उपहित ब्रह्म में ही वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व माना जाता है, और वह

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष होता नहीं, अपितु साक्षि से प्रत्यक्ष होता है और अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्त्व रूप विशेष्य भाग भी शुक्तिरूप्य में है, क्योंकि ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से शुक्तिरूप्य का प्रत्यक्ष होता है। अतः शुक्तिरूप्य में विशेषण और विशेष्य दोनों के रहने से इनका अभाव शुक्तिरूप्य में नहीं रह सकता है। अतः शुक्तिरूप्य दृष्टान्त में साधन की विकलता है, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है ।।११।।

पूर्वपक्ष के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार करने के लिए आचार्यप्रवर सर्वप्रथम अपने अभिमत पक्ष को दिखा रहे हैं कि फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व को छोड़कर शेष पाँचों पक्षों में विचारसहत्व है। (सम्पेषण अर्थ वाली क्षुदिर् धातु से क्षोद शब्द बना है। सम्पेषण का अर्थ होता है सूक्ष्मार्थ प्रतिपादक व्यापार। प्रकृत में विचाररूप अर्थ ग्राह्य है। इस प्रकार क्षोदक्षमत्व का अर्थ विचारसहत्व है)। फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व को हेतु इसलिए नहीं माना गया कि जो सर्वदा परोक्षवृत्ति के विषय नित्यातीन्द्रियपदार्थ धर्माधर्मादि है। प्रतिभासिक शुक्तिरजत और साक्षिभास्य सुखादि एवं अविद्या में फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व के न होने से भागासिद्धि और दृष्टान्त में साधनविकलतादोष होते, क्योंकि धर्माधर्मादि पक्ष कोटि में प्रविष्ट है। वहाँ पर फलव्याप्यत्वरूप हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होता। और शुक्तिरजत दृष्टान्त है, वहाँ पर हेतु के न रहने से साधनवैकल्यदोष होता। वृत्तिव्याप्यत्व पक्ष को मानने पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था–'वृत्तिव्याप्यत्व ब्रह्म में है, वहाँ मिथ्यात्वरूप साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा और यदि वृत्तिव्याप्यत्व ब्रह्म में नहीं मानोगे तो ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। क्योंकि ब्रह्मबोध से अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं माना जाता है। पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वेदान्तवाक्य निरर्थक होते तब तो उनको जपार्थक कह कर वेदान्त वाक्यों में सार्थकत्व का प्रतिपादन किया जा सकता था, किन्तु वेदान्तवाक्यों को सिद्धान्त में निरर्थक तो नहीं माना जाता है। उनका तो उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्लिङ्ग से ब्रह्मबोधरूप फल माना जाता है। अतः वेदान्तवाक्यों से ब्रह्मबोधरूप फल न मानने की दशा में वे वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। उस व्यर्थता से बचने के लिए सिद्धान्ती को यह मानना ही पड़ेगा कि वेदान्त से जन्य ब्रह्माकारवृत्ति का विषय ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप हेतु जा रहा है। जब कि मिथ्यात्वरूप साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष हो रहा है, इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जो कहा वह ठीक नहीं, क्योंकि वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व का जो व्यभिचार ब्रह्म में कहा गया वह क्या शुद्धब्रह्म में कहा? अथवा उपाहितब्रह्म में? भामतीप्रस्थान के अनुसार शुद्धब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्व तो हैं नहीं, क्योंकि ''यत्तदद्रेश्यम्'' (मुण्डकोपनिषद् १–६) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व का निषेध किया गया है (श्रुति में 'अद्रेश्यम्' का अर्थ अदृश्य है। दृश धातु

दृश्यम्, 'यत्तदद्रेश्यम्' इति श्रुतेः, किन्तूपहितमेव, तच्च मिथ्यैव, न हि वृत्तिदशायामनुपहितं तद्भवति।।१२।।

न च—'सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' इति स्ववचनविरोध इति वाच्यम्, तस्याप्युपहितपरत्वात्।।१३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

मिथ्या ही है। वेदान्तजन्य वृत्तिरूप उपाधि के रहते ब्रह्म को अनुपहित (उपाधि रहित अर्थात् शुद्ध) नहीं कहा जा सकता है।।१२।।—।।१३।।—।।१४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से कर्म में ''ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' (पा०सू० ३—१—११०) इस सूत्र से क्यप् प्रत्यय तथा छान्दस 'एम्' का आगम करके 'द्रेश्यम्' बना। तथा नञ् समास करके 'अद्रेश्यम्' बना है)। अतः शुद्धब्रह्म में हेतु के न जाने से व्यभिचार नहीं है। यदि उपहितब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व हेतु जाता है तो वह हमें इष्ट ही है। क्योंकि उपहितब्रह्म मिथ्या है ही। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि वेदान्तजन्यवृत्तिदशा में किसी भी उपाधि के न रहने से उस दशा में ब्रह्म का उपहित होना सम्भव नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि दूसरी उपाधियों के न रहने पर भी स्वयं वृत्तिरूप उपाधि तो है ही। अतः वेदान्तजन्यवृत्तिरूप उपाधि के रहते वेदान्तजन्यवृत्तिकाल में ब्रह्म अनुपहित (शुद्ध) नहीं कहा जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी यदि शङ्का करे कि वेदान्तजन्यवृत्ति की उत्पत्तिदशा में यदि ब्रह्म उपहित है, शुद्ध नहीं है तब उस समय उपहितब्रह्म के मिथ्या होने पर मिथ्या को सत्य अधिष्ठान की अपेक्षा होगी। किन्तु वृत्तिदशा में शुद्धब्रह्मरूप अधिष्ठान सम्भव न होने से शून्यतापत्ति होगी, तो ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि वृत्तिरूप उपाधि परिच्छिन्न है, परिच्छिन्नवस्तु असीमितब्रह्म को पारमार्थिकदृष्टि से उपहित नहीं कर सकती है। अतः व्यावहारिकवृत्तिरूप उपाधि के समय भी पारमार्थिक दृष्टि से शुद्धब्रह्म (अनुपहित) रहता है। क्योंकि यह शुद्धब्रह्म महाभूतों के अध्यास का भी अधिष्ठान है। इस प्रकार जिसको वृत्ति उपहित करती है उस उपहितचैतन्य के मिथ्या होने पर उसके अधिष्ठान के रूप से अनुपहितचैतन्य सम्भव होने पर शून्यतापत्ति दोष नहीं होगा। ।।१२।।

आचार्य श्रीमण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में कहा है कि 'पटः सन् घटः सन्' इत्यादि सभी प्रतीतियों के विषयीभूत—प्रसिद्धब्रह्म में ''नेह नानास्ति...'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा प्रपञ्च का प्रविलय प्रतिपादित होता है। अथवा—

'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्'। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्'।।

इस अभियुक्त कथन में घटादि सकल प्रपञ्च के साथ तादात्म्यापन्न सच्चिदानन्दब्रह्म सबका अधिष्ठानरूप से ''घटः सन्'' ''घटो भाति'' 'घट इष्टः' इस प्रकार से भासित हो रहा है। इस प्रकार से वृत्ति का विषय शुद्धब्रह्म को माना गया है। यदि आप श्रीवाचस्पतिमिश्र के अनुसार शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषय नहीं मानेंगे तो उक्त आचार्यों के कथन से विरोध होगा। पूर्वपक्षी के द्वारा स्ववचन विरोध कहने का तात्पर्य यह भी है कि श्रीवाचस्पतिमिश्र, आचार्य श्रीमण्डनमिश्र का अनुसरण करने वाले है। अतः आचार्य श्रीमण्डनमिश्र के कथन का विरोध करने का अर्थ यह भी होगा कि मानो श्रीवाचस्पतिमिश्र अपने ही कथन का विरोध कर रहे हों। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि आचार्य श्रीमण्डनमिश्र के द्वारा घटादि प्रपञ्चोपहितब्रह्म ही सर्वप्रत्ययवेद्य कहा गया है, न कि अनुपहित (शुद्ध) ब्रह्म। ''घटः सन्'' ''पटः सन्'' इस स्थल पर घटादि आकार की वृत्ति से उपहितब्रह्म में वृत्ति की वेद्यता कही गयी है। अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।।१३।।

पूर्ववादी शङ्का कर रहा है कि शुद्धब्रह्म को वेदान्तजन्यवृत्ति का विषय न मानने पर शुद्धब्रह्म की

न चैवं सति शुद्धसिद्धिर्न स्यादिति वाच्यम्, स्वत एव तस्य (स्व)प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात्।।१४।।

नन्वज्ञाते धर्मिणि कस्यचिद् धर्मस्य विधातुं निषेद्धुं वाऽशक्यत्वेन शुद्धे दृश्यत्वं निषेधता शुद्धस्य ज्ञेयत्वमवश्यं स्वीकरणीयम्। न च स्वप्रकाशत्वेन स्वतः सिद्धे शुद्धे श्रुत्या दृश्यत्वनिषेध इति वाच्यम्, शुद्धं स्वप्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टवृत्तौ शुद्धाप्रकाशे तस्य स्वप्रकाशत्वासिद्धेरिति चेन्न, वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासम्भावात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं न सम्भवति, अतः 'शुद्धं स्वप्रकाशम्' इति वाक्यस्य लक्षणयाऽशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्व–

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– अज्ञातधर्मी में किसी भी धर्म का विधान या निषेध करना सम्भव नहीं होता है किन्तु सिद्धान्ती जब शुद्ध ब्रह्म में दृश्यत्व का निषेध कर रहे हैं, तब सिद्धान्ती को शुद्ध ब्रह्म में ज्ञेयत्व अवश्य मानना पड़ेगा। (तब शुद्ध ब्रह्म में ज्ञेयत्वरूप दृश्यत्व के रह जाने से व्यभिचार दोष अवश्य होगा।) इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्रकाशत्वेन स्वतः सिद्ध शुद्ध ब्रह्म में उक्त श्रुति के द्वारा दृश्यत्व का निषेध किया गया है– ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''शुद्ध ब्रह्म स्वप्रकाश है'' इस शब्द जन्य विशिष्ट वृत्ति में शुद्ध का प्रकाश न होने पर शुद्ध के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धि नहीं हो पायेगी। पूर्वपक्षी के मत में कोई अवेद्य होता ही नहीं है। अतः यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह है कि यदि सिद्धान्ती स्वप्रकाश होने के कारण ब्रह्म की स्वतःसिद्धि मानते हैं तो स्वयं की स्वयं से सिद्धि मानने पर कर्म–कर्तृभाव विरोध होगा। यदि किसी प्रमाण से सिद्ध मानते हैं, तो ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्व मानना पड़ेगा। यदि किसी से सिद्धि नहीं मानते हैं, तो ब्रह्म की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी, ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है। क्योंकि ब्रह्म स्वतः ही सिद्ध है, न कि वृत्ति का विषय होकर सिद्ध है। उस में हेतु दिया–स्वयंप्रकाश होने के कारण, ब्रह्म स्वतःसिद्ध है, इसका यह अर्थ नहीं की ब्रह्म स्वयं से सिद्ध है, किन्तु स्वप्रकाश होने से वृत्ति के विषय हुए बिना सिद्ध है। अवेद्य होने पर भी ब्रह्म की सिद्धि जैसे होती है, उसका निरूपण आगे ब्रह्म के स्वप्रकाशत्वनिरूपण के अवसर पर किया जायेगा।।१४।।

पुनः पूर्वपक्षी दृश्यत्व हेतु में व्यभिचार की शङ्का कर रहा है कि अज्ञातधर्मी में किसी धर्म का विधान या निषेध नहीं होता है, अपितु ज्ञातधर्मी में ही किसी धर्म का विधान या निषेध होता है। अतः शुद्धब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व का निषेध करनेवाले सिद्धान्ती को शुद्धब्रह्म में ज्ञेयत्व, अर्थात् दृश्यत्व अवश्य मानना चाहिये और शुद्धब्रह्म में दृश्यत्व मानने से व्यभिचारदोष होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्ध ब्रह्म में श्रुति के द्वारा वृत्तिविषयत्वरूप दृश्यत्व का निषेध ा हो जायेगा। अर्थात् अज्ञातधर्मी में किसी धर्म का निषेध असम्भव होने पर भी स्वतः सर्वदा भासमान ब्रह्म में श्रुति के द्वारा वृत्तिव्याप्यत्व रूप दृश्यत्व का निषेध करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है, इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''शुद्धं स्वप्रकाशम्'' इस वाक्यजन्यवृत्ति का विषयत्व शुद्धब्रह्म में मानने पर वाक्यजन्यवृत्ति की विषयता ब्रह्म में सिद्ध होने से व्यभिचारदोष होगा और यदि वाक्यजन्यवृत्ति में शुद्ध की भासमानता नहीं मानी जाती है तो, ''शुद्धं स्वप्रकाशम्'' इस वाक्य से शुद्ध में स्वप्रकाशता सिद्ध नहीं होगी और यह वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी पूर्वपक्षी शङ्का नहीं कर सकता है, क्योंकि वृत्तिकाल ('शुद्धं स्वप्रकशम्' इस वाक्य से जन्य वृत्तिकाल) में ब्रह्म वृत्तिरूपधर्म से उपहित होने के कारण शुद्ध (अनुपहित) होता ही नहीं है। अतः शब्दजन्यवृत्ति में शुद्ध का प्रकाश न होना हमें इष्ट ही है। यदि कहो

व्यापकमित्यर्थः।।१५।।

तथा चाशुद्धत्वव्यावृत्या शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति, यथा भेदनिषेधेनाभिन्नत्वम्।।१६।।

न च शुद्धपदेनाभिधया लक्षणया वा शुद्धाप्रकाशे तत्प्रयोगवैयर्थ्यमिति वाच्यम्; पर्यवसितार्थमादाय सार्थकत्वोपपत्तेः। एवञ्च 'शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या' इत्यस्याप्यशुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमित्येतत्परत्वेन शुद्धे दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यतिरेकः पर्यवस्यति।।१७।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान– पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध निष्ठवृत्ति विषयता को स्वीकार करने पर वृत्तिकाल में वृत्तिरूप धर्म के विद्यमान रहने से शुद्धत्व ही सम्भव नहीं होगा। अतः शुद्ध में वृत्तिविषयत्व मानना सम्भव नहीं है। अतः ''शुद्धं स्वप्रकाशम्'' इस वाक्य का लक्षणा से अर्थ किया जाता है कि–अशुद्धत्व अस्वप्रकाशत्व का व्यापक है। ऐसा अर्थ करने पर शुद्ध में व्यापक=अशुद्धत्व की निवृत्ति होने से व्याप्य=अस्वप्रकाशत्व की भी निवृत्ति हो जाने से शुद्ध में स्वप्रकाशत्व पर्यवसित हो जाता है। जैसे भेद का निषेध करने पर अभेद पर्यवसित हो जाता है।।१५।।–।।१६।।

शङ्का– शुद्ध पद से शक्तिवृत्ति से अथवा लक्षणावृत्ति से शुद्ध ब्रह्म का प्रकाश न होने पर शुद्ध पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान– नहीं, क्योंकि पर्यवसितार्थ को लेकर सार्थकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। एवम् =वृत्ति की विषयता शुद्ध में न होने पर भी शुद्ध की अर्थसिद्धि सम्भव होने पर, ''शुद्ध न दृश्य है, न मिथ्या है'', इस वाक्य का भी ''अशुद्धत्व–दृश्यत्व और मिथ्यात्व इन दोनों का व्यापक है।'' ऐसा अर्थ लक्षणा के द्वारा लेकर शुद्ध में अशुद्धत्वरूप व्यापक के अभाव होने पर दृश्यत्व और मिथ्यात्वरूप व्याप्य का भी अभाव पर्यवसित हो जायेगा।।१७।।–।।१८।।–।।१९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि उक्त वाक्य से शुद्ध का प्रकाश न होने से उक्त वाक्य व्यर्थ हो जायेगा, तो ऐसी शङ्का नहीं कर सकते हो, क्योंकि वाक्यजन्य– वृत्तिकाल में ब्रह्म वृत्ति से उपहित होने के कारण ब्रह्म को शुद्ध माना नहीं जा सकता। अतः ''शुद्धं स्वप्रकाशम्'' इस वाक्य का लक्षणावृत्ति से अशुद्धत्व अस्वप्रकाशत्व का व्यापक है, अर्थात् 'यत्र यत्र अस्वप्रकाशत्वं तत्र तत्र अशुद्धत्वम्' ऐसा अर्थ स्वीकार करना चाहिए।।१५।।

उक्त अर्थ स्वीकार करने पर ब्रह्म में व्यापक अशुद्धत्व के न रहने से व्याप्य अस्वप्रकाशत्व भी नहीं रहेगा। अतः ब्रह्म स्वप्रकाश है, यह अर्थ स्वतः सिद्ध हो जायेगा। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं कि जिस प्रकार से भेद की निवृत्ति हो जाने पर अभेद की सिद्धि स्वतः हो जाती है, जैसे ''यत्र यत्र तद्घटत्वाभावः तत्र तत्र तद्घटभेदः''। तद्घट में व्यापक तद्घट का भेद न रहने से व्याप्य तद्घटत्व का अत्यन्ताभाव भी नहीं रहता है, अर्थात् तद्घट में तद्घटत्व का स्वतः निश्चय हो जाता है।।१६।।

शुद्धब्रह्म वृत्तिदशा में वृत्ति से उपहित होने के कारण उस दशा में ब्रह्म में शुद्धत्व तो सम्भव है नहीं, अर्थात् वृत्तिदशा में ब्रह्म शुद्ध हो नहीं सकता। ऐसी दशा में शुद्ध पद से शक्ति या लक्षणावृत्ति से शुद्धब्रह्म का प्रकाशन नहीं हो पायेगा। तब ''शुद्धं स्वप्रकाशम्'' इस वाक्य में शुद्ध पद का प्रयोग करना व्यर्थ है। तो ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है। क्योंकि पर्यवसित अर्थ (अर्थात् सिद्धि = परम्परया अर्थसिद्धि) के द्वारा शुद्ध पद का प्रयोग सार्थक हो जायेगा। जिसे सिद्धान्ती ने ''अशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकम्'' कहकर अभी पूर्व में दिखाया है। इसी प्रकार ''शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या'' इस वाक्य से भी यहीं अर्थ निकलता है कि अशुद्धत्वधर्म दृश्यत्व और मिथ्यात्व का व्यापक होता है। यहाँ व्याप्ति का आकार यह है– 'यत्र यत्र दृश्यत्वं मिथ्यात्वञ्च तत्र तत्र अशुद्धत्वम्'। शुद्धब्रह्म में व्यापक अशुद्धत्व के न रहने से व्याप्य

एतेन स्फुरणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्त्रम्, लाघवात्। अतः 'स्वतःस्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैव' इति शून्यवादिमतमपास्तम् ।।१८।।

स्वतःस्फुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात्, स्फुरणविषयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः।।१९।।

ननु विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भाने श्रुत्या विशिष्टस्य दृश्यत्वेनैव विशेष्यस्यापि दृश्यत्वाद् व्यभिचारः, न च 'विष्णवे शिपिविष्टाय' इत्यादौ विशिष्टस्य देवतात्ववद् विशिष्टस्य विषयत्वम्, अग्नीषोमयोर्मिलितयोर्देवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्, अतो न विशेष्ये विषयत्वमिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— केवल शुद्ध ब्रह्म वृत्ति का विषय न होने पर भी विशिष्टविषयक ज्ञान में विशेष्य (शुद्ध) का भान होने के कारण ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु.उ.१–१–९) इत्यादि गुण विशिष्ट ब्रह्मबोधक श्रुतियों के द्वारा विशिष्ट के ज्ञेय होने से विशेष्य भी ज्ञेय हो जायेगा। अतः विशेष्य (शुद्ध ब्रह्म) में व्यभिचारदोष होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''रश्मियों से आविष्ट विष्णु के लिए'' इस स्थल पर शुद्ध विष्णु को देवता नहीं माना गया है अपितु रश्मिविशिष्टविष्णु को देवता माना गया है। अथवा ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इस स्थल पर ''अग्नीसोमौ देवता अस्य'' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से अग्नीसोम को देवता माना गया। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी विशेषण–विशेष्य मिलित में वृत्तिविषयत्व है केवल विशेष्य (शुद्ध ब्रह्म) में वृत्ति विषयत्व नहीं है। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है जिस प्रकार से केवल विशेष्य में वृत्तिविषयत्व नहीं है, उसी प्रकार से

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृश्यत्व और मिथ्यात्व भी नहीं है। यही ''शुद्धं न मिथ्या'' इस वाक्य का पर्यवसित अर्थ है। अतः पर्यवसित अर्थ को लेकर शुद्ध पद में सार्थकत्व की उपपत्ति हो जाती है।।१७।।

सिद्धान्ती का कथन है कि ''यत्र यत्र परतःस्फुरणं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'' इस पर शून्यवादी का यह कथन है कि स्फुरणमात्र को ही मिथ्यात्व का प्रयोजक माना जाय, अर्थात् परतः शब्द को हटाकर ऐसी व्याप्ति मानी जाय कि 'यत्र यत्र स्फुरणं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'। ऐसा मानने में लाघव है, क्योंकि ''परतःस्फुरण'' शब्द के आकार की अपेक्षा से ''स्फुरण'' शब्द के आकार में लघुत्व है। अतः स्फुरणमात्र को मिथ्यात्व में हेतु मानना चाहिए और ऐसा मानने से ब्रह्म का भी स्फुरण होता है। अतः ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध हो जाने से शून्यवाद की आपत्ति होगी, ऐसी शून्यवादी की शङ्का उचित नहीं है।।१८।।

क्योंकि स्फुरण से पूर्वपक्षी को क्या विवक्षित है? स्वतःस्फुरण? अथवा परतःस्फुरण? स्वतःस्फुरण शुक्तिरजतादि प्रातिभासिकपदार्थों में नहीं है। अतः मिथ्यात्व का हेतु स्वतःस्फुरण मानने पर दृष्टान्त में साधनवैकल्यदोष होगा और परतःस्फुरण मानने पर दृष्टान्त में हेतु जोयगा, किन्तु ब्रह्म में नहीं जायेगा। अतः ब्रह्म मिथ्या सिद्ध न होने से शून्यवादी के मत में प्रवेश की आपत्ति सिद्धान्ती के ऊपर नहीं दी जा सकती है ।।१९।।

पूर्वपक्षी का कहना है कि विशिष्टज्ञान में जैसे विशेषण का भान होता है उसी प्रकार विशेष्य का भी भान होता है। सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादि–गुणविशिष्टब्रह्मबोधकश्रुति के द्वारा सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणविशिष्टब्रह्म में दृश्यत्व (वृत्तिविषयत्व) मानने पर विशेष्य ब्रह्म में भी दृश्यत्व मानना होगा। ब्रह्म में दृश्यत्व के होने पर पुनः व्यभिचारदोष आयेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो विशिष्ट में रहते हैं। विशिष्ट के घटक प्रत्येक भाग में, अर्थात् विशेषण या विशेष्य भाग में नहीं रहते हैं। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं ''विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोति'' (तै० सं० ३–४–११४)

वाच्यम्, तद्वदेव विशेषणस्याप्यविषयत्वे भागासिद्धिप्रसङ्गादिति चेन्न, विशेष्यतापन्नस्य विषयत्वेऽपि क्षत्यभावात्, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। अत एवोपहितविषयत्वेऽप्युपधेयविषयत्वमक्षत–मेवेत्यपास्तम्, उपहितात्मना तस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात्, ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणे भागासिद्ध्यभावाच्च।।२०।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

केवल विशेषण में भी वृत्तिविषयतव नहीं रहेगा। ऐसा होने पर विशेषणरूप पक्ष के एक भाग में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व हेतु के न रहने के कारण भागासिद्धि दोष का प्रसङ्ग आयेगा।

समाधान – नहीं, क्योंकि विशेष्यतापन्न ब्रह्म में वृत्तिविषयत्व के रहने पर भी हमारे पक्ष में व्यभिचारादिदोष नहीं होगा, क्योंकि विशेष्यतापन्न ब्रह्म को मिथ्या ही माना जाता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो आक्षेप है कि–उपाधि युक्त (विशिष्ट) ब्रह्म यदि वृत्ति का विषय है, तब उपधेय (शुद्ध ब्रह्म) भी वृत्ति का विषय होगा–ऐसा कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि उपधेयत्व धर्म से युक्त होने के कारण उपधेय ब्रह्म भी मिथ्या ही माना जाता है। विशिष्टविषयक ज्ञान में केवल विशेषण की विषयता न होने पर भी विशिष्टविषयक ज्ञान से भिन्न केवल विशेषणविषयक ज्ञान की विषयता विशेषण में होने से भागासिद्धि दोष नहीं होगा।।२०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इत्यादि वाक्य में देवतात्वधर्म जैसे विशेष्य विष्णुमात्र में नहीं रहता है और विशेषण शिपिविष्टत्वमात्र में भी नहीं रहता है, अपितु शिपिविष्टत्वविशिष्टविष्णु में रहता है। शिपिविष्टाय = मोर का पंख लगा हुआ है जिसके शिर पर उसके लिए अथवा शिपयोऽत्र रस्मय:, तैराविष्टो भवति (निरूक्त ५/८) इसमें दूसरा दृष्टान्त दे रहे हैं कि ''अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्'' (तै० सं० ३–५–१०) इस वाक्य में अग्नि और सोम दोनों मिलकर देवता माने जाते हैं। प्रत्येक को अलग–अलग देवता नहीं माना जाता है। ठीक उसी प्रकार वृत्तिविषयत्व रूप दृश्यत्व भी केवल विशिष्टब्रह्म में रहेगा। अनुपहित (शुद्ध) ब्रह्म (विशेष्य) में नहीं रहेगा, अत: व्यभिचारदोष नहीं होगा। ऐसा सिद्धान्ती का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त गुण विशिष्टब्रह्म के विशेषण भाग सत्यसङ्कल्पत्वादिगुण में भी दृश्यत्व नहीं रहेगा। सत्यसङ्कल्पत्वादिगुण प्रपञ्च (पक्ष) के अन्तर्गत होने के कारण मिथ्यात्वानुमान के पक्षकोटि में प्रविष्ट है। अत: पक्ष कोटि में प्रविष्ट सत्यसङ्कल्पत्वादिगुण में दृश्यत्व हेतु के न जाने से भागासिद्धिदोष होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी की शङ्का का उत्थापन होने पर आचार्यप्रवर उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यदि वृत्ति का विषय विशेष्य (विशेष्यतापन्न) ब्रह्म को भी माना जाय तब भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि विशेष्य ब्रह्म का अर्थ है, विशेष्यत्वधर्म से विशिष्टब्रह्म, उसको मिथ्या ही माना जाता है। अत: उसमें मिथ्यात्वरूप साध्य का अभाव न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा और शुद्धब्रह्म वृत्ति का विषय माना नहीं जाता, अत: शुद्धब्रह्म में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार यह भी आक्षेप खण्डित हो जाता है कि ''वेदान्तजन्य–अखण्डाकारवृत्ति का विषय वृत्ति से उपहितब्रह्म को मानने पर उपधेय ब्रह्म को भी, वृत्ति का विषय होना अवश्यम्भावी है। अत: ब्रह्म में पुन: व्यभिचारदोष होगा''। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि उपधेयब्रह्म भी उपधेयत्व धर्म से युक्त होने के कारण मिथ्या ही है। अत: उसको वृत्ति का विषय मानने पर भी व्यभिचारदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणों में भागासिद्धिदोष दिया था। उसका निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विशेषणभूत सत्यसङ्कल्पत्वादि में भागासिद्धिदोष इसलिए प्रसक्त नहीं होता है कि विशेषणादि से अतिरिक्त विशिष्ट को मानने पर भी विशिष्टविषयकवृत्ति का विषय केवल विशेषण के न होने पर भी विशिष्टाकारवृत्ति से भिन्न केवल सत्यसङ्कल्पाकारवृत्ति की विषयता उसमें रहती है। ।।२०।।

शुद्धब्रह्म को वेदान्तवाक्यजन्यवृत्ति का विषय मानने पर मिथ्यात्व अभाव वाले

ननु वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वे तदानीमुपाध्यन्तराभावेन तस्या एवोपधायकत्वात् स्वविषयत्वापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, शाब्दबोधे शब्दानुपस्थिताभाननियमेन वृत्तेः शब्दानुपस्थिताया भानानुपपत्तेः, यथाकथञ्चिदुपपत्तौ वा न ततोऽज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिः स्यात्; अज्ञानतत्कार्याविषय–कज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वाद्, अन्यथा 'अहमज्ञः, अयं घटः' इत्यादिज्ञानानामप्युपहित–

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– वेदान्तजन्य अखण्डाकार वृत्ति का विषय उपहितब्रह्म को मानने पर उक्त वृत्तिकाल में उक्त वृत्ति से अतिरिक्त उपाधि का अभाव होने से उसी वृत्ति को ही उपाधि मानने पर उसमें स्वविषयकत्व की आपत्ति होगी। इसमें सिद्धान्ती इष्टापत्ति कह नहीं सकते, क्योंकि शाब्दबोध में शब्द से अनुपस्थित पदार्थों का भान नहीं होता है। अतः शब्द द्वारा अनुपस्थित वृत्ति का भान नहीं हो सकता है। (यहां पर पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य यह है कि– वाक्य घटकीभूतपदजन्यपदार्थोपस्थितिविषयीभूत पदार्थों के परस्परसंसर्गावगाहिज्ञान को शाब्दबोध कहते हैं। ऐसे शाब्दबोध में वाक्यघटकीभूत पदजन्य पदार्थोपस्थिति के विषयीभूत पदार्थों का ही भान होता है। तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य वृत्त्युपस्थापक पद से अघटित है। इसलिए शब्दानुपस्थित वृत्ति का महावाक्यजन्य शाब्दबोध में भान नहीं हो सकता है।) यदि शाब्दवृत्ति में शाब्दवृत्ति से भिन्न शब्द से अनुपस्थित का भान नहीं होता है–ऐसा नियम मानकर यथाकथञ्चित् शाब्दवृत्ति में शाब्दवृत्ति के भान की उपपत्ति करने पर उक्तवृत्ति से अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त पदार्थों की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त पदार्थों को विषय

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुद्धब्रह्म में व्यभिचारदोष आयेगा, इस भय से यदि सिद्धान्ती वेदान्तजन्य–अखण्डाकारवृत्ति का विषय वृत्ति–उपहितब्रह्म को मानते हैं, तो वेदान्तवाक्यजन्य–अखण्डाकारवृत्तिकाल में अन्य उपाधियों के न रहने से अखण्डाकारवृत्ति को ही ब्रह्म को उपहित बनाने वाला उपाधि मानना पड़ेगा। इस अखण्डाकारवृत्ति से उपहितब्रह्म को ही वेदान्तवाक्यजन्य–अखण्डाकारवृत्ति का विषय भी मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर वृत्ति का विषय उसी वृत्ति को मानने की आपत्ति होगी, परन्तु वृत्ति का विषय वृत्ति को मान नहीं सकते हो। क्योंकि शाब्दबोध, अर्थात् वाक्यजन्यवाक्यार्थ– बोध में वाक्य घटक पदों से उपस्थापित पदार्थों का ही भान होता है, न कि वाक्य के घटक पदों के द्वारा अनुपस्थापित पदार्थों का। 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से जन्य वाक्यार्थबोध जहाँ होता है, वहाँ बोध में वृत्ति का भान नहीं हो सकता है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में किसी भी पद का अर्थ वृत्ति नहीं है। अतः अपदार्थरूपा वृत्ति का भान शाब्दबोध में हो नहीं सकता है। यदि सिद्धान्ती कहे कि अन्विताभिधानवाद में जैसे पद से अनुपस्थित पदार्थों का पारस्परिकसम्बन्ध ा, जो वाक्यान्तर्गत किसी पद का अर्थ नहीं है उसका का भान होता है, उसी प्रकार अपदार्थरूपा वृत्ति का भी शाब्दबोध में भान हो जायेगा। ऐसा मानने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि वेदान्तजन्य–अखण्डाकारचित्तवृत्ति से अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त ('तत्कार्य' का अर्थ अज्ञानप्रयुक्त करना चाहिए, ऐसा करने से अनादि पदार्थों का भी ग्रहण हो जायेगा, अन्यथा तत्कार्य पद का अज्ञान का कार्य ऐसा अर्थ करने पर अज्ञान से जन्य पदार्थों का ही ग्रहण हो पायेगा, शेष अनादि पदार्थों का ग्रहण नहीं हो पायेगा) पदार्थों की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। क्योंकि यह नियम है कि जहाँ–जहाँ अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त पदार्थों को विषय न करनेवाला ज्ञान होता है, वहाँ उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त विषयों कि निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञान ओर अज्ञानप्रयुक्त विषय नहीं भासित होते है उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त विषयों की निवृत्ति हो जाती है। यदि इस प्रकार के नियम को नहीं

विषयकत्वेनाज्ञाननिवर्तकत्वप्रसङ्ग इति चेन्न; वृत्तेः शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवोपधा– यकत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः– 'शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधि– निवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। एवञ्च नानुपहितस्य विषयता, वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते; न तु भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेन' इति। अयमभिप्रायः– यथा अज्ञानोपहितस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

न करने वाली वृत्ति (ज्ञान) ही अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक होती है। यदि भिन्न विषयक वृत्ति को भी अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक माना जाय तब तो ''मैं अज्ञ हूं'' ''यह घट है'' इत्यादि वाक्यों से जन्य वृत्ति भी अज्ञानादिविशिष्टात्मविषयकत्वेन अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक हो जायेगी।

समाधान— पूर्वपक्षीकृत आक्षेप युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्य से जन्य अखण्डाकारचित्तवृत्ति के विषय कोटि में प्रविष्ट न होकर के ही वृत्ति ब्रह्म को उपहित करती है। जैसा कि कल्पतरुकार ने कहा है—शुद्ध ब्रह्म का जो वृत्ति उपहित स्वरूप है, उस वृत्ति उपहित ब्रह्म को विषय करने वाली वृत्ति

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानोगे तो जिस ज्ञान में अज्ञान भासित हो रहा है, जैसे 'अहमज्ञः'' और जिस ज्ञान में अज्ञानप्रयुक्त विषय भासित हो रहा है, जैसे– 'अयं घटः' ऐसे अज्ञानादि से उपहित को विषय करने वाले ज्ञानों में भी मूलाज्ञान–निवर्तकत्व की आपत्ति होगी। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तवाक्यजन्य–अखण्डाकारचित्तवृत्ति के विषय कोटि में प्रविष्ट न होकर ही वृत्ति ब्रह्म को उपहित करती है। (इस प्रसङ्ग को समझने के लिए उपाधि के लक्षण पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। उपाधि का लक्षण ''कार्यानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम्'' यहाँ कार्य पद का अर्थ है– अवच्छेद्यान्वययोग्य, जैसे कर्णशष्कुल्यवछिन्न आकाश श्रोत्रेन्द्रिय है। यहाँ अवच्छेदक (उपाधि) कर्णशष्कुली, अवच्छिन्न आकाश और श्रोत्रेन्द्रियत्व कार्य (विधेय) है। यहाँ पर कर्णशष्कुली का कार्य (श्रोत्रेन्द्रियत्व) से अन्वय (सम्बन्ध) न होने से कर्णशष्कुली को उपाधि माना गया है। प्रकृत में वृत्ति उपाधि है। अतः वृत्ति में उपाधि के लक्षण का समन्वय इस प्रकार से होगा– ब्रह्माकारवृत्ति से उपहित ब्रह्म शाब्दबो– धात्मिकावृत्ति का विषय है। यहाँ वृत्ति को उपाधि इस लिए माना गया कि ब्रह्माकारवृत्ति वर्तमान में है। वह वृत्ति घटादि आकार की वृत्तियों की व्यावर्तक है और वृत्तिविषयत्वरूप कार्य में वृत्ति प्रविष्ट न होकर, अर्थात् अन्वित न होकर माने वृत्ति का विषय न बनकर ब्रह्म को उपहित करती है। इस प्रकार वृत्ति में उपाधि का लक्षण समन्वय हो जाने से वृत्ति को उपाधि माना गया है। पहले पूर्वपक्षी के द्वारा भामतीप्रस्थान के अनुसार शङ्का का उत्थापन किया गया था। अतः सिद्धान्ती भामतीप्रस्थानानुसार ही समाधान दे रहे हैं कि कल्पतरुकार ने कहा है–''शुद्धब्रह्म का जो उपहित स्वरूप उस उपहितब्रह्म को विषय करनेवाली वेदान्तजन्य– अखण्डाकारचित्तवृत्ति, अपने और अपने से इतर अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त दृश्य की निवृत्ति के लिए उत्पन्न होती है। वृत्ति स्वयं भी एक उपाधिविशेष है। इस प्रकार अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय शुद्ध (अनुपहित) ब्रह्म नहीं होता है। वहाँ पर जो वृत्ति का सम्बन्ध भासित होता है वह वृत्तिरूप उपाधि की विद्यमानता के कारण होता है, न कि अखण्डाकरवृत्ति का विषय वृत्ति होने के कारण वृत्ति का संसर्ग भासित होता है। अर्थात् वृत्तिरूप उपाधि के वर्तमान होने के कारण वृत्ति का संसर्ग भासित होता है। न कि अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय वृत्ति है इसलिए वृत्ति का संसर्ग भासित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे अज्ञानोपहितचैतन्य को साक्षी कहा जाता है, किन्तु अज्ञानरूप

साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति, जड़त्वात्, किन्तु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्तिर्विषयकोटौ प्रविशति, स्वस्या: स्वविषयत्वानुपपत्ते:, किन्तु स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पादयतीति न काप्यनुपपत्ति:।।२१।।

एतेन ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वं व्याख्यातम्; अज्ञानमपि हि स्वोपधानदशायामेव ब्रह्म

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्व और स्व से इतर उपाधियों की निवृत्ति का हेतु होकर उदय होती है। वृत्ति निवर्त्य जो अज्ञान है, तत्प्रयुक्तत्व अविशेष रूप से वृत्ति में भी है। एवं च = वृत्ति से उपहित हो ब्रह्मस्वरूप, उससे अन्य को विषय न करने वाली वृत्ति में सर्वदृश्योच्छेदकत्व सम्भव होने पर, वृत्ति का विषय वृत्ति उपहित ब्रह्म से भिन्न शुद्ध ब्रह्म या वृत्ति आदि दृश्य नहीं होता है। ''वृत्ति से उपहित ब्रह्म वृत्ति का विषय है।'' इस व्यवहार में वृत्ति का विषयत्व रूप सम्बन्ध विद्यमानत्वेन उपयुक्त होता है, विषयकोटि प्रवेश प्रयुक्त भास्यत्वेन नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे अज्ञान उपहित चैतन्य के साक्षित्व होने पर भी उपाधिभूत अज्ञान जड़ होने से साक्षी के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होता है किन्तु साक्ष्य कोटि में प्रविष्ट होता है। इसी प्रकार वृत्ति उपहित चैतन्य के विषयत्व होने पर भी उपाधिभूत वृत्ति स्व के स्वविषयत्व की अनुपपत्ति होने से विषयकोटि में प्रविष्ट नहीं होती है किन्तु वृत्ति स्वयम् विषय न होकर भी चेतननिष्ठ विषयता को सम्पादन करती है। इसलिए प्रकृत में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।।२१।।

पूर्वोक्त प्रकार से उपाधि (वृत्ति और अज्ञान) की विषयता का व्याख्यान करने से ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान इन दोनों की समान विषयता भी व्याख्यात हो गयी, क्योंकि अज्ञान भी अपनी उपाधिता के समय उपहित ब्रह्म को विषय करता है और अज्ञान रूप उपाधि जिस काल में नहीं रहती है, उस काल में अज्ञान का ही अभाव रहता है। अत: अज्ञान की विषयता शुद्ध ब्रह्म में नहीं रहती है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि ब्रह्मज्ञान और अज्ञान ये दोनों ही उपाधि को विषय न करते हुए उपहित को

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपाधि साक्षी के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान जड़ है और साक्षी चेतन है और उपाधि के लक्षण में ''कार्यानन्वयित्वे सति...'' कहा गया है। इसलिए अज्ञान को साक्षिभास्य माना जाता है, अर्थात् साक्षी का विषय अज्ञान माना जाता है। इसी प्रकार वृत्ति से उपहित ब्रह्म अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय होने पर भी वृत्ति विषयकोटि में प्रविष्ट नहीं होती है। क्योंकि वृत्ति स्वयं, अपना विषय नहीं होती है, अपितु वेदान्तजन्य—अखण्डाकारचित्तवृत्ति स्वयं विषय न होती हुई ब्रह्म में विषयता का सम्पादन करती है। अत: किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। अर्थात् अखण्डाकारचित्तवृत्ति न तो अज्ञान को विषय करती है, न वृत्ति आदि अज्ञान के किसी कार्य को। अत: अखण्डाकारचित्तवृत्ति से अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त दृश्य की निवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है और वृत्ति में स्वविषयत्व की आपत्ति भी नहीं आयेगी।।२१।।

उपहितब्रह्म को विषय करने वाली अखण्डाकारचित्तवृत्ति के द्वारा शुद्धब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अज्ञान के समानविषयकज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है। प्रकृत में ब्रह्मज्ञान उपहितब्रह्म को विषय करता है, जबकि अज्ञान शुद्धब्रह्म को। अत: ज्ञान और अज्ञान समानविषयक नहीं होने से उनमें निवर्तकनिवर्त्यभाव नहीं बनेगा। ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रदर्शित कल्पतरुवाक्य के अनुसार वेदान्तजन्य अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान का विषय उपहितब्रह्म के होने पर भी उपाधिरूपवृत्ति वेदान्तजन्य अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान का विषय न होने

विषयीकरोति; स्वानुपधानदशायां स्वस्यैवाभावात्। तथा च ज्ञानाज्ञानयोरुभयोरप्युपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वात् समानविषयत्वमस्त्येव। एतेनोपाधिविषयज्ञानानामज्ञानानिवर्तकत्वं व्याख्यातम्; अज्ञानस्योपाध्यविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वेनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावात्। वस्तुतस्तु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्; अन्यथा शशविषाणं

कैलासविद्याप्रकाशिका

विषय करते हैं। अत: इन दोनों में समान विषयता है। पूर्वोक्त प्रकार की व्यवस्था से घटादि रूप उपाधि विषयक ज्ञानों के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अज्ञान के घटादि रूप उपाधि विषयक न होने से ज्ञान के साथ अज्ञान का समान विषयत्व नहीं है। समान विषयत्व होने पर ही अज्ञान और ज्ञान में निवर्त्य निवर्तक भाव होता है। वस्तुत: शब्द से अजन्य जो वृत्ति तादृशवृत्ति का विषयत्व ही दृश्यत्व है। अन्यथा = शब्दाजन्यत्वरूप वृत्ति का विशेषण न देने पर '' शशविषाण तुच्छ है''

सत्यानन्दप्रबोधिका

से ज्ञान (अखण्डाकारचित्तवृत्ति) और अज्ञान दोनों के विषय समान हो गये। क्योंकि अज्ञान अपनी उपाधिता के समय, अर्थात् संसारदशा में उपहितब्रह्म को विषय करता है और अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान भी अपनी उपाधिता के समय उपहितब्रह्म को ही विषय करता है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान की समान विषयता (उपहितब्रह्मविषयता) सिद्ध हो गयी। ज्ञान और अज्ञान की समानविषयता को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अज्ञान का विषय अज्ञान–उपहितब्रह्म होता है, अर्थात् ब्रह्म में अज्ञानरूप उपाधि के सम्बन्धकाल में अज्ञान–उपहितब्रह्म को ही विषय करता है, न कि स्वयं को विषय करता है। स्वानुपधानदशा में, अर्थात् जिस समय ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो गया है। उस दशा (कैवल्यदशा) में अज्ञान का अभाव हो जाने से अज्ञान ब्रह्म को विषय नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उपहित से अन्य उपाधि को विषय न करते हुए उपहित को ही विषय करते हैं। अर्थात् ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उपाधि (अखण्डाकारचित्तवृत्ति और अज्ञान) को विषय न करते हुए (अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान भी अपने (वृत्तिरूप उपाधि) को विषय न करते हुए और अज्ञान भी अपने (अज्ञानरूप उपाधि को विषय न करते हुए) उपहित को विषय करते हैं। अत: ज्ञान और अज्ञान में समानविषयता होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी। अज्ञान के समानविषयकज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह व्यवस्थित हो जाने से यह स्पष्ट हो गया कि उपाधि–विषयकज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि उपाधिविषयकज्ञान का विषय उपाधि है और अज्ञान का विषय उपाधि नहीं है। किन्तु उपहितब्रह्म है। अत: उपाधिविषयकज्ञान और अज्ञान में समानविषयत्व नहीं है। आचार्यप्रवर ''वस्तुतस्तु'' ग्रन्थ इसलिए उठा हे हैं कि भामतीप्रस्थान के अनुसार वेदान्तजन्य– अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय उपहितब्रह्म माना गया है और उपहितब्रह्म मिथ्या है। अत: उपहितब्रह्मविषयकज्ञान भी मिथ्या होगा। क्योंकि प्रमा के लक्षण में कहा गया– ''अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्''। अर्थात् जिस ज्ञान का विषय बाधित होता है वह ज्ञान भ्रमज्ञान होता है। प्रकृत में वृत्तिज्ञान का विषय उपहितब्रह्म मिथ्या होने के कारण बाधित है। इस उपहितब्रह्मविषयकवृत्तिज्ञान के भ्रमज्ञान सिद्ध हो जाने से उस वृत्तिज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति भी नहीं होगी। क्योंकि भ्रमज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है। ''तरति शोकमात्मवित्'' इत्यादि श्रुतियों में अज्ञान का निवर्तक ब्रह्मविषयकज्ञान को कहा गया है। अत: वेदान्तजन्य–अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान को प्रमाज्ञान मानना पड़ेगा और प्रमाज्ञान मानने पर अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान का विषय अबाधितशुद्धब्रह्म को मानना पड़ेगा, न कि उपहितब्रह्म को, क्योंकि

तुच्छमित्यादिशब्दजन्यवृत्तिविषये तुच्छे व्यभिचारस्य दुरुद्धरत्वात्। एवञ्च सति शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न तत्र व्यभिचारः; तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वान–भ्युपगमात्।।२२।।

यद्वा सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्, प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद्धर्मः, तेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

इत्याकारक शब्दजन्यवृत्ति के विषयीभूत तुच्छ में व्यभिचार दोष का निवारण सम्भव नहीं होगा। एवं च सति = शब्दाजन्यत्वरूप वृत्ति का विशेषण देने पर, शुद्ध ब्रह्म में वेदान्तजन्य वृत्ति की विषयता होने पर भी शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि तुच्छ और शुद्ध ब्रह्म में शब्द से अजन्य वृत्ति की विषयता नहीं मानी जाती है। ।२२।।

अथवा जिस वृत्ति में विषयता सम्बन्ध से किसी विशेषण का भान होता है। उसे सप्रकारक वृत्ति कहते है। ऐसी सप्रकारक जो वृत्ति है, तादृशवृत्ति विषयत्व ही दृश्यत्व है। लक्षण घटक प्रकार शब्द से सोपाख्यत्वरूप धर्म ग्राह्य है। उक्त प्रकार से दृश्यत्व का अर्थ करने पर निष्प्रकारकज्ञान विषयीभूत शुद्धब्रह्म में और निरूपाख्यत्वधर्मप्रकारक ज्ञान विषयीभूत अलीक में व्यभिचारदोष नहीं होगा और अभावत्व के भी सोपाख्यत्व होने से अभावत्वप्रकारकज्ञान के विषयीभूत अभाव में भागासिद्धिदोष भी

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि वेदान्तवाक्य अबाधितशुद्धब्रह्मविषयकज्ञान के जनक नहीं है, तब तो ब्रह्मज्ञान अप्रमात्मक होने के कारण अज्ञान का निवर्तक नहीं होगा। इस प्रकार वृत्तिविषयत्वमात्र को दृश्यत्व मानने पर शुद्धब्रह्म में अवश्य व्यभिचार होगा। भामतीप्रस्थान के अनुसार यदि वृत्ति का विषय उपहितब्रह्म को मान कर शुद्धब्रह्म में व्यभिचार का वारण कर भी लिया जाय तो उस अप्रमात्मिकावृत्ति से अज्ञान का नाश नहीं हो पायेगा। इस से अतिरिक्त और भी दोष होगा कि तुच्छ में ''शशविषाणं तुच्छम्'' इत्यादि शब्दजन्यवृत्तिविषयता होने से व्यभिचार का वारण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की अरुचियों के कारण 'वस्तुतस्तु' से कह रहे हैं कि शब्द से अजन्यवृत्तिविषयत्व को दृश्यत्व कहेंगे, अन्यथा वृत्तिविषयत्व को दृश्यत्व मानने पर 'शशविषाणं तुच्छम्' इत्यादि शब्द से जन्य वृत्ति का विषय शशविषाण में हेतु के रहने से व्यभिचार होगा। क्योंकि शशविषाण में साध्य मिथ्यात्व नहीं है। इस व्यभिचार का वारण किसी प्रकार से नहीं किया जा सकता है। शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व को दृश्यत्व मानने पर वेदान्तवाक्य शुद्धब्रह्मज्ञान के जनक होने के कारण शुद्धब्रह्म में शब्दजन्यवृत्ति का विषयत्व होने पर भी शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व शुद्धब्रह्म में नहीं है। अतः शुद्धब्रह्म में व्यभिचार नहीं होगा और ''शशविषाणं तुच्छम्'' इस प्रकार शब्दजन्यवृत्ति का विषय तुच्छ शशविषाण के होने पर भी शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व तुच्छ शशविषाण में नहीं है। अतः तुच्छ में भी व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा कि तुच्छ और शुद्धब्रह्म में शब्दाजन्यवृत्ति का विषयत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है।।२२।।

''तुच्छं वृत्तिविषयं व्यवह्रियमाणत्वात् घटादिवत्'' ''तुच्छं न क्षणिकमकारणत्वात् (अर्थक्रियाकारित्वाभावात्) ब्रह्मवत्'' इत्यादि अनुमान की विषयता तुच्छ में है। अतः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वरूप दृश्यत्व तुच्छ में रहने से व्यभिचारदोष होगा। इस अरुचि के कारण ''यद्वा'' कल्प उठा रहे हैं। सप्रकारकवृत्ति की विषयता को दृश्यत्व कहेंगे। यहाँ 'प्रकार' पद से सोपाख्यधर्म का ग्रहण किया जाता है। सोपाख्या का अर्थ होता है कि 'अस्ति' इस प्रकार के ज्ञान का विषय। ऐसा दृश्यत्व का लक्षण करने से वेदान्तजन्य–अखण्डाकारचित्तवृत्तिविषयीभूत शुद्धब्रह्म में व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि अखण्डाकारचित्तवृत्ति

निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे निरुपाख्यधर्मप्रकारज्ञानविषयीभूते तुच्छे च न व्यभिचारः। अभावत्वस्यापि सोपाख्यत्वादभावत्वप्रकारकज्ञानविषयीभूतेऽभावे न भागासिद्धिः ।।२३।।
उपाख्या चास्तीतिधीविषयत्वादीत्यन्यत्।।२४।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

नहीं होगा।।२३।।

अस्तिधी विषयत्व का नाम उपाख्या है। अस्तिधीविषयत्वविशिष्ट को सोपाख्य कहते हैं। यह धर्म ''द्रव्यमस्ति'' ''अभावोऽस्ति'' ''अभावत्वमस्ति'' इत्यादि प्रतीतियों के बल पर शुद्धब्रह्म को छोड़कर भावाभाव साधारण में माना जाता है तथा ''तुच्छमस्ति'' ऐसी प्रतीति के न होने से तुच्छ में नहीं माना जाता है।।२४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

निष्प्रकारक होती है। 'शशविषाणं तुच्छम्' इत्यादि शब्दजन्यवृत्ति भी तुच्छत्वप्रकारिका होती है। अतः शब्दजन्यवृत्ति के विषयीभूत तुच्छ में व्यभिचार होता, किन्तु सप्रकारक का अर्थ अस्तिधीविषयत्व कर देने से तुच्छ में व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि 'इह शशविषाणमस्ति'' इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'अस्ति' इस प्रकार से ज्ञान की विषयता के सहित जो धर्म है, उसे सोपाख्यधर्म कहते हैं। तुच्छ में तुच्छत्वप्रकार तो है, किन्तु 'अस्ति' इस प्रकार से ज्ञान की विषयता नहीं है। अतः तुच्छ में सोपाख्यधर्म नहीं रहा। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा कि निष्प्रकारकज्ञान का विषयीभूत ब्रह्म में और तुच्छत्वरूप निरूपाख्यधर्मप्रकारकज्ञान का विषयीभूत तुच्छ में उक्त दृश्यत्वरूप हेतु के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। यहाँ पूर्वपक्षी यदि शङ्का करता है कि उक्त मिथ्यात्वानुमान के पक्ष में घटाभावादि भी प्रविष्ट है। उस घटाभावादि में सोपाख्यत्व धर्म नहीं है। अतः सप्रकारकवृत्तिविषयत्वरूप दृश्यत्व घटाभावादि में जाने से भागासिद्धिदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अभाव में अभावत्वप्रकार भी होता है और 'अस्ति' रूप धी की विषयता भी होती है। क्योंकि 'घटाभावोऽस्ति' ऐसी बुद्धि होती है। अतः सोपाख्यधर्मप्रकारकवृत्तिज्ञान की विषयता अभाव में होने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह था कि बौद्धादि के मत में अभाव को तुच्छ माना जाता है। अतः अभाव में अभावत्वप्रकार के रहने पर भी 'अस्तिधी– विषयत्व' नहीं है। अतः सोपाख्यध– र्मप्रकारकवृत्ति की विषयतारूप दृश्यत्व हेतु अभाव में न जाने से भागासिद्धिदोष होगा। सिद्धान्ती ने स्पष्ट किया कि जैसे 'घटोऽस्ति' ऐसी प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, ऐसा ही 'भूतले घटाभावोऽस्ति' और अभाव में 'अभावत्वमस्ति' ऐसी प्रतीति भी सर्वानुभवसिद्ध हैं। अतः अभावत्व भी सोपाख्य–धर्म होने के कारण अभाव में अभावत्व– प्रकारकवृत्तिविषयत्व के चले जाने से घटाभावादि में उक्त दृश्त्व हेतु के जाने से भागासिद्धि दोष नहीं होगा।।२३।।

प्रकार का अर्थ ''सोपाख्यः कश्चिद्धर्मः'' किया गया। अब उपाख्य का क्या अर्थ है? इसका अर्थ स्वयं सिद्धान्ती कर रहे हैं— अस्तिज्ञान की विषयता जिसमें हो वह उपाख्य होगा। 'अस्तीतिधीविषयत्वादीति' में आदि पद का ग्रहण क्यों किया? इसका समाधान यह है कि माध्वमत में 'अस्तिधी' की विषयता शुक्तिरजतादि तुच्छ में मानते है। अतः सप्रकारक वृत्तिविषयत्वरूप दृश्यत्व तुच्छ में होने से व्यभिचार होगा। अतः उस व्यभिचार का वारण के लिए 'आदि' पद ग्रहण किया गया। आदि पद से सत्तादात्म्यासत्तादात्म्यत्वान्यत्वरत्व का ग्रहण करना चाहिए। सत्तादात्म्यवत्त्वेन अविद्या और अविद्याप्रयुक्त दृश्य का ग्रहण हो जायेगा। और असत्तादात्म्यवत्त्वेन असद् वृत्त्यभावप्रतियोगित्वादि का ग्रहण हो जायेगा। तुच्छ किसी के साथ तादात्म्यापन्न नहीं होता है। अतः उसकी व्यावृत्ति हो जायेगी किन्तु

एतेन वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोः साधारणं व्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; ब्रह्मणि तुच्छे च व्यभिचारपरिहारोपायस्योक्तत्वात् ॥२५॥

कैलासविद्याप्रकाशिका

पूर्वोक्त प्रकार से वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व के निर्दुष्ट सिद्ध हो जाने से वृत्तिव्याप्य और फलव्याप्य इन दोनों में अनुगत व्यवहार के प्रयोजक फलविषयत्व और वृत्तिविषयत्व का अन्यतररूप दृश्यत्व को भी हेतु माना जा सकता है। शुद्धब्रह्म और तुच्छ में व्यभिचारदोष के परिहार का उपाय पीछे कहा जा चुका है।॥२५॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

तुच्छनिष्ठसर्वदेशकालनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादि अधिकरणस्वरूप होने के कारण तुच्छ रूप ही है। तुच्छ में अतुच्छ धर्म रह नहीं सकता है, क्योंकि सद् और असद् में संसर्ग होता नहीं है। अतः उक्त प्रतियोगित्वादि को ग्रहण करने के लिए असत्तादात्म्यवत्त्व कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ऐसा अर्थ करना चाहिए कि आदि पद से सत्तादात्म्य—सत्तादात्म्यत्वान्यतरवत्त्व का ग्रहण किया गया है। अविद्या, आकाशादि सम्पूर्णप्रपञ्च सत्स्वरूपब्रह्म में तादात्म्येन अध्यस्त होने के कारण अविद्या, आकाशादि निखिलप्रपञ्च में सत्तादात्म्य है। किन्तु सत्तादात्म्य भी मिथ्या है। अतः मिथ्यात्वानुमान के पक्षकोटि में सत्तादात्म्य भी प्रविष्ट है। इस लिए सत्तादात्म्य में भी सत्तादात्म्य मानने पर आत्माश्रय अथवा अनवस्था होगी और सत्तादात्म्य में सत्तादात्म्य न मानने पर भागासिद्धिदोष होगा। इस आपत्ति से बचने के लिए सत्तादात्म्यत्व ग्रहण किया। अब सत्तादात्म्य में सत्तादात्म्यत्व के रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। सत्तादात्म्यत्व भी मिथ्या है। अतः तादात्म्य सम्बन्ध से ब्रह्म में रहेगा ही। अतः सत्तादात्म्यत्व में भी सत्तादात्म्य के रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। तुच्छ में सत्तादात्म्यसत्तादात्म्यत्वान्यतरत्व नहीं है, क्योंकि तुच्छ का सद्रूपब्रह्म से तादात्म्याध्यास होता ही नही है। अतः तुच्छ में व्यभिचार नहीं होगा। 'धीविषयत्वादीत्यन्यदिति' यहाँ 'अन्यत्' पद का ग्रहण इस लिए किया गया है कि द्वितीयमिथ्यात्व लक्षण के निरूपण के अवसर पर पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया उपाख्या का जो अर्थ है और ख्यातिबाधान्यथानुपपत्ति के प्रकरण में जो उपाख्या का अर्थ पूर्वपक्षी के द्वारा किया जायेगा, उन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ 'उपाख्या' का है, यह अन्यत् पद से कहा गया है। अर्थात् अन्यत् पद के द्वारा पूर्वपक्षी के अर्थों में अरुचि दिखलायी गयी है। इस प्रकार से वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व निर्दुष्ट सिद्ध हो गया ॥२४॥

वृत्तिव्याप्यत्व का परिष्कृत स्वरूप—शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व अथवा सप्रकारकवृत्तिविषयत्व स्वीकार कर शुद्ध ब्रह्म और तुच्छ में व्यभिचार का वारण हो जाने से तृतीय विकल्प का भी समर्थन किया जा सकता है। तृतीय विकल्प क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वृत्तिव्याप्यत्व और फलव्याप्यत्व दोनों में अनुगतव्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूप दृश्यत्व है, क्योंकि वृत्ति और फल (वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य) दोनों ही व्यवहार के प्रयोजक (साधक) है। अतः वृत्तिव्याप्यपदार्थ और फलव्याप्यपदार्थ दोनों में ही व्यवहारप्रयोजकविषयत्व है। इस प्रकार का भी दृश्यत्व हेतु मिथ्यात्व को सिद्ध कर सकता है। शुद्धब्रह्म और तुच्छ में वृत्तिव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व को लेकर जो व्यभिचार आ रहा था उसके लिए सिद्धान्तपक्ष से शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व अथवा सप्रकारकवृत्तिविषयत्व इस प्रकार विशेषण देकर परिहार पहले किया जा चुका है। दृश्यत्व का फलव्याप्यत्वरूप अर्थ को सिद्धान्ती ने प्रारम्भ में ही नहीं माना है। इस प्रकार से तृतीय पक्ष का भी समर्थन किया जा सकता है।॥२५॥

दृश्यत्व का अर्थ चिद्विषयत्व भी किया जा सकता है। अतीत और अनागत पदार्थो में परोक्षवृत्ति के द्वारा (परम्परया) चिद्विषयत्व रहने पर भी साक्षाच्चिद्विषयत्व नहीं है। और इन्द्रियसन्निकृष्ट पटादि पदार्थों में प्रत्यक्षवृत्ति के द्वारा (परम्परया) चिद्विषयत्व होने पर भी साक्षाच्चिद्विषयत्व नहीं है। अतः भागासिद्धिदोष

यद्वा दृश्यत्वं चिद्विषयत्वम्, तच्च यथा कथञ्चिच्चित्सम्बन्धित्वरूपं हेतुः, तच्च न चैतन्ये; अभेदे भेदनान्तरीयकस्य सम्बन्धस्याभावाद्, अतो न व्यभिचारः, तुच्छे च व्यभिचारः परिहरणीयः।।२६।।

यद्वा स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपं दृश्यत्वं हेतुः; संविच्छब्देन च विषयाभिव्यक्तं वा वृत्त्यभिव्यक्तं वा (शुद्धं वा) चैतन्यमात्रमभिप्रेतम्, तथा च घटादौ नित्यातीन्द्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोऽपि व्यवहारः स्वातिरिक्तसंवित्सापेक्ष इति नासिद्धिः। व्यवहारश्च स्फुरणाभिवदनादिसाधारणः।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अथवा चिद्विषयत्व रूप दृश्यत्व हेतु है और वह चिद्विषयत्व रूप हेतु साक्षात् अथवा परम्परा रूप से चित्सम्बन्धितत्व रूप है। वह चित्सम्बन्धित्व शुद्धचैतन्य में नहीं है, क्योंकि अत्यन्ताभेद में भेदव्याप्य सम्बन्ध सम्भव नहीं होता है। इसलिए शुद्धचित् में व्यभिचारदोष नहीं होगा। तुच्छ में पूर्वोक्त प्रकार से हेतु अंश में विशेषण दे कर के व्यभिचारदोष का परिहार कर लेना चाहिए।।२६।।

अथवा स्वविषयक व्यवहार में स्वातिरिक्तसंवित् की अपेक्षा की नियति रूप दृश्यत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है। लक्षण घटक संवित् शब्द से विषयावच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्य अथवा विषयाकार वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य अथवा चैतन्यमात्र विवक्षित है। संवित् का ऐसा अर्थ करने से

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगा। इस लिए चिद्विषयत्व का अर्थ कर रहे हैं— 'यथाकथञ्चिच्चित्सम्बन्धित्वम्', अर्थात् साक्षात् अथवा परम्परया जो चित् का सम्बन्धी होगा वह दृश्य होगा। ऐसा अर्थ करने से अतीतादि पदार्थ में भी परोक्षवृत्ति के द्वारा चित्सम्बन्धित्व है। नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि में अनुमिति आदि परोक्षवृत्ति के द्वारा चिद्विषयत्व है। अर्थात् उक्त पदार्थों में परम्परया चिद्विषयत्व है। साक्षिभास्य पदार्थों में साक्षात् चिद्विषयत्व है। अतः अतीत, अनागत, नित्यातीन्द्रीय एवं साक्षिभास्य पदार्थों में साक्षात् अथवा परम्परया चित्सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व के रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। क्योंकि सिद्धान्त में ज्ञाततया—अज्ञाततया सभी वस्तु साक्षिचैतन्य का विषय होने से भागासिद्धि, साधनवैकल्यादि दोष की सम्भावना नहीं की जा सकती है। उक्त चित्सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व हेतु ब्रह्म में नहीं है। क्योंकि ''यत्र यत्र चित्सम्बन्धः तत्र तत्र चिद्भेदः'' ऐसी व्याप्ति है। ब्रह्म में व्यापक चिद्भेद के न रहने से व्याप्य चित्सम्बन्ध भी नहीं रहेगा। अतः उक्त चित्सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व शुद्धब्रह्म में न होने से व्यभिचार नहीं होगा। तुच्छपदार्थों में भी शब्दजन्यपरोक्षवृत्ति के माध्यम से उक्त चित्सम्बन्धित्वरूप हेतु के रहने से व्यभिचार होगा। उसका वारण करने के लिए पूर्व में बतलाये गये सत्त्वेन प्रतीयमानत्व, अस्तीतिधीविषयत्व, सत्तादात्म्यसत्तादात्म्यत्वान्यतरवत्व आदि में से किसी के द्वारा व्यभिचार का वारण कर देना चाहिए ।।२६।।

दृश्यत्व के अर्थ का निर्वचन करते समय जो छः विकल्प उठाए गए थे उनमें से पञ्चम विकल्प के द्वारा भी असिद्धि, व्यभिचारादि दोषों का वारण किया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अपने व्यवहार के लिए अपने से अतिरिक्त संवित् की अपेक्षा जो नियत रूप से करता है, उसे दृश्य कहते हैं। दृश्यत्व के लक्षणगत संवित् शब्द से विषयाभिव्यक्तचैतन्य (वह चैतन्य जिसका विषयावच्छेदेन आवरण का नाश हो गया) अथवा विषयाकारवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तचैतन्य (वृत्ति में प्रतिबिम्बितचैतन्य) अथवा किसी विशेषण से अविशेषित चैतन्यमात्र विवक्षित है। ऐसा संवित् का अर्थ करने से घटादि पदार्थों के अपरोक्ष व्यवहार में विषयाभिव्यक्तचैतन्य, नित्यातीन्द्रिय—धर्माधर्मादि के परोक्षव्यवहार में वृत्यभिव्यक्तचैतन्य एवं साक्षिभास्य अज्ञान, सुख और शुक्तिरूप्यादि के अपरोक्षव्यवहार के लिए सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्य की नियमतः अपेक्षा होती ही है। अतः समस्त परोक्ष—अपरोक्ष व्यवहार में व्यवहर्तव्य वस्तु से भिन्न संविद् की नियमतः अपेक्षा होने के कारण घटादि में दृश्यत्व हेतु की असिद्धि नहीं होगी। अध्यासलक्षण के पदकृत्य के अवसर पर विवरणाचार्य ने चार प्रकार के व्यवहार का उल्लेख

तत्र ब्रह्मणः स्फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्धे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा नास्तीति नियतिपदेन व्यभिचारवारणम्। स्वगोचरयावद्व्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षायां पर्यवसानात्।।२७।।

अत एवास्वप्रकाशत्वरूपदृश्यत्वमपि हेतुः, स्वप्रकाशत्वं हि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तान–पेक्षत्वम्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेः। तथा चान्यानधीनापरोक्षत्वं पर्यवस्यति;

कैलासविद्याप्रकाशिका

घटादि में, नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि में, साक्षिभास्य अज्ञान सुखादि में, सर्व व्यवहार स्वातिरिक्तसंवित् सापेक्षत्व है। इसलिए हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा। लक्षण घटक व्यवहार शब्द से स्फुरण–अभिवदनादि साधारण व्यवहार विवक्षित है। उसमें ब्रह्म का स्वरूपभूत जो साक्षिरूप नित्य स्फुरण है, वह स्फुरणरूप व्यवहार अनादि होने से उसको स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा नहीं होती है। अतः ब्रह्म में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि लक्षण घटक नियति पद का पर्यवसित अर्थ है कि स्वविषयक जितने व्यवहार होते है, उन सभी व्यवहारों में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा होने पर ही किसी को दृश्य कहा जा सकता है। अर्थात् ब्रह्मगोचर शब्द प्रयोगादिरूप व्यवहार के स्वातिरिक्त संवित् सापेक्षकत्व होने पर भी स्वगोचर स्फुरणरूपव्यवहारत्वावच्छिन्नत्वाच्छेदेन स्वातिरिक्त संवित् सापेक्षकत्व का अभाव होता है, क्योंकि सुषुप्ति–आदि में नित्यसिद्ध स्फुरणरूप व्यवहार अन्य संवित् के बिना भी देखा जाता है। अतः ब्रह्म में व्यभिचार दोष नहीं होगा।।२७।।

अत एव = ब्रह्मस्फुरणात्मक व्यवहार में ब्रह्म से अतिरिक्त चिदधीनत्व न होने से और घटादि व्यवहारों में अतिरिक्त चिदधीनत्व होने से, अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है, क्योंकि जो स्वप्रकाशत्व है वह स्वापरोक्षत्व में स्वातिरिक्तानपेक्षत्वरूप है। इसको श्रुति स्वयम् कह

सत्यानन्दप्रबोधिका

किया है– ''व्यवहारः अभिज्ञाभिवदनमुपादानमर्थक्रियेति चतुर्विधः''। विवरणचार्य के अनुसार ही अद्वैतसिद्धिकार व्यवहार का अर्थ कर रहे हैं– स्फुरण (ज्ञानात्मकव्यवहार) अभिवदन (शब्दात्मकव्यवहार) आदि से उपादान (हानोपादानोपेक्षात्मकव्यवहार) अर्थक्रिया (फलप्राप्तिरूप व्यापार)। ये सभी व्यवहार विषयों से अतिरिक्त संवित् की अपेक्षा करते हैं। लक्षण में जो नियत पद आया है, उससे यह अर्थ निकलता है कि जिस पदार्थ को स्वविषयक सम्पूर्ण व्यवहार में अपने से भिन्न संवित् की अपेक्षा नियमपूर्वक होती है। अपना कोई भी व्यवहार संवित् की अपेक्षा किये बिना न होता हो उसे दृश्य कहते हैं, ऐसा पर्यवसित अर्थ लेने से 'प्रपञ्चभिन्नं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्मव्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्म के स्फुरणरूप व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा नहीं होती है। क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। अतः ब्रह्म के किसी किसी व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्म के सकलव्यवहार में स्वातिरिक्त संविद की अपेक्षा न होने से ब्रह्म में व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा।।२७।।

दृश्यत्व के निरूपण के अवसर पर जो षष्ठ विकल्प था, उसका समर्थन करते हुए सिद्धन्ती कह रहे हैं कि पञ्चम विकल्प के परिष्कार के समय यह सिद्ध हो जाने से कि ब्रह्म के स्फुरणरूप व्यवहार के लिए ब्रह्म से अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है और घटादि स्फुरण के लिए घट से अन्य घटज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, इस लिए अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व हेतु भी निर्दुष्ट है। क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। स्वयं प्रकाश वह होता है जो अपनी अपरोक्षता में 'स्व' से अतिरिक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है, ''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'' (बृ० ३/४/१)। उक्त स्वप्रकाशत्व का फलित अर्थ यह हुआ कि जो अन्य के अधीन न होकर अपरोक्ष हो ऐसे स्वप्रकाशत्व से निरूपित भेदवाले

तन्निरूपितभेदवत्त्वं हेतुः। तच्च नित्यपरोक्षे अन्याधीनापरोक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धिः। न च ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मप्रतियोगिककाल्पनिकभेदवत्त्वात्तत्र व्यभिचारः, अकल्पितभेदस्य क्वाप्यसिद्धत्वादिति वाच्यम्; तद्भेदस्यान्यानधीनापरोक्षत्वरूपधर्मानिरूपितत्वात्, जीवत्वेश्वरत्वादिरूपस्यान्यधर्मस्य तन्निरूपकत्वात्॥२८॥

एवं चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः। न च फलव्याप्यत्वा–

कैलासविद्याप्रकाशिका

रही है–"जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षरूप है।" अतः स्वप्रकाशत्व का फलितार्थ हुआ– अन्यानधीनापरोक्षत्व। अतः अन्यानधीनापरोक्षत्वावच्छिन्नब्रह्मनिरूपितभेदवत्त्व ही दृश्यत्वरूप हेतु है। उक्त दृश्यत्वरूप हेतु के नित्य परोक्ष धर्मादि में और अन्याधीनापरोक्षघटादि में होने से स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा।

शङ्का– स्वप्रकाश ब्रह्म का भेद काल्पनिक विवक्षित है? अथवा पारमार्थिक? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर शुद्ध ब्रह्म में भी "जीवो ब्रह्म न" "ईशो ब्रह्म न" इत्यादि रूप से ब्रह्म प्रतियोगिक काल्पनिक भेदवत्त्व होने से शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचारदोष होगा। द्वितीय पक्ष (पारमार्थिक भेद) को सिद्धान्ती स्वीकार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पारमार्थिक भेद अद्वैत मत में माना नहीं जाता है।

समाधान– प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि उक्त ब्रह्म प्रतियोगिकभेद अन्यानधीनापरोक्षत्वरूपधर्म से निरूपित नहीं है। अपितु जीवत्व ईश्वरत्वादिरूप अन्य धर्म ही शुद्धचिद्रूपब्रह्मभेद का अनुयोगितावच्छेदक है॥२८॥

इसी प्रकार चित्सुखाचार्य के द्वारा प्रतिपादित जो स्वप्रकाश का लक्षण है–"अवेद्यत्वे सति

सत्यानन्दप्रबोधिका

को दृश्य कहेंगे। इस प्रकार का दृश्यत्वरूप हेतु सर्वदा परोक्ष धर्माधर्म आदि में है। क्योंकि धर्मादि कभी भी अपरोक्ष होते ही नहीं है और अन्य (इन्द्रिय) के अधीन अपरोक्षवाले घटादि में भी है। अतः भागासिद्धिदोष भी नहीं होगा। पूर्वपक्षी की यहाँ शङ्का है कि स्वप्रकाश ब्रह्म का भेद जो आप ले रहे हैं वह भेद काल्पनिक (मिथ्या) है? अथवा पारमार्थिक? यदि काल्पनिक भेद लेंगे तो ब्रह्म में जीवरूपब्रह्म अथवा ईश्वररूपब्रह्म का भेद काल्पनिक है ही। अतः अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व ब्रह्म में रह जाने से व्यभिचारदोष होगा और परमार्थिकभेद कहीं पर भी आप मान नहीं सकते। क्योंकि पारमार्थिकभेद मानते ही अद्वैतसिद्धान्त की हानि हो जायेगी। ऐसी पूर्वपक्षी शङ्का नहीं कर सकता है। क्योंकि ब्रह्म का भेद काल्पनिक लेने पर भी कोई दोष नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ब्रह्म में ब्रह्मप्रतियोगिककाल्पनिकभेद है वह "ब्रह्म न स्वप्रकाशम्" अथवा "ब्रह्म न अन्यानधीनापरोक्षम्" इस प्रकार से सम्भव नहीं है। क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश और अन्यानधीनापरोक्ष है ही, किन्तु "जीवो न ब्रह्म' "ईश्वरो न ब्रह्म" इस प्रकार का ही काल्पनिक भेद लिया जा सकता है। ऐसा भेद अन्यानधीनापरोक्षत्वरूप स्वप्रकाशत्वधर्म से निरूपित नहीं है, अर्थात् जीव जो कि वास्तव में ब्रह्म है उस के भेद की जो ब्रह्म में द्वैतवादियों के द्वारा कल्पना की जाती है सो ब्रह्म में जीवत्व नहीं है, इस प्रकार से कल्पितजीवत्व से वह भेद प्रयुक्त है, न कि ब्रह्म में अन्यानधीनापरोक्षत्व नहीं है। इस प्रकार से अन्यानधीनापरोक्षत्वरूपधर्म से वह भेद प्रयुक्त है। क्योंकि ब्रह्म में अन्यानधीनापरोक्षत्व है ही ॥२८॥

षष्ठ विकल्प के निरूपण के अवसर पर सिद्धान्ती ने पहले स्वप्रकाश का लक्षण किया और उससे भिन्न को अस्वप्रकाशरूप दृश्य कहा। इसी प्रकार चित्सुखाचार्य के द्वारा निरूपित स्वप्रकाशत्व के अत्यन्ताभाव को भी दृश्यत्व कहा जा सकता है, अर्थात् पहले स्वप्रकाश के भेद को दृश्यत्व कहा

भावविशिष्टयदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्, तस्य ब्रह्मणीवाविद्यान्तःकरणादौ शुक्तिरूप्यादौ च सत्त्वेनासिद्धिसाधनवैकल्य इति वाच्यम्; अज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्यापरोक्ष–व्यवहारयोग्यत्वपदेन विवक्षितत्वात्, तस्य चाविद्यादौ शुक्तिरूप्यादौ चासत्त्वाद् नासिद्धिसाधनवैकल्ये। यथा च घटादेः फलव्याप्यत्वम्, तथाग्रे वक्ष्यामः। अविद्यानिवृत्तेः

कैलासविद्याप्रकाशिका

अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्''। इसके अत्यन्ताभाव को भी दृश्यत्वरूप हेतु माना जा सकता है। अर्थात् ''अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावत्वं दृश्यत्वम्''।

शङ्का– चित्सुखाचार्य ने अवेद्यत्व घटक वेद्यत्व का अर्थ किया है–फलव्याप्यत्व। अतः स्वप्रकाश के लक्षण का आकार होगा–फलव्याप्यत्वाभावविशिष्ट अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व। यह लक्षण जैसे ब्रह्म में रहता है, ठीक उसी प्रकार अविद्या–अन्तःकरणादि और शुक्तिरूप्यादि में भी है। अतः पक्षकोटि में प्रविष्ट अविद्यादि में हेतु के न रहने से भागासिद्धि दोष होगा और दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में न रहने से साधनवैकल्प दोष होगा।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि लक्षण घटक अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व शब्द से अज्ञान निवर्तक जो वृत्ति, तादृशवृत्तिविषयत्वयोग्यत्व विवक्षित है। अविद्यादि और शुक्तिरूप्यादि साक्षिभास्य होते हैं न कि प्रमाणजन्यवृत्ति के विषय। अतः भागासिद्धि और साधनवैकल्पदोष नहीं होगा। सिद्धान्त में जिस प्रकार से घटादि में फलव्याप्यत्व माना जाता है, उस प्रकार का निरूपण आगे किया जायेगा। न्यायमकरन्दकार आचार्य आनन्दबोध के मत में अविद्या निवृत्ति को पञ्चमप्रकारक मानते हैं। उस अविद्या निवृत्ति में सदसद्भिन्नत्व रूप साध्य के न रहने पर भी उक्त दृश्यत्व रूप हेतु रहता है। अतः व्यभिचारदोष होगा। इसलिए व्यभिचारदोष के निवृत्ति के लिए अज्ञानकालवृत्तित्व भी हेतु का विशेषण देना चाहिए। इस विशेषण के द्वारा जैसे अविद्यानिवृत्ति में व्यभिचारदोष का वारण हो जाता है,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अब स्वप्रकाशत्व के अत्यन्ताभाव को दृश्यत्व कहने में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। यह दिखाने जा रहे हैं। चित्सुखाचार्य ने स्वप्रकाश का लक्षण बनाया 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्'। अतः इसके अत्यन्ताभाव को दृश्यत्व कहा जा सकता है, अर्थात् अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपदृश्यत्व को हेतु बनाया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि अवेद्यत्व का अर्थ चित्सुखचार्य ने फलव्याप्यत्वाभाव किया है। अतः फलव्याप्यत्वाभावविशिष्ट–अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व जैसे ब्रह्म में है उसी प्रकार से अविद्या, अन्तःकरण और अन्तःकरण के सुख–दुःख शुक्तिरूप्य में है। क्योंकि इनमे किसी का भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होने के कारण उनमें फलव्याप्यत्व का अभाव है और 'अहमज्ञः' इत्यादिरूप से इन का अपरोक्ष होने के कारण उनमें अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व भी है। ऐसा होने से मिथ्यात्वानुमान के पक्षकोटि में प्रविष्ट अविद्या, अन्तःकरण, सुखादि में फलव्याप्यत्वविशिष्टापरोक्षव्यवहारयोगयत्वाभावरूप दृश्यत्व हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा और शुक्तिरूप्य में न रहने से साधनवैकल्यदोष होगा। ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। क्योंकि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व का अर्थ– अज्ञानसामान्य की निवर्तिका जो प्रमाणजन्य–अपरोक्षवृत्ति उस वृत्ति के विषयत्व की योग्यता। इस प्रकार का अर्थ करने से अविद्या आदि में भागासिद्धिदोष नहीं होगा, क्योंकि अज्ञान की निवर्तिका जो प्रमाणजन्य–अपरोक्षवृत्ति है उसकी विषयता अज्ञान, अन्तःकरण, शुक्तिरूप्यादि में नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण, शुक्तिरूप्यादि साक्षिभास्य

पञ्चमप्रकारत्वपक्षे तत्र व्यभिचारवारणायाज्ञानकालवृत्तित्वं हेतुविशेषणं देयम्, तेनैव तुच्छेऽपि न व्यभिचारः। एवमेव सर्वेषु हेतुषु व्यभिचारपरिहाराय यतनीयम्। सद्विविक्तत्वमात्रे तु साध्ये तुच्छे

कैलासविद्याप्रकाशिका

ठीक उसी प्रकार अलीक पदार्थों में भी व्यभिचारदोष का वारण हो जाता है। {इष्टसिद्धिकार ने अविद्यानिवृत्ति को उद्देश्य करके इस प्रकार से विचार किया है—आत्मा में अविद्या की निवृत्ति होती है, उस निवृत्ति को सद्रूपा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसको सद्रूप मानने पर अद्वैतमत की हानि होगी और उक्त निवृत्ति को असद्रूपा भी नहीं कह सकते है, क्योंकि असद्रूप होने पर वह ज्ञान निवर्त्य नहीं होगी। उक्तनिवृत्ति को सदसद्रूपा भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सद्रूप और असद्रूप में विरोध है। इसी प्रकार उक्त निवृत्ति को सद् और असद् से विलक्षण अनिर्वचनीय भी नहीं मान सकते है, क्योंकि अनिर्वचनीय सादि पदार्थ नियमतः अज्ञानोपादानक होता है। इसलिए मुक्ति काल में भी अज्ञान की अनुवृत्ति माननी पड़ेगी और पुनः ज्ञाननिवर्त्यत्व की आपत्ति होगी। इसलिए उपरोक्त चारों प्रकारों की अनुपत्ति होने के कारण उन चारों प्रकारों से विलक्षण पञ्चम प्रकार रूप अविद्या निवृत्ति को माना है। उक्त अविद्या निवृत्ति रूप पञ्चम प्रकार में फलव्याप्यत्वाभावविशिष्ट—अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व रूप हेतु है, किन्तु सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य नहीं है। इसलिए उक्त अविद्या निवृत्ति में व्यभिचारदोष होगा। इसी प्रकार उक्त दृश्यत्व रूप हेतु के अलीक में रहने से और साध्य के अलीक में न रहने से अलीक में भी व्यभिचारदोष होगा। अतः पञ्चम प्रकारिका अविद्या निवृत्ति और तुच्छ में व्यभिचारदोष के निवारणार्थ हेतु में अज्ञानकालवृत्तित्व रूप विशेषण देना चाहिए। इसलिए हेतु का आकार होगा—अज्ञानकालवृत्तित्वे सति फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभाव। पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति और तुच्छ में अज्ञानकालवृत्तित्व रूप विशेषण के न रहने से विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव के रूप से हेतु का अभाव सिद्ध हो जाने से व्यभिचारदोष का कारण हो जाता

सत्यानन्दप्रबोधिका

होते हैं, प्रमाणजन्यवृत्ति के विषय नहीं। अतः भागासिद्धि और साधनवैकल्यदोष नहीं होगा। घटादि पदार्थों में फलव्याप्यत्व होता है इसका निरूपण प्रतिकर्मव्यवस्था के निरूपण के प्रसङ्ग में किया जायेगा। इष्टसिद्धिकार के मत में अविद्या की निवृत्ति को सत्, असत्, उभय और अनुभय से भिन्न पञ्चम प्रकार का माना गया है। उस अविद्या निवृत्ति में सदसद्भिन्नत्वरूपमिथ्यात्व जो कि साध्य है वह नहीं रहेगा। क्योंकि सदसदभिन्नत्व का मतलब है सदसदनुभयरूप। उससे भिन्न पञ्चमप्रकारिका अविद्या निवृत्ति है। अतः पञ्चमप्रकारिका अविद्या निवृत्ति में मिथ्यात्वरूप साध्य के न रहने पर भी अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व हेतु है। अतः व्यभिचारदोष होगा। इस व्यभिचारदोष के वारण के लिए हेतु में विशेषण अज्ञानकालवृत्तित्व देना चाहिए। अतः हेतु का स्वरूप यह होगा—''अज्ञानकालवृत्तित्वे सति फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टापरोक्षव्यहवहारयोग्यात्वाभावः।'' अर्थात् अज्ञानकालवृत्तित्वविशिष्ट उक्त दृश्यत्व को हेतु बनाने पर पञ्चमप्रकारिका अविद्या निवृत्ति में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि अविद्यानिवृत्ति अज्ञानकाल में नहीं रहती है। अतः पञ्चमप्रकारक अविद्या निवृत्ति में ''अज्ञानकालवृत्तित्व'' विशेषण के न होने से विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से हेतु का अभाव उक्त अविद्या निवृत्ति में सिद्ध हो गया। अतः उक्त अविद्या निवृत्ति में हेतु ओर साध्य दोनों के ही न रहने से व्यभिचार दोष नहीं होगा। और उक्त विशेषण (अज्ञानकालवृत्तित्व) के द्वारा ही तुच्छ में भी व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा, क्योंकि अज्ञानकाल में तुच्छ की वृत्ति कहीं प्रसिद्ध नहीं है। इस प्रकार मिथ्यात्वसाधक सभी

पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च न व्यभिचारगन्धोऽपि सर्वमवदातम्॥२९॥

— इत्यद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

है।} इसी प्रकार मिथ्यात्व साधक सभी हेतुओं में व्यभिचार निवारणार्थ यत्न करना चाहिए। सद्भिन्नत्व मात्र को साध्य बनाने पर अलीक और पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति में व्यभिचार का गन्धमात्र भी नहीं होगा, क्योंकि उक्त अविद्या निवृत्ति और अलीक में हेतु और साध्य दोनों ही विद्यमान है अतः जो कुछ पूर्वाचार्यों ने प्रस्तुत विषय में कहा है वह सभी दोष रहित है॥२९॥

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां दृश्यत्वहेतूपपत्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

हेतुओं में पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये सभी अन्य दोषों का भी परिहार कर देना चाहिए। यदि केवल सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व को साध्यकोटि में रखते हैं तो तुच्छ और पञ्चमप्रकारिका अविद्यानिवृत्ति में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व हेतु और सद्भिन्नत्वरूप साध्य दोनों ही तुच्छ और पञ्चमप्रकारिका अविद्यानिवृत्ति में है। इस प्रकार दृश्त्व हेतु सर्वथा निर्दुष्ट है, यह सिद्ध कर दिया गया ॥२९॥

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां दृश्यत्वहेतूपपत्तिः —

१०: जडत्वहेतुविचारः

जडत्वमपि हेतुः। ननु किमिदं जडत्वम्? अज्ञातृत्वं वा? अज्ञानत्वं वा? अनात्मत्वं वा? नाद्यः; त्वन्मते पक्षनिक्षिप्तस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तत्रासिद्धेः, शुद्धात्मनोऽज्ञातृत्वेन तत्र व्यभिचाराच्च। नापि द्वितीयः; वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन केवलाया वृत्तेः केवलस्य चैतन्यस्य चाज्ञानत्वेन वृत्तावसिद्धिपरिहारेऽपि चैतन्ये व्यभिचारतादवस्थ्यात्। नापि तृतीयः; आत्मत्वस्यैव

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्चधर्मिक मिथ्यात्वप्रकारिका अनुमिति के प्रति जडत्व को भी हेतु बनाया जा सकता है।

शङ्का— यहां हेतुत्वेन विवक्षित जडत्व का क्या अर्थ है? क्या वह ज्ञातृभिन्नत्व है? या ज्ञानभिन्नत्च है? या आत्मभिन्नत्च है? प्रथमपक्ष इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में अनुमान के पक्षकोटि में समाविष्ट जो अहमर्थ (प्रमाता) है। वह ही ज्ञाता है। उसमें ज्ञातृभिन्नत्वरूप हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा। एवं शुद्ध ब्रह्म को सिद्धान्ती के मत में ज्ञाता नहीं माना जाता है। अतः उसमें ज्ञातृभिन्नत्वरूप हेतु रहेगा किन्तु उसमें साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्ति से सम्बद्ध चैतन्य ही ज्ञानत्व होने से केवल वृत्ति और केवल चैतन्य में ज्ञानभिन्नत्व रूप हेतु के रहने के कारण वृत्ति में असिद्धि का परिहार हो जाने पर भी चैतन्य में व्यभिचारदोष यथावत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

''विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्' इस अनुमान के साध्य मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए दृश्यत्व हेतु का प्रतिपादन पहले किया गया। अब सिद्धान्तपक्ष से कहा जा रहा है कि जिस प्रकार से मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि दृश्यत्व हेतु के द्वारा की जा सकती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि जडत्व हेतु के द्वारा भी की जा सकती है। जडत्व हेतु मिथ्यात्वरूप साध्य को सिद्ध कर सकता है, इसको सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि जडत्व का क्या स्वरूप है? ज्ञातृभिन्नत्व को जडत्व कहते हो? अथवा ज्ञानभिन्नत्व को जडत्व कहते हो? अथवा आत्मभिन्नत्व को जडत्व कहते हो? प्रथम पक्ष ज्ञातृभिन्नत्व को जडत्व नहीं कह सकते हो, क्योंकि यहाँ अनुमान का आकार यह होगा ''विमतं मिथ्या ज्ञातृभिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्'' इस अनुमान में भागासिद्धिदोष होगा, क्योंकि मनोविशिष्टचैतन्यरूप ज्ञाता पक्षकोटि में प्रविष्ट है। उसमें ज्ञातृभिन्नत्वरूपहेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा। अद्वैतसिद्धान्त में शुद्ध आत्मा में ज्ञातृत्व नहीं माना जाता है। अतः साध्याभाववाले शुद्ध आत्मा में ज्ञातृभिन्नत्वरूप हेतु के रहने से व्यभिचार दोष भी होगा। द्वितीय पक्ष— 'ज्ञानभिन्नत्वम्' भी ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धान्त पक्ष में वृत्तिसम्बद्धचैतन्य को ज्ञान माना जाता है। केवल वृत्ति और केवल चैतन्य को ज्ञान नहीं माना जाता है। यद्यपि वृत्ति पक्षकोटि में होने से ज्ञानभिन्नत्वरूप हेतु वृत्ति में रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा, तथापि अमिथ्याभूत केवल चैतन्य में ज्ञानभिन्नत्व के रहने से व्यभिचारदोष यथावत् बना रहा। तृतीय पक्ष— 'आत्मभिन्नत्वम्' को भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मभिन्नत्व का अर्थ 'आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्'। यहाँ भेद का प्रतियोगितावच्छेदक आत्मत्व है। इस प्रतियोगितावच्छेदक आत्मत्व का निरूपण न हो पाने से आत्मभिन्नत्व का निरूपण भी नहीं हो सकता है। आत्मत्व का निरूपण क्यों नहीं हो सकता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि आत्मत्व को द्रव्यत्वव्याप्यजाति नहीं मान सकते हो, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में एक ही आत्मा माना जाता है। एक व्यक्ति मात्र में रहने वाले धर्म को जाति नहीं माना जाता है। क्योंकि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः'।

निरूपयितुमशक्यत्वात्। तद्धि न जातिविशेषः; त्वयात्मन एकत्वाभ्युपगमाद्, विशिष्टात्मनां भेदेऽपि तेषां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्। नाप्यानन्दरूपत्वम्, वैषयिकानन्दे तद्व्यतिरेकस्य हेतोरसिद्धेः, तस्याप्यात्मत्वेऽज्ञानपक्षोक्तदोषः प्रसञ्जनीय इति चेत्।।१।।

मैवम्, द्वितीयतृतीयपक्षयोः दोषाभावात्। तथा हि—'अज्ञानत्वं जडत्वम्' इति पक्षे नात्मनि व्यभिचारः, अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामपि तदनपायात्। न चाभावे

कैलासविद्याप्रकाशिका

है। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि जब आत्मत्व का ही निरूपण नहीं हो सकता है, तब आत्मत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद का निरूपण भी नहीं हो सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे घटत्वादि जातियां होती है वैसे ही आत्मत्व जाति नहीं हो सकती है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में आत्मा को एक ही माना जाता है। यद्यपि अन्तःकरण विशिष्ट जीवात्माओं में नानात्व होने के कारण आत्मत्वजाति की सिद्धि हो जायेगी तथापि उन जीवात्माओं के पक्षकोटि में समाविष्ट होने से उनमें आत्मभिन्नत्व रूप हेतु के न रहने से भागासिद्धि दोष होगा। आनन्दरूपत्व भी आत्मत्व नहीं हो सकता हैं, क्योंकि विषय सम्पर्क जन्य आनन्द में आनन्द भिन्नत्वरूप हेतु के न रहने से भागासिद्धि दोष नहीं होगा। विषयसम्पर्कजनित आनन्द को भी आत्मरूप मानने पर अज्ञान पक्षोक्त दोषों की प्रसक्ति होगी।।१।।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि द्वितीय और तृतीय पक्ष को स्वीकार करने पर कोई भी दोष नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''अज्ञानत्व जड़त्व है'' इस

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाति के छः बाधकों में से एकव्यक्तिवृत्तित्व भी है। अतः आत्मत्वधर्म को जाति नहीं माना जा सकता है। यद्यपि जीवरूप विशिष्ट आत्मा के नाना होने से उनमें अनुगत आत्मत्वजाति की सिद्धि हो जायेगी, आत्मत्व का निरूपण हो जाने पर आत्मत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्व (आत्मभिन्नत्व) रूप हेतु का निरूपण भी हो जायेगा। तथापि विशिष्टात्मा (जीव) प्रपञ्च के अन्तर्गत होने के कारण पक्षकोटि में प्रविष्ट है। उसमें आत्मभिन्नत्वरूप हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा। यदि कहो कि आत्मत्व का अर्थ आनन्दत्व करेंगे। ऐसा करने पर हेतु का आकार होगा आनन्दभिन्नत्वम्। मिथ्यात्व अनुमान के पक्षकोटि में विषयानन्द प्रविष्ट है, उसमें आनन्दभिन्नत्वरूप हेतु के न रहेने से भागासिद्धिदोष होगा। यदि विषयानन्द को आत्मरूप मानते हो तो ज्ञानभिन्नत्वपक्ष में कहे गये दोष प्रसक्त होंगे। अर्थात् 'ज्ञानभिन्नत्वं जडत्वम्' इस पक्ष का खण्डन करते हुए जैसे कहा गया था कि वृत्तिसम्बद्धचैतन्य को ज्ञान कहा जाता है, केवल वृत्ति भी ज्ञान नहीं है और केवल चैतन्य भी ज्ञान नहीं है। ठीक उसी प्रकार वैषयिक आनन्द को आत्मा मानने पर वह वैषयिक आनन्द, विषयजन्यसुखात्मिका वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही होगा। यहाँ केवल वृत्ति को आनन्द नहीं कह सकते हो और केवल चैतन्य को भी आनन्द नहीं कह सकते हो। वृत्ति पक्षकोटि में प्रविष्ट होने से वृत्ति में आनन्दभिन्नत्वरूप हेतु के रहने से भागासिद्धिदोष के न होने पर भी अमिथ्याभूत केवल चैतन्य में आनन्दभिन्नत्व के रह जाने से व्यभिचारदोष होगा।।१।।

इस प्रकार से पूर्वपक्ष का उत्थापन होने पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जडत्व का अर्थ जो पूर्वपक्षी ने किया, उसमें से प्रथम पक्ष को छोडकर द्वितीय—तृतीय पक्ष में कोई दोष नहीं है। प्रथमपक्ष को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि इस पक्ष को स्वीकार करने पर भागासिद्धि दोष होगा। ज्ञानानुकूलव्यापारवत्त्व को ज्ञातृत्व कहते हैं, अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति के अनुकूलव्यापार जिसमें होता है, उसे ज्ञाता कहते हैं। यद्यपि शुद्धचित् को ज्ञान कहा जाता है। उसमे ज्ञान की उत्पत्ति के अनुकूलव्यापार कहना युक्ति सङ्गत कैसे होगा?

सप्रतियोगिकत्ववदिच्छाज्ञानादिष्वपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविकत्वादिच्छायामिव ज्ञानेऽपि तस्य समानसत्ताकत्वमिति वाच्यम्; ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषयसम्बन्धः, स च न तात्त्विकः,

कैलासविद्याप्रकाशिका

पक्ष में अज्ञानत्व हेतु का आत्मा में व्यभिचारदोष नहीं हो सकता है, क्योंकि अर्थ से उपलक्षित प्रकाश रूप चित् का ही ज्ञानत्व होने से मोक्ष दशा में भी आत्मा के ज्ञानत्व का अभाव नहीं होता है। इस प्रकार से शुद्ध चैतन्य में ज्ञानभिन्नत्व रूप हेतु के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।

शङ्का— अभाव में जैसे सप्रतियोगिकत्व का नियम होता है। वैसे ही इच्छा—ज्ञानादियों में भी सविषयकत्व स्वाभाविक होता है, और इच्छा में रहने वाला सविषयकत्च जैसे इच्छा के समान सत्ताक होता है वैसे ही ज्ञान में रहने वाला सविषयकत्व भी ज्ञान के समान सत्ताक होना चाहिए। ऐसा स्वीकार करने पर सर्वदृश्योच्छेद रूप मोक्ष में ज्ञानत्वोपलक्षितशुद्धचित्स्वरूपत्व असम्भव है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसी शङ्का हो सकती है, तथापि प्रकृत में ज्ञानशब्द से वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्नचैतन्य को कहा गया है। अतः ज्ञानपदार्थता का अवच्छेदकवृत्ति के जन्य होने से, वृत्ति की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार होने पर ज्ञान के उत्पत्ति के अनुकूल भी व्यापार मान लिया जाता है और मनोऽवच्छिन्नचित् ही ज्ञानानुकूलव्यापारवाला है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि ज्ञानानुकूलव्यापार जैसे चित् में है, उसी प्रकार मन में भी है। अतः मन में ज्ञानानुकूलव्यापारत्वरूप ज्ञातृत्व के रहने से ज्ञातृभिन्नत्वरूप हेतु मन में नहीं रहेगा। अतः पक्ष के अन्तर्भूत मन में भागासिद्धदोष होगा। अतः सिद्धान्ती ने प्रथमपक्ष को स्वीकार न करके द्वितीय एवं तृतीय पक्ष को स्वीकार किया। प्रश्न होता है कि द्वितीय—तृतीय पक्ष में पूर्वपक्षी ने दोष दिया था, सिद्धान्ती उसमें दोषाभाव कैसे कह रहे हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्तरहस्य को न जानकर ही पूर्वपक्षी ने द्वितीय—तृतीय पक्ष में दोष दिया था। अब अद्वैतसिद्धान्त का क्या रहस्य है? उसे स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ज्ञानभिन्नत्वरूप जड़त्व को हेतु बनाने पर आत्मा में व्यभिचार नहीं है। क्योंकि अनावृतविषयोपलक्षितप्रकाश को ज्ञानपदार्थ माना जाता है। विदेहकैवल्यदशापन्न केवल आत्मा में भी अनावृतविषयोपलक्षितप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व ही रहता है। अतः ज्ञानभिन्नत्व के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। सिद्धान्ती ने अनावृत विषयोपलक्षितप्रकाश को ज्ञान कहा है। विषयोपलक्षित कहने से लाभ यह हुआ कि उपलक्षणरूप विषय के मोक्षदशा में न रहने पर भी आत्मा को ज्ञान पद से कहा जा सकता है, क्योंकि उपलक्षण अवर्तमान होता है और विषय को उपलक्षण कहने से सिद्धान्ती ने भी सूचित किया कि विषय और ज्ञान का तात्त्विकसम्बन्ध नहीं होता है। अपितु विषय का ज्ञान के साथ आध्यासिक सम्बन्ध होता है। अतः विषय के न रहने पर भी ज्ञान रह सकता है। विषय और ज्ञान में तात्त्विकसम्बन्ध मानने वाला पूर्वपक्षी विषय और ज्ञान में काल्पनिकसम्बन्ध को सहन न करता हुआ शङ्का कर रहा है कि जैसे अभाव का प्रतियोगी के साथ तात्त्विकसम्बन्ध होता है और इच्छा, द्वेष आदि का विषय के साथ तात्त्विकसम्बन्ध होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान का विषय के साथ तात्त्विकसम्बन्ध क्यों नहीं मानते हो? क्योंकि आकाश में जैसे नीलिमा आरोपित है, इस प्रकार का आरोपितसम्बन्ध ज्ञान और विषय में नहीं होता है। अभाव का प्रतियोगी के साथ जो सम्बन्ध है वह अभाव आदि के समानसत्तावाला है और इच्छा, द्वेष आदि का विषय के साथ जो सम्बन्ध है वह इच्छा और द्वेष के समानसत्तावाला है, ठीक उसी प्रकार का ज्ञान के साथ विषय का जो सम्बन्ध है वह भी ज्ञान के समानसत्तावाला होना चाहिए। विषय का सम्बन्ध ज्ञान के समानसत्तावाला होने से विदेहकैवल्यदशा में आत्मस्वरूपज्ञान में विषय का सम्बन्ध अवश्य भासित होगा, तब उस सम्बन्ध का सम्बन्धी विषय भी भासित होगा, क्योंकि यह नियम है कि 'सम्बन्धसत्त्वे सम्बन्धिसत्त्वम्''। अतः मोक्षावस्था में आत्मरूप ज्ञान का स्वरूप

किन्त्वाध्यासिकः, वक्ष्यमाणरीत्या तात्त्विकसम्बन्धस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्, अतो न तस्य स्वाभाविकत्वम्; न हि शुक्तौ रूप्यं स्वाभाविकम्। एवञ्च ज्ञानोपाधिकस्यैव

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ सिद्धान्ती कह रहे है कि ज्ञाननिष्ठसविषयत्व विषय सम्बन्धरूप है और वह सम्बन्ध तात्त्विक नहीं होता है अपितु आध्यासिक होता है, क्योंकि वक्ष्यमाणरीति से तात्त्विक सम्बन्ध का निरूपण करना सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञान में सविषयकत्व स्वाभाविक (अनारोपित) नहीं है, जैसे शुक्ति में रजत स्वाभाविक नहीं होता है। ज्ञान और विषय में वास्तविक सम्बन्ध के सिद्ध न होन पर ज्ञानीय सविषयत्व का ही इच्छादियों में अभ्युपगम होने से इच्छादि में

सत्यानन्दप्रबोधिका

तभी बन सकता है। जब आत्वस्वरूपज्ञान का आत्मसमसत्ताक ही विषय हो। किन्तु सिद्धान्त पक्ष में विदेहकैवल्यदशा में आत्मा से भिन्न कुछ भी विषय नहीं मानते हैं। अतः मोक्षदशा में ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा गया कि ज्ञान में स्वाभाविकरूप से सविषयकत्व रहता है। वह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञाननिष्ठसविषकत्व का ज्ञान और विषय के सम्बन्ध को छोड़कर अन्यप्रकार से निरूपण नहीं किया जा सकता है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान में विषय का सम्बन्ध ही ज्ञान में सविषयकत्व है। ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध तात्त्विक हो नहीं सकता है, यह आगे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिप्रकरण में विस्तारपूर्वक कहा जायेगा। अतः ज्ञान और विषय में काल्पनिकसम्बन्ध सिद्धान्तपक्ष में माना जाता है। इसलिए ज्ञान के समानसत्तावाला ज्ञान और विषय का सम्बन्ध होता है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसको दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं कि जैसे शुक्ति में रजत का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है और शुक्ति के समानसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाला भी रजत का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु काल्पनिक है। इसलिए रजत का सम्बन्ध न रहने पर भी शुक्ति रहती है, ऐसा कोई नहीं कह सकता है कि शुक्ति के साथ रजत का सम्बन्ध न होने पर शुक्ति के शुक्तित्व का नाश हो जाता है। इसी प्रकार मोक्षदशा में आत्मस्वरूपज्ञान में विषय का काल्पनिकसम्बन्ध के न रहने पर भी आत्मस्वरूपज्ञान का ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता है। अतः आत्मस्वरूपज्ञान में ज्ञानभिन्नत्वरूप जडत्व हेतु के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि इच्छा, ज्ञानादि में सविषयकत्व स्वाभाविक होता है। उसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि इच्छा—द्वेष आदि का विषय के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता है, किन्तु इच्छा आदि का जनक जो ज्ञान, उस ज्ञान का विषय के साथ जैसे काल्पनिक सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार इच्छा आदि का भी विषय के साथ काल्पनिक सम्बन्ध ही होता है। क्योंकि किसी भी विषय का ज्ञान न होने पर तद्विषयसम्बन्धी इच्छा भी नहीं होती है। अर्थात् इच्छाज्ञानसमानविषयिणी — इस नियम के अनुसार इच्छा का विषय वहीं होता है, जो उस इच्छा के जनक ज्ञान का विषय होता है। अतः ज्ञान और विषय में जब काल्पनिक सम्बन्ध है तब ज्ञान के विषय को ही लेकर उत्पन्न होने वाली इच्छा का विषय के साथ काल्पनिकसम्बन्ध सरलतापूर्वक सिद्ध हो जायेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती जब इच्छा का विषय के साथ कोई स्वतंत्र सम्बन्ध नहीं मान रहे हैं अपितु स्वजनकज्ञानविषयत्वरूपसम्बन्ध मान रहे हैं। (स्वपद से इच्छा को ग्रहण करना चाहिए।) तब जहां पर घट—पट—मठ इत्यादि को ग्रहण करने वाला समूहालम्बनात्मक एक ज्ञान हुआ और इच्छा समूहालम्बनात्मक ज्ञान के विषयीभूत सकल पदार्थो की न होकर किसी एक पदार्थ की हुई। ऐसे स्थल पर उपरोक्त सम्बन्ध इच्छा का विषय के साथ घटित नहीं हो सकता है, क्योंकि वह सम्बन्ध निखिल सामूहिक पदार्थो में रहेगा जबकि इच्छा निखिल विषयक नहीं है। इस शङ्का का समाधान यह है कि इच्छा का सम्बन्ध स्वजनकतावच्छेदकीभूतविषयितानिरूपितविषयताश्रयत्वरूप है। जहां पर ''घटः'' इत्याकारक

सविषयत्वस्येच्छादिष्वभ्युपगमात्। नतरां तत्र तस्य स्वाभाविकत्वम्।।२।।

न चैवं ज्ञानवद् विषयसम्बन्धं विनापि कदाचिदिच्छायाः सत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्; सविषयत्वप्रयोजकोपाध्यपेक्षयाऽधिकसत्ताकत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वाद्, इच्छायाश्च तत्समानसत्ताकत्वात्। नच त्वया मोक्षावस्थायामात्मनो निर्विषयत्वाङ्गीकारादानन्दाप्रकाशे तदपुमर्थत्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

सविषयत्व रूप सम्बन्ध भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकता है। (तत्र (इच्छादिषु) नतरां = (सुतरां न) तस्य (=सविषयत्वस्य) स्वाभाविकत्वमिति अन्वयः)।।२।।

शङ्का— जैसे ज्ञान विषय के सम्बन्ध के बिना भी मोक्षावस्था में रहता है वैसे ही विषय के सम्बन्ध के बिना भी किसी काल में इच्छा की भी सत्ता होनी चाहिए।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सविषयत्व का प्रयोजक जो अविद्या रूप उपाधि है, उसकी सत्ता की अपेक्षा से ज्ञान में अधिकसत्ताकत्व है। अतः विषयसम्बन्ध के बिना भी ज्ञान रह सकता है। अर्थात् जहां पर विषय से विषयी अधिक सत्ता वाला होता है वहां पर विषय के बिना भी विषयी की सत्ता होती है और जहां विषय और विषयी की समान सत्ता होती है वहां पर विषय को छोड़कर विषयी नहीं रह सकता है। इच्छा उपाधिसमानसत्ताक होने से विषयरूप उपाधि को छोड़कर

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान के पश्चात् ''घटो मे स्यात्'' ऐसी इच्छा होती है। वहां पर इच्छा का जनक = उक्त घटज्ञान, जनकता रही उक्त घटज्ञान में, जनकतावच्छेदकीभूतविषयता = घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारिताख्याविषयिता है,घटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेष्यिताख्याविषयिता है, तदुभयसंसर्गनिष्ठसंसर्गतानिरूपितसंसर्गिताख्याविषयिता है, तादृश विषयिता निरूपित विषयताश्रयत्व घटत्वादि में है। समूहालम्बन स्थल में भी यद्विषयक इच्छा होगी तदनुयोगिक इच्छाप्रतियोगिक उपरोक्त सम्बन्ध बनेगा, अन्य के साथ नहीं इसलिए कोई दोष नहीं है।।२।।

इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि इच्छा के साथ विषय का काल्पनिकसम्बन्ध मानोंगे तो विषय के विना भी कभी इच्छा होनी चाहिए। जैसे ज्ञान के साथ विषय का काल्पनिकसम्बन्ध होने से मोक्षदशा में विषय के बिना भी आत्मस्वरूपज्ञान रहता है। ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि विषय के सम्बन्ध से रहित विशुद्धज्ञान की सत्ता विदेहदशा में इस लिए रहती है कि ज्ञान के साथ विषय के सम्बन्ध का हेतु जो अविद्या है, उस व्यावहारिकसत्तावाली अविद्या की अपेक्षा विशुद्धज्ञान की अधिक (पारमार्थिक) सत्ता मानी जाती है। किन्तु विषय के सम्बन्ध का हेतु जो अविद्या है उस अविद्या के समानसत्ता (व्यवहारिकसत्ता) वाली इच्छा है। अतः विषयसम्बन्ध के बिना केवल इच्छा नहीं हो सकती है। अर्थात् विषय के सम्बन्ध का प्रयोजक जो अविद्या है उस अविद्या की अपेक्षा से जिसकी अधिकसत्ता होगी वह विषयसम्बन्ध के बिना भी रह सकता है और जिसकी उक्त अविद्या के समानसत्ता है, वह विषयसम्बन्ध के बिना नहीं रह सकता है। यहाँ पूर्वपक्षी की शङ्का है कि अद्वैतवेदान्ती के द्वारा मोक्षावस्था में आत्मस्वरूपज्ञान को निर्विषयक माना जाता है, अर्थात् मोक्षावस्था में आत्मस्वरूपज्ञान ही रहता है, कोई विषय या विषय का ज्ञान से सम्बन्ध नहीं रहता है। तब आनन्दरूप विषय का ज्ञान से प्रकाश नहीं होगा। आनन्दसम्बन्धी प्रकाश के न रहने पर मोक्षावस्था के आनन्द के लिए कोई पुरुष अभिलाषा ही नहीं करेगा, क्योंकि अज्ञात सुख में पुरुष की अभिलाषा या पुरुषार्थता नहीं होती है। इस प्रकार की शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है, क्योंकि सिद्धान्त में आनन्द और प्रकाश(ज्ञान) में विषयविषयीभाव नहीं माना जाता है, अर्थात् 'आनन्द का प्रकाश' ऐसा नहीं माना जाता है, अपितु आनन्दस्वरूपप्रकाश माना जाता है। यहाँ पहले कहा जा चुका है कि ज्ञेय से उपलक्षित आत्मस्वरूपज्ञान मोक्षदशा में रहता है। अतः आत्मस्वरूपज्ञान में ज्ञानत्व की हानि नहीं कह सकते हो। आनन्दस्वरूप प्रकाश

स्यादिति वाच्यम्; तदा ह्यानन्द एव प्रकाशो न त्वानन्दस्य प्रकाशत्वम्, अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं वा तदास्त्येवेति न ज्ञानत्वहानिरित्युक्तम्।।३।।

ननु तथापि ज्ञातुरभावात् तदा तन्न ज्ञानम्; न हि भोक्तृहीना भुजिक्रिया भवति। नचानादित्वेन क्रियारूपत्वाभावादनपेक्षत्वमिति वाच्यम्; अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोगिनि, जातेर्व्यक्तौ, जीवब्रह्मविभागस्य धर्मिप्रतियोगिनोः, अज्ञानस्य चाश्रयविषययोर्ब्रह्मसत्तायाश्च

कैलासविद्याप्रकाशिका

के इच्छा का अस्तित्व नहीं हो सकता है।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा मोक्षावस्था में आत्मा का निर्विषयत्व अङ्गीकृत होने से आनन्दसम्बन्धिप्रकाश के न होने से मोक्षावस्था के आनन्द के लिए कोई पुरुषार्थ ही नहीं कहेगा।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षकाल में आनन्दरूप ही प्रकाश है, आनन्द का प्रकाशत्व नहीं। अथवा सर्वज्ञेयोपलक्षित ज्ञानत्व मोक्षकाल में माना ही जाता है। इसलिए शुद्धचित् में ज्ञानत्व की हानि नहीं होगी।।३।।

शङ्का— मोक्षावस्था में ज्ञानत्व की हानि न होने पर भी मोक्षावस्था में ज्ञाता के न रहने से आत्मस्वरूपज्ञान भी नहीं रह सकता है, क्योंकि कर्त्ता के बिना क्रिया होती नहीं है, जैसे भोक्ता के बिना भोजन क्रिया का सम्पादन नहीं होता है। यदि सिद्धान्ती कहते है कि ज्ञानत्वविशिष्ट ज्ञान सादि होने पर भी ज्ञानत्वोपलक्षित स्वरूपभूत ज्ञान अनादि होने से उसको ज्ञाता की अपेक्षा नहीं होती है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही पुरुषार्थ है। इसको श्रुति स्पष्ट रूप से कह रही है— ''प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा'' ''यो वै भूमा तत्सुखम्'' ''एष एव परमानन्दः'' ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' ''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्''। इन सभी श्रुतियों से परमानन्दस्वरूप आत्मा का उपदेश किया गया है। आत्मस्वरूप आनन्द के नित्य होने पर भी लोक में धर्मजन्य तत्तद् अन्तःकरणवृत्ति में अभिव्यक्त आनन्द की उत्पत्ति और विनाश को गौणरूप से कहा जाता है, क्योंकि आनन्द की व्यञ्जिका जो वृत्ति है, वह उत्पत्ति और विनाश वाली है, अतः वृत्ति के उत्पत्ति–विनाश वाली होने के कारण उस वृत्ति में अभिव्यक्त आनन्द को भी गौणरूप से उत्पत्ति–विनाश वाला कह दिया जाता है आत्मस्वरूप आनन्द यद्यपि नित्य प्राप्त है, तथापि अज्ञान से अनभिव्यक्त परमानन्द अप्राप्त जैसा होता हुआ भी ज्ञानमात्र से अज्ञान के निवृत्त होने पर प्राप्त जैसा होता है। इस लिए परमानन्द के उद्देश्य से मुमुक्षु की प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। यहां पर यह जो शङ्का की जाती है कि मूल कार ने जो ''तदा'' कहा है वह उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती के मतानुसार विदेह मुक्ति में कालादि का अभाव होने से विदेह मुक्ति में कालसम्बन्धित्व नहीं बन सकता है। इसका समाधान यह है कि इदानींतन काल को लेकर कालवासनया युक्तो के प्रति ''तदा'' व्यवहार किया गया है।।३।।

पूर्वपक्षी के द्वारा पहले यह कहा गया कि विषय के बिना आत्मस्वरूपज्ञान नहीं रह सकता है। इसका खण्डन सिद्धान्ती ने कर दिया कि आत्मस्वरूपज्ञान विषय के बिना भी रह सकता है। अब पूर्वपक्षी यह कह रहा है कि मोक्षावस्था में ज्ञाता के न रहने से आत्मस्वरूपज्ञान नहीं रह सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि धातुत्वेन सकल धातु वाच्या क्रिया होती है। अतः ''ज्ञा'' में धातुत्व लाने के लिए ज्ञान को क्रिया रूप मानना पड़ेगा। जब ज्ञान में क्रियात्व मान लिया तब पूर्वपक्षी के मतानुसार ज्ञा धातु का अर्थ क्रिया है, जो कि नियमित अपने कर्ता की अपेक्षा रखती है। यहां पर पूर्वपक्षी के मतानुसार अनुमान का आकार है—ज्ञाधात्वर्थः कर्त्रपेक्षः, क्रियात्वात् भुजिक्रियावत्। इसको ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी व्यतिरेक दृष्टान्त दे रहा है कि जैसे भोजनक्रिया

कर्तर्यपेक्षादर्शनात्, अन्यथा 'अस्ति ब्रह्म' इत्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात्। एवञ्चातीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य चोत्पत्त्यर्थमर्थानपेक्षत्वेऽपि तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञानस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

ऐसा सिद्धान्ती का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनादि प्रागभाव को प्रतियोगी की अपेक्षा होती है और अनादि जाति को व्यक्ति की अपेक्षा होती है और अनादि जीव तथा ब्रह्म के विभाग को अनुयोगी—प्रतियोगी की अपेक्षा होती है और अनादि अज्ञान को आश्रय तथा विषय की अपेक्षा होती है और अनादि ब्रह्मसत्ता को कर्त्ता की अपेक्षा होती है। ब्रह्मसत्ता को कर्त्ता की अपेक्षा न मानने पर ''अस्ति ब्रह्म'' इत्यादि स्थल पर कर्त्ता में लट्लकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अतीत तथा अनागतविषयविषयक ज्ञान और ईश्वर ज्ञान को अपनी उत्पत्ति के लिए विषय की अपेक्षा न होने पर भी वे अपने निरूपण के लिए विषय की अपेक्षा करते ही है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय से निरूपित होना ज्ञान का स्वभाव है। अन्यथा = यदि ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय से निरूपित स्वभाव वाला नहीं मानेंगे

सत्यानन्दप्रबोधिका

भोक्ता के बिना नहीं हो सकती है, वैसे ही ज्ञाता के बिना ज्ञान असम्भव है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि 'आत्मस्वरूपज्ञान अनादि है, अतः इसे (आत्मस्वरूपज्ञान को) क्रिया नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि क्रिया जन्य होती है और अनादिपदार्थ जन्य नहीं होते हैं। अतः आत्मस्वरूपज्ञान अनादि होने के कारण जन्य नहीं होगा। आत्मस्वरूपज्ञान के क्रियारूप न होने से ज्ञान को ज्ञाता की भी अपेक्षा नहीं होगी। क्योंकि क्रिया को ही कर्ता की आवश्यकता होती है। यहाँ पर सिद्धान्ती ने इस प्रकार का अनुमान प्रदर्शित किया— 'ज्ञानमन्यानपेक्षम्, अनादित्वात्, आत्मवत्। जो अनादि होता है वह अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, जैसे आत्मा। आत्मा अनादि होता है, अतः किसी की अपेक्षा नहीं करता है। इसी प्रकार ज्ञान अनादि होता है, अतः वह भी किसी ज्ञाता आदि की अपेक्षा नहीं करेगा। सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित व्याप्ति (यद् यदनादि तत्तदन्यनिरपेक्षम्) में कई स्थलों पर व्यभिचार पूर्वपक्षी दे रहा है, जैसे प्रागभाव के अनादि होने पर भी प्रागभाव को अपने से अन्य प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। क्योंकि प्रतियोगी के बिना प्रागभाव का निरूपण हो नहीं सकता है। इसी प्रकार जातिरूप धर्म के अनादि होने पर भी जाति को व्यक्तिरूप धर्मी की अपेक्षा होती है। ऐसे ही अद्वैतवेदान्तसम्मत जीव—ब्रह्म का भेद अनादि होने पर भी अनुयोगी—प्रतियोगी की अपेक्षा करता है। क्योंकि अनुयोगी—प्रतियोगी के निरूपण के बिना जीव—ब्रह्म के भेद का निरूपण नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार अज्ञान के अनादि होने पर भी आश्रयविषय की अपेक्षा होती है, क्योंकि ''अस्यास्मिन्न ज्ञानम्'' इस प्रकार से अज्ञान की प्रतीति होती है। ऐसे ही ब्रह्मसत्ता के अनादि होने पर भी कर्ता की अपेक्षा होती है। यदि ब्रह्मसत्ता को कर्त्ता की अपेक्षा नहीं मानोंगे तो तैत्तिरीय श्रुति ''अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद'' (२/३/१)। यहाँ कर्ता अर्थ में जो लकार दिखाई पड़ता है, वह अनुपपन्न हो जायेगा। यद्यपि अतीतादिविषयकज्ञान, अतीतादिविषय से जन्य नहीं होते हैं, अर्थात् अतीतादिज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए विषय की वर्तमान में अपेक्षा नहीं करते हैं, फिर भी वह ज्ञान अतीतादि विषय से निरूपित अवश्य होते हैं। क्योंकि अतीतादिविषयकज्ञान निर्विषयक होते हैं, ऐसा न तो अनुभव से सिद्ध है और न ही किसी के द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार ईश्वरज्ञान अनादि होने के कारण उसकी (ईश्वरज्ञान की) उत्पत्ति में विषय की अपेक्षा न होने पर भी ईश्वरज्ञान विषय से निरूपित तो होता ही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के निरूपण के लिए विषय और ज्ञाता की अपेक्षा होती है। क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय से निरूपित होना ज्ञान का स्वभाव है। यदि ज्ञान को ज्ञाता—ज्ञेय से निरूपितस्वभाववाला नहीं स्वीकार करोगें तो ज्ञान होने के पश्चात्

ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं स्वभावः, अन्यथा 'इदमहं जानामि' इत्यनुभवो न स्यात्, 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' इति विवरणविरोधश्च स्यादिति चेत्;।।४।।

न, जातेर्व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तदसम्बन्धवदुपपत्तेः, सम्बन्धप्रयोजकोपा–

कैलासविद्याप्रकाशिका

तो ''इसको मैं जानता हुं'' इत्यात्मक अनुभव नहीं हो पायेगा और ''ज्ञाता का अर्थविषयक प्रकाश ही ज्ञान है'' विवरणाचार्य के इस कथन से विरोध भी होगा क्योंकि विवरणाचार्य के मतानुसार उसी प्रकाश को ज्ञान कहा जाता है जो किसी कर्त्ता से उत्पन्न होकर किसी पदार्थ को विषय करता है।।४।।

समाधान– पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि जैसे गोत्वादि जाति का व्यक्ति विशिष्ट रूप से प्रकाशमानत्व होने पर भी प्रलयकाल में व्यक्ति के न रहने पर भी जाति को माना जाता है, उसी प्रकार व्यवहार दशा में ज्ञातृज्ञेयविशिष्टरूप से ज्ञान का प्रकाशमानत्व होने पर भी मोक्ष दशा में ज्ञातृज्ञेय के बिना भी ज्ञान रह ही सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञाता–ज्ञेय के सम्बन्ध का प्रयोजक जो अविद्या है, उस अविद्या की अपेक्षा से आत्म स्वरूप ज्ञान की अधिक सत्ता है। इसीलिए

सत्यानन्दप्रबोधिका

''इदमहं जानामि'' यहाँ पर ज्ञाता–ज्ञेय से निरूपित ज्ञान का अनुभव नहीं हो पायेगा। अर्थात् ज्ञाता (अहमर्थ) और ज्ञेय (इदमर्थ) के बिना 'जानामि' अथवा 'ज्ञानम्' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए था। दूसरा दोष यह होगा कि ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय से निरूपितस्वभाव वाला न मानने पर सिद्धान्त में स्वसिद्धान्तविरोध होगा। इसी को दिखा रहे हैं कि विवरणाचार्य ने विवरण में स्पष्ट कहा है– ''ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्'', विवरणाचार्य ने उसी प्रकाश को ज्ञान कहा है जो किसी कर्त्ता से जनित होकर किसी पदार्थ को विषय करता हो। इस प्रकार से सिद्धान्ती की जो व्याप्ति (यद् यदनादि तत्तदन्यनिरपेक्षम्) थी, उसका खण्डन हो जाने से यह सिद्ध हो गया कि आत्मस्वरूपज्ञान के अनादि होने पर भी ज्ञाता–ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान को होगी ही। अतः विदेहदशा में आत्मस्वरूपज्ञान विषय और ज्ञाता के बिना नहीं रह सकता है।।४।।

इस प्रकार का पूर्ववादी के प्रलाप का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहें हैं कि ज्ञाता–ज्ञेय के सम्बन्ध का प्रयोजक जो अविद्या है, उस अविद्या की अपेक्षा से आत्मस्वरूपज्ञान अधिक सत्तावाला है और यही कारण है कि ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध के बिना भी आत्मस्वरूपज्ञान विदेहदशा में रह सकता है। इसमें दृष्टान्त जाति और व्यक्ति का दे रहे हैं। प्रलयकाल में व्यक्ति के न रहने पर भी जाति रह जाती है, क्योंकि घट अनित्य है और घटत्व जाति न्यायमत में नित्य मानी जाती है। अतः अनित्य घटादि व्यक्ति की अपेक्षा नित्य घटत्वादि जाति में अधिकसत्ताकत्व है। इसलिए अनित्य घटादि व्यक्ति के बिना भी नित्य घटत्वादि जाती रहती है। प्रागभाव में अनुयोगी और प्रतियोगी के सम्बन्ध का प्रयोजक अनुयोगी और प्रतियोगी है। इनकी सत्ता व्यावहारिक है और प्रागभाव की सत्ता भी व्यावहारिक है। अतः प्रागभाव को अनुयोगी–प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार जीव–ब्रह्म में भेद के सम्बन्ध का प्रयोजक अनुयोगी (जीव) प्रतियोगी (भेदविशिष्ट ब्रह्म) है। यहाँ जीव की सत्ता जैसे व्यावहारिक मानी जाती है, वैसे ही भेदविशिष्टब्रह्म की सत्ता भी व्यावहारिक मानी जाती है। क्योंकि शुद्धब्रह्म की ही सत्ता पारमार्थिक मानी जाती है। अतः अनुयोगी–प्रतियोगी के समानसत्तावाला भेद के होने के कारण, जीव–ब्रह्मभेद को अनुयोगी–प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार अज्ञान का आश्रय और विषय ब्रह्म होने पर भी आश्रयत्वविशिष्टब्रह्म और विषयत्वविशिष्टब्रह्म व्यावहारिक होने से अज्ञान के समानसत्ता (व्यवहारिकसत्ता) वाला होने से अज्ञान को अपने आश्रय और विषय की अपेक्षा होती है। इस प्रकार ज्ञाता और विषय के सम्बन्ध की प्रयोजक जो अविद्या है, उसकी सत्ता से आत्मस्वरूपज्ञान अधिकसत्ता वाला होने से उस ज्ञान में सज्ञेयत्व और सज्ञातृत्व को स्वाभाविक

ध्यपेक्षयाऽधिकसत्ताकत्वात्। अत एव ज्ञानस्य सज्ञेयत्वं सज्ञातृत्वञ्च न स्वाभाविकम्।।५।।

तथा हि सज्ञेयत्वं तावज्ज्ञेयजन्यत्वं वा? ज्ञेयव्याप्यत्वं वा? नाद्यः, परोक्षज्ञाने ईश्वरज्ञाने चाभावात्। नापि द्वितीयः, 'यदा ज्ञानं तदा अर्थः' इति कालिकव्याप्तौ पूर्ववद् व्यभिचारात्, दैशिकव्याप्तिस्तु दूरनिरस्तैव (ज्ञातरि तदभावात्)। न च यदा 'अपरोक्षज्ञानं तदार्थः' इति कालिकव्याप्तौ नास्ति व्यभिचारः, आत्मा च 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतेरपरोक्षज्ञानरूप

कैलासविद्याप्रकाशिका

ही आत्मस्वरूप ज्ञान के सज्ञेयत्व और सज्ञातृत्व को अनारोपित अर्थात् स्वाभाविक नहीं कह सकते है।।५।।

सर्वप्रथम ज्ञान में सज्ञेयत्व स्वाभाविक नहीं होता है—इसे स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि ज्ञान में सज्ञेयत्व क्या है? ज्ञेयजन्यत्व है?अथवा ज्ञान व्याप्यत्व है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि परोक्ष ज्ञान और ईश्वर ज्ञान में ज्ञेयजन्यत्व नहीं है। द्वितीय पक्ष इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि ''यदा ज्ञानं तदा अर्थः'' ऐसी कालिक व्याप्ति लेने पर परोक्षादि ज्ञान में व्यभिचारदोष होगा। ''यत्र ज्ञानं तत्र अर्थः'' ऐसी दैशिक व्याप्ति तो मानी ही नहीं जा सकती है, क्योंकि ज्ञान और अर्थ का सामानाधिकरण्य होता ही नहीं है।

शङ्का— ''यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थः'' अर्थात् जिस काल में जिस विषय का अपरोक्ष ज्ञान होता है उस काल में वह विषय होता है—इत्याकारक कालिक व्याप्ति में व्यभिचारदोष नहीं होगा। ''जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष रूप है'' इस श्रुति से आत्मा अपरोक्ष ज्ञान रूप कहा गया है। अतः वह आत्मा भी अर्थ से व्याप्त होना चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त व्याप्ति व्यभिचारदोष से ग्रस्त है क्योंकि ईश्वर ज्ञान में और

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं कह सकते हैं, किन्तु वह आध्यासिक है।।५।।

ज्ञान में सज्ञेयत्व को स्वाभाविक मानने वाले पूर्वपक्षी से यह पूछना चाहिए कि ज्ञान में सज्ञेयत्व क्या है? विषय से जन्य होने के कारण ज्ञान में सज्ञेयत्व मानते हो? अथवा ज्ञान—ज्ञेय से व्याप्य होने के कारण ज्ञान में सज्ञेयत्व मानते हो? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि परोक्षज्ञान (अतीतादिविषयकज्ञान) और ईश्वर का ज्ञान विषय से जन्य नहीं होते हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ''यदा ज्ञानं तदा अर्थः' ऐसी कालिकव्याप्ति लेगें, अर्थात् जिस काल में ज्ञान है उस काल में विषय रहता है, तो इस व्याप्ति का व्यभिचार परोक्षज्ञान और ईश्वरज्ञान में होगा, क्योंकि अतीतविषयकज्ञानकाल में विषय विद्यमान नहीं रहता है और ईश्वर को जो भूत—भाविविषयकज्ञान होता है, उनमें भी ज्ञानकाल में विषय विद्यमान नहीं होता है। यदि दैशिकव्याप्ति लेते हैं कि ''यत्र यत्र ज्ञानं तत्र तत्र विषयः'' तो यह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि ज्ञान ज्ञाता में है, किन्तु घटादि विषय वहाँ नहीं रहते है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि— ''यदा अपरोक्षज्ञानं तदार्थः'' इस प्रकार की कालिकव्याप्ति मे किसी भी प्रकार का व्यभिचारादि दोष नहीं है। ऐसी व्याप्ति के रहने से दोष यह होगा कि अद्वैतमत में ''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'' इस श्रुति के अनुसार आत्मा को अपरोक्षज्ञानरूप माना जाता है। अपरोक्षज्ञान विषय से व्याप्त होने के कारण मोक्षदशा में भी आत्मस्वरूप—अपरोक्षज्ञान विषय के बिना नहीं रह सकता है। पूर्वपक्षी की यह शङ्का ठीक नहीं है। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित व्याप्ति में व्यभिचार है। क्योंकि ईश्वर और योगी को जो वर्तमानकाल में अतीत—भाविविषयक—अपरोक्षज्ञान होता है, उस समय विषय नहीं रहता है। ईश्वर के अपरोक्षज्ञान में जो व्यभिचारदोष दिया गया है, वह तटस्थेश्वरवादी नैयायिक, वैशेषिक, माध्वमत के अनुसार दिया गया है। आचार्यप्रवर ने यहाँ यह दिखाया है कि जैसे माध्वादि के मत में ईश्वर को अतीत—भावि विषयों का अपरोक्षज्ञान होता है, उस समय विषय विद्यमान नहीं रहता है। अतः विषय के न रहने पर भी ईश्वर को अपरोक्षज्ञान रहता है, उसी प्रकार सिद्धान्तपक्ष

इति सोऽप्यर्थव्याप्त इति वाच्यम्; ईश्वरज्ञाने योगिज्ञाने च व्यभिचारात्।।६।।

'यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदार्थ:' इति तु व्याप्ति: सर्वसम्मता। न चात्मरूपे ज्ञाने ऐन्द्रियकत्वमस्तीति न तया विरोध:। ननु—'यदाऽपरोक्षं ज्ञानं तदार्थ:' इति व्याप्त्यनभ्युपगमे 'इदं रजतम्' इत्यपरोक्षज्ञानान्यथानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयरजतसिद्धिर्न स्यात्, अर्थं विनाप्यपरोक्षत्वोपपत्तेरिति चेन्न,

---

कैलासविद्याप्रकाशिका

योगी ज्ञान में व्याप्य के होने पर भी व्यापक नहीं है।।६।।

''जिस काल में जिस विषय का इन्द्रिय से जन्य ज्ञान होता है, उस काल में वह विषय होता है।'' ऐसी व्याप्ति तो सर्वसम्मत है। आत्मस्वरूप ज्ञान में इन्द्रिय जन्यत्व नहीं है। इसलिए इस व्याप्ति को स्वीकार कर लेने से सिद्धान्त मत में किसी प्रकार की क्षति भी नहीं है।

शङ्का— जिस काल में जिस विषय का अपरोक्ष ज्ञान होता है, उस काल में वह वह विषय विद्यमान होता है—ऐसी व्याप्ति को स्वीकार न करने पर ''इदं रजतम्'' इस अपरोक्ष ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से अनिर्वचनीय रजत की सिद्धि जो सिद्धान्ती के द्वारा की जाती है, वह नहीं हो पायेगी, क्योंकि विषय के बिना भी अपरोक्षत्व की उपपत्ति हो जायेगी।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में भी विदेहकैवल्यदशा में विषय के न रहने पर भी आत्मस्वरूपज्ञान रह ही सकता हैं।।६।।

''यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:'' इस व्याप्ति का ईश्वरज्ञानादि में व्यभिचारदोष हो जाने के कारण इस व्याप्ति को न मानकर ''यदा ऐन्द्रियकं ज्ञानं तदा अर्थ:'' ऐसी व्याप्ति को यदि पूर्वपक्षी मानता है तो हमें इस व्याप्ति पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञान इन्द्रियजन्य न होने के कारण आत्मस्वरूपज्ञान के साथ विषय का होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञान विषय से व्याप्त नहीं है। अपितु ऐन्द्रियकज्ञान ही विषय से व्याप्त है। मोक्षदशा में आत्मस्वरूपज्ञान ऐन्द्रियक नहीं होता, अत: वह विषय से भी व्याप्त नहीं होगा। अर्थात् मोक्षदशा में विषय के न रहने पर भी आत्मस्वरूपज्ञान रह सकता है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ईश्वरज्ञान में व्यभिचार के द्वारा यदि सिद्धान्ती कालिकव्याप्ति (यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:) को नहीं मानते हैं, तो 'इदं रजतम्' इस अपरोक्षज्ञान की अन्यथानुपपत्ति ('अनिर्वचनीयरजतोत्पत्तिं विना रजतभ्रमज्ञानस्य अपरोक्षत्वमनुपपन्नम्') के द्वारा अद्वैतवादी के मत में अनिर्वचनीयरजत की सिद्धि नहीं हो पायेगी। क्योंकि रजत के अपरोक्षज्ञान के बल पर ही अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति मानी जाती है। विषय के बिना अपरोक्षज्ञान मानने पर रजत की उत्पत्ति माने बिना भी ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से अपरोक्ष ज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी। इस लिए अपने द्वारा स्वीकृत अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति की रक्षारूप स्नेह के कारण न चाहते हुए भी अद्वैतवादी को ''यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:'' इस कालिकव्याप्ति को मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त कालिकव्याप्ति के बल पर हम अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं। अपितु ''इदं रजतमहं जानामि'' इस अनुव्यवसायात्मकबोध (नैयायिकमतानुसार ''इदं रजतम्'' यह व्यवसायज्ञान और ''इदं रजतमहं जानामि'' यह अनुव्यवसायज्ञान है और सिद्धान्ती के मत में अनुव्यवसाय और व्यवसाय दो ज्ञान नहीं माना जाता है, अपितु 'इदं रजतमहं जानामि' इत्याकारक एक ही ज्ञान माना जाता है। अर्थात् रजत का ज्ञान और रजताकारवृत्ति का ज्ञान एक साथ होता है। अत: मूलस्थ 'ज्ञानविषयत्वम्' के घटक ज्ञान पद से नैयायिकमतानुसार उक्त अनुव्यवसाय का विषयीभूत 'इदं रजतम्' इत्याकारक व्यवसायज्ञान और सिद्धान्ती के मतानुसार 'इदं रजतमहं जानामि' यही ज्ञान लेना है) के द्वारा गृह्यमाण जो 'इदं रजतम्' इत्याकारक व्यवसायज्ञान उसकी विषयता जो रजत निष्ठ है। उस विषयता का आश्रय

'इदं रजतमहं जानामि' इत्यनुसन्धीयमानं यद् ज्ञानविषयत्वं तस्याश्रयान्तरानुपपत्त्या–ऽनिर्वचनीयरजतसिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव परोक्षभ्रमेऽप्यनिर्वचनीयार्थसिद्धि:। जन्यापरोक्षत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''इस रजत को मैं जानता हूं'' इस प्रकार अनुव्यवसाय से अनुसन्धीयमान अर्थात् इदमवच्छिन्न जो चित् तादृशचित्तादात्म्य विशिष्ट रजतनिष्ठत्वेन ज्ञायमान जो ज्ञानविषयत्व है, उस विषयत्व के हट्टस्थ रजत रूप आश्रयान्तर की अनुपपत्ति से प्रतीतिकाल मात्र स्थायी तत्कालोत्पन्न अनिर्वचीय रजत की सिद्धि होती है–जिसे आगे कहा जायेगा। भ्रमस्थलीय अनुभव विशेष से ही दिगादिपरोक्ष भ्रम स्थल पर भी ''इस दिशा को मैं जानता हूं'' इत्यादि अनुव्यवसाय के बल पर अनिर्वचनीय विषय की सिद्धि होती है। अथवा जन्यापरोक्षत्वेन अर्थव्याप्यता है, अर्थात् जिस काल में जिस विषय का जन्य अपरोक्ष होता है, उस काल में वह विषय होता है। इस व्याप्ति का योगज सन्निकर्ष से जन्य अतीतादिविषयक ज्ञान में व्यभिचारदोष नहीं दिखलाया जा सकता है, क्योंकि उस बोध को अपरोक्षरूप से स्वीकार नही किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अनावृत जो साक्षिचैतन्य तादृशसाक्षिचैतन्यतादात्म्यविशिष्टविषयकत्वेन ज्ञान को अपरोक्ष माना जाता है, किन्तु आर्षज्ञान साक्षी के अनावृतत्त्व का सम्पादक होने पर भी ज्ञान काल में उसके अतीत–अनागत विषय न होने से अतीत–अनागत विषय के साथ साक्षितादात्म्य का अभाव होने से उसको अपरोक्षज्ञान नहीं माना जाता है। अत: अतीतादिविषयक योगियों के ज्ञान को अपरोक्ष मान कर उसमें व्यभिचारदोष नहीं दिखलाया जा सकता है। इसलिए उक्त व्याप्ति के निर्दुष्ट सिद्ध हो जाने से भ्रम स्थल में

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनिर्वचनीयरजत से भिन्न हट्टस्थरजतरूप आश्रय नहीं हो सकता है। क्योंकि असन्निकृष्टरजतनिष्ठविषयता इदन्त्वावच्छिन्न नहीं हो सकती है, यह आगे कहा जायेगा। और दूसरी बात यह है कि उक्तभ्रमज्ञान का विषय यदि व्यावहारिक पदार्थ होता, तो उसका बाध ब्रह्मज्ञानेतरज्ञान (शुक्तिज्ञान) के द्वारा नहीं होता, क्योंकि व्यावहारिकपदार्थ ब्रह्मज्ञानैक–बाध्य होता है। इस प्रकार अर्थापत्तिप्रमाण से अनिर्वचनीयरजत की सिद्धि होती है। अर्थापत्ति का आकार– 'इदं रजतमहं जानामीत्यनेन ज्ञायमानं ज्ञानविषयत्वमनिवर्चनीयरजतरूपाश्रयनिष्ठत्वं विना आश्रयान्तरनिष्ठत्वेनानुपपन्नम्'। अत: अनिर्वचनीयरजत की सिद्धि के लिए 'यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:' इस व्याप्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस लिए अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति की साधिका युक्ति (उक्त अर्थापत्तिप्रमाण) जो सिद्धान्ती के द्वारा दी गयी है, उसी अर्थापत्तिप्रमाण के बल पर (न कि 'यदा अपरोक्षं ज्ञानं तदा अर्थ:' इस व्याप्ति के बल पर) अनिर्वचनीय अर्थ की सिद्धि होने के कारण परोक्षभ्रम में भी उक्त अर्थापत्ति के ही बल पर अनिर्वचनीय पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। 'यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:' इस व्याप्ति के बल पर तो परोक्षज्ञान में अनिर्वचनीयरजत की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि परोक्षज्ञान अपरोक्षात्मक नहीं है। पूर्वपक्षी ने इसके पूर्व में कहा कि अपरोक्षज्ञान में विषय की व्याप्यता नहीं मानोगे तो अनिर्वचनीयरजत के उत्पत्ति की सिद्धि नहीं होगी। पूर्वपक्षी की इस बात को मानकर कह रहे हैं कि 'यदा अपरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:' यह व्याप्ति ईश्वरज्ञानादि में व्यभिचरित है। अत: इस व्याप्ति को माना नहीं जा सकता है, अपितु ''यदा जन्यापरोक्षज्ञानं तदा अर्थ:'' ऐसी व्याप्ति मानी जा सकती है। इस व्याप्ति का योगजसन्निकर्ष से जन्य योगियों को होने वाले अतीतभाविविषयकबोध में व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता है, क्योंकि उस बोध को अपरोक्षबोध नहीं माना जा सकता है। क्योंकि अतीत–भाविविषय के साथ चित्तादात्म्य होता नहीं है। ईश्वर का ज्ञान नित्य होने के कारण ईश्वर के ज्ञान में भी व्यभिचार नहीं होगा। इस व्याप्ति के बल पर ''इदं रजतम्'' इस जन्य अपरोक्षबोध की उपपत्ति के लिए अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति की

वाऽर्थव्याप्यता, आर्षज्ञानस्यापरोक्षत्वानभ्युपगमात्, तथा च नानिर्वचनीयरजतसिद्ध्यनुपपत्तिः।।७।।

एवं सज्ज्ञातृकत्वमपि किं ज्ञातृजन्यत्वम्? ज्ञातृव्याप्यत्वम्? ज्ञातृसमवेतत्वं वा? आद्ये ईश्वरज्ञाने व्यभिचारः; ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च। द्वितीयेऽप्यप्रयोजकता। न तृतीयः, ज्ञात्रजन्यत्ववज्ज्ञात्रसमवेतत्वस्यापि सम्भवात्, ज्ञानस्य गुणत्वक्रियात्वयोरनभ्युपगमेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

अनिवर्चनीय रजत की सिद्धि की अनुपपत्ति भी नहीं होगी।।७।।

पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा गया था कि ज्ञान में सज्ज्ञातृकत्व का नियम होता है, वह सज्ज्ञातृकत्व क्या है? क्या ज्ञातृजन्यत्वरूप है? अथवा ज्ञातृव्याप्यत्वरूप है? अथवा ज्ञातृसमवेतत्वरूप है? प्रथम पक्ष को माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ईश्वर ज्ञान नित्य होने से उसमें व्यभिचार दोष है। विषयोपलक्षित ज्ञान की नित्यता का निरूपण आगे किया जायेगा। द्वितीय पक्ष को भी माना नहीं जा सकता है, क्योंकि द्वितीय पक्ष में व्यभिचार शङ्का निवर्तक तर्क शून्यतारूप अप्रयोजकता है। अर्थात् हेतु और साध्य में व्यभिचार की शङ्का करने पर उसका निवर्तक अनुकूल तर्क न होने पर हेतु में अप्रयोजकत्वरूप दोष माना जाता है। प्रकृत में ''विषयोपलक्षितचिद्रूपं स्यात् तत्र समवेतत्त्वसम्बन्धेन ज्ञाता न स्यात्'' इस व्यभिचार शङ्का का निर्वतक कोई तर्क नहीं है। तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धि हो जायेगी और विदेहकैवल्यदशा में आत्मस्वरूपज्ञान के नित्य होने के कारण उसमें विषयसम्बन्ध की भी प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि जन्य अपरोक्षज्ञान में ही विषय की व्याप्यता है।।७।।

ज्ञान में सज्ज्ञेयत्व स्वाभाविक है, इसका खण्डन हो जाने के पश्चात् अब ज्ञान में सज्ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है, इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ज्ञान का सज्ज्ञातृत्व क्या है? 'यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र ज्ञातृजन्यत्वम्' क्या ऐसा कहना चाह रहे है? अथवा 'यदा ज्ञानं तदा ज्ञाता' इस प्रकार से ज्ञान में ज्ञातृव्याप्यत्व कहना चाह रहे हो? अथवा 'यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र ज्ञातृसमवेतत्वम्' ऐसा कहना चाह रहे हो? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरज्ञान में व्यभिचार है। अर्थात् ईश्वरज्ञान में ज्ञानत्व रहने पर भी ज्ञातृजन्यत्व नहीं है, क्योंकि ईश्वरज्ञान नित्य होता है। विषयोपलक्षितज्ञान नित्य होता है, इसकी सिद्धि आगे चलकर की जायेगी। अतः इस दुष्टव्याप्ति के बल पर आत्मस्वरूपज्ञान में ज्ञातृजन्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें कोई अनुकूलतर्क नहीं है। अर्थात् हेतु और साध्य में व्यभिचार शङ्का करने पर उसका निवर्तक अनुकूल तर्क के न रहने पर हेतु में अप्रयोजकता मानी जाती है। प्रकृत में '' जहां ज्ञानत्वोपलक्षितचिद्रूपत्व है, वहां समवेतत्त्व सम्बन्ध से ज्ञातृत्व है।'' यही उक्त व्याप्ति का स्वरूप है। किन्तु इस व्याप्ति में ''ब्रह्म में ज्ञानत्वोपलक्षितचिद्रूपत्व रहे और समवेतत्त्व सम्बन्ध से ज्ञातृत्व न रहे।'' ऐसी शङ्का करने पर, इस शङ्का का निवर्तक कोई अनुकूल तर्क पूर्वपक्षी के पास नहीं है। अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञान में ज्ञाता की व्याप्यता न मानने पर किसी प्रकार का भी अनिष्ट का आपादन नहीं किया जा सकता है। यदि वृत्यात्मकज्ञान में ज्ञाता की व्याप्यता पूर्वपक्षी कहता है तो वह हमें इष्ट है। क्योंकि विषयाकार अन्तःकरण की वृत्तिदशा में ज्ञातृत्व सम्भव है, क्योंकि वहाँ अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य ही वृत्ति का ज्ञाता है, किन्तु वृत्यात्मकज्ञान में ज्ञातृव्याप्यता (ज्ञाता की व्याप्यता) की स्वीकृति के द्वारा आत्मस्वरूपज्ञान में ज्ञाता की व्याप्यता सिद्ध नहीं की जा सकती है। क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञान वृत्यात्मकज्ञान के समान अनित्य नहीं है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार से ज्ञान ज्ञाता से जन्य नहीं है, यह सिद्ध किया गया। उसी प्रकार से ज्ञान ज्ञाता में समवेत नहीं है, यह भी सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् यदि ज्ञान ज्ञाता से जन्य

द्रव्याश्रयत्वानुमानायोगात्, कदाचिज्ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धेनैवानुभवस्य विवरणवाक्यस्य चोपपत्तेः। 'अस्ति ब्रह्म' इति च लकारो न ब्रह्मसत्तां प्रति ब्रह्मणः कर्तृत्वमाह, नित्यत्वेन तदसम्भवात्, किन्तु साधुत्वार्थ इति द्रष्टव्यम्॥८॥

ननु प्रमाभ्रमभिन्नं न ज्ञानम्, न चात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रमा,

कैलासविद्याप्रकाशिका

है, क्योंकि जिस प्रकार ज्ञान ज्ञाता के जन्य नहीं है, उसी प्रकार से ज्ञान ज्ञाता में समवेत भी नहीं है—यह भी सिद्ध हो जायेगा। ज्ञान में गुणत्व और क्रियात्व को स्वीकार न करने के कारण द्रव्याश्रयत्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। कदाचित् (अविद्यावस्था मे) ज्ञातृज्ञेय के सम्बन्ध से ही ''इदमहं जानामि'' इस अनुभव का तथा उक्त विवरण वाक्य की उपपत्ति हो जायेगी। ''अस्ति ब्रह्म'' इस स्थल पर जो लट् लकार आया है, वह ब्रह्म सत्ता के प्रति ब्रह्म के कर्तृत्व का बोधन नहीं करता है, क्योंकि ब्रह्मसत्ता अनादि होने से उसका कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है। किन्तु पदसाधुत्व के लिए ही लट् लकार का प्रयोग किया गया है– ऐसा समझना चाहिए॥८॥

शङ्का– प्रमा और भ्रम से भिन्न कोई ज्ञान होता नहीं है। आत्मस्वरूप जो ज्ञान है। उसको प्रमात्मक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसके विषय जो अविद्यादि है, उनको तात्त्विक मानने की

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, यह सिद्ध हो जाय, तभी यह सिद्ध हो पायेगा कि जो जो ज्ञान होता है वह समवायसम्बन्ध से ज्ञाता में रहता है। परन्तु 'यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र ज्ञातृजन्यत्वम्'' इस व्याप्ति का व्यभिचार ईश्वरज्ञान में दिखाया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि अद्वैतसिद्धान्त में ज्ञान को गुण या क्रिया नहीं माना जाता है और आत्मा को द्रव्य भी नहीं माना जाता है। क्योंकि आत्मा निर्धर्मक होने से किसी भी गुणादि का आश्रय नहीं हो सकता है। इस लिए ''गुणाश्रयत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यत्वम्'' इस लक्षण के द्वारा आत्मा को द्रव्य सिद्ध नही किया जा सकता है। अतः आत्मा को द्रव्य मानकर उसमें गुण और क्रिया के आश्रयत्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है (अनुमान का आकार – 'ज्ञानं द्रव्याश्रितं गुणत्वाद् रूपवत्' 'ज्ञानं द्रव्याश्रितं क्रियात्वाद् गमनक्रियावत्')। पीछे पूर्वपक्षी ने कहा था कि यदि ज्ञान में सज्ञातृत्व और सज्ञेयत्व नहीं मानोगे तो ''इदमहं जानामि'' इस अनुभव और ''ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्'' इस विवरण वाक्य से विरोध होगा। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्यवहारकाल में वृत्यात्मक जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हम मानते है। उसी सम्बन्ध को लेकर उक्त अनुभव और उक्त विवरणवाक्य की उपपत्ति हो जायेगी॥ अतः उक्त अनुभाव और उक्त विवरणवाक्य के बल पर आत्मस्वरूपज्ञान में सज्ञेयत्व या सज्ञातृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। द्वैतवादी के द्वारा यह जो कहा गया कि 'अनादिब्रह्मसत्ता को कर्ता की अपेक्षा होती है, अन्यथा 'अस्ति ब्रह्म'' इस श्रुति में लट्लकार का प्रयोग अनुपपन्न हो जायेगा' उसका निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कह रहें हैं कि ''अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद'' यहाँ पर अस् धातु से जो लट्लकार आया है, उस लट्लकार के द्वारा ''सत्ता'' क्रिया के प्रति ब्रह्म को कर्त्ता नहीं कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मसत्ता नित्य है, उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता है। प्रश्न होता है कि लट्लकार का प्रयोग क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि पदशास्त्र में कहा गया है कि ''नापदं प्रयुञ्जीत'' इस अनुशासन के अनुसार पदसाधुत्व के लिए यहाँ श्रुति में अस् धातु से लट्लकार का प्रयोग किया गया है। केवल अस् धातु का प्रयोग करने पर पदसाधुत्व नहीं आता॥८॥

अब पूर्वपक्षी यह सिद्ध करना चाह रहा है कि आत्मस्वरूपज्ञान प्रसिद्ध ही नहीं है। क्योंकि ज्ञान दो ही प्रकार का होता है। प्रथम प्रमाज्ञान, द्वितीय भ्रमज्ञान। इन दोनों ज्ञानों से भिन्न प्रकार का ज्ञान होता ही

तद्विषयस्याविद्यादेस्तात्त्विकत्वापातात्। न चाप्रमा, दोषजन्यत्वापातादिति चेन्न; तार्किकसिद्धेश्वरज्ञानवद् घटादिनिर्विकल्पकवच्च स्वभावत उभयवैलक्षण्येनाप्युपपत्तेः, तत्राऽपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

आपत्ति होगी। आत्मस्वरूप ज्ञान को भ्रमात्मक भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह दोष से जन्य नहीं होता है। इसलिए आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे न्यायमत में ईश्वर का ज्ञान प्रमा और भ्रम से विलक्षण होने पर भी ज्ञान ही माना जाता है और जैसे घटादिविषयकविषयतात्रितयानवगाही—निर्विकल्पक ज्ञान प्रमा और भ्रम से विलक्षण होने पर भी ज्ञान ही माना जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप ज्ञान भी प्रमा और भ्रम से विलक्षण होने पर भी ज्ञानस्वरूप ही माना जायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि जैसे नैयायिक मत में ईश्वर ज्ञान में प्रमात्व स्वीकार करने पर इन्द्रियसन्निकर्षादिगुणजन्यत्व की आपत्ति होगी और अप्रमात्व स्वीकार करने पर दोष जन्यत्व की आपत्ति होगी और निष्प्रकारक जो

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। आत्मस्वरूपज्ञान को प्रमाज्ञान मान नहीं सकते हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञान के विषय अविद्यादि को तात्त्विक मानना पड़ेगा। आत्मा से अविद्यादि का प्रकाशन होने से आत्मस्वरूपज्ञान का विषय अविद्यादि कहा गया है। प्रमा का लक्षण है—''अनधिगताबाधितविषय– ज्ञानत्वम्''। अविद्यादि को सिद्धान्त में अबाधित माना नहीं जाता है, क्योंकि उनका ब्रह्मज्ञान से बाध होता है, अतः आत्मस्वरूपज्ञान को प्रमाज्ञान नहीं माना जा सकता है। आत्मस्वरूपज्ञान को भ्रमज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भ्रमज्ञान दोषजन्य होता है, जबकि सिद्धान्ती आत्मस्वरूपज्ञान को नित्य मानते हैं। अतः आत्मस्वरूपज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे नैयायिकों के मत में ईश्वर का नित्यज्ञान और घटादि का निर्विकल्पकज्ञान को प्रमा और भ्रम से भिन्न माना जाता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूपज्ञान को भी प्रमा और भ्रम से भिन्न तीसरी कोटि का ज्ञान माना जा सकता है। नैयायिक ईश्वरज्ञान को प्रमा इसलिए नहीं मानते हैं, क्योंकि नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी है। अतः ईश्वरज्ञान में प्रमात्व लाने के लिए उन्हें भूयोऽवयवसन्निकर्ष, सल्लिङ्गपरामर्श आदि गुणों से जन्य ईश्वरज्ञान को मानना पड़ेगा, जब कि न्यायमत में ईश्वरज्ञान को नित्य माना जाता है। इस लिए ईश्वरज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकता है। ईश्वरज्ञान को अप्रमाज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी ज्ञान में अप्रमात्व तभी आता है जब वह ज्ञान दोष से जन्य हो। ईश्वरज्ञान नित्य होने के कारण दोष से जन्य हो नहीं सकता है। अतः ईश्वरज्ञान को नैयायिक अप्रमाज्ञान भी नहीं मानता है। नैयायिक निर्विकल्पकज्ञान को प्रमाज्ञान अथवा अप्रमाज्ञान क्यों नहीं मानते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि नैयायिक के मत में प्रमा का लक्षण—'तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित– तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम्' है। इसी प्रकार अप्रमा का लक्षण ''तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित– तन्निष्ठप्रकारताशालित्वम्'' है। इस प्रकार यह देखा गया है कि प्रमा और अप्रमा दोनों के लक्षणों में प्रकार प्रविष्ट है, अर्थात् प्रमा और भ्रम दोनों ज्ञान ही सप्रकारक होते हैं। जबकि निर्विकल्पकज्ञान निष्प्रकारक होता है। निर्विकल्पकज्ञान का लक्षण है— ''निष्प्रकारकं ज्ञानम्''। अतः निर्विकल्पकज्ञान को प्रमा या अप्रमा नहीं माना जाता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूपज्ञान को प्रमा या अप्रमा से विलक्षण ही माना जा सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि भ्रम और प्रमा से भिन्न ज्ञान होता ही नहीं, उसका खण्डन कर दिया गया। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहता है कि जन्यसविकल्पकज्ञान भ्रम और प्रमा दोनों ही प्रकार का होता है, तो ऐसा मानने से सिद्धान्ती को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी, क्योंकि आत्मस्वरूपज्ञान जन्य नहीं होता है और सविकल्पक भी नहीं होता है। अतः आत्मस्वरूपज्ञान के प्रमा और

ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य, भ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः, निष्प्रकारके च निर्विकल्पके तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्य चानुपपत्तेः, जन्यसविकल्पकत्वेन भ्रमप्रमान्यतरत्वनियमे चास्माकं क्षत्यभावात्, विलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेण च स्वभावतो भ्रमप्रमाविलक्षणस्याप्यात्मज्ञानस्य तदुभयरूपेण व्यवहारोपपत्तेः। न च ज्ञानपदवाच्यभिन्नत्वविवक्षायामुपाधेरपि ज्ञानपदवाच्यत्वात्तत्रासिद्धिः,

कैलासविद्याप्रकाशिका

निर्विकल्पकज्ञान है, उसमें ''तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप प्रमात्व की और तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूप भ्रमत्व की अनुपपत्ति होगी। जन्यसविकल्पक ज्ञान को भ्रमप्रमान्यतर मानने के नियम से सिद्धान्त मत में कोई क्षति नहीं होती है। यद्यपि आत्मस्वरूप ज्ञान स्वभावत: भ्रम और प्रमा से विलक्षण होता है तथापि अविद्या और अन्त:करण की दो विलक्षण वृत्तियों के सम्बन्ध के कारण आत्मस्वरूपज्ञान प्रमात्वेन और भ्रमत्वेन व्यवहृत होता है।

शङ्का— अज्ञानत्व का अर्थ ज्ञानपदवाच्यभिन्नत्व करने पर वृत्तिरूप उपाधि में भी ज्ञानपदवाच्यत्व होने से वृत्तिरूप उपाधि में हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा। यदि अज्ञानत्व का अर्थ ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्व करते है तो ज्ञान पद के लक्ष्य घटादि भी होते है, क्योंकि किसी ने सहसा घटवत्त्व के अभिप्राय से कह दिया—ज्ञानवत् भूतलम्। व्युत्पन्न श्रोता ने भूतल पर घट देखकर ज्ञान शब्द में लक्षणा कर के घट को समझा। अत: घटादि जड़ वर्ग में ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वरूप हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा और ब्रह्म में हेतु के रहने से व्यभिचारदोष होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान पद से जन्य जो प्रतीति तादृश प्रतीति में जो विशेष्य तादृशविशेषभिन्नत्व की विवक्षा करने पर स्वरूपासिद्धि और व्यभिचारदोष नहीं होगा। (यहां

सत्यानन्दप्रबोधिका

अप्रमा से विलक्षण सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि जन्यसविकल्पकज्ञान भी विषयाकारवृत्ति से सम्बद्ध चैतन्य ही है, चैतन्य एक ही होता है। ऐसी अवस्था में भ्रम और प्रमा से विलक्षण एक ही चैतन्य में प्रमात्व और अप्रमात्व का व्यवहार कैसे होगा? इस प्रश्न के समाधान में सिद्धान्ती कह रहे है कि जब चैतन्य किसी भी वृत्ति से सम्बद्ध नहीं होता है, उस समय भ्रम और प्रमा से विलक्षण चैतन्यस्वरूपज्ञान के होने पर भी वही चैतन्य जब अनधिगताबाधितविषयाकार अन्त:करण की वृत्ति से सम्बद्ध हो जाता है, तब उसमें प्रमात्व का व्यवहार होता है और जब वही चैतन्य आगन्तुकदोष से जन्य अविद्यावृत्ति से सम्बद्ध हो जाता है तब उसमे अप्रमात्व का व्यवहार होता है, अर्थात् भ्रम और प्रमा से विलक्षण आत्मस्वरूपचैतन्यज्ञान जब प्रमावृत्तिरूप उपाधि से सम्बद्ध होता है तब उसमें प्रमात्व का व्यवहार होता है और जब अप्रमावृत्तिरूप उपाधि से सम्बद्ध होता है तब उसमे अप्रमात्व का व्यवहार होता है, वस्तुत: वह प्रमा और अप्रमा से विलक्षण है। इस प्रकार भ्रम और प्रमा से विलक्षण होता हुआ भी आत्मस्वरूपज्ञान में प्रमा और भ्रम का व्यवहार हो जाता है। अभी पीछे पूर्वपक्षी ने कहा था कि आत्मस्वरूपज्ञान को प्रमा मानोगे तो उसका विषय अविद्यादि को तात्त्विक मानना पड़ेगा और अप्रमा मानोगे तो दोष से जन्य मानना पड़ेगा, वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यादि साक्षिभास्य हैं और साक्षी स्वयंप्रकाश होने से, अज्ञातार्थप्रकाशस्वरूप वाला न होने से साक्षी में प्रमात्व नहीं रह सकता है। अत: साक्षिभास्य अविद्यादि में अज्ञातत्व के न होने से, अविद्यावच्छिन्नचित् को प्रमा नहीं कहा जा सकता है और अविद्यावच्छिन्न चित् के प्रमा न होने से उसके विषय अविद्यादि को तात्त्विक भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार आत्मस्वरूपज्ञान को प्रमा मानकर जो दोष दिया गया था उसका खण्डन हो गया। अब आत्मस्वरूपज्ञान को भ्रम मानकर जो दोष दिया था उसका खण्डन कर रहे हैं कि अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को साक्षी मानने पर अविद्यावृत्ति अविद्यारूपदोष से जन्य होने के

ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वविवक्षायां तु घटादेरपि ज्ञानपदलक्ष्यत्वात्तत्राप्यसिद्धिरिति वाच्यम्; ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वविवक्षायामुक्तदोषाभावात्।। ९।।

एवमानन्दभिन्नत्वरूपमनात्मत्वमुपपाद्यम्, वैषयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपत्वात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

पर ज्ञान शब्द से ज्ञा धातु लेना है, क्योंकि ज्ञान इस समुदाय की ज्ञान में शक्ति नहीं है अपितु, समुदाय घटक ज्ञा धातु की ज्ञान में शक्ति है। ल्युट् प्रत्यय की शक्ति प्रकरणाधीन कर्ता –करण और भाव में से किसी में होती है। इसलिए तीन प्रकार से ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति होती है–जानातीति ज्ञानम्, ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्, ज्ञप्तिर्ज्ञानम्)।।९।।

इसी प्रकार आनन्दभिन्नत्वरूप अनात्म का भी उपपादन कर लेना चाहिए। अर्थात् आनन्दभिन्नत्व = आनन्दपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्व। विषयजन्य सुखरूपवृत्ति उपहितचैतन्य भी ब्रह्मरूप ही है। केवल उसकी उपाधिभूत वृत्ति ही उत्पत्ति–विनाश वाली होती है और वही पक्षकोटि में प्रविष्ट होती है।

शङ्का– वास्तविक ज्ञानभिन्नत्व और वास्तविक आनन्द भिन्नत्व ब्रह्म में न होने पर भी काल्पनिक

सत्यानन्दप्रबोधिका

कारण उक्त चैतन्य में अप्रमात्व इष्ट ही है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि मिथ्यात्वसाधक जडत्व हेतु का अर्थ जो अज्ञानत्व किया गया था, उस अज्ञानत्व का क्या अर्थ है? ज्ञानपदवाच्यभिन्नत्व अथवा ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्व? मिथ्यात्व का साधक ज्ञानपदवाच्यभिन्नत्व को मानने पर भागासिद्धिदोष होगा। क्योंकि अद्वैतमत में वृत्त्युपहितचैतन्य को ज्ञानपदवाच्य माना जाता है। अतः ज्ञानपदवाच्यत्व ही वृत्ति में है, तद्भिन्नत्व नहीं है और वृत्ति पक्षकोटि में प्रविष्ट है। अतः वृत्ति में हेतु के न जाने से भागासिद्धिदोष होगा। इस दोष का वारण करने के लिए ''ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वमज्ञानत्वम्'' ऐसा अर्थ करेंगे तो प्रथम पक्ष में उक्त दोष नहीं आयेगा, क्योंकि ज्ञानपद का लक्ष्य चैतन्य उससे भिन्न वृत्ति है। अतः वृत्ति में भागासिद्धिदोष नहीं होगा, किन्तु ज्ञान पद का लक्ष्य घटादि पदार्थ भी होंगे, क्योंकि घटादि में भी प्रत्यक्ष, परोक्षादि पदों का प्रयोग होता है। अतः ज्ञानपदलक्ष्यभिन्न घटादि पदार्थ न होने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा और ज्ञानपदलक्ष्य घटादि, उससे भिन्न ब्रह्म होने से उक्त हेतु ब्रह्म में रहने से व्यभिचारदोष भी होगा। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानपद से जन्य जो प्रतीति उसके विषयीभूत विशेष्य से भिन्न को अज्ञान पदार्थ कहा जाता है। अर्थात् ज्ञानपद के श्रवण के अनन्तर वृत्तिविशिष्टचैतन्य की जो प्रतीति उत्पन्न होती है उस प्रतीति में वृत्ति का भान विशेषणरूप से होता है और चैतन्य का भान विशेष्य के रूप से होता है। अतः विशेष्यरूप चैतन्य से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च के होने से स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा और चैतन्य में चैतन्य का भेद रहेगा ही नहीं, अतः व्यभिचारदोष भी नहीं होगा।।९।।

पूर्वोक्त प्रकार से ही जडत्वरूप अनात्मत्व पक्ष में भी समाधान कर लेना चाहिए। अनात्मत्व का अर्थ आनन्दभिन्नत्व करने पर उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करना चाहिए 'आनन्दपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वमनात्मत्वम्'। यहाँ पर आनन्द पद से जन्य सुखाकारवृत्ति विशिष्टचैतन्य की प्रतीति, उसमें विशेष्यभूत चैतन्य से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च होने से स्वरूपासिद्धि दोषादि नहीं होंगे। वैषयिक आनन्द में भागासिद्धिदोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि विषयानन्द ब्रह्मस्वरूप ही होता है। उसको प्रपञ्चरूप पक्ष के अन्तर्गत नहीं माना जाता है। केवल विषय से जन्य सुखाकारवृत्तिरूप उपाधि जो उत्पन्न और नष्ट होने वाली होती है, उसी को पक्षकोटि में माना जाता है, विशेष्यभूतशुद्धब्रह्म को नहीं। वृत्ति में विशेष्यभूतशुद्धब्रह्म से भिन्नत्व रहने पर भागासिद्धिदोष नहीं होगा। स्व में स्व का भेद नहीं होता है, अतः ब्रह्म में ब्रह्मभेद न होने से व्यभिचारदोष भी नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ब्रह्म में ज्ञान या आनन्द का वास्तविकभेद

तदुपाधिमात्रस्यैवोत्पत्तिविनाशप्रतियोगित्वात्। न च ज्ञानभिन्नत्वस्यानन्दभिन्नत्वस्य च काल्पनिकस्य ब्रह्मणि सत्त्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्; धर्मिसमानसत्ताकतद्भेदस्य हेतुत्वात्। अनौपाधिकत्वेन वा भेदो विशेषणीयः, तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृतौ च व्यभिचारपरिहारः पूर्ववत्। एवमस्वप्रकाशत्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

ज्ञानभिन्नत्व और काल्पनिक ब्रह्मभिन्नत्व ब्रह्म में होने से व्यभिचार दोष होगा।

समाधान— नहीं, क्योंकि भेद का विशेषण धर्मिसमानसत्ताक देंगे अर्थात् धर्मिसमानसत्ताक ज्ञानभेद और धर्मिसमानसत्ताकानन्दभेद को हेतु बनाने पर ब्रह्म में व्यभिचारदोष नहीं होगा। अथवा भेद का विशेषण अनौपाधिकत्व देना चाहिए। ऐसा करने से ब्रह्म में ज्ञान का औपाधिकभेद और आनन्द का औपाधिक भेद होने पर भी अनौपाधिक भेद न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। तुच्छ और पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति में व्यभिचारदोष के परिहार के लिए पूर्ववत् ज्ञानभेद और आनन्दभेद में अविद्याकाल वृत्तित्व विशेषण देना चाहिए। अतः ज्ञानभिन्नत्व हेतु का आकार होगा—अविद्याकालवृत्तित्वे सति ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वम्। आनन्दभिन्नत्व हेतु का आकार होगा— अविद्याकालवृत्तित्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होगा। क्योंकि ज्ञान या आनन्द ब्रह्मस्वरूप है और स्व में स्व का भेद नहीं होता है। किन्तु ब्रह्म में ज्ञान का या आनन्द का काल्पनिक भेद तो रह ही सकता है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान वाला और आनन्दवाला है। इस प्रकार ब्रह्म में ज्ञान और आनन्द के भेद की कल्पना जीव करता ही है। इस लिए ब्रह्म में हेतु के रह जाने से व्यभिचारदोष होगा। इस दोष के वारण के लिए कह रहे हैं कि भेद का विशेषण 'धर्मिसमानसत्ताक' देंगे, अर्थात् ज्ञान या आनन्द का भेद वैसा सत्तावाला ही लेना है जैसा सत्तावाल उसका अनुयोगी (धर्मी) हो। कहने का तात्पर्य यह है कि भेद और भेद का अनुयोगी दोनों की समानसत्ता होनी चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान का भेद जहाँ प्रपञ्च में लेना है, वहाँ भेद और प्रपञ्च दोनों व्यावहारिकसत्तावाले हैं, तादृश भेद के प्रपञ्च (पक्ष) में चले जाने से स्वरूपासिद्धि नहीं होगी। किन्तु ज्ञान का काल्पनिकभेद ब्रह्म में लेने पर भेद की सत्ता प्रातिभासिक और ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। अतः भेद और भेद का धर्मी दोनों की सत्ता समान न होने से ज्ञान या आनन्द का काल्पनिकभेद ब्रह्म में स्वीकार कर व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भेद में मिथ्यात्व का निश्चय अभी तक हुआ नहीं, क्योंकि अभी तक मिथ्यात्वानुमान पर ही विचार चल रहा है। अतः भेद में मिथ्यात्व का निश्चय न होने से ब्रह्म के समानसत्तावाला ज्ञान का भेद या आनन्द का भेद ब्रह्म में निश्चय किया जा सकता है, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि प्रपञ्च में मिथ्यात्व का सन्देह हो जाने से प्रपञ्चान्तर्गत भेद में ब्रह्म के समानसत्ताकत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता है। धर्मिसमानसत्ताकत्व में गौरव होने के कारण उसे छोड़कर लाघव की दृष्टि से कह रहे हैं कि भेद का विशेषण अनौपाधिकत्व दे देना चाहिए। ऐसा देने से ज्ञान और आनन्द का औपाधिकभेद ब्रह्म में मिलने पर भी ज्ञान या आनन्द जो ब्रह्मस्वरूप है उस का अनौपाधिकभेद स्वयं में स्वयं का सम्भव न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। शशशृङ्गादि तुच्छपदार्थों और पञ्चम प्रकारिका अविद्या निवृत्ति में सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व के न रहने पर भी ज्ञानभिन्नत्व या आनन्दभिन्नत्वरूप जडत्व हेतु के रहने से व्यभिचारदोष होगा। इसका वारण करने के लिए अज्ञानकालवृत्तित्व विशेषण हेतु में दे देना चाहिए। अर्थात् अविद्याकालवृत्तित्वे सति ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वम्—इत्यादि प्रकार से लक्षण कर लेना चाहिए। पञ्चम प्रकारिका अविद्यानिवृत्ति की अज्ञानकाल में सत्त्वेन वृत्तिता नहीं रहती है और तुच्छ पदार्थ की भी सत्त्वेन वृत्तिता अज्ञानकाल में नहीं रहती है। अतः तुच्छादि में हेतु के न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। न्यायामृतकार ने

वा जडत्वम्, तच्च पूर्वमेवोपपादितमिति शिवम्॥ १०॥

इत्यद्वैतसिद्धौ जड़त्वहेतूपपत्तिः

कैलासविद्याप्रकाशिका

सति आनन्दपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वम्। इसी प्रकार जडत्व रूप हेतु का अर्थ अस्वप्रकाशत्व भी किया जा सकता है। इसका प्रतिपादन दृश्यत्वहेतु के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। इस प्रकार से जडत्व हेतु के विषय में पूर्वाचार्यों ने जो कुछ कहा है वह सभी निर्दोष है।।१०।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां जड़त्वहेतूपपत्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

जडत्व पदार्थ के निर्वचन के अवसर पर जडत्व का अर्थ अस्वप्रकाशत्व भी किया था। सिद्धान्ती अस्वप्रकाशत्व रूप जडत्व का समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि अस्वप्रकाशत्व को हेतु बनाने में भी किसी प्रकार का दोष नहीं है। इस पर विचार दृश्यत्व हेतु के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। इस प्रकार जडत्व हेतु का निर्वचन सम्पूर्ण हुआ। ।। १०।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जडत्वहेतूपपत्तिः —

११ : परिच्छिन्नत्वहेतुविचारः

परिच्छिन्नत्वमपि हेतुः। तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविधम्। तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। कालतः परिच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम्। वस्तुतः परिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वम्।

ननु समवायसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमात्मनि व्यभिचारि;

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्चगत मिथ्यात्व साधक अनुमान में दृश्यत्वादि के जैसे परिच्छिन्नत्व भी निर्दुष्ट हेतु है। वह परिच्छिन्नत्व देशतः कालतः और वस्तुतः भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। इन तीनों में से जो अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप होता है, उसको देशतः परिच्छिन्नत्व कहते है। जो प्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वरूप होता है, उसको कालतः परिच्छिन्नत्व कहते है। जो अन्योन्याभाव प्रतियोगित्वरूप होता है, उसको वस्तुतः परिच्छिन्नत्व कहते है।

शङ्का—समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो अत्यन्ताभाव तादृशात्यन्ताभाव—प्रतियोगित्वरूपपरिच्छिन्नत्व को हेतु बनाने पर आत्मा में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि आकाशादि के समान ब्रह्म भी कहीं पर समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है। (आकाशादिवत् के घटक आदि शब्द से ईश्वरादि को लेना चाहिए, अर्थात् जैसे नैयायिक के मत में आकाश और ईश्वरादि नित्य द्रव्य होने

सत्यानन्दप्रबोधिका

जिस प्रकार से दृश्यत्व और जडत्व हेतुओं के द्वारा प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध किया गया, उसी प्रकार से अब परिच्छिन्नत्व हेतु के द्वारा भी प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध किया जा सकता है, इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि परिच्छिन्नत्व हेतु भी मिथ्यात्व का साधक है। प्रपञ्चमिथ्यात्व का साधक के रूप से उपस्थापित परिच्छिन्नत्व हेतु तीन प्रकार का होता है। (१) देशतः परिच्छिन्नत्व, (२) कालतः परिच्छिन्नत्व और (३) वस्तुतः परिच्छिन्नत्व। परिच्छेद शब्द से यहाँ पर व्यावृत्ति, अन्त अथवा अभाव अर्थ लेना अभीष्ट है। देशान्तर में न रहता हुआ किसी एक देश में रहनेवाले में देशतः परिच्छिन्नत्व रहता है। अर्थात् अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को देशतः परिच्छिन्न कहा जाता है। किसी एक काल में रहता हुआ दूसरे काल में न रहनेवाले में कालतः परिच्छिन्नत्व रहता है। अर्थात् ध्वंसाभाव के प्रतियोगी में कालतः परिच्छिन्नत्व रहता है। पट, पटवस्तु के रूप में ही है, घटवस्तु के रूप में नहीं है। अर्थात् अन्योन्याभाव के प्रतियोगी में वस्तुतः परिच्छिन्नत्व रहता है। इन तीनों प्रकारों का परिच्छिन्नत्व प्रपञ्च में है, किन्तु ब्रह्म में नहीं है। क्योंकि वह सभी देशों में सभी कालों में सभी वस्तुओं के रूप में है।

इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती ने अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में देशतः परिच्छिन्नत्व कहा वह ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश, काल और दिशा जैसे समवायसम्बन्ध से कहीं भी नहीं रहते हैं, उसी प्रकार से आत्मा भी समवायसम्बन्ध से कहीं भी नहीं रहता है। अतः अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आत्मा है। अतः आत्मा में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप देशतः परिच्छिन्नत्व हेतु के रहने से व्यभिचारदोष होगा। इस व्यभिचारदोष के वारण के लिए प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध समवाय न लेकर संयोगसम्बन्ध लेते हो तो संयोगसम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आत्मा नहीं होगा, क्योंकि आत्मा विभु होने से आत्मा का संयोग सर्वत्र है। अतः आत्मा में व्यभिचारदोष नहीं होगा। किन्तु संयोगसम्बन्ध से आकाश, काल, दिशा आदि का अत्यन्ताभाव नहीं मिलेगा, क्योंकि आकाशादि को विभु (सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगी) माना जाता है। अतः मिथ्यात्वानुमान के पक्षकोटि में प्रविष्ट आकाशादि में हेतु के न जाने से भागासिद्धिदोष होगा। इस भागासिद्धिदोष के वारण के लिए यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि संयोगसम्बन्धेन अमूर्तद्रव्यनिष्ठात्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व को

तस्याप्याकाशादिवत् क्वाप्यसमवेतत्वात्; संयोगसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धम्; तस्य यावन्मूर्तसंयोगित्वनियमात्, अमूर्तनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभिप्राये त्वात्मनि व्यभिचारस्त-दवस्थः, सर्वसम्बन्धित्वाभावविवक्षायामपि सर्वसम्बन्धशून्ये परमात्मनि व्यभिचारः, अज्ञाने सर्वसम्बन्धिन्यसिद्धिश्च, ध्वंसप्रतियोगित्वमप्याकाशदावसिद्धम्, तेषां परैर्नित्यत्वाभ्युपगमात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

से कहीं भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते है ठीक वैसे ही आत्मा भी कहीं पर समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है। जो पदार्थ जिस सम्बन्ध से जहां पर नहीं रहता है, उस पदार्थ का वहां पर तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव माना जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से अत्यन्ताभावप्रतियागित्व आत्मा में रह जाने से व्यभिचारदोष होगा।) संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो अत्यन्ताभाव तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व को हेतु मानने पर आकाशादि में हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा, क्योंकि विभु जो आकाशादि द्रव्य हैं, उनको सर्वमूर्तसंयोगी माना जाता है। (घटे आकाशम्, मठे आकाशम्—इत्यादि प्रतीतियो के आधार पर आकाश में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन संयोगित्व माना जाता है और जो पदार्थ जिस काल में जिस सम्बन्ध से जहां पर रहता है। उस पदार्थ का उसी काल में उसी सम्बन्ध से वहीं पर अभाव नहीं रहता है। इसलिए संयोग सम्बन्ध से आकाशादि यावन्मूर्त्त वृत्ति होने से संयोग सम्बन्ध से उसका अभाव नहीं मिल सकता है। इसलिए आकाशादि में भागासिद्धिदोष होगा।) यदि परिच्छिन्नत्व का अर्थ संयोगसम्बन्ध से अमूर्त्तनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व करते है तब आकाशादि में भागासिद्धिदोष न होने पर भी आत्मा में व्यभिचार दोष पूर्ववत् बना रहेगा। सर्वसम्बन्धित्वाभाव की विवक्षा करने पर अर्थात् सम्बन्ध सामान्य से

सत्यानन्दप्रबोधिका

देशतः परिच्छिन्नत्व कहेंगे। ऐसा कहने से अमूर्त आकाशादि पदार्थों का मूर्त घटादि पदार्थों में संयोग रहने पर भी अमूर्त कालादि पदार्थों से संयोग नहीं माना जाता है। अतः अकाशादि संयोगसम्बन्धेन अमूर्तद्रव्यनिष्ठात्यन्ताभाव के प्रतियोगी हो जाने से हेतु मे भागासिद्धिदोष नहीं होगा। किन्तु उसी प्रकार से संयोगसम्बन्ध से अमूर्त आत्मा भी अमूर्तद्रव्यनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जायेगा, क्योंकि अमूर्त आत्मा का भी अमूर्त आकाशादि में संयोगसम्बन्ध नहीं माना जाता है। अतः आत्मा में हेतु के चले जाने से पूर्ववत् व्यभिचार बना ही रहेगा। यदि कहो कि सम्बन्धसामान्य (किसी भी सम्बन्ध) से अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता लेंगे, अर्थात् किसी भी सम्बन्ध से कहीं भी न रहता हो तो इसका तात्पर्य यह होगा कि सर्व असम्बन्धित्व ही अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप देशतः परिच्छिन्नत्व है। ऐसा मानने पर सर्वसम्बन्ध से रहित परमात्मा में हेतु रह जाने से व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि अद्वैतवादी के मत में परमात्मा को असङ्ग माना गया है और मिथ्याभूत अज्ञान प्रपञ्च का उपादानकारण होने से सर्वसम्बन्धी है। अतः अज्ञान में सर्वसम्बन्धित्वाभाव न होने से भागासिद्धिदोष होगा। दूसरी बात यह है कि अज्ञान ब्रह्म को विषय करता है, अर्थात् ब्रह्म को आवृत्त करता है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। अतः ब्रह्म को आवृत्त करनेवाला अज्ञान भी अपरिच्छिन्न ही होगा। अतः मिथ्याभूत अपरिच्छिन्न अज्ञान में देशतः परिच्छिन्नत्व हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा ही। इस प्रकार प्रदर्शित दोषों से ग्रस्त होने के कारण अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप देशतः परिच्छिन्नत्व, मिथ्यात्वरूपसाध्य का साधक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ध्वंसप्रतियोगित्वरूप कालतः परिच्छिन्नत्व को भी मिथ्यात्वरूपसाध्य का साधक हेतु नहीं कहा जा सकता है। इसी को आगे पूर्वपक्षी कह रहा है कि नैयायिकों के मत में आकाश, काल, दिशा आदि नित्य माने जाते हैं। अतः आकाशादि में ध्वंस की प्रतियोगिता न रहने से भागासिद्धिदोष होगा। इसी प्रकार अन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप वस्तुतः परिच्छन्नत्व को भी हेतु नहीं माना जा सकता है। क्योंकि जडनिष्ठान्योन्याभाव का प्रतियोगी आत्मा भी है। अतः आत्मा

अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं चात्मनि व्यभिचारि; तस्य जडनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्, अन्यथा जडत्वापत्तेरिति चेत्?॥ १॥

न, अत्यन्ताभावेऽन्योन्याभावे च प्रतियोगिसमसत्ताकत्वविशेषणेनात्मनि व्यभिचारपरिहारात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

अत्यन्ताभाव लेने पर सर्व सम्बन्ध शून्य ब्रह्म में व्यभिचारदोष होगा और सर्व सम्बन्धी अज्ञान में स्वरूपासिद्धि दोष होगा। (सकल पदार्थो के साथ सम्बन्धाभाव को परिच्छिन्नत्व कहने पर आकाशादि और घटादि में लक्षण चला जायेगा, क्योंकि घटवृत्तिरूपादि के साथ आकाशादि का समवाय–संयोग–आधाराधेयभावादि कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ही घट का पटवृत्तिरूपादि के साथ और पट का घटवृत्तिरूपादि के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेत्वधिकरणता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचारदोष है, क्योंकि उपहित ब्रह्म में ही सर्वसम्बन्धित्व और साक्षित्व है, शुद्ध ब्रह्म में नहीं। इसी प्रकार स्वोपहितचिद्भास्यत्वरूप सम्बन्ध से अज्ञान सर्वसम्बन्धी है। इसलिए सर्वसम्बन्धित्वाभावरूप परिच्छिन्नत्व हेतु के अज्ञान में न रहने से भागासिद्धिदोष होगा।) ध्वंसप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व को हेतु बनाने पर आकाशादि में हेतु के न रहने से भागासिद्धिदोष होगा, क्योंकि नैयायिकादि आकाशादि को नित्य मानते है। अन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व को हेतु बनाने पर आत्मा में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि आत्मा में जड़निष्ठान्योन्याभाव की प्रतियोगिता है। यदि व्यभिचारदोष से बचने के लिए जड़निष्ठान्योन्याभाव की प्रतियोगिता आत्मा में नहीं मानेंगे तो आत्मा में जड़त्व की आपत्ति होगी।।१ ।।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में प्रतियोगिसमसत्ताकत्व विशेषण देने से आत्मा में व्यभिचार दोष का निवारण हो जायेगा और अज्ञान—आकाशादि में स्वसमानसत्ताक अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के विद्यमान

सत्यानन्दप्रबोधिका

में व्यभिचारदोष होगा। यदि जड में आत्मप्रतियोगिकभेद नहीं मानोगे तो आत्मा को भी जड मानने की आपत्ति होगी। अतः आत्मा में जडत्व की आपत्ति से बचने के लिए सिद्धान्ती को जडनिष्ठान्योन्याभाव की प्रतियोगिता आत्मा में अवश्य माननी पड़ेगी। ऐसा मानते ही आत्मा में व्यभिचारदोष होगा। अतः दुष्टहेतु होने से इस परिच्छिन्नत्वरूप हेतु के द्वारा मिथ्यात्वरूपसाध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है।।१ ।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित दोषों का उद्धार करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप देशतः परिछिन्नत्व और अन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप वस्तुतः परिछिन्नत्वरूप हेतु जो मिथ्यात्व के साधक के रूप से कहे गये हैं, उसमें हेतु का घटक (भाग) जो अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव है, उनका विशेषण 'प्रतियोगिसमानसत्ताक' दे देना चाहिए, अर्थात् प्रतियोगिसमानसत्ता— कात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को देशतः परिच्छिन्नत्व कहेंगे और प्रतियोगिसमसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्व को वस्तुतः परिच्छिन्नत्व कहेंगे। ऐसा करने से आत्मा में व्यभिचारदोष नहीं होगा। क्योंकि समवायसम्बन्ध से जो आत्मा का अत्यन्ताभाव लिया जाता है, वहाँ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आत्मा होता है। आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है और अत्यन्ताभाव की सत्ता पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि आत्मा से भिन्न किसी की भी पारमार्थिकसत्ता नहीं मानी जाती है। अतः प्रतियोगी (आत्मा) के समसत्तावाला अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आत्मा के न होने से आत्मा में व्यभिचारदोष नहीं होगा। अज्ञान के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी अज्ञान है। उस अज्ञान और अज्ञान के अत्यन्ताभाव दोनों की ही व्यावहारिकसत्ता होने से 'प्रतियोगिसमसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु अज्ञान में रहने से

अज्ञानाकाशादौ च स्वसमानसत्ताकात्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतियोगित्वसत्त्वेनासिद्ध्यभावात्। अविद्याकाशादेर्व्यावहारिकस्य पारमार्थिकाभावपक्षे ''स्वान्यूनसत्ताक'' इति विशेषणं देयम्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

होने से भागासिद्धि दोष भी नहीं होगा। इसी प्रकार से अन्योन्याभावघटित लक्षण का भी समन्वय कर लेना चाहिए। व्यावहारिक अविद्या—आकाशादि के अभाव को व्यावहारिक न मान कर पारमार्थिक मानने पर अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का ''स्वन्यूनसत्ताक'' विशेषण देना चाहिए। (जिस पदार्थ में उक्त प्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु को समन्वय करना हो। उसे स्व पद से लेते हैं। नञ् का अर्थ भेद है। इसलिए अन्यूनसत्ताक का अर्थ होगा—न्यूनसत्ताक से भिन्न। न्यूनसत्ताक से भिन्न समानसत्ताक तथा अधिकसत्ताक ही हुआ करते हैं। अत: फलितार्थ हुआ—स्वसमानसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्वाधिकसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा परिच्छिन्नत्वम्।'' ऐसा अर्थ करने पर व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों अत्यन्ताभावों को लेकर लक्षण की उपपत्ति हो जायेगी। ''स्वान्यूनसत्ताकेति'' के घटक इति शब्द से यह सूचित किया गया है कि ''स्वान्यूनसत्ताक'' विशेषण के देने से ''स्वसमानसत्ताक'' विशेषण देने की आवश्यकता नहीं रहती है।) स्वान्यूनसत्ताक को अत्यन्ताभाव का विशेषण देने से प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि में व्यावहारिक अभाव का प्रतियोगित्व होने पर भी उसमें साधनरहितत्व नहीं होगा, क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

भागासिद्धि दोष नहीं होगा। इसी प्रकार व्यावहारिक आकाश का व्यावहारिक अत्यन्ताभाव भी प्रतियोगिसमसत्ताक होने से आकाश में प्रतियोगिसमसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगि– त्वरूपपरिच्छिन्नत्व हेतु के रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। इसी प्रकार अज्ञान और आकाशादि में वस्तुत: परिच्छिन्नत्वरूप हेतु भी चला जायेगा। क्योंकि प्रतियोगिसमसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्व को वस्तुत: परिच्छिन्नत्व कहा गया है। आकाश, अज्ञानादि का भेद भी व्यावहारिकसत्तावाला है और उक्त भेद का प्रतियोगी आकाश, अज्ञानादि भी व्यावहारिकसत्तावाले हैं। अत: प्रतियोगिकसमसत्ता– कान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप वस्तुत: परिच्छिन्नत्व हेतु आकाश, अज्ञानादि में रहने से भागासिद्धि दोष नहीं होगा। द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण में सिद्धान्ती के द्वारा मिथ्यात्वलक्षण का घटक जो अत्यन्ताभाव है, उसको पारमार्थिक भी माना गया था और व्यावहारिक भी माना गया था। अर्थात् सिद्धान्ती ने अत्यन्ताभाव को व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही मानकर समाधान दिये थे। इस लिए प्रकृत में व्यावहारिक अज्ञान, आकाशादि के अत्यन्ताभाव को पारमार्थिक मानने पर (व्यावहारिक न मानने पर) आकाशादि का अत्यन्ताभावप्रतियोगिसमसत्ताक नहीं होगा। क्योंकि प्रतियोगी आकाशादि व्यावहारिक है और उनका अत्यन्ताभाव पारमार्थिक है। अत: आकाशादि में भागासिद्धिदोष होगा। इस दोष के वारण के लिए कह रहे हैं कि प्रतियोगिसमसत्ताक विशेषण न देकर 'प्रतियोग्यन्यूनसत्ताक' विशेषण अत्यन्ताभाव का देना चाहिए। ऐसा करने से आकाशादि के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आकाशादि की सत्ता से अन्यूनसत्ता आकाशादि के अत्यन्ताभाव की है, क्योंकि आकाशादि की सत्ता व्यावहारिक है और उसके अभाव की सत्ता पारमार्थिक है, अत: 'प्रतियोग्यन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु आकाशादि में रहने से भागासिद्धिदोष नहीं होगा। अत्यन्ताभाव का विशेषण प्रतियोग्यन्यूनसत्ताक देने से दूसरा लाभ यह होगा कि दृष्टान्त में साधनवैकल्यदोष नहीं होगा। यदि प्रतियोगिसमसत्ताक को अत्यन्ताभाव का विशेषण देते तो शुक्ति में रजत के अभाव की सत्ता व्यावहारिक है और प्रतियोगी रजत की सत्ता प्रतिभासिक है। अत: प्रतियोगिसमसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु दृष्टान्त में नहीं जाता और तब साधनवै– कल्यदोष होता। किन्तु प्रतियोग्यन्यूनसत्ताक को अत्यन्ताभाव का विशेषण देने पर साधनवैकल्यदोष नहीं होगा। क्योंकि प्रतियोगी रजत की सत्ता प्रातिभासिक है और रजत के अत्यन्ताभाव की सत्ता व्यावहारिक है। अत: प्रतियोग्यन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप

अत एव प्रातिभासिकशुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकाभावप्रतियोगित्वेऽपि न साधनवैकल्यम्।।२।।

निरुक्तमिथ्यात्वप्रकाराणामेवंरूपत्वाभावान्न साध्याविशिष्टता। ध्वंसप्रतियोगित्वञ्चाकाशादौ नासिद्धम्; ''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'' इति श्रुतिसिद्धजन्यत्वेनानुमितत्वात्, ''आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'' इत्यत्र चात्मनिदर्शनत्वं स्वसमानकालीन सर्वगतत्वेनाऽऽभूत–

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्वसमानसत्ताकाभावप्रतियोगित्व शुक्तिरूप्य में न रहने पर भी स्वान्यूनसत्ताकाभावप्रतियोगित्व है।।२।।

सदसद्विलक्षणत्वादि रूप से निरूक्त मिथ्यात्व के पांच प्रकारों में एवंरूपता नहीं है। इसलिए हेतु में साध्याविशिष्टता दोष भी नहीं है। ध्वंसप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु की आकाशादि में जो भागासिद्धि दोष कहा था, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ''इस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। इस श्रुति से सिद्ध आकाशनिष्ठ जन्यत्व से ध्वंसप्रतियोगित्व अनुमित होता है।''आकाशवत् आत्मा सर्वगत और नित्य है'' इस श्रुति के द्वारा आत्मा की व्यापकता और नित्यता में जो आकाश का दृष्टान्त दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि आकाश अपने समानकालीन सर्वमूर्तसंयोगी होता है और

सत्यानन्दप्रबोधिका

परिच्छिन्नत्व हेतु दृष्टान्त में चला जायेगा। इस प्रकार साधनवैकल्यदोष का निराकरण हो जायेगा।।२।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि प्रतियोगिसमसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अथवा प्रतियोग्यन्यूनसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप देशतः परिच्छिन्नत्वरूप हेतु के द्वारा मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि करेंगे तो साध्याविशिष्टतादोष होगा। अर्थात् द्वितीय मिथ्यात्व का जो लक्षण है वैसा ही यह हेतु भी है। इसलिए साध्य और हेतु में अभिन्नता मानने पर जो साध्य है वही हेतु है और जो हेतु है वही साध्य है, यह मानना पड़ेगा। अतः पक्ष में हेतु के सिद्ध हो जाने से ही पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से सिद्धसाधनदोष होगा। अथवा जैसे पक्ष में साध्य सिद्ध नहीं है, वैसे ही हेतु भी पक्ष में सिद्ध नहीं होगा। अतः असिद्ध हेतु के द्वारा असिद्ध साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि असिद्ध के द्वारा असिद्ध की सिद्धि नहीं होती है। ऐसी शङ्का का समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि मिथ्यात्व के जो पाँच लक्षण बतलाए गये हैं, उनमें से द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण के साथ उक्त हेतु की अविशिष्टता होने पर भी प्रथम, तृतीय, चतुर्थ अथवा पञ्चम लक्षणों की उक्त हेतु से अविशिष्टता नहीं है। क्योंकि द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण के समान ही प्रथम, तृतीयादि मिथ्यात्व का लक्षण नहीं है। अतः देशतः परिच्छन्नत्व को हेतु बनायेंगे तो साध्यकोटि में प्रथम–तृतीयादि मिथ्यात्व को रखेंगे। अतः साध्याविशिष्टतादोष नहीं होगा। अब तक देशतः परिच्छिन्नत्व और वस्तुतः परिच्छिन्नत्व में आये दोषों का निवारण किया गया। आगे कालतः परिच्छिन्नत्व में आये दोषों का निवारण करने की दृष्टि से कह रहे हैं कि पहले पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि नैयायिक आदि के मत में ध्वंस का प्रतियोगी आकाशादि न होने से भागासिद्धिदोष होगा, वह ठीक नहीं है। क्योंकि ''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा आकाश में जन्यत्व कहा गया है। और जो जन्य होता है, वह ध्वंस का प्रतियोगी भी होता है। इस प्रकार की अनुमिति हो जायेगी। यहाँ अनुमान का आकार होगा– ''आकाशः ध्वंसप्रतियोगी, श्रुतिसिद्धजन्यत्वात्, पृथिवीवत्''। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि ''आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'' (छा० उ० ३/१४/३) इस श्रुति में आत्मा की व्यापकता और नित्यता में आकाश का दृष्टान्त दिया गया है। अतः आकाश भी नित्य और व्यापक है। इस शङ्का का निवारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आत्मा की व्यापकता और नित्यता में आकाश का दृष्टान्त देने में इतना ही तात्पर्य है कि आकाश जब तक रहता है तत्कालीन सर्वमूर्त पदार्थों के साथ संयोगी हैं। यह 'सर्वगत' पद से कहा गया है और जब तक भूतों

सम्प्लवावस्थायित्वेन चेति द्रष्टव्यम्। ''अतोऽन्यदार्तम्'' इति श्रुत्याऽनात्ममात्रस्यैव विनाशित्वप्रतिपादनात्। अत एव 'घटादयः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वात्, यथा सर्पमालादिकं स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वा इदमंशे विभज्यते, एवं ब्रह्मण्यनुगच्छति घटादिकं विभज्यते 'सन् घटः सन् पटः' इत्यानन्दबोधोक्तमपि साधु।।३।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रलयपर्यन्त स्थायी होता है। अतः आकाश में गौणरूप से व्यापकता और नित्यता कही गयी है। आकाश में मुख्य रूप से व्यापकता और नित्यता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ''इस आत्मा से भिन्न सभी विनाशी हैं'' इस श्रुति से आत्मभिन्न माया तत्प्रयुक्त निखिल प्रपञ्च में ही विनाशित्व प्रतिपादन किया गया है। इसलिए ''घटादि अनात्म पदार्थ अपने साथ तादात्म्यापन्न होकर स्वरूप से भान होने योग्य जो वस्तु है, उस वस्तु में कल्पित है, क्योंकि वे सभी विभक्त होकर प्रतीत होते हैं। जैसे सर्पमालादिक स्वानुगतप्रतिभासरूप जो रज्जु का इदमंश है, उसमें विभक्त होकर प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सब में अनुगम ब्रह्म में ''सन् घटः, सन् पटः'' इत्यादि रूप से घटादिक विभक्तत्वेन प्रतीत होते हैं।— ऐसा श्री आनन्दबोध भट्टारक का कथन भी निर्दुष्ट है। यहां विभक्त शब्द से स्वसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप वस्तु परिच्छिन्नत्व विवक्षित है। अतः ब्रह्म और तुच्छ में व्यभिचार दोष नहीं होगा।।३।।—।।४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का प्रलय नहीं होता है तब तक आकाश रहता है। यह नित्य पद से कहा गया है। यदि आकाश को नित्य मानेंगे तो ''अतोऽन्यदार्त्तम्'' (बृ. उ. ३/४/२) इस श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि इस श्रुति के द्वारा अनात्ममात्र में विनाशित्व का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् आत्मा को छोडकर अन्य सभी विनाशी हैं, यह बतलाया गया है। अत एव ''प्रतियोगिसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्व'' अथवा ''प्रतियोग्यन्यूनसत्ताकान्यो—न्याभावप्रतियोगित्व'' को वस्तुतः परिच्छिन्नत्व का अर्थ करने पर भी आनन्दबोधभट्टारक के द्वारा रचित न्यायमाला में प्रपञ्चमिथ्यात्व के लिए किया गया अनुमान भी निर्दुष्ट सिद्ध हो जाता है। उक्त अनुमान में घटादि प्रपञ्च पक्ष है। ''स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः'' साध्य है। अर्थात् स्वेनानुगतः प्रतिभासो यस्य सः तस्मिन्—स्वानुगतप्रतिभासे। अर्थात् स्व के साथ तादात्म्यापन्न होकर स्वरूप से भान होने के योग्य जो वस्तु है, उस वस्तु में, कल्पिताः—ज्ञाननिवर्त्य है, विभक्तत्वात् यह हेतु है। 'प्रतियोगिसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्' यह हेतु का अर्थ है। दृष्टान्त सर्पमालादि हैं। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा— सर्पमाला आदि परस्पर विभक्त हैं। अर्थात् सर्प का भेद जो माला में है वह प्रतियोगिसमसत्ताक है। अर्थात् उक्त भेद का प्रतियोगि सर्प, उसकी प्रातिभासिकसत्ता है और भेद की भी प्रातिभासिकसत्ता है। अतः उक्त भेद के प्रतियोगी सर्पादि में प्रतियोगिसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप हेतु गया। सर्पादि में साध्यसमन्वय इस प्रकार होगा— सर्प के साथ तादात्म्येन जिस रज्जु के 'इदम्' अंश का प्रतिभास होता है, उस 'इदम्' अंश में सर्पादि कल्पित भी है, अर्थात् सर्पादि में ज्ञाननिवर्त्यत्व है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय हो जाने पर पक्ष में हेतु और साध्य को घटा रहे है। घट, पट आदि जो पदार्थ हैं उनमें जो परस्पर भेद है वह प्रतियोगिसमसत्ताक है। अर्थात् घट का पट में जो भेद है, उस भेद का प्रतियोगी घट की व्यावहारिकसत्ता है और भेद की भी व्यावहारिकसत्ता है। अतः घटादि में प्रतियोगिसमसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप हेतु गया। और घट—पट में 'घटः सन् पटः सन्' इस प्रकार से घटपटादि के साथ तादात्म्येन जिस सद्रूपब्रह्म का प्रतिभास हो रहा है, उस ब्रह्म में घटपटादि कल्पित भी है, अर्थात् घटपटादि में ज्ञाननिवर्त्यत्व भी है। इस प्रकार से श्री आनन्दबोधाचार्य के द्वारा किया गया अनुमान निर्दुष्ट है। ।।३।।

विभक्तशब्देन स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वरूपवस्तुपरिच्छेदस्य विवक्षितत्वान्न ब्रह्मतुच्छयोर्व्यभिचारः।।४।।

न च 'खण्डो गौर्मुण्डो गौः' इत्येवमादिस्वानुगतप्रतिभासे गोत्वादौ व्यक्तीनामकल्पितत्वाद् व्यभिचार इति वाच्यम्; सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वादिसामान्यानभ्युपगमात्, गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– ''खण्ड गौ है'' ''मुण्ड गौ है'' इत्यादि स्थलों में स्वानुगतप्रतिभासगोत्वादि में गो व्यक्तियों के कल्पित न होने से उक्त नियम में व्यभिचार है।

समाधान – नहीं, क्योंकि ब्रह्मरूप सत्सामान्य से अतिरिक्त गोत्वादिसामान्य नहीं माना जाता है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

न्यायामृतकार ने विभक्त का अर्थ अननुगतत्व किया था। अननुगतत्वरूप हेतु को लेकर श्री आनन्दबाधाचार्य के अनुमान में दोषों का उद्भावन किया था। किन्तु विभक्तत्व हेतु का अननुगतत्वरूप अर्थ सिद्धान्ती को अभिप्रेत नहीं है। अतः अनभिप्रेत अर्थ के द्वारा दोषों का उद्भावन करना अकाण्डताण्डव के समान है। इसलिए आचार्यप्रवर ने पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये अर्थ और दोषों का उद्भावन न करके सिद्धान्तरहस्य को बतलाना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वपक्षी ने परिच्छिन्नत्व हेतु के निरूपण के प्रसङ्ग में ही श्री आनन्दबोधचार्य के अनुमान का उपन्यास किया है। अतः पूर्वपक्षी इस बात से सहमत है कि विभक्तत्व माने परिच्छिन्नत्व होता है। अन्यथा परिच्छिन्नत्व हेतु के विचार के अवसर पर श्री आनन्दबोधीय हेतु का उपन्यास करना असङ्गत होता। आचार्यप्रवर परिच्छिन्नत्व हेतु के दृष्टि से ही समाधान दे रहे हैं कि विभक्तत्व हेतु का अर्थ– 'वस्तुतः परिच्छिन्नत्व' है। वस्तुतः परिच्छिन्नत्व का अर्थ है 'प्रतियोगिसमानसत्ताकान्योन्याभावप्रति–योगित्वम्'। ऐसा अर्थ करने से ब्रह्म और तुच्छ में व्यभिचारदोष नहीं होगा। क्योंकि ब्रह्म का भेद प्रपञ्च में है, उसका प्रतियोगी ब्रह्म है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और भेद की सत्ता व्यवहारिक है। अतः प्रतियोगिसमसत्ताकभेद न होने से ब्रह्म में प्रतियोगिसमसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु नहीं गया। अतः व्यभिचार नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्म का ब्रह्म में कल्पितभेद लेने पर प्रतियोगी ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और भेद की सत्ता प्रातिभासिक है। अतः प्रतियोगिकसमसत्ताकभेद न होने से ब्रह्म में उक्त हेतु के न जाने से व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। तुच्छ का भेद प्रपञ्चादि में है, किन्तु उस भेद के प्रतियोगी तुच्छ की कोई सत्ता प्रसिद्ध ही नहीं है। अतः तुच्छसमानसत्ताकभेद ही अप्रसिद्ध होने से तुच्छ में उक्त हेतु नहीं रहेगा। अतः तुच्छ में व्यभिचारदोष नहीं होगा। ।।४।।

''यद् विभज्यते तत्स्वानुगतप्रतिभासे कल्पितं यथा रज्जुसर्पादिकम्'' इस व्याप्ति में पूर्वपक्षी व्यभिचारदोष दे रहा है। 'खण्डो गौः' (जिस गाय का शृङ्ग टूट गया है, उस गाय को खण्डो गौः कहते हैं) का भेद 'मुण्डो गौः' (जिस गाय के स्वभावतः शृङ्ग नहीं हैं) में है। इस भेद का प्रतियोगी खण्ड गौ है। यहाँ भेद और प्रतियोगी दोनों की समानसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) है। अतः 'प्रतियोगिसमसत्ताकान्योन्याभावप्रतियोगित्व' रूप परिच्छिन्नत्व हेतु 'खण्डो गौः' आदि में है, किन्तु साध्य नहीं है। क्योंकि 'खण्डो गौः, मुण्डो गौः'इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर गौ व्यक्तियों में अनुगतरूप से प्रतीयमान गोत्व जाति है। किन्तु गोत्व जाति में खण्ड गौ, मुण्ड गौ इत्यादि तत्तद् व्यक्ति कल्पित नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। ऐसा पूर्वपक्षी दोष नहीं दे सकता है। क्योंकि खण्ड गौ, मुण्ड गौ इत्यादि स्थल पर स्वानुगतरूप से प्रतीयमान जो गोत्वजाति है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न और कोई गोत्वादि जाति नहीं मानी जाती है। अर्थात् 'घटः सन् पटः सन्' इत्यादि प्रतीतियों में जैसे सद्ब्रह्म का ही भान हो रहा है, उसी प्रकार 'खण्ड गौ, मुण्ड गौ' इत्यादि प्रतीतियों में भी सद्ब्रह्म का ही भान हो रहा है। अतः सद्ब्रह्म में गौ व्यक्तियाँ कल्पित होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। यदि गोत्व,

गोत्वादिव्यञ्जकतावच्छेदकसामान्यानभ्युपगमाद् व्यक्तिविशेषाणामेवाननुगतानां सास्नादिमत्त्वाद्यु– पाध्यनुगतानां वा तद्व्यञ्जकत्ववद्व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन सत्सामान्यस्यैव तत्तद्व्यवहारजनक– त्वोपपत्ते:। अत एव 'घटादिकं, सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येकं

कैलासविद्याप्रकाशिका

अत: सद्रूप ब्रह्म में ही गोव्यक्तियां कल्पित होने से उक्त नियम में व्यभिचार नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि जैसे गोत्वादि के मानने वालों के मत में भी गोत्वादि को अभिव्यञ्जित करने के लिए कोई व्यञ्जकतावच्छेदक सामान्य न मानने के कारण अननुगत व्यक्ति विशेषों को ही अथवा अनुगत सास्नादिमत्त्वादि उपाधि विशेषों को ही गोत्वादि का व्यञ्जकत्व माना जाता है। ठीक इसी प्रकार व्यक्तिविशेष से संसृष्टरूप सत्सामान्य से ही तत्तद् गोव्यक्त्यादि का व्यञ्जकत्व हो ही सकता है। अतएव=सद्रूप ब्रह्म चैतन्य का सामान्यरूप से सभी पदार्थों में अनुगतत्व सम्भव होने से ही–घटादिक सद्रूप ब्रह्म में कल्पित है, क्योंकि उसमें सद्रूप के साथ तादात्म्यापन्न होकर प्रतीयमानत्व है। जैसे

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटत्वादि जातियों को मान भी लिया जाय तो भी गोत्व, घटत्व आदि का व्यञ्जकतावच्छेदक सर्वानुगत कोई एक धर्म सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् व्यञ्जक–अभिव्यक्त करनेवाला (गोत्व को अभिव्यक्त करनेवाला सास्नादिमत्त्व है, ऐसा पूर्वपक्षी मानता है) और व्यङ्ग्य–अभिव्यक्त होनेवाला (सास्नादिमत्त्वरूपव्यञ्जक के द्वारा गोत्व अभिव्यक्त होता है ऐसा पूर्वपक्षी मानता है)। अब घटत्व का व्यञ्जक सास्नादिमत्त्व तो होगा नहीं, अपितु कम्बुग्रीवादिमत्त्व होगा। इस प्रकार व्यञ्जक भिन्न–भिन्न होंगे। व्यञ्जकतावच्छेदक तो उसी को कहा जायेगा, जो सभी व्यञ्जकों (सास्नादिमत्त्व, कम्बुग्रीवादिमत्त्वादि) में अनुगतरूप से रहता हो। ऐसा कोई अनुगतध र्म पूर्वपक्षी बतला नहीं सकता है। अत: गोत्व, घटत्वादि जातियों का कोई एक व्यञ्जक न होने से गोत्व, घटत्वादि जातियों के अनेक अभिव्यञ्जक मानने के लिए पूर्वपक्षी बाध्य होगा। वह अनेक अभिव्यञ्जक दो प्रकार से माना जा सकता है। जैसे–गोत्वजाति का अभिव्यञ्जक दो प्रकार से मान सकते हैं। प्रथम–गोत्वजाति का अभिव्यञ्जक अनन्तगोव्यक्तियों को माना जा सकता है जो कि परस्पर अननुगत है। द्वितीय–सभी गो व्यक्तियों में अनुगत रहनेवाले सास्नादिमत्त्वरूप उपाधि को गोत्वजाति का अभिव्यञ्जक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार घटत्वजाति का भी अभिव्यञ्जक दो होंगे। प्रथम–परस्पर अननुगत अनन्तघटव्यक्ति और द्वितीय– अनन्तघटव्यक्तियों में अनुगत कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूप उपाधि। इस प्रकार पूर्वपक्षी को सभी जातियों के अभिव्यञ्जक भिन्न–भिन्न अनेक मानने पड़ेंगे। अब किसी व्यक्ति को किसी पिण्ड में 'इयं गौ:' ऐसा यदि व्यवहार करना है तो पूर्वपक्षी के अनुसार अभिव्यञ्जक का ज्ञान पहले इन्द्रियादि से करना होगा। उसके बाद उस अभिव्यञ्जक के ज्ञान से अभिव्यङ्ग्य गोत्व आदि का ज्ञान (अभिव्यक्ति) होगा। तब 'इयं गौ:' ऐसा व्यवहार हो पायेगा। अर्थात् तत्तद् अभिव्यञ्जक से विशिष्ट तत्तद् गोत्वादि जाति तत्तद् व्यक्तिव्यवहार का जनक बन पायेगी। अत: पूर्वपक्षी के अनुसार घट, गौ इत्यादि पदार्थों के व्यवहार का जनक कोई एक पदार्थ नहीं बन पायेगा, क्योंकि गोत्व–घटत्व आदि जातियाँ अनेक हैं। उनमें अनुगत रहने वाला कोई एक धर्म नहीं है। जिससे तद्धर्मावच्छिन्नत्वेन एक को पूर्वपक्षी व्यवहार का जनक बतला पाता। सिद्धान्ती के अनुसार दुनियाँ में जितने भी गौ–घट आदि व्यक्ति हैं, सभी में सत्सामान्य अनुगतरूप से रहता है। अत: गौव्यवहार का जनक है गौव्यक्ति से विशिष्ट सत्सामान्य एवं घटव्यवहार का जनक है घटव्यक्ति से विशिष्ट सत्सामान्य। इस प्रकार से एक ही सत्सामान्य गौ, घट, पट आदि सभी व्यवहारों का जनक हो जायेगा। ऐसा मानने में लाघव भी है। इस प्रकार श्री आनन्दबोधाचार्यकृत अनुमान के निर्दुष्ट सिद्ध हो जाने से तदनुरूप ब्रह्मसिद्धिकारकृत अनुमान भी निर्दुष्ट सिद्ध हो गया। ब्रह्मसिद्धिकार ने ब्रह्मसिद्धि में कहा है–

चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवत्' इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तमपि साधु।।५।।

ननु सदर्थस्य ब्रह्मणः रूपादिहीनस्याऽऽसंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्यस्य कथं घटः सन्नित्यादिबुद्धिविषयता स्यात्? तथा च 'घटोऽनित्यः' इत्यनेन घटगतानित्यतेव 'घटः सन्' इत्यनेनापि घटगतमेव सत्त्वं गृह्यते। न च स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहोश्चन्द्रावच्छेदेनेव ब्रह्मणोऽपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

आकाशस्थ चन्द्र के साथ अनुविद्ध (तादात्म्यापन्न) होकर प्रतीत होने वाले जल तरङ्गों में प्रतीयमान प्रत्येक चन्द्र कल्पित होता है।—ऐसा जो ब्रह्मसिद्धिकार ने कहा है, वह भी निर्दोष है।।५।।

शङ्का— चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रवृत्ति के निमित्त जो रूप रस गन्धादि हैं उनसे रहित, जब तक संसार है, तब तक अज्ञान से आवृत और शब्द मात्र से ज्ञान करने योग्य सद्रूप ब्रह्म में ''घटः सन्'' इत्यादि ज्ञान की विषयता नहीं हो सकती है। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ''घटोऽनित्यः'' इस ज्ञान से जैसे घटगत अनित्यता का ग्रहण होता है, ठीक वैसे ही ''घटः सन्'' इस ज्ञान से घट गत सत्त्व का ही ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि स्वरूपतः अप्रत्यक्ष राहू का जैसे चन्द्रावच्छेदेन प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार स्वरूपतः अप्रत्यक्ष ब्रह्म का भी घटाद्यवच्छेदेन प्रत्यक्ष होता है—ऐसा कथन ठीक नहीं

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा भवेत्।
भेदो यथा तरङ्गाणां भेदाद् भेदः कलावतः।।

अर्थात् घटादि पदार्थ सद्रूप ब्रह्म में कल्पित है। क्योंकि प्रत्येक घटादि व्यक्ति में 'घटः सन्, पटः सन्' इत्यादि रूप से सद्रूपब्रह्म ही अनुस्यूत होकर प्रतीयमान हो रहा है, यथा जल तरङ्गगत प्रत्येक चन्द्रप्रतिबिम्ब में 'अयं चन्द्रः अयं चन्द्रः' इस प्रकार से बिम्बभूत चन्द्र ही अनुस्यूत होकर प्रतीत होता है। अतः सभी प्रतिबिम्बव्यक्ति एक ही आकाशस्थ बिम्ब चन्द्र में कल्पित है। इस अनुमान के हेतु में प्रत्येक पद न देने पर व्यभिचार दोष होता, क्योंकि ''एते वृक्षाः वनमिति, अपरे च वृक्षाः वनम्'' इस प्रतीति में एतद्वृक्षसमूह, अपरवृक्षसमूह की वनत्वेन प्रतीति होने पर भी प्रत्येक वृक्ष की वनत्वेन प्रतीति नहीं होती है। किन्तु वन में अनुगतत्वेन वृक्ष को वन नहीं कहा जाता है। अतः वनानुगतत्वेन प्रतीयमानत्वरूपहेतु वृक्षों में चला गया। किन्तु वन में वृक्षसमूह कल्पित नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होता। अतः प्रत्येक पद देने पर प्रत्येक वृक्ष की वनत्वेन प्रतीति न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।।५।।

पूर्वपक्षी के द्वारा ब्रह्मसिद्धिकारकृत अनुमान में स्वरूपासिद्धिदोष दिया जा रहा है। उक्त अनुमान में हेतु था— प्रत्येक में अनुस्यूत होता हुआ प्रतीयमान होता है। इसका खण्डन करते हुए पर्वपक्षी कह रहा है कि 'सन् घटः' यहाँ पर प्रतीयमान घटादि में ब्रह्म अनुस्यूत होता हुआ प्रतीयमान नहीं होता है। क्यों नहीं प्रतीयमान होता है? इसमें प्रथम कारण कहा कि ''अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'' इत्यादि श्रुति से सिद्ध रूपादि से रहित ब्रह्म 'सन् घट;' इस चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य इस अनुमान से है— 'ब्रह्म न चाक्षुषादिज्ञानविषयं रूपादिरहितत्वाद् धर्मवत्'। ब्रह्म चाक्षुषज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, इसमें दूसरा हेतु दे रहा है कि ब्रह्म संसारपर्यन्त अज्ञान से आच्छन्न माना गया है। अर्थात् 'ब्रह्म न चाक्षुषज्ञानविषयम्, आसंसारमज्ञानावृतत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'। ब्रह्म चाक्षुषज्ञान का विषय नहीं है। इसमें तीसरा हेतु यह है कि ब्रह्म को औपनिषद् अर्थात् केवल वेदान्तवेद्य ही माना जाता है। क्योंकि श्रुति में कहा है कि— ''तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० उ० ३/९/२६) अर्थात् 'ब्रह्म न चाक्षुषादिज्ञानविषयं, शब्दैकसमधिगम्यत्वात्, धर्मादिवत्' इस प्रकार ब्रह्म 'घटः सन्' इत्यादि बुद्धि का विषय न होने से, यह मानना

घटाद्यवच्छेदेनैव प्रत्यक्षतेति वाच्यम्; शब्दाद्यवच्छिन्नस्यापि गगनादेः श्रावणत्वाद्यापातात्, राहोस्तु दूरदोषेणाज्ञातस्य नीलस्य योग्यस्य शुक्लभास्वरचन्द्रसम्बन्धाच्चाक्षुषता युक्तेति चेन्न; यतः सदात्मना न ब्रह्मणो मूलाज्ञानेनावृतत्वम्; किन्तु घटाद्यवच्छिन्नशक्त्यज्ञानेनैव; तथा च चक्षुरादिजन्यवृत्त्या तदावरणभङ्गे सति 'सन् घटः' इत्यत्र ब्रह्मणः स्फुरणे बाधकाभावात्। न च रूपादिहीनतया चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्ति र्बाधिकेति वाच्यम्; प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्येष्वेव रूपाद्यपेक्षानियमात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

है, क्योंकि उक्त रीति से तो शब्दादि से अवच्छिन्न आकाशादि के भी श्रावणत्वादि प्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। दूरता दोष के कारण अज्ञात, नीलरूप वाला, प्रत्यक्ष के योग्य जो राहू है,उस राहू की शुक्ल भास्वररूपवाला जो चन्द्र है, उस चन्द्र से सम्बन्ध होने से उसमें चाक्षुषप्रत्यक्षता मानना उचित ही है।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सद्रूप से (चिद्रूप से) ब्रह्म मूलाज्ञान के द्वारा आवृत नहीं है अपितु घटावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ मूलाज्ञान की अवस्था रूप जो तूलाज्ञान है, उससे ही सदंश और चिदंश आवृत है। इसलिए घटावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ आवरण के भङ्ग हो जाने पर ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष में ब्रह्म के भान होने में कोई बाधक नहीं है। रूपादि से रहित होने से जो चाक्षुषत्वादि की अनुपपत्ति है, वही ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष में ब्रह्म के स्फुरण में बाधिका है—ऐसा शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक नियत इन्द्रिय से ग्राह्य अर्थात् सर्व इन्द्रियों से अग्राह्य जो पदार्थ हैं उन पदार्थों के प्रत्यक्ष में रूपादि की अपेक्षा का नियम है। सद्रूप ब्रह्म तो सर्वेन्द्रिय ग्राह्य है। इसलिए रूपादि से रहित होने पर भी ब्रह्म के चाक्षुषप्रत्यक्षत्वादि की अनुपपत्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह भी है कि तार्किकादि अन्य भी सत्ता का सर्वेन्द्रियग्राह्यत्व मानते हैं। पूर्वोक्त अर्थ को वार्तिककार ने भी कहा

सत्यानन्दप्रबोधिका

पड़ेगा कि 'घटः सन्' यह प्रतीति घट में रहनेवाले सत्त्व—धर्म को ठीक उसी प्रकार विषय कर रही है, जिस प्रकार से ''घटोऽनित्यः'' यह प्रतीति घटगत—अनित्यत्वधर्म को विषय कर रही है। अर्थात् 'घटः सन्' में ब्रह्मसत्ता की यदि प्रतीति होती है, तब तो 'घटोऽनित्यः' इसमे ब्रह्मनिष्ठ—अनित्यत्व की प्रतीति माननी पड़ेगी, न कि घटनिष्ठ—अनित्यत्व की, जो कि सम्भव नहीं है। अतः 'घटः सन्' से घटगतसत्ता की प्रतीति होती है न कि ब्रह्मनिष्ठसत्ता की और 'घटोऽनित्यः' से घटगत अनित्यता का बोध होता है, न कि ब्रह्म के अनित्यता का। इस पर यदि सिद्धन्ती कहते हैं कि स्वरूप से ब्रह्म अप्रत्यक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष के योग्य घटादि अवच्छेदेन ब्रह्म का प्रत्यक्ष हो जायेगा, यथा स्वरूपतः अप्रत्यक्ष राहु प्रत्यक्षचन्द्रावच्छेदेन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि स्वरूप से चाक्षुषप्रत्यक्ष का अयोग्यपदार्थ भी यदि चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यपदार्थ के सम्पर्क से प्रत्यक्ष के योग्य हो जाता है तो श्रावणप्रत्यक्ष के अयोग्य आकाश का भी श्रावणप्रत्यक्ष के योग्य शब्द के सम्पर्क से, अर्थात् शब्दावच्छेदेन श्रावणप्रत्यक्ष के योग्य शब्द के सम्पर्क से आकाश का भी श्रावणप्रत्यक्ष होने की आपत्ति होगी। प्रश्न होगा कि स्वरूपेण प्रत्यक्ष के अयोग्य राहु का प्रत्यक्ष के योग्य चन्द्रावच्छेदेन कैसे प्रत्यक्ष होता है? इसका उत्तर पूर्वपक्षी दे रहा है कि नीलरूपवाला राहु स्वरूपेण प्रत्यक्षायोग्य नहीं है। अपितु राहु स्वरूपेण प्रत्यक्ष का योग्य होने पर भी दूरदोष के कारण चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नही बन पाता है। प्रत्यक्ष का योग्य नीलराहु, शुक्लभास्वरचन्द्र के सम्बन्ध से चाक्षुषज्ञान का विषय बन जाता है। जैसे लोक में दूरस्थ नीलवस्तु भी सूर्य के प्रकाश के सम्बन्ध से चाक्षुषज्ञान का विषय बन जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष के अयोग्यवस्तु का किसी प्रकार से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः रूपरहित ब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि

सर्वेन्द्रियग्राह्यन्तु सद्रूपं ब्रह्म, नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्ति:, सत्ताया: परैरपि सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमाच्च। तदुक्तं वार्तिककृद्भि:—

'अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षण:।
अक्षादीनां स्वत:सिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता।।'' इति।

कैलासविद्याप्रकाशिका

है—आत्मभिन्न जड़ पदार्थों के अज्ञातत्त्व (अज्ञानविषयत्व) का अभाव होने से, अनारोपित—अनुभवात्मक सद्‌रूप आत्मा ही इन्द्रियों का अर्थात् इन्द्रियादि जन्य प्रमाणरूप अन्त:करणवृत्तियों का विषय है, क्योंकि वह अज्ञातरूप है अर्थात् अज्ञान का विषय है। (इसलिए जड़ में अज्ञातत्व न होने से विषयत्व नहीं है अपितु जड़ में विषयीभूत सद्‌रूप का अवच्छेदकत्व है। अर्थात् अज्ञानविषयीभूत सद्‌रूप आत्मा का अवच्छेदक होने के कारण गौणरूप से जड़ को अज्ञात कहा जाता है। वस्तुत: अज्ञान का विषय जड़ होता ही नहीं है।) उस सद्‌रूप अज्ञात आत्मा को विषय करने से ही उन प्रमाणरूपवृत्तियों में प्रमाणता मानी जाती है, क्योंकि अज्ञाताबाधितार्थविषयकत्व ही तो प्रमाण निष्ठ प्रमाणता है। इसी प्रकार रूपरहित काल का सर्वेन्द्रियग्राह्यत्व मीमांसकादि भी मानते हैं, क्योंकि उनका यह कथन है—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि शब्द के सम्बन्ध से शब्दावच्छिन्न आकाश के श्रावणप्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी—ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि स्वभावत:

सत्यानन्दप्रबोधिका

आनन्दात्मना ब्रह्म मूलाज्ञान के द्वारा आवृत होने पर भी सदात्मना और चिदात्मना ब्रह्म मूलाज्ञान के द्वारा आवृत नहीं है, अपितु घटादि विषयक तूलाज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म की सद्रूपता आवृत है। अत: चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा निकली अन्त:करण की घटाकारवृत्ति उस तूलाज्ञान को नष्ट कर देती है, तब ''घट: सन्'' के रूप से सदात्मना ब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने में कोई बाधक नहीं है। अर्थात् सत्—भान—आनन्द इन तीनों अंशों में से आनन्द अंश ही मूलाज्ञान से आवृत है,क्योंकि ''पूर्णानन्दो मे न भाति'' ऐसी प्रतीति होती है। जबकि ''सद्‌भानरूपे मे भात:'' ऐसी प्रतीति होती है। अत: संसार काल में सदंश और चिदंश का भान होता है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि सदंश और चिदंश अनावृत हैं, तब तो घटाकार वृत्ति के बिना भी ''घट: सन्—घटो भाति'' ऐसी बुद्धि होनी चाहिए? इसके उत्तर में कहा गया कि घटावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ जो मूलाज्ञान की अवस्थारूप तूलाज्ञान है,उससे सदंश और चिदंश आवृत है। इसलिए चक्षुरादि जन्य वृत्ति से जब घटावच्छिन्न आवरण भंग होता है, तब ''सन् घट:'' इस प्रत्यक्ष में ब्रह्म का स्फुरण (भान) होने लगता है। पीछे पूर्वपक्षी ने कहा था— ''ब्रह्म न चाक्षुषज्ञानविषयं रूपरहितत्वात्, धर्मवत्''। इस अनुमान का हेतु रूप में व्यभिचारी है। दूसरी बात यह है कि चाक्षुषप्रत्यक्षता के लिए रूप का होना उसी वस्तु में अनिवार्य है जिसका प्रत्यक्ष केवल एक ही इन्द्रिय (चक्षु) के द्वारा हो। किन्तु जो वस्तु सभी इन्द्रियों का विषय हो उसके प्रत्यक्ष के लिए उसमें रूप की अपेक्षा नहीं है। सदात्मना ब्रह्म सभी इन्द्रियों से ग्राह्य है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय से ''घट: सन्'' इस प्रकार से सद्रूपब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय से भी 'घट: सन्' इस प्रकार से सद्रूपब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय से ''गन्ध: सन्' इस प्रकार से सद्रूपब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है। अत: रूप से रहित होने पर भी सदात्मना ब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। सत्ता को माननेवाले तार्किकगण भी सभी इन्द्रियों से सत्ता का प्रत्यक्ष मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नैयायिक का नियम है— ''यद् वस्तु यदिन्द्रियग्राह्यं तन्निष्ठा जाति: तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते''। जब चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होता है जो उसी चक्षुरिन्द्रिय से घटत्व और घटाभाव का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। अत: घटत्व और घटाभाव में रूप के न रहने पर भी नैयायिक चाक्षुषप्रत्यक्ष मान लेता है, तब उसका यह

कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभि: सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात्। न च शब्दावच्छिन्नस्याकाशस्यापि श्रावणत्वं स्यादिति वाच्यम्। स्वभावतो योग्यस्य हि केनचिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्यावच्छेदकादिना योग्यता सम्पाद्यते, यथा दूरदोषेण प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य राहोश्चन्द्रसम्बन्धेन। एवञ्चावरणेन प्रतिरुद्धयोग्यताकं ब्रह्म घटाद्यवच्छेदन योग्यं भवति, नभस्तु

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रत्यक्ष योग्य और किसी निमित्त से अवरूद्ध योग्यता वाले पदार्थ की ही अवच्छेदकादि से योग्यता सम्पादित होती है, जैसे दूरतारूप दोष से प्रतिरूद्धयोग्यताक राहु की योग्यता का चन्द्रसम्बन्ध से सम्पादन होता है। इसी प्रकार घटावच्छिन्न जो आवरण है, उस आवरण से घटावच्छेदेन प्रतिरूद्धयोग्यताक जो सद् ब्रह्म है, वह घटाद्याकार वृत्ति से घटाद्यच्छेदेन प्रत्यक्ष योग्य होता है किन्तु आकाशादि तो स्वभाव से ही प्रत्यक्ष के अयोग्य है, प्रतिरूद्ध योग्यता वाले नहीं है। इसलिए शब्दावच्छेदेन प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हो सकते हैं। अथवा द्रव्य के प्रत्यक्ष में चक्षु को रूप की अपेक्षा होती है और द्रव्य से अतिरिक्त

सत्यानन्दप्रबोधिका

नियम अपने आप ही भङ्ग हो जायेगा कि रूपरहित का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए ब्रह्म रूप से रहित है, अत: ब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष 'घट: सन्' के द्वारा नहीं हो सकता है, यह कहना सर्वथा असङ्गतसिद्ध हो गया। सिद्धान्ती ने ''परैरपि'' ऐसा जो कहा, उसमें 'अपि' पद से यह सूचित किया कि सत्ता सभी इन्द्रियों से ग्राह्य है। इसमें अपने आचार्यों की भी सम्मति है। इसमें वार्तिककार के वचन को प्रमाणरूप से प्रस्तुत कर रहे हैं, उसका अन्वय– 'अत: अज्ञातलक्षणोऽनुभव एव अक्षादीनां स्वत:सिद्ध एको विषय: यत्र तेषां प्रमाणता'। अर्थ–अत:= अनुभव (ब्रह्म) से भिन्न घटादि में अज्ञातत्व, अबाधितत्व न होने से, अज्ञातस्वरूप एक ब्रह्म ही इन्द्रियों का (अर्थात् इन्द्रियादिजन्यप्रमाणरूप अन्तकरण की वृत्तियों का) अबाधित विषय है। (यहाँ एक शब्द से ब्रह्म से भिन्न सब की व्यावृत्ति कर दी गयी है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न कोई भी अक्षादियों का विषय नहीं होता है)। अर्थात् ब्रह्म में ही अबाधितत्व कहा गया है। इस प्रकार अज्ञात और अबाधित आत्मा को इन्द्रियों का विषय मानने पर ही अज्ञाताबाधितार्थविषयकज्ञानजनकत्वेन इन्द्रियादि में प्रमाणता सिद्ध होगी। यदि घटादि को इन्द्रियों का विषय मानते हैं तो घटादि बाधित और ज्ञात होने के कारण अज्ञाताबाधितविषयकज्ञानजनकत्व इन्द्रियादि में न जाने से इन्द्रियादि में प्रमाणता ही नहीं रहेगी। वार्तिककार की सम्मति के पश्चात् वैयाकरण और मीमांसकों की सम्मति को भी देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रूप से रहित काल सभी इन्द्रियों से ग्राह्य है, ऐसा मीमांसकादि भी मानते हैं। इसलिए रूपरहितब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। पीछे पूर्वपक्षी ने यह जो दोष दिया था कि शब्दावच्छेदेन आकाश का भी श्रावणप्रत्यक्ष होने लगेगा। वह ठीक नहीं है। क्योंकि हम यह नहीं मानते है कि जो प्रत्यक्ष के अयोग्य है वह किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष के योग्य हो सकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि प्रत्यक्ष के स्वभावत: योग्यपदार्थ में जो प्रत्यक्ष की योग्यता है, वह किसी निमित्ति के कारण यदि अवरुद्ध हो गयी है तो वह योग्यता किसी योग्य अवच्छेदक के द्वारा पुन: प्रत्यक्षयोग्यता को सम्पादन कर लेती है, जैसे नीलरूपवाले राहु में प्रत्यक्ष की योग्यता है। वह योग्यता दूरदोषादि के कारण अवरुद्ध हो गई है। जब प्रत्यक्ष के योग्य जो चन्द्र है, उस चन्द्रावच्छेदेन राहु में पुन: प्रत्यक्ष की योग्यता आ जाती है तब राहु का प्रत्यक्ष हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सदात्मकब्रह्म के प्रत्यक्ष की योग्यता तूलाज्ञान के द्वारा अवरुद्ध हो गयी है। जब घटादिपदार्थों के आकार की वृत्ति के योग से तूलाज्ञानरूप आवरण दूर हो जाता है, तब घटाद्यवच्छेदेन सदात्मकब्रह्म का प्रत्यक्ष हो जाता है। आकाश में स्वभावत: प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है। अत: आकाश प्रतिरुद्ध योग्यतावाला न होने से किसी शब्दादि अवच्छेदेन आकाश में प्रत्यक्ष की योग्यता का सम्पादन नहीं किया जा सकता है। सिद्धान्ती ने जब यह

स्वभावायोग्यमेव; न प्रतिरुद्धयोग्यताकम्, येन शब्दावच्छेदेन योग्यं भवेत्। यद्वा द्रव्यग्रहे चक्षुषो रूपापेक्षा, नत्वन्यग्रहे, ब्रह्म तु न द्रव्यम्; ''अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'' इति श्रुत्या चतुर्विधपरिमाणनिषेधेन द्रव्यत्वप्रतिषेधात्, अतो नानुपपत्तिः। अस्तु वा द्रव्यम्; तथाप्यध्यस्तद्रव्यत्ववति गुणादौ रूपानपेक्षचाक्षुषत्वदर्शनेन धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षू रूपमपेक्षते। ब्रह्मणि च द्रव्यत्वं धर्म्यपेक्षया न्यूनसत्ताकमेवेति न तद्ग्रहे रूपाद्यपेक्षा। कल्पितत्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

रूपादि के प्रत्यक्ष में चक्षु को रूप की अपेक्षा नहीं होती है। ब्रह्म तो द्रव्य ही नहीं है, क्योंकि ''अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है'' (बृ.उ. ३–८–८) इस श्रुति से चतुर्विध परिमाण के निषेध के द्वारा ब्रह्म में द्रव्यत्व का प्रतिषेध किया गया है। इसलिए ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष में सद् ब्रह्म के भान होने में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। अथवा ब्रह्म द्रव्य भी हो तो भी अध्यस्त है द्रव्यत्व जिसमें ऐसे जो गुणादि, उन गुणादियों में रूपानपेक्ष चाक्षुषत्व के होने से यह मानना पड़ता है कि धर्मी (आश्रय) से अन्यूनसत्ताक द्रव्यत्व वाले पदार्थ के प्रत्यक्ष में ही चक्षु रूप की अपेक्षा करता है। ब्रह्म में तो द्रव्यत्व धर्मिरूप ब्रह्म की अपेक्षा से न्यूनसत्ताक है। इसलिए ब्रह्मरूपद्रव्य के प्रत्यक्ष में चक्षु को

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वीकार कर लिया कि आकाश में चक्षु और त्वक् के प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है, तब यह अर्थात् सिद्ध हो गया कि चक्षु और त्वक् से प्रत्यक्ष वहीं होता है, जहाँ रूप और स्पर्श रहते हों। आकाश में रूप और स्पर्श के न होने के कारण ही आकाश में चक्षु और त्वक् के प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है। अतः ब्रह्म में भी रूप और स्पर्श न होने से चक्षु और त्वक् से निर्गुणब्रह्म का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस अरुचि के कारण 'यद्वा' पक्ष उठा रहे हैं कि द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा होती है, द्रव्य से भिन्न गुणादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि रूप में रूप न होने पर भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। प्रकृत में ब्रह्म को द्रव्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि, ''अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'' (बृ० उ० ३/८/८) इस श्रुति के द्वारा स्थूल, अणु, ह्रस्व तथा दीर्घ इन चार प्रकार के परिमाणों का ब्रह्म में निषेध करके द्रव्यत्व का ही प्रतिषेध कर दिया गया है। अतः ब्रह्म के चाक्षुषप्रत्यक्ष में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि विभुपरिमाणवाले ब्रह्म में उक्त श्रुति के द्वारा परमार्थतः परिमाण का निषेध किया गया है, अर्थात् ब्रह्म का विभुपरिमाणरूप गुण पारमार्थिक नहीं है, किन्तु कल्पित है। अतः कल्पितपरिमाणवाला होने के कारण ब्रह्म को द्रव्य मानना चाहिए। द्रव्य मानने पर चाक्षुषप्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होगी, इस शङ्का का उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म को द्रव्य मान भी लिया जाय तो भी ब्रह्म में कल्पित द्रव्यत्व ही मानना पड़ेगा, क्योंकि ''अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'' इस श्रुति के द्वारा पारमार्थिकद्रव्यत्व का निषेध कर दिया गया है। अतः यह मानना पड़ेगा कि जिसमें द्रव्यत्व अध्यस्त है, उसके चाक्षुषप्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा नहीं होती है। जैसे वेदान्त के अनुसार ज्ञान द्रव्य है। न्यायमत के अनुसार ज्ञान गुण है। अतः न्यायमतानुसार ज्ञान को द्रव्य कहनेवाले व्यक्ति को भ्रमात्मकज्ञान है। अर्थात् ''द्रव्यत्वाध्यासवति गुणे द्रव्यत्वप्रकारकज्ञानं भवति'' ऐसा बोध होगा। तो यहाँ पर ज्ञानगुण के प्रत्यक्ष में रूप की आवश्यकता नहीं होती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्यत्व जिस धर्मी में बैठा है उसकी सत्ता से अन्यूनसत्तावाला यदि द्रव्यत्व होगा तो उस द्रव्यत्ववाले के प्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा होगी। जैसे द्रव्यत्व घट में है, घट की सत्ता व्यावहारिक है और द्रव्यत्व की सत्ता व्यावहारिक है। अतः धर्मी (घट) की सत्ता से अन्यूनसत्ता द्रव्यत्व की है। अतः ऐसे द्रव्यत्ववाले घट के चाक्षुषप्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा होती है, ब्रह्म में द्रव्यत्व कल्पित है। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है, द्रव्यत्व

च स्वाभाववति प्रतीयमानत्वं वा, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्वं वेत्यन्यदेतत्। तस्मात् परिच्छिन्नत्वमपि भवति हेतुरिति सिद्धम्।।६।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

रूपादि की अपेक्षा नहीं होती है। उक्त दोनों साध्यों में आये हुए कल्पित शब्द का अर्थ स्वाभाववत् में प्रतीयमानत्व अथवा स्वरूपज्ञान से निवर्त्यत्व है। यह दूसरी बात है, अर्थात् हेतु विषयक विचार के प्रसङ्ग में साध्य विषयक विशेष विचार की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार से परिच्छिन्नत्व भी मिथ्यात्वानुमिति के प्रति निर्दुष्ट हेतु है—यह सिद्ध हो गया है।।६।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

की सत्ता प्रातिभासिक है। इसलिए धर्मी की सत्ता से न्यूनसत्ता द्रव्यत्व की होने के कारण कल्पितद्रव्यत्ववाले धर्मी ब्रह्म के प्रत्यक्ष के लिए रूप की अपेक्षा नहीं होगी। श्री आनन्दबोधाचार्य और ब्रह्मसिद्धिकारकृत अनुमान के साध्य में आया हुआ कल्पित शब्द का अर्थ मिथ्यात्व के चतुर्थ लक्षण स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप अथवा मिथ्यात्व के तृतीय लक्षण—ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि कल्पितत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि उक्त आचार्यों के अनुमान के द्वारा की गयी है। इस प्रकार परिच्छिन्नत्वरूप हेतु निर्दुष्ट सिद्ध हो गया।।६।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः —

१२: अंशित्वहेतुविचारः

चित्सुखाचार्यैस्तु 'अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, इतरांशिवत्' इत्युक्तम्। तत्र तन्तुपदमुपादानपरम्, तेन स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व–लक्षणमिथ्यात्वसिद्धिः।।१ ।।

न च कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

श्रीचित्सुखाचार्य का कथन है कि यह पट इन तन्तुओं में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी रूप कार्य होने से, जैसे अन्य अवयवी रूप कार्य। तत्र=श्रीचित्सुखाचार्य के इस कथन में, तन्तु पद उपादान का बोधक है। इस अनुमान के द्वारा स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभाव के प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि होती है।।१ ।।

शङ्का– कार्य के स्वोपादान के साथ अभिन्नता होने से उसमें (स्वोपादान में) अनाश्रितत्व होने से सिद्धसाधन है। अभेद होने के कारण स्वोपादान तन्तुओं में पट के अनाश्रित होने से अथवा स्वोपादान तन्तुओं से भिन्न में आश्रित होने से उपपत्या=स्वात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य की उपपत्ति होने से, अर्थान्तरदोष है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्राचीन आचार्यों ने व्यावहारिकसत्तावाले सम्पूर्णप्रपञ्च को पक्ष कोटि में रखकर दृश्यत्व, जडत्व और परिच्छिन्नत्व हेतुओं द्वारा उसमें मिथ्यात्व सिद्ध किया है। नवीन आचार्यों के द्वारा एक सफल प्रयास यह किया गया कि अंशित्व (अवयवित्व) हेतु के द्वारा प्रत्येक व्यावहारिकवस्तु जहाँ अपने उपादान कारण में दिखाई दे रही है, वहीं पर उसका अत्यन्ताभाव सिद्ध करके चतुर्थ मिथ्यात्व लक्षण को पर्यवसित कर दिया गया। इस परम्परा का उद्भावन श्री चित्सुखाचार्य ने इन पंक्तियों से किया–

अंशिनः स्वांशगतात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु।।

अद्वैतसिद्धिकार आचार्यप्रवर इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए कह रहे हैं कि श्री चित्सुखाचार्य का यह कथन भी उचित है– ''अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अंशित्वात्, इतरांशिवत्''। अर्थात् यह जो पट है वह अपने ही उपादानकारण तन्तु में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। इसमें हेतु दिया अंशित्व (अवयवित्व या पटत्व) को। पूर्वपक्षी को सन्तुष्ट रखने के लिए पटान्तर दृष्टान्त दिया गया है। दूसरे पट में पूर्वपक्षी भी पटत्व को मानता है और इस पट का उपादानकारण जो यह तन्तु है, इस तन्तु में पटान्तर का अत्यन्ताभाव पूर्वपक्षी को मान्य है। अतः पटान्तर में हेतु और साध्य रहने से व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु (पटत्व) रहने से पक्षधर्मता मिल गयी। व्याप्ति और पक्षधर्मता मिल जाने से परामर्शज्ञान का सम्पादन हो जाने से पट के उपादानकारण एतत्तन्तु में पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो गया। अनुमान का घटक तन्तु पद से उपादान अर्थ लेना चाहिए। तन्तु का अर्थ उपादान करने पर अंशित्व हेतु का अर्थ कार्यत्व कर लेना चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि कार्य अपने आश्रयीभूत उपादानकारणनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, यह सिद्ध होगा। ऐसा सिद्ध होने से स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि पक्ष में हो जायेगी। इसी दृष्टिकोण से सिद्धान्ती ने यह अनुमान भी प्रस्तुत किया है।।१ ।।

इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि अद्वैतवेदान्त में कार्य और कारण का अभेद माना गया है। अर्थात् पट और तन्तु अभिन्न है। ऐसा मानने पर तन्तु भी पट ही है, ऐसा अर्थ निकलेगा। तब कहने का आशय यह होगा कि पट में पट नहीं रहता है, यह बात पूर्वपक्षी भी मानता है, अतः सिद्धसाधनदोष होगा। अर्थात्

वोपपत्त्याऽर्थान्तरञ्चेति वाच्यम्, अभेदे कार्यकारणभावव्याहत्या कथञ्चिदपि भेदस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । न च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यधिकरणविरोधः, उपादानव्यतिरेकेणोपादेयं

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान — उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अत्यन्ताभेद में कार्यकारणभाव का व्याघात होने से किसी भी प्रकार से कार्यकारण में भेद अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि कार्य और कारण में अभेद मानने पर ''कारण ब्रह्म से कार्य आकाशादि प्रपञ्च अभिन्न है, क्योंकि ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इत्यादि श्रुति वाक्यों से सिद्ध है— इस आरम्भणाधिकरण से विरोध होगा। यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि उक्त अधिकरण का अर्थ यह है

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि पट में पट रहता है, ऐसा मानोगे तो आत्माश्रयदोष होगा। अतः बाध्य होकर पट में पट का अत्यन्ताभाव ही माना जायेगा, जो पूर्वपक्षी के मत में पहले से ही सिद्ध होने से सिद्धसाधनदोष होगा। आगे पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि केवल सिद्धसाधनदोष ही नहीं है, अपितु अर्थान्तरदोष भी है। क्योंकि कार्य और कारण अभिन्न होने से कार्य कारण में रहता है, यह तो सिद्धान्ती कह नहीं सकते, क्योंकि आत्माश्रयदोष होगा। अतः सिद्धान्ती को कहना पड़ेगा कि कार्य कहीं भी अश्रित नहीं रहता है, क्योंकि कार्य जब कारण में ही आश्रित नहीं और कारण से अन्यत्र कार्य आश्रित है, यह तो कोई भी नहीं मानता है, अतः कार्य को अनाश्रित मानते हो? अथवा कार्य कारण से भिन्न में संयोगादिसम्बन्ध से आश्रित रहता है,ऐसा मानते हो? प्रथम पक्ष में यह दोष होगा कि कार्य कारण के आश्रित तो माना नहीं और कार्य कारण से भिन्न के आश्रित रहता नहीं है। अतः जैसे जिनके मत में गगन किसी के आश्रित नहीं रहता है उनके मत में गगन मिथ्या नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार कार्य किसी के आश्रित न होने पर भी मिथ्या सिद्ध नहीं होगा, अपितु गगन के जैसे सत्य सिद्ध होने से अर्थान्तरदोष होगा। द्वितीय पक्ष मानने पर कार्य को कारण से भिन्न के आश्रित मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर भले ही कार्य एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी बन जाये, किन्तु उसकी सत्ता अन्य के आश्रित मान लेने पर कार्य मिथ्या सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि कोई वस्तु यदि यहाँ नहीं है किन्तु अन्यत्र है, इससे वह वस्तु मिथ्या नहीं मानी जाती है। इस प्रकार द्वितीयपक्ष मानने पर भी अर्थान्तरदोष होगा। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में कार्य—कारण में भेदसहिष्णु— अभेद माना जाता है। सर्वथा कार्य—कारण में अभेद नहीं माना जाता है। क्योंकि सर्वथा अभेद में कार्य और कारणभाव की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। अतः कार्य और कारण में कुछ भेद अवश्य माना जाता है। दूसरी बात यह भी यह कि कार्यकारण में सर्वथा अभेद स्वीकार करने पर कार्यकारणभाव में पौर्वापर्य्यभाव नहीं बन पायेगा और पट से जो कार्य होता है वही कार्य तन्तु से भी होना चाहिए। इसी प्रकार ''तन्तुभ्यः पटो जायते'' के स्थान पर कदाचित ''पटात् पटो जायते'' ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए। इन सभी दोषों से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि कार्य —कारण में कुछ भेद अवश्य मानना पड़ता है। अतः भेद मान लेने पर पूर्वपक्षी के द्वारा केवल अभेद मानकर दिये गये दोष स्वतः ही खण्डित हो गये। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि यदि कार्यकारण में कुछ भेद मानोगे तो वेदान्तदर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के अन्तर्गत आये हुए आरम्भण अधिकरण से विरोध होगा। क्योंकि उस अधिकरण में अद्वैतवेदान्ती ने कार्य और कारण में अभेद माना है। ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। क्योंकि वेदान्तदर्शन के उक्त अधिकरण का यह अर्थ है कि कारण की सत्ता से अतिरिक्त कार्य की सत्ता नहीं होती है। अर्थात् अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता नहीं होती है। जैसा कि भाष्यकार ने आरम्भण अधिकरण में कहा है— ''कार्यमाकाशादिबहुप्रपञ्चं

नास्तीत्यस्यैव तदर्थत्वात्। बाधात्तन्मात्राश्रितत्वेन पक्षविशेषणाद्वा नार्थान्तरम्।।२।।

न च प्रकृतेऽपि बाधः; तस्योद्धरिष्यमाणत्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वा—प्रामाणिकत्वविकल्पावकाशः, तस्य प्रागेव निरस्तत्वात्।।३।।

न च कस्यचित् पटस्य संयोगवृत्त्यैतत्तन्तुषु सत्त्वेन तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्;

कैलासविद्याप्रकाशिका

कि उपादान (कारण) की सत्ता से अतिरिक्त उपादेय (कार्य) की सत्ता नहीं होती है। बाधात् = पटादि में अनाश्रितत्व के बाध होने से अथवा स्वोपादानमात्राश्रितत्व को पक्ष में विशेषण के रूप से देने पर प्रकृतानुपयुक्तरूप अर्थान्तरदोष भी नहीं होगा।।२।।

प्रकृतमिथ्यात्व साधक अनुमान में भी बाध दोष है—ऐसा नहीं कह सकते हैं,क्योंकि उस बाध दोष का निराकरण आगे किया जायेगा। साध्य घटक अत्यन्ताभाव के प्रामाणिकत्व और अप्रामाणिकत्व के विकल्प का अवकास भी नहीं है, क्योंकि उक्त विकल्प का द्वितीयमिथ्यात्व विचार के प्रसङ्ग में निराकरण किया जा चुका है।।३।।

किसी एक पट को संयोग सम्बन्ध से एतत्तन्तुओं में स्थित होने पर, उस पट में हेतु है किन्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

जगत्, कारणं परं ब्रह्म। तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वम्, व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्य अवगम्यते। कुतः? आरम्भणशब्दादिभ्यः''। इस प्रकार भेद को ध्यान में रखकर कार्य को कारण में आश्रित माना गया है। अतः कारण में कार्य का अत्यन्ताभाव अनुमानप्रमाण के अवतरण से पूर्व प्रसिद्ध नहीं है। अतः कारण में कार्य का अत्यन्ताभाव अनुमानप्रमाण से सिद्ध करने पर सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। इस प्रकार सिद्धसाधनदोष का निराकरण करके अर्थान्तरदोष का निराकरण करने की दृष्टि से कह रहे हैं कि कार्य का कारण के आश्रित न होना या कारण से अन्य के अश्रित होना यह अत्यन्त बाधित है। क्योंकि कोई भी वादी—प्रतिवादी इस बात को स्वीकार नहीं करता है। अथवा पक्ष (अयं पटः) का विशेषण एतत्तन्तुमात्राश्रितत्त्व देंगे। अर्थात् 'एतत्तन्तुमात्राश्रितोऽयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता— भावप्रतियोगी' ऐसी प्रतिज्ञावाक्य बनायेंगे। ऐसा करने पर पट अनाश्रित है या अन्याश्रित है, ऐसा विकल्प उठाकर अर्थान्तरदोष नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि अपने कारणमात्र में आश्रित पट को पक्ष बनाया है और अपने कारण में ही उसका अत्यन्ताभाव सिद्ध किया जा रहा है। अतः सिद्धसाधनदोष भी नहीं है।।२।।

पूर्वपक्षी यदि शङ्का करे कि ''एतत्तन्तुषु पटः'' इस प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा और ''अयं पटः एतत्तन्त्वाश्रितः, पटत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'' इस अनुमानप्रमाण के द्वारा प्रकृत चित्सुखीय अनुमान का बाध हो जायेगा। पूर्वपक्षी का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि बाधोद्धारप्रकरणों में मिथ्यात्वानुमान के बाधक के रूप से शङ्कित जितने भी प्रमाण पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये हैं, उनका निराकरण किया जायेगा। इसी प्रकार साध्यान्तर्गत—अत्यन्ताभाव को लेकर पूर्वपक्षी ने जो यह शङ्का उठायी है कि अत्यन्ताभाव तात्त्विक है? या अतात्त्विक? तात्त्विक मानने पर अद्वैत की हानि होगी। अत्यन्ताभाव को अतात्त्विक मानने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि एतत्तन्तु में इस पट का कल्पित अभाव पूर्वपक्षी भी मानता है। इस शङ्का का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस शङ्का का समाधान द्वितीयमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है।।३।।

यहाँ पर पूर्वपक्षी उक्त अनुमान में व्यभिचारदोष देने का प्रयत्न कर रहा है कि पक्षकोटि में प्रविष्ट पट के उपादानभूत जो तन्तु है, उन तन्तुओं के साथ संयोगसम्बन्ध से जुड़ा हुआ दूसरा कोई पट जहाँ है, अर्थात् पक्षकोटि में प्रविष्ट पट से भिन्न कोई पट है वहाँ, उस पट में हेतु (अंशित्व) है। किन्तु

तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वतः तत्संयोगिनस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाङ्गीकारेण पक्षसमत्वात्।।४।।

न चाव्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरम्; पटतदभावयोरेकाधिकरणवृत्तौ विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलित्वप्रसङ्गात्, संयोगतदभावयोरप्येकाधिकरणवृत्तित्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा

कैलासविद्याप्रकाशिका

साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि तन्तु में समवायसम्बन्ध से रहने वाले पट के तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को अङ्गीकार करने वाले के लिए तो तन्तु संयोगी पट का तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अङ्गीकृत ही है। अतः वह संयोगी पट पक्षसम ही है।।४।।

पट और पटाभाव दोनों के तन्तुओं में सिद्ध हो जाने पर भी पट में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होगा। ऐसा होने पर अर्थान्तर दोष होगा। ऐसी शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि समानसत्ताक होकर पट और पटाभाव में एकाधिकरण निरूपित वृत्तित्व मानने पर भाव और अभाव का विरोध जो जगत् में प्रसिद्ध

सत्यानन्दप्रबोधिका

संयोगसम्बन्ध से एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि एतत्तन्तुसमवेत पट का ही अत्यन्ताभाव जब हम एतत्तन्तु में मानते है तब सुतरां ही एतत्तन्तु के साथ संयोगेन जुड़ा हुआ दूसरे पट का अत्यन्ताभाव भी एतत्तन्तुओं में हम स्वीकार करते ही है। अतः पटान्तर भी पक्षसम है। पक्षसम इसलिए कहा कि, पटान्तर प्रतिज्ञावाक्य का विषय नहीं है। प्रतिज्ञावाक्य का विषय तो एतत्तन्तु में समवेत यह पट है। कहने का आशय यह है कि पटान्तर में भी एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व सिद्ध करना हमारा लक्ष्य है। अतः वह पक्षसम है। पक्षसम होने से पटान्तर में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है, जैसे कि दीधितिकार ने कहा है—''नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः''।।४।।

पूर्वपक्षी अर्थान्तरदोष दे रहा है कि प्रकृत अनुमान के द्वारा किसी प्रकार से तन्तु में पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध भी कर दिया जाय तो भी पट मिथ्या सिद्ध नहीं होगा। किन्तु पट में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होगा। अव्याप्यवृत्तित्व का लक्षण है— 'स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्'। स्व= पट, इस का अधिकरण तन्तु, उसमें पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध किया गया। उस अभाव का प्रतियोगित्व पट में है। अतः पट अव्याप्यवृत्ति पदार्थ है, यह सिद्ध होगा। पट मिथ्या है यह सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार जो अनुमान पट के मिथ्यात्व के लिए किया गया था उस अनुमान से पट में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होने से अर्थान्तरदोष हो गया। (यदि इस पर कोई शङ्का करता है कि पूर्वपक्षी तन्तु में पट को अव्याप्यवृत्ति कैसे मानेगा? तो उसका समाधान पूर्वपक्षी के द्वारा इस प्रकार दिया जाता है कि तन्तुओं का पारस्परिकसंयोग रूप कारण से पट बनता है। संयोग अव्याप्यवृत्तिपदार्थ है। अतः उससे जन्य पट को भी अव्याप्यवृत्तिपदार्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं है)। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि पट को अव्याप्यवृत्ति मानकर पट और पट के अभाव को तन्तुरूप अधिकरण में स्वीकार कर लिया जाय तो जगत् में भाव और अभाव का विरोध जो दिखायी पड़ता है, उसे तिलाञ्जली देना पड़ेगा। अर्थात् भाव और अभाव में विरोध है; ऐसा मानकर ही सर्वत्र भावों में परस्पर विरोध दिखाया जाता है। यदि भाव और अभाव में विरोध ही नहीं है, तब तो कहीं पर भी विरोध दिखाया नहीं जा सकेगा। यदि इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करे कि ''तन्तुषु दशायां न पटः'' ऐसी प्रतीति होती है। अतः तादात्म्यादिसम्बन्ध से तन्तु में रहने वाले पट में अव्याप्यवृत्तित्व माना ही जा सकता है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अव्याप्यवृत्ति कोई पदार्थ ही नहीं होता है। जिस संयोग को पूर्वपक्षी अव्याप्यवृत्ति कहता है वह

एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्य विशेषणं देयम्; एवमेतत्कालीनत्वमपि। तेन कालान्तरीयाभावमादाय नार्थान्तरम्।।५।।

न च 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्यक्षबाधः; तस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष—

कैलासविद्याप्रकाशिका

है, उसमें दत्तजलाञ्जलित्व का प्रसङ्ग होगा। दूसरी बात यह है कि संयोग और संयोगाभाव का एकाधिकरणवृत्तित्व हम नहीं मानते हैं। अथवा भाव और अभाव का एकाधिकरणवृत्तित्व स्वीकार करने पर एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्व विशेषण अत्यन्ताभाव का देना चाहिए। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव का विशेषण एतत्कालीनत्व भी देना चाहिए। ऐसा करने से कालान्तरीय अभाव को लेकर अर्थान्तरदोष नहीं दिया जा सकेगा।।५।।

शङ्का— ''इन तन्तुओं में यह पट है'' इत्याकारक जो प्रत्यक्ष, उस प्रत्यक्ष के द्वारा प्रकृत अनुमान में बाध दोष है।

समाधान— नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष भ्रमसाधारण होने से चन्द्रप्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष के जैसे

सत्यानन्दप्रबोधिका

अव्याप्यवृत्ति है ही नहीं। क्योंकि ''अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी मूले न'' यह प्रतीति वृक्ष के अग्र और मूल भाग में संयोग और संयोगाभाव को विषय करती है, न कि वृक्षनिष्ठसंयोग और संयोगभाव को। इसका विशेष निर्वचन द्वितीयमिथ्यात्वनिरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। इस प्रकार संयोग और संयोगाभाव भी एक अधिकरण में सिद्ध न होने से संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध नहीं हो सका; तब पटादि को अव्याप्यवृत्ति कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अभ्युपगमवाद से पट में अव्याप्यवृत्तित्व मानकर सिद्धान्ती समाधान दे रहे हैं कि साध्य का घटक जो अत्यन्ताभाव है उसका विशेषण ''एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वम्'' देगें। अर्थात् पूरे तन्तु में व्याप्त हो के रहने वाला अत्यन्ताभाव को हम सिद्ध कर रहें हैं न कि तन्तु के एक देश में रहने वाले अत्यन्ताभाव को। अतः पूर्वपक्षी का यह कथन कि उक्त अनुमान से पट में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होने से अर्थान्तरदोष होगा, वह खण्डित हो गया। इसी प्रकार अत्यन्ताभाव का विशेषण ''पक्षीकृतपटसमकालीनत्व'' भी देना चाहिए। अर्थात् जिस काल में पक्षीभूतपट एतत्तन्तु में है, उसी काल में एतत्तन्तु में उसी पट का अभाव सिद्ध करना है। ऐसा करने से कालान्तरीय अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को लेकर, अर्थात् जिस काल में (पटोत्पत्ति से पूर्व) एतत्तन्तु में पट नहीं है उस समय के पट का अत्यन्ताभाव को लेकर जो अर्थान्तरदोष आ रहा था, उसका भी निवारण हो जायेगा।।५।।

सिद्धान्ती के द्वारा मिथ्यात्वसाधक के रूप में प्रदर्शित अनुमान में पूर्वपक्षी के द्वारा बाधदोष दिया जा रहा है। ''इह तन्तुषु पटः'' इस प्रत्यक्ष प्रतीति से जब यह सिद्ध है कि पट अपने उपादानकारणीभूत तन्तुओं में रहता है, तब उक्त अनुमान में बाधदोष हो रहा है। ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है। क्योंकि उक्त ''प्रत्यक्षप्रमाण'' अप्रमाण्य की शङ्का से ग्रस्त होने के कारण उक्त अनुमान का बाधक नहीं हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई व्यक्ति दिन में सौ बार सत्य बोलता हो और दश—बीस बार असत्य बोलता हो तो उस व्यक्ति पर विश्वास करके किसी पर दोष नहीं लगाया जाता है। क्योंकि वह व्यक्ति जो बोल रहा है वह अप्रामाण्यशङ्का से ग्रस्त है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान यथार्थ भी होता है और अयथार्थ भी। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा उक्त अनुमान में बाधदोष नहीं दिया जा सकता। प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष कहाँ पर अयथार्थबोध कराता है। इस में दृष्टान्त दे रहे हैं कि जैसे नेत्र से दिखायी देने वाला चन्द्रमा का परिमाण प्रादेशमात्र होता है। अङ्गूठा और तर्जनी को फैला देने पर जो दीर्घपरिमाण बनता है उसे प्रदेश कहते है। जैसा कि मेदिनीकोष में कहा है—''प्रदेशो देशमात्रे स्यात् तर्जन्यङ्गुष्ठसम्मिते''।

वदप्रामाण्यशङ्कास्कन्दिततत्वेनाबाधकत्वात्। बाधोद्धारे च विस्तरेणैतद्वक्ष्यामः।।६।।

न चान्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तुसमवेतत्वं विना न युक्तमिति विरुद्धो हेतुरिति वाच्यम्। एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽप्येतत्तन्तुसमवेतत्वस्य सत्त्वेनांशित्वस्य साध्येनाविरोधात्। एतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति; परमते केवलान्वयिधर्ममात्रस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

अप्रामाण्य शङ्का से युक्त होने के कारण प्रकृत अनुमान का बाधक नहीं हो सकता है। इस पर विस्तार से विचार बाधोद्धार प्रकरण में होगा।।६।।

शङ्का— अन्य में समवाय सम्बन्ध से न रहने वाला पट का एतत्तन्तुओं में समवेतत्व के बिना अंशित्व (कार्यत्व) युक्त नहीं है। इसलिए यह अंशित्व हेतु साध्याभाव का साधक होने से विरुद्ध है।

समाधान— ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि पट में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहने पर भी एतत्तन्तुसमवेतत्व के होने से अंशित्व हेतु का साध्य के साथ विरोध नहीं है। एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्तभाव का अप्रतियोगित्व एतत्समवेतत्व का प्रयोजक अर्थात् समव्यापक नहीं होता है, क्योंकि समव्यापक

सत्यानन्दप्रबोधिका

किन्तु आगमप्रमाण से यह सर्वविदित है कि चन्द्रमा महत्परिमाणवाला है न कि प्रादेशमात्रपरिमाणवाला। इसलिए चन्द्र के प्रादेशमात्र प्रत्यक्ष को भ्रम माना जाता है। अत: प्रत्यक्ष भ्रमप्रमासाधारण होने के कारण प्रत्यक्ष (इह तन्तुषु पटः) के द्वारा सिद्धान्ती के अनुमान का बाध नहीं हो सकता है। प्रत्यक्षबाधोद्धारप्रकरण में विस्तार से इस पर चर्चा की जायेगी।।६।।

पूर्वपक्षी प्रकृत अनुमान में हेतु को विरुद्धहेतु सिद्ध करने की दृष्टि से शङ्का कर रहा है कि ''पटः स्वोपादानतन्तुष्वपि असमवेतः स्यात् तर्हि पटस्यांशित्वमेव न स्यात्'' इस अर्थापत्तिप्रमाण के बल से यह सिद्ध होता है कि उसी पट में अंशित्व रह सकता है, जो पट अपने उपादानकारण तन्तुओं से भिन्न तन्तुओं में समवेत न होकर उपादानीभूत तन्तुओं में समवेत हो। अर्थात् जब पट अन्य तन्तुओं में समवेत नहीं है तब यह सिद्ध हो जाता है कि पट अपने उपादानकारणीभूत तन्तुओं में ही समवेत है। यदि अपने उपादानकारणीभूत तन्तुओं में भी समवेत नहीं रहेगा तो पट में अंशित्व (अवयवित्व) ही नहीं आयेगा, क्योंकि सभी अंशी (अवयवी) पदार्थ अपने—अपने उपादानकारणीभूत—अवयवों में समवेत होते है। इस प्रकार जिस अंशित्व हेतु के द्वारा पट के उपादानकारणीभूत तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध किया जा रहा था उसी अंशित्व हेतु के द्वारा तन्तुओं में पट का भाव सिद्ध हो गया। क्योंकि तन्तुओं में पट मानने पर ही पट में अंशित्व रहेगा। अत: साध्याभाव से व्याप्य हेतु को साध्य से व्याप्यरूप से उपन्यास करने के कारण अंशित्व विरुद्धहेतु हो गया। उक्त शङ्का का समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पट अपने उपादानकारणीभूत तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने पर भी एतत्तन्तु में समवेत है। अत: एतत्तन्तु में समवेत पट में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व मानने पर साध्य के साथ अंशित्व हेतु का कोई विरोध नहीं है। शङ्का करते समय पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह था कि सिद्धान्ती एतत्तन्तु में पट का अत्यन्ताभाव मान रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि पट तन्तु में समवेत नहीं होगा तब उसमें अंशित्व (अवयवित्व) नहीं आयेगा। इस पर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से कह रहे हैं कि यह जो तुम्हारा आशय है कि ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्समवेतत्वम्'' अर्थात् जो एतत्तन्तुनिष्ठात्यताभाव का अप्रतियोगी होगा वह एतत् तन्तु में समवेत होगा। इस व्याप्ति को माना नहीं जा सकता है; क्योंकि केवलान्वयिधर्म प्रमेयत्वादि एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव के अप्रतियोगी होने पर भी एतत्तन्तु में समवेत नहीं है। क्योंकि प्रमेयत्वादि को जाति नहीं माना जाता है, किन्तु उपाधि माना जाता है। उपाधि अपने आश्रय

एतत्समवेतत्वापत्तेः; किन्त्वेतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादिकम्; तच्चैतन्निष्ठात्यन्ताभाव–प्रतियोगित्वेऽपि न विरुद्धमित्युपपादितमधस्तात्। एतत्समवेतत्वञ्चैतदुपादानकत्वम्, न तु नित्य–

कैलासविद्याप्रकाशिका

मानने पर न्यायमत में केवलान्वयिधर्ममात्र में एतत्समवेतत्व की आपत्ति होगी। अतः एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादि को ही एतत्समवेतत्त्व का प्रयोजक मानना चाहिए। उक्त प्रतियोगित्वादिक तो एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के साथ एकाधिकरण में रहने में कोई विरोध भी नहीं है—इसका निरूपण द्वितीय मिथ्यात्व और चतुर्थ मिथ्यात्व निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है और एतत्समवेतत्त्व का अर्थ एतदुपादानकत्व है, न कि नित्यसम्बन्धशालित्व, क्योंकि नित्यसम्बन्धरूपसमवाय

सत्यानन्दप्रबोधिका

में स्वरूपसम्बन्ध से रहती है, न कि समवायसम्बन्ध से। अतः प्रमेयत्व एतत्तन्तु में समवेत नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी की व्याप्ति भङ्ग हो जाने पर सिद्धान्ती के पक्ष से व्याप्ति दी जा रहीं है कि ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्समवेतत्वम्''। पट एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभाव का प्रतियोगी भी है और एतत्तन्तु में समवेत भी है। केवलान्वयिप्रमेयत्वादि में व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि प्रमेयत्वादि केवलान्वयि होने के कारण उनका प्रागभाव होता ही नहीं है। अतः प्रमेयत्वादि में व्याप्य और व्यापक दोनों के न होने से व्यभिचारदोष का वारण हो गया। इस पर यदि पूवपक्षी शङ्का करें कि एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभाव का जो प्रतियोगी पट है वह एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होगा, क्योंकि जहाँ प्रागभाव होता है, वहाँ अत्यन्ताभाव नहीं होता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चतुर्थमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर यह दिखाया जा चुका है कि अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रागभाव मानने पर कोई विरोध नहीं होता है। अतः ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्समवेतत्वम्''। इस व्याप्ति का व्याप्य (एतत् तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्व) जब एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के अधिकरण में रह सकता है, तब तो व्यापक (एतत्समवेतत्वं) भी रह जायेगा। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि जो एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होगा वह एतत्तन्तु में समवेत होगा, उसका खण्डन हो गया। सिद्धान्ती के द्वारा जो व्याप्ति दिखाई गयी ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्समवेतत्वम्'' इस व्याप्ति का घटक जो एतत्समवेतत्व है, उसका अर्थ कर रहे है— एतदुपादानकत्व न कि एतन्नित्यसम्बन्धाश्रयत्व। ऐसा अर्थ करने के दो कारण है। प्रथम— नित्यसम्बन्धरूप समवाय को सिद्धान्त में माना नहीं जाता है, क्योंकि सिद्धान्ती ब्रह्म से भिन्न कोई नित्य पदार्थ मानते ही नहीं है। अतः ''एतत्समवेतत्व'' का अर्थ 'नित्यसम्ब–न्धशालीत्व' नहीं किया जा सकता है। दूसरा कारण यह है कि प्रयोजक (एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्व) को प्रयोज्य (एतत्समवेतत्व) का व्याप्य होने के साथ–साथ व्यापक भी होना चाहिए। अर्थात् जैसे '' यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्समवेतत्वम्'' है, उसी प्रकार ''यत्र यत्र एतत्समवेतत्वं, तत्र तत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वम्'' भी होना चाहिए। किन्तु ऐसी व्याप्ति मिल नहीं रही है, क्योंकि एतत्तन्तु में द्रव्यत्व समवेत है, किन्तु एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभाव का प्रतियोगी द्रव्यत्व नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्व नित्य है। अतः प्रयोज्य का व्यापक प्रयोजक नहीं हो रहा है। अतः एतत्समवेतत्व का अर्थ एतदुपादानकत्व कर दिया। ऐसा अर्थ करने पर द्रव्यत्व उपादानक भी नहीं है। अर्थात् द्रव्यत्व एतत्तन्तु का उपादान कारण भी नहीं है और एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभाव का प्रतियोगी भी नहीं है। अतः उक्त व्याप्ति का द्रव्यत्व में व्यभिचार नहीं होगा। उक्त व्याप्ति 'अयं पटः' में घट जायेगी, क्योंकि एतत्तन्तु 'अयं पटः' का उपादान कारण भी है और 'अयं पटः' एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभाव का प्रतियोगी भी है। प्रश्न होता है कि इस प्रसङ्ग को मूलकार ने मूल में क्यों

सम्बन्धशालित्वम्; तस्यानभ्युपगमात्।। ७।।

ननु 'अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवत्' इति प्रतिरोध:, न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्।।८।।

'एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभाव—

कैलासविद्याप्रकाशिका

को सिद्धान्तमत में स्वीकार नहीं किया जाता है।।७।।

शङ्का— यह पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है, क्योंकि इन तन्तुओं से आरब्ध है। इसमें व्यतिरेक व्याप्ति का आकार है—यत् एतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगि न भवति, तत् एतत्तन्त्वारब्धमपि न भवति यथा पटान्तरम्। इस प्रकार इस अनुमान से मिथ्यात्वानुमान सत्प्रतिपक्षित हो गया। इस अनुमान का पक्ष अप्रसिद्धसाध्यवाला है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है।।८।।

क्योंकि एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि वह

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं उद्घृत किया? इसका समाधान यह है कि प्रयोजक और प्रयोज्य में समव्याप्ति होनी चाहिए, इस बात को कुछ ही लोग मानते हैं। अत: मूलकार ने शब्दत: उद्धृत नहीं किया।। ७।।

अब पूर्वपक्षी के द्वारा सत्प्रतिपक्ष—अनुमान किया जा रहा है— ''यह पट एतत्तन्तुगत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं होता है, क्योंकि यह पट इन्हीं तन्तुओं से उत्पन्न है''। इसमें व्यतिरेकव्याप्ति के लिए दूसरे पट को दृष्टान्त के रूप में दे रहे हैं। अर्थात् पटान्तर में साध्याभाव और हेत्वभाव दोनों हैं। क्योंकि पटान्तर एतत्तन्तुगत—अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी नहीं, अपितु प्रतियोगी होता है, अत: पटान्तर में साध्याभाव गया। पटान्तर एतत्तन्तु से उत्पन्न भी नहीं है। अत: हेत्वभाव भी पटान्तर में गया। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु है, क्योंकि एतत्तन्तु से उत्पन्न यह पट है ही, अत: पक्षधर्मता भी मिल गयी। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता मिल जाने से परामर्श हो जायेगा। अत: पक्ष पर साध्य की सिद्धि माननी पड़ेगी। यह पूर्वपक्षी का आशय है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि उस सत्प्रतिपक्ष—अनुमान में साध्याप्रसिद्धिदोष है, क्योंकि एतत्तन्तु में इस पट को छोड़कर सम्पूर्णपदार्थों का अभाव है। अत: सम्पूर्णपदार्थ एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो गये। अत: कोई 'एतत्तन्तुगत—अत्यन्ताभाव' का अप्रतियोगी नहीं रहा। यदि कहो कि एतत्तन्तुगत—अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी यह पट ही होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पक्ष पर साध्य का सन्देह होता है, अत: पक्ष पर साध्य की प्रसिद्धि नहीं दिखायी जा सकती है। यदि कहो कि एतत्तन्तुगतरूप में साध्य की प्रसिद्धि दिखायेंगे, क्योंकि एतत्तन्तुगत—अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी एतत्तन्तुगतरूप, रस आदि भी है; तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त मिथ्यात्वानुमान का पक्ष केवल यह पट ही नहीं है, अपितु एतत्तन्तुगतसम्प्रतिपन्नरूप से जितने पदार्थ (रूप—रसादि) माने जाते हैं, वे सभी पक्षकोटि में प्रविष्ट हैं। इस बात को श्री चित्सुखाचार्य ने अपने श्लोक में ''दिगेषैव गुणादिषु'' के द्वारा कहा है। अत: एतत्तन्तुगतरूपादि में भी साध्य की प्रसिद्धि नहीं दिखाई जा सकती है— इस प्रकार से साध्याप्रसिद्धि दोष देना उचित नहीं है।।८।।

उक्त साध्याप्रसिद्धिदोष का निराकरण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिस प्रकार श्री चित्सुखाचार्य ने अवेद्यत्व सिद्ध करते समय पहले सामान्यतोदृष्ट—अनुमान के द्वारा कहीं पर वेद्यत्व का अत्यन्ताभाव सिद्ध करके साध्य की प्रसिद्धि दिखायी है, उसी प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा यहाँ पर भी साध्य की प्रसिद्धि पूर्वपक्षी दिखा रहा है। इस दृष्टि से पूर्वपक्षी अनुमान कर रहा है—

प्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववत्' इति सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः। न चाकाशात्यन्ताभावस्य घटादौ संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वग्रहात्तस्य च केवलान्वयित्वेन किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्। संसर्गाभावप्रतियोगित्वान—

कैलासविद्याप्रकाशिका

संसर्गाभावप्रतियोगित्व का व्याप्य है, जैसे प्रागभावप्रतियोगित्व। इस सामान्यतो दृष्ट— अनुमान से साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। आगे इस अनुमान में सिद्धान्ती के द्वारा व्यभिचारदोष दिया जा रहा है—आकाशात्यन्ताभाव का घटादि में संसर्गाभावप्रतियोगित्व व्याप्यत्व गृहीत होता है किन्तु आकाशात्यन्ताभाव केवलान्वयी होने से उसमें किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसर्गाभावप्रतियोगित्व के

सत्यानन्दप्रबोधिका

''एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववत्''। इन तन्तुओं में रहने वाले अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व को पक्ष बनाया है। किसी न किसी धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व को साध्य बनाया है। संसर्गाभावप्रतियोगित्व के व्याप्यत्व को हेतु बनाया है और प्रागभावप्रतियोगित्व को दृष्टान्त बनाया है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा— नित्यपदार्थ आकाशादि में प्रागभावप्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव रहता है। अतः आकाश में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी प्रागभावप्रतियोगित्व है। अतः किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व प्रागभावप्रतियोगित्व में गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा— ''यत्र यत्र प्रागभावप्रतियोगित्वं, तत्र तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम्''। यह व्याप्ति घट में मिल जाती है। अतः संसर्गाभावप्रतियोगित्व का व्याप्यत्व प्रागभावप्रतियोगित्व में गया। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय हो जाने से व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु का समन्वय इस प्रकार है— ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम्'' यह व्याप्ति घट में मिल जायेगी। अतः संसर्गाभावप्रतियोगित्व का व्याप्यत्व एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व में गया। इस प्रकार पक्ष में हेतु रह जाने से पक्षधर्मता भी मिल गयी। व्याप्ति और पक्षधर्मता मिल जाने से परामर्श बन गया और उससे यह अनुमिति हो गयी कि एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का कहीं न कहीं पर अत्यन्ताभाव रहता है। ऐसे अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। अर्थात् एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभाव कहीं न कहीं है यह सिद्ध हो गया और इस के साथ साध्याप्रसिद्धिदोष का भी वारण हो गया। अब सिद्धान्ती द्वारा इस सामान्यतोदृष्ट—अनुमान में व्यभिचारदोष दिया जा रहा है:— आकाश के अत्यन्ताभाव में हेतु है, परन्तु साध्य नहीं है; अतः व्यभिचारदोष होगा। जैसे— 'यत्र यत्र आकाशात्यन्ताभावः तत्र तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम्' ऐसी व्याप्ति घट में देखी गयी है। अतः आकाश के अत्यन्ताभाव में संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वरूप हेतु गया। किन्तु आकाश के अत्यन्ताभाव में साध्य नहीं है, क्योंकि आकाश का अत्यन्ताभाव केवलान्वयि होने के कारण उसका (आकाशात्यन्ताभाव का) अत्यन्ताभाव कहीं मिलता ही नहीं। अतः किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपसाध्य आकाशात्यन्ताभाव में नहीं रहा। अतः आकाशात्यन्ताभाव में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचारदोष हो गया। अतः सामान्यतोदृष्टानुमान के द्वारा साध्य की प्रसिद्धि नहीं की जा सकती है और साध्य की प्रसिद्धि न होने पर पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धान्ती के मिथ्यात्वानुमान में दिया गया, सत्प्रतिपक्षदोष भी नहीं लग सकता है। ऐसा सिद्धान्ती का अभिप्राय है। यहाँ पर पूर्वपक्षी उपर्युक्त शङ्का का खण्डन करता हुआ कहता है कि ऐसे व्यभिचारदोष की शङ्का नहीं कि जा सकती है। क्योंकि आकाशात्यन्ताभाव में संसर्गाभावप्रतियोगित्व

धिकरणे केवलान्वयिनि धर्मे सत्त्वेनाकाशात्यन्ताभावस्य संसर्गाभावप्रतियोगित्वाव्याप्यत्वेन व्यभिचाराभावादिति चेत्।।९।।

न, यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्ता—

कैलासविद्याप्रकाशिका

अनधिकरण केवलान्वयी धर्म (प्रमेय—वाच्यत्वादि) में आकाशात्यन्ताभाव के विद्यमान रहने पर भी उसमें (प्रमेयत्वादि में) संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्व के न रहने के कारण व्यभिचारदोष नहीं होगा।।९।।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहां एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है, वहां एत्तन्त्वारब्धत्व का अभाव है— इस व्यतिरेकव्याप्ति में एतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूप उपाधि के होने से पूर्वपक्षी का सत्प्रतिपक्ष अनुमान हीन बल वाला है। उपाधि का समन्वय— यत्र—यत्र एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावः तत्र तत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वम्। इसलिए व्यापक का व्यापकत्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

का व्याप्यत्वरूप हेतु नहीं है, अर्थात् केवलान्वयिधर्म प्रमेयत्वादि में संसर्गाभावप्रतियोगित्व नहीं है; क्योंकि प्रमेयत्वादि का अत्यन्ताभाव मिलता ही नहीं है। किन्तु प्रमेयत्वादि में आकाशात्यन्ताभाव है, क्योंकि आकाशात्यन्ताभावकेवलान्वयी होने से सर्वत्र रहता है। अतः ''यत्र यत्र आकाशात्यन्ताभावः तत्र तत्र संसर्गाभावप्रतियोगित्वम्'' यह व्याप्ति व्यभिचरित हो जाने के कारण संसर्गाभावप्रतियोगित्व का व्याप्यत्व आकाशात्यन्ताभाव में नहीं है। अतः आकाशात्यन्ताभाव में हेतु और साध्य दोनों के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं है।।९।।

इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा मिथ्यात्वानुमान के प्रतिरोध में सत्प्रतिपक्ष—अनुमान के किए जाने पर आचार्यप्रवर सिद्धान्तपक्ष का समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया अनुमान सोपाधिक होने के कारण मिथ्यात्वानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता है। उपाधि का लक्षण ''व्यापकव्यापकत्वे सति व्याप्याव्यापकत्वम्'' है। जिस अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति होती है वहां पर साध्याभाव व्याप्य होता है और हेत्वभाव व्यापक होता है। पूर्वपक्षी के अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति है— '' यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता—भावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावः''। सिद्धान्ती के द्वारा इस व्यतिरेकव्याप्ति में ''एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व'' उपाधि दी गयी। उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होगा—पूर्वपक्षी की व्यतिरेकव्याप्ति में जो व्यापक (एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव) है, उसका व्यापक उपाधि (एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वम्) है, अर्थात् ''यत्र यत्र एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावः, तत्र तत्र एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वम्'' है। इस व्याप्ति का घटादि में समन्वय होने से उपाधि के लक्षण का घटक ''व्यापकव्यापकत्व'' का समन्वय हो गया। उपाधि के घटक ''व्याप्याव्यापक'' का समन्वय इस प्रकार से होगा— जहाँ पर व्याप्य (एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्) है, वहाँ पर उपाधि (एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वम्) नहीं है। ऐसा कहाँ देखा गया? तो इसका उत्तर दिया पक्ष में। इस पर पूर्वपक्षी यदि शङ्का करे कि पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व तो अभी तक सिद्ध नहीं हुआ, अतः पक्ष (अयं पटः) में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व नहीं रहेगा, तो इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भले ही पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व निश्चितरूप से नहीं है, किन्तु सन्दिह्यमानरूप से तो है ही। कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही पूर्वपक्षी पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को न मानता हो, किन्तु सिद्धान्ती तो मानते हैं। अतः उभयवादिसम्मतरूप से पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के न होने पर भी सन्दिह्यमानरूप से पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व

वेतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वेन प्रतिरोधस्य हीनबलत्वात्। एतत्तन्त्वारब्धत्वा–भावव्यापकस्यैतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य पक्षावृत्तेः पक्षवृत्तितया सन्दिह्य–मानैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्, दृश्यत्वाद्यनुपपत्तिप्रतिकूलतर्कपराह–तेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च। अत एव एतत्तन्त्वनारब्धत्वमपि नोपाधिः, उपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेके

कैलासविद्याप्रकाशिका

उपाधि में गया। पक्ष में व्याप्य के रहने पर भी उपाधि नहीं है। अतः उपाधि में व्याप्याव्यापकत्व भी है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जहां एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव है, वहां एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व है– इस व्याप्ति से सिद्ध एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव का व्यापकत्व एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व (उपाधि) में है। (और वह (उपाधि) पक्ष में नहीं है और पूर्वपक्षी के अनुसार पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के न होने पर भी सिद्धान्ती के अनुसार पक्ष में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। अतः उपाधि में व्याप्याव्यापकत्व का भी समन्वय हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि) एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभागाप्रतियोगित्वरूप उपाधि ''अयं पटः'' इस पक्ष में न रहने से और पक्षनिष्ठत्वेन संदेहविषयीभूत एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व के पक्ष में रहने से उपाधि में व्याप्याव्यापकत्व भी है और दृश्यत्वादि हेतुओं की अनुपपत्ति तथा अनुकूल तर्क और प्रतिकूल तर्क का निराकरण आगे कहा जायेगा। अतएव = पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्ष अनुमान के सोपाधिकत्व सिद्ध हो जाने से ही,

सत्यानन्दप्रबोधिका

माना ही जा सकता है। इस प्रकार उपाधि का घटक ''व्याप्याव्यापक'' का समन्वय हो जाने से पूर्वपक्षी के द्वारा सत्प्रतिपक्ष के रूप से किया गया अनुमान सोपाधिक होने से दुष्ट हो गया। अतः सिद्धान्ती के द्वारा किये गये मिथ्यात्वानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता है। पूर्वपक्षी के मत में यह जो अनुमान किया जाता है कि ''पटः सत्यः दृश्यत्वात्, पटान्तरवत्'' वह प्रतिकूलतर्क से पराहत है; अर्थात् ''अयं पटो यदि मिथ्या न स्यात्, तर्हि दृश्योऽपि न स्यात्'' इस प्रकार दृश्यत्व की अन्यथानुपपत्तिरूप बाधकतर्क द्वारा पटादि में सत्यत्वसाधक–अनुमान बाधित है। यह विस्तार से दृश्यत्वादि की अनुपपत्ति तथा अनुकूल तर्क और प्रतिकूलतर्कनिराकरण के प्रसङ्ग में कहा जायेगा। पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये सत्प्रतिपक्ष–अनुमान में उपाधि के लग जाने से ही चित्सुखाचार्य के द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्वानुमान में ''एतत्तन्त्वानारब्धत्व'' को भी उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। अर्थात् ''अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वात्, पटान्तरवत्'' इस अनुमान में पूर्वपक्षी के द्वारा ''एतत्तन्त्वानारब्धत्व'' उपाधि लगायी गयी है। दृष्टान्त में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से साध्य का व्यापक उपाधि है और पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से उपाधि साधन का अव्यापक हो गयी। इस प्रकार से अंशित्वहेतु सोपाधिक हो गया। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो उपाधि लगायी है, उस उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि पूर्वपक्षी करना चाहेगा, क्योंकि उपाधि लगाने से यह लाभ मिलता है कि उसी पक्ष पर उपाधि के अभाव को हेतु बनाकर साध्याभाव सिद्ध हो जाता है। प्रकृत में उपाधि के अभाव से साध्याभाव सिद्ध करते समय अनुमान का आकार यह होगा– ''अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्, व्यतिरेकेण पटान्तरवत्'' इस प्रकार यह देखा गया कि इस अनुमान का आकार और पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये सत्प्रतिपक्ष–अनुमान का आकार एक ही है। अतः जिस प्रकार से व्यतिरेकव्याप्ति में एतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूप उपाधि के द्वारा सत्प्रतिपक्ष–अनुमान खण्डित हो गया, उसी प्रकार से उपाधि के अभाव से साध्याभाव को सिद्ध करने वाला यह अनुमान भी खण्डित हो जायगा। अतः उपाधि के लगाने से जो फल मिलना था कि उसी पक्ष पर उपाधि के अभाव से साध्याभाव सिद्ध करना, वह नहीं

साध्यमाने सोपाधिकत्वस्योक्तत्वात्, अव्याप्यवृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचाराच्च। अत एव यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रैतत्तन्त्वनारब्धत्वमिति न साध्यव्यापकताग्रहोऽपि तत्रैव व्यभिचारादिति सर्वमनवद्यम्।।१०।।

एवञ्च 'विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत्, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, स्वप्नादिवत्' इति

कैलासविद्याप्रकाशिका

एतत्तन्त्वनारब्धत्व को भी उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि उपाध्यभाव से साध्याभाव को सिद्ध करने वाले अनुमान में सोपाधिकत्व कहा जा चुका है। जिस मत में संयोग को अव्याप्यवृत्ति माना जाता है। उस मतानुसार अव्याप्यवृत्ति संयोग में उपाध्यभाव और साध्याभाव की व्याप्ति का व्यभिचार है। अत एव= अव्याप्यवृत्ति संयोग में व्यभिचार दोष होने के कारण ही, श्रीचित्सुखाचार्यकृत जो मिथ्यात्वानुमान है, उसमें एतत्तन्त्वनारब्धत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि ''जहां पर एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व है, वहां पर एतत्तन्त्वनारब्धत्व है।'' इस प्रकार से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में नहीं मिल सकता है, क्योंकि अव्याप्यवृत्ति संयोग में व्यभिचारदोष है। इसलिए श्रीचित्सुखाचार्य कृत मिथ्यात्वानुमान सर्वथा निर्दुष्ट है।।१०।।

इसी प्रकार से, विमतम्= विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नम्=विवादास्पद प्रपञ्च, ज्ञान के अतिरिक्त असत् है, ज्ञान के अतिरिक्त उपलभ्यमान न होने से, स्वप्नादिवत्। यह श्री विद्यासागर द्वारा

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो पाया। अतः सिद्धान्ती के द्वारा किये गये मिथ्यात्वानुमान में उपाधि लगाना व्यर्थ हो गया। पूर्वपक्षी द्वारा किया गया सत्प्रतिपक्ष—अनुमान अथवा उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान जो कि समान है; उस अनुमान में व्यभिचारदोष भी है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि एतत्तन्तु से आरब्ध एतत्तन्तुसंयोग है। अतः एतत्तन्त्वारब्धत्व एतत्तन्तुसंयोग में गया। किन्तु एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभाव एतत्तन्तुसंयोग में नहीं है, क्योंकि संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है—अर्थात् एतत्तन्तुसंयोग में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। अतः साध्याभाववाले एतत्तन्तुसंयोग में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष हो गया। जिस प्रकार से संयोग को अव्याप्यवृत्ति मान कर व्यभिचार दिखाया गया, उसी प्रकार से संयोग को अव्याप्यवृत्ति मान लेने पर श्री चित्सुखाचार्य के द्वारा प्रदर्शित मिथ्यात्वानुमान में पूर्वपक्षी 'एतत्तन्त्वनारब्धत्व' उपाधि नहीं लगा पायेगा। क्योंकि उपाधि साध्य का व्यापक होनी चाहिए, अर्थात् ''यत्र यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र एतत्तन्त्वनारब्ध– त्वम्'' यह व्याप्ति मिलनी चाहिए। अव्याप्यवृत्ति एतत्तन्तुसंयोग में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है, किन्तु एतत्तन्तुसंयोग एतत्तन्तु से आरब्ध होने के कारण एतत्तन्तुसंयोग में एतत्तन्त्वनारब्धत्व नहीं है। इस प्रकार अव्याप्यवृत्ति संयोग में व्यभिचार हो जाने से साध्य का व्यापक उपाधि नहीं हो सका। अतः साध्य का व्यापक, उपाधि के न होने से मिथ्यात्वानुमान में 'एतत्तन्त्वनारब्धत्व' उपाधि नहीं लगेगी। इस प्रकार श्री चित्सुखाचार्यकृत मिथ्यात्वानुमान में कोई दोष नहीं है, यह सिद्ध हो गया।।१०।।

प्रपञ्च मिथ्यात्व में श्री विद्यासागर द्वारा प्रदर्शित अनुमान भी निर्दुष्ट है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत्, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, स्वप्नादिवत्'' यह अनुमान भी साधु है। इस अनुमान में जो साध्य (ज्ञानव्यतिरेकेण असत्व) है। उसका अर्थ यह है कि पीछे किये गये पञ्चमिथ्यात्वलक्षणों में से किसी भी एक लक्षण के द्वारा लक्षित अर्थ। इस अनुमान में जो हेतु है—ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्व। इसका अर्थ है कि चिदाभास के रहने पर ही उपलभ्यमानत्व।

विद्यासागरोक्तमपिसाधु। ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमत्वं साध्यम्। ज्ञान–व्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वं चिदाभासे सत्येवोपलभ्यमानत्वं हेतुरिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। एवमन्येषामपि प्रयोगा यथायोगमुपपादनीया इति शिवम्।।११।।

— इत्यद्वैतसिद्धावंशित्वहेतूपपत्तिः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रदर्शित मिथ्यात्वानुमान भी ठीक है। इस अनुमान में स्थित साध्य = ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्व का अर्थ है—पूर्वोक्त पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्त्व। ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्व रूप हेतु का अर्थ है—चिदाभास के वर्तमान होने पर ही उलभ्यमानत्व। इस प्रकार से साध्य और हेतु का अर्थ स्पष्ट कर देने पर इस अनुमान में कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। इसी प्रकार से अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा कृत अनुमान भी यथायोग्य उपपादन कर लेना चाहिए। इस प्रकार से सर्व निर्मल है।।११।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायामंशित्वहेतूपपत्तिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् स्वावच्छिन्नचित् के बिना अनुपलभ्यमानत्व, अर्थात् स्वावच्छिन्नचित् की अपेक्षा न कर के जो प्रकाशित होता है उससे भिन्न। यहाँ स्वावच्छिन्नचित् का अर्थ है चिदाभास। चिदाभास की अपेक्षा किये बिना प्रकाशित होने वाला स्वयंप्रकाश ब्रह्म है। अतः हेतु का अर्थ होगा—स्वप्रकाशभिन्नत्वम्। इस तरह व्याप्ति बनेगी ''यद् यत् स्वप्रकाशभिन्नं तत्तत् प्रदर्शितपञ्चविध– मिथ्यात्वान्यतमरूपम्'' इस प्रकार की व्याप्ति में किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह पीछे के प्रसङ्गों में निरूपण किया जा चुका है। इसी प्रकार न्यायामृत ग्रन्थ में पूर्वपक्षी के द्वारा श्रीरामाद्वयाचार्यकृत 'तत्त्वकौमुदी' ग्रन्थ से मिथ्यात्वानुमान को उद्घृत कर जो—जो दोष दिये गये हैं उनका निराकरण भी समझ लेना चाहिए। अर्थात् तत्त्वकौमुदी ग्रन्थ का अनुमान— ''विमतं मिथ्या, धीकाल एवान्यथाप्रतीतत्वात्, चित्रनिम्नोन्नतादिवत्'' अथवा ''विमतं मिथ्या, भारूपवस्तुसंलग्नत्वात्, सवितृच्छिद्रवत्''। प्रथम अनुमान के हेतु (धीकाल एवान्यथाप्रतीतत्वात् का अर्थ ब्रह्मावृत्तिचित्तादात्म्य है। केवल चित्तादात्म्य कहते तो ब्रह्म में ब्रह्म का कल्पिततादात्म्य को लेकर व्यभिचारदोष हो जाता है। अतः उसको दूर करने के लिए ब्रह्मावृत्तिचित्तादात्म्य को हेतु बनाया गया। और दूसरे अनुमान के हेतु (भारूपवस्तुसंलग्नत्व) का अर्थ 'स्वप्रकाशस्वरूपावृत्तिधर्म' है। मिथ्यात्वसाध्य का अर्थ पीछे किये गये पञ्च प्रकार के मिथ्यात्व में से कोई एक मिथ्यात्व के लक्षण से लक्षित अर्थ लेना है। ऐसा तत्त्वकौमुदीकार के अनुमान का आशय है। अतः प्रथम अनुमान की व्याप्ति बनेगी ''यत्र यत्र ब्रह्मावृत्तिचित्तादात्म्यं, तत्र तत्र मिथ्यात्वम्''। यह व्याप्ति अनुमान के उक्त दृष्टान्त में है। दूसरे अनुमान की व्याप्ति बनेगी— ''यद् यत् स्वप्रकाशस्वरूपावृत्ति–धर्मवत्, तत्तन्मिथ्या''। यह व्याप्ति उक्त दृष्टान्त में है। पूर्वपक्षी द्वितीय हेतु (भारूपवस्तुसंलग्नत्व) में व्यभिचारदोष इस प्रकार से देना चाहता है कि ''सविता प्रकाशते'' ''आत्मा स्फुरति'' इस प्रकार की प्रतीति के बल पर सविता और आत्मा में भारूपवस्तुसंलग्नत्वरूप हेतु तो जा रहा है किन्तु उन दोनों में मिथ्यात्वरूप साध्य नहीं है। इसका समाधान यह है कि पूर्वपक्षी ने भारूपवस्तुसंलग्नत्व का अर्थ ठीक से समझा नहीं है। इसका अर्थ तो यह है— स्वप्रकाशस्वरूपावृत्तिधर्मवत्। आत्मा मे यह हेतु नहीं जा रहा है, क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा में स्वप्रकाशस्वरूपावृत्तिधर्म नहीं है। अतः आत्मा में व्यभिचारदोष नहीं होगा और सविता में यद्यपि हेतु है किन्तु सविता आदि पक्षकोटि में प्रविष्ट है। अतः उसमें व्यभिचार की शङ्का नहीं की जा सकती है। इस प्रकार मिथ्यात्वसाधक सभी हेतुओं में दिए गए दोषों का निराकरण कर देना चाहिए।।११।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामंशित्वहेतूपपत्तिः —

१३: दृश्यत्वादेः सोपाधिकत्वविचारः

ननु दृश्यत्वादिहेतवः सोपाधिकाः तथा हि स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। इस मिथ्यात्वानुमान के दृश्यत्वादि हेतु सोपाधिक है। जैसे कि इसमें ''स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वम्'' उपाधि है। अथवा ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्'' उपाधि है। (दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में उपाधियाँ दी गई हैं। उन उपाधियों का खण्डन करने के लिए आचार्यप्रवर सर्वप्रथम पूर्वपक्ष का अनुवाद करते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का कथन है कि दृश्यत्वादि हेतु सोपाधिक है। अतः वे अपने साध्य (मिथ्यात्व) को सिद्ध नहीं कर सकते। प्रपञ्च के मिथ्यात्वानुमान में दो उपाधियाँ स्पष्ट प्रतीत हो रही हैं। प्रथम उपाधि है—'स्वबाधका- भिमताबाध यदोषप्रयुक्तभानत्वम्'। दूसरी उपाधि है—'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्'। न्यायामृतकार ने प्रथम उपाधि का समन्वय इस प्रकार किया है; स्व शुक्तिरजत, उसका बाधक ''इयं शुक्तिः'' इस प्रकार का ज्ञान; उस ज्ञान से अबाध्यदोष—चाकचिक्यादि; तादृशचाकचिक्यादि से प्रयुक्त शुक्तिरजत का भान होता है। अतः दृष्टान्त में (शुक्तिरूप्य में) उपाधि का समन्वय हो जाने से और दृष्टान्त में साध्य के रहने से यह प्रथम उपाधि साध्य का व्यापक हो गयी। पक्षभूत प्रपञ्च में उपाधि नहीं है, क्योंकि स्व—प्रपञ्च; उसका बाधक—अखण्डाकारचित्तवृत्ति; उससे अबाध्यदोष अविद्या नहीं है, किन्तु बाध्य ही है। अतः 'स्वबाध ाकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वम्' पक्ष (प्रपञ्च) में नहीं है। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता मिल गयी। (उपाधि का लक्षण है— ''साध्यव्यापकत्वे सति साधना- व्यापकत्वम्''। उपाधि के इस लक्षण का समन्वय करने का सबसे सरल प्रकार यह है कि दृष्टान्त में उपाधि को घटायें, दृष्टान्त में साध्य रहता ही है। अतः दृष्टान्त में यदि उपाधि घट जाये तो वह उपाधि साध्य का व्यापक हो जायेगी, यही उपाधि ा की साध्यव्यापकता है। अब 'साधनाव्यापकत्व' इस प्रकार घटायें—पक्ष में हेतु रहता ही है। अतः केवल पक्ष में उपाधि का अभाव सिद्ध हो जाने से, उपाधि में साधन की अव्यापकता सिद्ध हो जाती है)। प्रथम उपाधि में 'अभिमत' पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि पूर्वपक्षी माध्व शुक्तिरूप्य को अलीक (तुच्छ) मानता है। अतः अलीक का बाधक सम्भव नहीं हो सकता है, किन्तु सिद्धान्ती शुक्तिरूप्य को मिथ्या मानते हैं, अतः उसका बाधक भी मानते हैं। इसलिए अभिमत पद से यह दिखाया गया कि शुक्तिरूप्य का, सिद्धान्ती को अभिमत जो बाधक है, उस बाधक को लेना है। कुछ लोग 'स्वबाधक', अर्थात् शुक्तिरजत का बाधक 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान को लेते हैं। किन्तु वे लोग सिद्धान्त के रहस्य को न समझने के कारण ऐसा करते हैं। क्योंकि 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि रजतभ्रम के अनन्तर 'नेदं रजतम्' इस प्रकार से पुरोवर्तिवस्तु में रजत का भेदज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक पुरोवर्तिवस्तु में रहने वाला रजत—अवृत्तिधर्म शुक्तित्व का ज्ञान न हो। भेदक- धर्म के अनुसन्धान के बिना भेदज्ञान होता ही नहीं। अतः 'इयं शुक्तिः' यह ज्ञान ही रजत का बाधक है। इस ज्ञान के बाद 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान होता है। यह बाधकज्ञान का फलीभूतज्ञान है। द्वितीय उपाधि का समन्यव इस प्रकार होगा— स्व—शुक्तिरजत; उसका बाधक—'इयं शुक्तिः' इस प्रकार का ज्ञान; 'इयं शुक्तिः' इस ज्ञान से ''नात्र रजतम्'' यह जो बाध ाक ज्ञान है, वह अबाध्य भी है। अतः शुक्तिरजत का बाधक ''इयं शुक्तिः'' उससे अबाध्यबाधक है— ''नात्र रजतम्'' यह ज्ञान। इस बाधक ज्ञान के प्रति निषेध्य के रूप से विषय शुक्तिरजत है। इस प्रकार से दृष्टान्त में उपाधि का समन्वय हो गया और दृष्टान्त में साध्य के होने से उपाधि साध्य का व्यापक हो गयी।

स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वं वा विपक्षाद्व्यावृत्तं समव्याप्तम्, अत एव

कैलासविद्याप्रकाशिका

भी है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी गया। इस प्रकार से दोनों उपाधियों में उपाधि के लक्षण ''साध्यव्यापकत्वे सति

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्षीभूतप्रपञ्च में हेतु है, किन्तु उपाधि नहीं है। क्योंकि स्व—प्रपञ्च; उसका बाधक—अखण्डाकारचित्तवृत्ति; उससे बाध्यबाधकज्ञान है— ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस श्रुति से जन्य ज्ञान, उसका निषेध्यत्वेन विषय प्रपञ्च। अतः प्रपञ्चरूप पक्ष में स्वबाधकबाध्यबाधक के प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व गया, न कि स्वबाधकाबाध्यबाधक के प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्व। इस प्रकार से पक्ष प्रपञ्च में उपाधि नहीं गई। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता मिल गई। अतः साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से द्वितीय उपाधि भी मिथ्यात्वानुमान में है। इस प्रकार द्वितीय उपाधि का समन्वय हो गया। उक्त दोनों धर्म विपक्ष (ब्रह्म और तुच्छ) से व्यावृत्त है। इसलिए उक्त दोनों धर्मों में समव्याप्ति (व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वम्) है। न्यायामृतकार ने उक्त दोनों धर्मों में समव्याप्ति स्पष्ट करने के लिए विपक्ष से व्यावृत्त कहा। इस से यह सिद्ध होता है कि जैसे उदयनाचार्यादि को साध्य और उपाधि में समव्याप्ति मान्य है, ठीक वैसे ही न्यायामृतकार और अद्वैतसिद्धिकार, दोनों को साध्य और उपाधि में समव्याप्ति मान्य है। प्रकृत में 'यत्र यत्र साध्यं तत्र तत्रोपाधिः' और 'यत्र यत्रोपाधिः तत्र तत्र साध्यम्' समव्याप्ति है। अतः समव्याप्ति होने के कारण ही उक्त दोनों धर्म व्यतिरेकव्याप्तिवाले हैं। अतः उक्त दोनों धर्मों को उपाधि माना जा सकता है। यहाँ पर विचार करने योग्य विषय है कि उपाधि को विपक्ष से व्यावृत्त क्यों कहा गया? और उपाधि को साध्य के साथ समव्याप्त क्यों कहा गया? और उपाधि की साध्य के साथ व्यतिरेकव्याप्ति (यत्र यत्रोपाध्यभावः तत्र तत्र साध्याभावः) क्यों कहीं गयी? इस का समाधान यह है कि वैसा करने से पक्षमात्र को व्यावृत्त करने वाला धर्म, जैसे पक्षभिन्नत्वादि उपाधि नहीं बन पायेंगे; अन्यथा पक्षभिन्नत्वधर्म को भी उपाधि मानना पड़ेगा। पक्षभिन्नत्व को उपाधि मानने पर सदनुमान भी सोपा—धिक हो जायेंगे। जैसे—'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यथा महानसम्'। यहाँ पर 'यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र पक्षभिन्नत्वम्' यह व्याप्ति महानस में मिलने से साध्य का व्यापक पक्षभिन्नत्व हो जायेगा और पक्ष में हेतु है, किन्तु पक्षभिन्नत्वरूप उपाधि के न होने से उपाधि में साधन की अव्यापकता भी मिल जायेगी। अतः सद्हेतु धूम भी सोपाधिक सिद्ध हो जायेगा। इस दोष को दूर करने के लिए विपक्ष से व्यावृत्त समव्याप्त उपाधि को कहा गया। पक्षभिन्नत्वरूप उपाधि वह्निरूप साध्य के विपक्ष जलह्रद में है। अतः विपक्षव्यावृत्त न होने के कारण पक्षभिन्नत्व समव्याप्त भी नहीं है, क्योंकि ''यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र पक्षभिन्नत्वम्'' यह व्याप्ति मिलने पर भी ''यत्र यत्र पक्षभिन्नत्वं तत्र तत्र वह्निः'' यह व्याप्ति नहीं मिलती है। क्योंकि विपक्ष जलह्रद में वह्नि नहीं है और पक्षभिन्नत्व है। इस प्रकार यह नितान्त स्पष्ट हो गया कि विपक्ष से व्यावृत्त साध्य के साथ समव्याप्तधर्म को उपाधि मानने पर पक्षमात्र को व्यावृत्त करने वाले धर्म (पक्षभिन्नत्वादि) उपाधि नहीं बन पायेंगे। साध्य और उपाधि को जो समव्याप्त कहा गया, उसका प्रथम फल यह कि पक्षमात्र को व्यावृत्त करने वाले धर्म (पक्षभिन्नत्वादि) उपाधि नहीं बन सका। दूसरा फल यह है कि उपाधि का जो लक्षण है— 'उप—समीपवर्तिनि वस्तुनि, स्वधर्ममाधीयते, आरोप्यते अनेन इति उपाधिः'—यह लक्षण भी चरितार्थ हो जाता है। जैसे जपाकुसुम के समीपवर्ति वस्तु स्फटिक में स्व (जपाकुसुम) का धर्म रक्तरङ्ग का आरोप होता है, अतः जपाकुसुम उपाधि है। इस प्रकार ''पर्वतो धूमवान् वह्नेः'' इस अनुमान में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। इस अनुमान में विचारणीय विषय यह है कि अनुमानकर्ता के द्वारा साध्य धूम की व्याप्ति वह्नि में दिखायी जा रही है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो धूम की व्याप्ति आर्द्रेन्धनसंयोग

व्यतिरेकव्याप्तिमदुपाधिरिति चेत्?॥ १ ॥

न, ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्ये मिथ्याभूते साध्याव्यापकत्वात्, पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिवत्

कैलासविद्याप्रकाशिका

साधनाव्याकत्वम्'' का समन्वय हो जाता है।) ये दोनों उपाधियां विपक्ष (ब्रह्म और तुच्छ) से व्यावृत्त है। इसलिए समव्याप्त हैं। समव्याप्त होने के कारण ही उक्त दोनों उपाधियां व्यतिरेक व्याप्तिवाली हैं।॥१ ॥

समाधान– नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानमात्र से बाध्य और मिथ्याभूत देहात्मैक्य में उपाधि का

सत्यानन्दप्रबोधिका

में है, न कि वह्नि में। अर्थात् उपाधि व्याप्य है और साध्य व्यापक है। अतः उपाधि आर्द्रेन्धनसंयोग में साध्य धूम की व्याप्ति बैठी है। अतः यहाँ पर उपाधि के लक्षण का इस प्रकार समन्वय होगा– आर्द्रेन्धनसंयोग के समीपवर्तिवस्तु वह्नि में आर्द्रेन्धनसंयोग का धर्म (आर्द्रेन्धनसंयोग में रहने वाली धूम की व्याप्ति) का आरोप हो रहा है। अतः आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। इस प्रकार साध्य का व्याप्य उपाधि के होने का फल दिखाया गया। साध्य का व्यापक उपाधि के होने का फल है कि उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान प्रकृत पक्ष पर ही किया जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए मूलग्रन्थ में कहा गया कि साध्य और उपाधि की ''यत्र यत्र उपाध्यभावः, तत्र तत्र साध्याभावः'' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति भी होनी चाहिए। अत एव कहा गया है–''साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः''। अर्थात् उपाध्यभाव को साध्याभाव का व्याप्य होना चाहिए। इस प्रकार विपक्ष से व्यावृत्त, समव्याप्त और व्यतिरेकव्याप्तिमत् का अर्थ स्पष्ट हो गया। पूर्वपक्षी कह रहा है कि उसने जो दो धर्मों को उपाधि बनाया है, उसमें विपक्षव्यावृतत्व भी है, समव्याप्तिमत्व और व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्व भी है। अतः उक्त दोनो धर्मों को उपाधि माना जा सकता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा किया गया मिथ्यात्वानुमान सोपाधिक हो जाने से दुष्ट सिद्ध हो गया। यही पूर्वपक्षी का आशय है।॥ १ ॥

मिथ्यात्वसाधक हेतु में पूर्वपक्षी के द्वारा जिन धर्मों को उपाधि कहा गया, उसका सहजतापूर्वक निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वे दोनों धर्म उपाधि नहीं बन सकते है, क्योंकि उपाधि को साध्य का व्यापक होना चाहिए। परन्तु यहाँ उक्त दोनों धर्म साध्य के व्यापक नहीं है। क्योंकि ''यत्र यत्र साध्यं तत्र तत्रोपाधिः'' यह व्याप्ति ब्रह्मज्ञानमात्र से बाध्य होने वाले मिथ्याभूत शरीर–आत्मा की एकता (देहात्मैक्य) में व्यभिचरित है। जैसे देहात्मैक्य में साध्य मिथ्यात्व है, किन्तु स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व नहीं है, क्योंकि स्व–देहात्मैक्य; उसका बाधक–ब्रह्मज्ञान (अखण्डाकारचित्तवृत्ति) उससे बाध्य दोष अविद्या से प्रयुक्त भानत्व देहात्मैक्य में है, न कि अबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व देहात्मैक्य में है। अतः साध्य का व्यापक स्वबाधकाभिमताबा–ध्यदोषप्रयुक्तभानत्व नहीं हुआ। इसलिए साध्य का व्यापक न होने के कारण स्वबाधकाभिमताबा–ध्यदोषप्रयुक्तभानत्व को उपधि नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्'' को भी उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि देहात्मैक्य में साध्य है किन्तु ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्'' देहात्मैक्य में नहीं है। क्योंकि स्व–देहात्मैक्य उसका बाधक– (ब्रह्मज्ञान) अखण्डाकारचित्तवृत्ति, उससे बाध्यबाधक ज्ञान ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस वाक्य से जन्यज्ञान अबाध्यबाधक नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही ब्रह्मज्ञान से बाधित होता है। अतः स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वरूप उपाधि देहात्मैक्य में न होने से साध्य का व्यापक नहीं हुआ। अतः इसको भी उपाधि नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा दिये गये दोनों धर्मो को उपाधि नहीं बनाया जा सकता, यह सिद्ध हो गया। केवल इतना ही दोष नहीं है, अपितु पूर्वपक्षी के द्वारा कहे गये दोनों धर्म पक्षेतरत्वधर्म के समान भी हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है– साधनवाले पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवाला होने से जिस प्रकार पक्षेतरत्व को उपाधि नहीं माना जा सकता है। क्योंकि पक्षेतरत्व में जो

साधनवत्पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वाच्च ।।२।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

साध्यव्यापकत्व नहीं है। (क्योंकि देहात्मैक्य में साध्य है किन्तु उक्त दोनों उपाधियां नहीं हैं।) और पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादि के समान साधनवत्पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषण वाली होने से उक्त दोनों

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषण (पक्ष) है, वह केवल पक्ष मात्र की व्यावृत्ति के लिए दिया गया है, अर्थात् पक्षेतरत्व के घटक पक्ष पद यदि नहीं देते, केवल इतरत्व (भेद) को उपाधि बनाते, तो पक्ष (पर्वत) में भी भेद रहने के कारण उपाधि (भेद) में साधन की अव्यापकता नहीं मिलती। पक्ष पद देने से पक्षेतरत्व, पक्ष (पर्वत) में नहीं रहेगा। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता मिल जायेगी। इस प्रकार यह देखा गया कि पक्ष पद केवल पक्षमात्र के व्यावर्तन के लिए दिया गया है, न कि साध्य और उपाधि की जो व्याप्ति है, उसमें व्यभिचारादि रोकने के लिए। क्योंकि 'यत्र यत्र साध्यं तत्र तत्रेतरत्वम्' ऐसी व्याप्ति मानने में कोई व्यभिचारादि दोष नहीं है, जब कि व्यभिचारवारक विशेषण ही सार्थक माना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवाले को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, इसी प्रकार पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व को भी उपधि नहीं बनाया जा सकता है। 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यथा महानसम्' इस अनुमान में पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व को उपाधि इसलिए नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि यह पक्षेतरत्व के समान है। जैसे पर्वत के अवयव में समवायसम्बन्ध से पर्वत रहेगा, उस पर्वत से अन्य को उपाधि कहना पड़ेगा, जब कि पर्वतान्यत्व और पर्वतभिन्नत्व दोनों समान ही धर्म है। अतः जैसे पर्वतभिन्नत्व को उपाधि नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार पर्वतान्यत्व (पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व) को भी उपाधि नहीं माना जाता है, क्योंकि यदि पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवाले को भी उपाधि मान लिया जाय, तब तो अनुमानमात्र ही सोपाधिक सिद्ध हो जायेगा और कोई सदनुमान मिलेगा ही नहीं। मिथ्यात्वानुमान में पूर्वपक्षी ने जो दो उपाधियाँ दी हैं, वे भी ठीक पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवाली पक्षेतरत्वरूप उपाधि के समान ही हैं। जैसे प्रथम उपाधि है—'स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वम्'। इसमें विशेषण भाग है 'स्वबाधकाभिमताबाध्य' और विशेष्य है 'दोषप्रयुक्तभानत्व'। यदि केवल दोषप्रयुक्तभानत्व कहते हैं तो साध्य का व्यापक उपाधि को सिद्ध करने में कोई व्यभिचारादिदोष नहीं है। अर्थात् 'यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र दोषप्रयुक्तभानत्वम्' यह शुक्तिरजत में है, किन्तु दोषप्रयुक्तभानत्व पक्ष (जगत्) में भी है, क्योंकि अविद्यादि दोष से ही प्रपञ्च का भान होता है। वहाँ पर (प्रपञ्च में) हेतु दृश्यत्वादि है। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता ही नहीं मिलेगी। अतः पक्षमात्र की व्यावृत्ति करने के लिए विशेषण (स्वबाध्य— काभिमताबाध्य) दिया गया है। ऐसा विशेषण देने से जगत् का बाधक अखण्डाकारचित्तवृत्ति से बाध्य अविद्यादोष है, वह अबाध्य नहीं है। अतः पक्ष (जगत्) में उपाधि (स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व) नहीं जाने से उपाधि में साधन की अव्यापकता सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार प्रथम उपाधि में जो विशेषण भाग है, वह पक्षमात्र का व्यावर्तक है। अतः प्रथम उपाधि पक्षेतरत्व के समान है, यह सिद्ध हो गया। इसी प्रकार द्वितीय उपाधि में भी यही दोष है, जैसे— 'स्वबाधकाबा—ध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' में विशेषण भाग है 'स्वबाधकाबाध्यबाधकम्' और विशेष्य 'निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' है। यदि निषेध्यत्वेन विषयत्व को उपाधि बनाते, तो भी साध्य का व्यापक उपाधि हो जाती, क्योंकि 'यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' यह दृष्टान्त (शुक्तिरजत) में है, क्योंकि 'नात्र रजतम्' इस बाधक ज्ञान का निषेध्यत्वेन विषय शुक्तिरूप्य है, किन्तु निषेध्यत्वेन विषयत्व पक्ष (प्रपञ्च) में भी है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस बाधकज्ञान का निषेध्यत्वेन विषय प्रपञ्च है। अतः साधन की अव्यापकता उपाधि में नहीं मिलती। इसलिए विशेषणभाग ''स्वबाधकाबाध्यबाधक''

न च बाधोन्नीतत्वात् सोऽप्युपाधिः, बाधस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात्। अपि च यद्व्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्; इतरांशेऽनुकूलतर्काप्रसरात्। तथा च 'क्षित्यादिकं, न कर्तृजन्यम्, शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र यथा शरीरविशेषणवैयर्थ्यान्न शरीरजन्यत्वं कर्तृजन्यत्व—

कैलासविद्याप्रकाशिका

उपाधियां पक्षेतरत्व के समान हैं।।२।।

शङ्का— प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का साध्य (मिथ्यात्व) प्रत्यक्षादि से बाधित है अर्थात् बाधदोष से ग्रस्त है। अतः उस बाध से समर्थित होकर साधनवत् पक्षमात्रव्यावर्तक विशेषण से विशिष्ट को भी उपाधि बनाया जा सकता है।

समाधान— ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आगे बाधोद्धार प्रकरणों में बाधदोष का

सत्यानन्दप्रबोधिका

दिया गया। इस विशेषण से उपाधि पक्ष में नहीं जायेगी, क्योंकि स्व—प्रपञ्च, उसका बाधक—अखण्डाकारचित्तवृत्ति, उससे बाध्यबाधकज्ञान है, 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह ज्ञान, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ब्रह्मज्ञान से 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस बाधक ज्ञान का भी बाध हो जाता है। अतः प्रपञ्च में 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' नहीं गया, प्रपञ्चरूपपक्ष में उपाधि के न रहने से उपाधि में साधन की अव्यापकता है। इस प्रकार द्वितीय उपाधि में जो विशेषणभाग है वह पक्षमात्र का व्यावर्तक है। अतः द्वितीय उपाधि भी पक्षेतरत्व के तुल्य ही है, यह स्पष्ट हो गया।।२।।

इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जहाँ बाधदोष होता है, वहाँ कोई न कोई उपाधि अवश्य होती है और यदि वहाँ पर कोई उपाधि नहीं मिलती है, तो पक्षेतरत्व को भी उपाधि मान लिया जाता है। अतः सोपाधिकहेतु हो जाने से वह अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता है। जैसे 'वह्निरनुष्णः, कृतकत्वात्, जलवत्' यहाँ पर प्रत्यक्षबाधदोष है। अतः यहाँ पर 'वह्निभिन्नत्व' को उपाधि माना जाता है। ऐसे ही मिथ्यात्व अनुमान में भी बाधदोष है। अतः पक्षेतरत्व अथवा पक्षेतरत्व के समानधर्म (स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वादि) को उपाधि माना जा सकता है। परन्तु पूर्वपक्षी को ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रकृत में जो मिथ्यात्वानुमान है, उसमें किसी भी प्रमाण से बाधदोष प्रसक्त ही नहीं होता है। यह बात प्रत्यक्षादिबाधोद्धारप्रकरणों में कही जायेगी। अतः मिथ्यात्वानुमान में पक्षेतरत्व या पक्षेतरत्व के तुल्यधर्मों को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, दूसरी बात यह है कि किसी के उतने ही भाग को ही उपाधि बनाया जा सकता है, जितने भाग के अभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि होती है। अतः उसी भाग को साध्य का व्यापक कहा जाता है, अर्थात् उतने भाग को उपाधि बनाया जाता है, शेष भाग को उपाधि में प्रविष्ट करने के लिए अनुकूलतर्क देना उचित नहीं माना जाता है। इसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहे हैं—' क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्'। इस अनुमान में बौद्धौं ने शरीरजन्यत्व को उपाधि बनाया। किन्तु शरीरजन्यत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि उपाधि में जो विशेषण है 'शरीर' उसको छोड़कर भी शेष भाग (जन्यत्व) के अभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि करने में कोई दोष नहीं है, अर्थात् 'यत्र यत्राजन्यत्वं तत्र तत्र कर्तृजन्यत्वाभावः' इस व्याप्ति में कोई व्यभिचार नहीं है। अतः विशेषण भाग 'शरीर' व्यर्थ है। अतः कर्तृजन्यत्वरूप साध्य का व्यापक शरीरजन्यत्वरूप उपाधि को नहीं बनाया जा सकता है। जैसे नीलरूप व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण नीलधूम को वह्नि का व्याप्य नहीं बनाया जाता है। यदि केवल 'जन्यत्व' को उपाधि बनाते हैं, तो वह साध्य का व्यापक तो हो जायेगी। क्योंकि 'यत्र यत्र कर्तृजन्यत्वं तत्र तत्र जन्यत्वम्' इस व्याप्ति में कोई दोष नहीं है। किन्तु साधन का अव्यापक नहीं होगी; क्योंकि पक्ष में हेतु और जन्यत्व दोनों है। अतः साधन का व्यापक जन्यत्व

व्यापकम्, एवं 'वियदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्' इति साध्यव्यतिरेकसाधने स्वबाधकाभिमताबाध्यभागस्य वैयर्थ्यात् स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं न मिथ्यात्वव्यापकम्। दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यव्यापकम्, तच्च साधनव्यापकमपीति नोपाधिः। दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्ववत्तस्यापि साधनात् ॥ ३॥

एवं द्वितीयोपाधावपि 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति' इति विशेषणं व्यतिरेकसाधने

कैलासविद्याप्रकाशिका

निराकरण किया जायेगा। दूसरी बात यह भी है कि जिसका अभाव साध्याभाव का साधक (व्याप्य) है, उसका ही साध्यव्यापकत्व होता है, क्योंकि उससे भिन्न विशेषणांश में अनुकूल तर्क का प्रवेश नहीं हो पाता है। फलितार्थ यह हुआ कि ''क्षित्यादिक कर्ता से जन्य नहीं है, शरीर अजन्य होने से'' इस साध्याभाव को सिद्ध करने वाले अनुमान में जैसे शरीर विशेषण के व्यर्थ होने के कारण शरीर जन्यत्व को कर्तृजन्यत्व का व्यापक नहीं माना जाता है, ठीक वैसे ही ''गगनादिक मिथ्या नहीं है, स्वबाधकत्वेन अभिमत ज्ञान से अबाध्यदोष से प्रयुक्तभानरहितत्व होने से'' इस प्रकार से पक्ष में साध्याभाव के साधक अनुमान में ''स्वबाधकाभिमताबाध्य'' इतना भाग व्यर्थ होने के कारण स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व को मिथ्यात्वरूपसाध्य का व्यापक नहीं माना जाता सकता है। दोषप्रयुक्तभानत्वमात्र तो साध्य का व्यापक होता है किन्तु वह साधन का भी व्यापक है। अतः उसको उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। जिस प्रकार दृश्यत्वादि हेतुओं से प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता है ठीक उसी प्रकार दृश्यत्वादि हेतुओं से प्रपञ्च में दोषप्रयुक्तभानत्व भी सिद्ध हो जाता है। अतः दृश्यत्वादि हेतुओं से दोषप्रयुक्तभानत्व का व्यापकत्व है। इस प्रकार से प्रथम उपाधि का खण्डन हो गया।।३।।

इसी प्रकार से द्वितीय उपाधि में भी ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति'' यह विशेषण पक्ष में

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने से जन्यत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने मिथ्यात्वानुमान में जो प्रथम उपाधि दी है, उस उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान करेंगे तो उसका आकार यह होगा— ''वियदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्, ब्रह्मवत्''। इस प्रकार उपाध्यभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि करते समय 'स्वबाधकाभिमताबाध्य' यह विशेषणभाग व्यर्थ है, क्योंकि ''यत्र यत्र दोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः'' ऐसी व्याप्ति मानने में कोई दोष नहीं है। अतः स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व को मिथ्यात्व का व्यापक नहीं बनाया जा सकता है। इसलिए साध्य का व्यापक न होने से 'स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व' को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। यदि दोषप्रयुक्तभानत्वरूप विशेष्य भाग को उपाधि बनाते हैं; तो साध्य का व्यापक उपाधि बन जायेगी, अर्थात् ''यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र दोषप्रयुक्तभानत्वं यथा शुक्तिरूप्यम्''। किन्तु दोषप्रयुक्तभानत्व में साधन की अव्यापकता नहीं मिलेगी, अपितु वह साधन का व्यापक है। अतः दोषप्रयुक्तभानत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता। प्रश्न होता है कि हेतु का व्यापक 'दोषप्रयुक्तभानत्व'' कैसे है? इसका उत्तर है कि जैसे दृश्यत्वादि का व्यापक मिथ्यात्व है, उसी प्रकार दृश्यत्वादि का व्यापक 'दोषप्रयुक्तभानत्व' भी है, यह इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जैसे ''जगन्मिथ्या दोषप्रयुक्तभानवच्च, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्''। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया कि मिथ्यात्वानुमान में पूर्वपक्षी जो 'स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व' को उपाधि बनाना चाहता था वह उपाधि नहीं बन सकता है।।३।।

इसी युक्ति से ही 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' को भी उपाधि नहीं बनाया

व्यर्थम्। विशेष्यभागस्तु साध्यसाधनयोर्व्यापक इति नोपाधिः ।।४।।

अत एवाधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमुपाधिः। अत्र च ब्रह्मणोऽपि बौद्धकल्पितदोषवद्धेतुजन्यक्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्वात् समव्याप्तिसिद्ध्यर्थमधिष्ठानसमसत्ताकेति

कैलासविद्याप्रकाशिका

उपाध्यभाव से साध्याभाव के साधन में व्यर्थ है और विशेष्य भाग (निषेध्यत्वेन विषयत्व) साध्य का भी व्यापक है और साधन का भी व्यापक है। इसलिए निषेध्यत्वेन विषयत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। इस प्रकार द्वितीय उपाधि का भी खण्डन हो गया।।४।।

अत एव अपास्तम् = समव्याप्ति सम्पादकत्व के होने पर भी पूर्वोक्त प्रकार से पक्षमात्र का ही व्यावर्तकत्व होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त यह उपाधि भी खंडित हो गयी। यहां उपाधि का

सत्यानन्दप्रबोधिका

जा सकता है, क्योंकि जब उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान किया जायेगा, तब अनुमान का आकार होगा– ''विमतं न मिथ्या स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वाभावात् ब्रह्मवत्''। इस प्रकार उपाध्यभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि करते समय ''स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति'' यह विशेषण भाग व्यर्थ है, क्योंकि ''यत्र यत्र निषेध्यत्वेन विषयत्वाभावः तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः'' ऐसी व्याप्ति मानने में कोई दोष नहीं है। अतः व्यर्थविशेषण होने के कारण 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' को मिथ्यात्व का व्यापक नहीं माना जा सकता है, इसलिए 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। यदि 'निषेध्यत्वेन विषयत्वम्' को उपाधि बनाते हैं, तो वह साध्य और साधन दोनों की व्यापक हो जायेगी और तब उस (निषेध्यत्वेन विषयत्व) में उपाधि बनने की क्षमता ही नहीं रहेगी। अर्थात् दृष्टान्त में निषेध्यत्वेन विषयत्व के रहने से, यद्यपि वह (निषेध्यत्वेन विषयत्व) साध्य का व्यापक है, परन्तु पक्ष में भी उसके रहने से वह साधन का भी व्यापक है। इसी लिए कहा गया कि निषेध्यत्वेन विषयत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दूसरी उपाधि भी दुष्ट है, यह नितान्त स्पष्ट हो गया। यहाँ पर एक बात यह भी विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिए कि यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त दोनों उपाधियों में जो विशेषणभाग है, वह समव्याप्ति के लिए दिये गये है, तो पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों उपाधियों में से विशेषण भाग निकाल भी दें, तो भी साध्य के साथ उपाधि के विशेष्यभाग की समव्याप्ति बन जायेगी। इस प्रकार उपाधिद्वय का समुचित खण्डन हो गया।।४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त दोनों उपाधियाँ समव्याप्ति की सम्पादिका होने पर भी पूर्वोक्त प्रकार से केवल पक्षमात्र का व्यावर्तक विशेषणवाली होने से जैसे खण्डित कर दी गई, ठीक उसी प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त तृतीय उपाधि भी खण्डित हो जायेगी। पूर्वपक्षी ने तृतीय उपाधि यह दी है–'' अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वम्''। पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होता है– सिद्धान्ती को शुक्तिरजत के अधिष्ठानरूप से शुक्ति अभिमत है। उस शुक्ति की सत्ता (व्यवहारिकसत्ता) के समानसत्तावाला दोष (चाकचिक्य, शुक्त्यज्ञानादि) है, उन दोषों से युक्त विषय, इन्द्रियादि जो भ्रम के हेतु हैं, उससे जन्यज्ञान ''इदं रजतम्'', उसका विषय शुक्तिरूप्य है। अतः शुक्तिरूप्य में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से उपाधि साध्य का व्यापक हो गयी। पक्ष में हेतु है, किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चाध्यास का अधिष्ठान ब्रह्म है और ब्रह्म के समानसत्तावाला कोई दोष प्रसिद्ध ही नहीं है, जिस से युक्त हेतु के द्वारा प्रपञ्च का ज्ञान उत्पादित हो और उस ज्ञान का विषय प्रपञ्च सिद्ध हो सके। इस प्रकार उपाधि साधन का अव्यापक सिद्ध हो गयी। पूर्वपक्षी का कहना है कि इस उपाधि का विशेषणभाग

विशेषणम्, न तु पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थम्, अतो न पक्षेतरत्वतुल्यतेत्यपास्तम्। ब्रह्मणीव ब्रह्मणि कल्पिते क्षणिकत्वादावपि मिथ्याभूते धर्मेऽधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानाविषयत्वादुपाधेः

कैलासविद्याप्रकाशिका

आकार है— अधिष्ठानत्वेन अभिमत पदार्थ के साथ समसत्ताक जो दोष है, उस दोष से युक्त हेतु से जन्य जो ज्ञान, तादृश ज्ञान विषयत्व। दृष्टान्त में साध्य और उपाधि है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में गया और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में गया। इस प्रकार से उपाधि का लक्षण समन्वय हो गया। '' अधिष्ठान समसत्ताक'' विशेषण न देकर ''दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्व'' मात्र को उपाधि बनाने पर तो बौद्ध परिकल्पित दोषबद्धेतु— जन्यक्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्व ब्रह्म में भी रहेगा। अतः साध्य और उपाधि में समव्याप्ति की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः समव्याप्ति की सिद्धि के लिए ''अधिष्ठानसमसत्ताक'' यह विशेषण उपाधि में दिया गया है, केवल पक्ष के व्यावर्तन के लिए नहीं। अतः इस उपाधि में पक्षेतरतुल्यता नहीं है। इस उपाधि

सत्यानन्दप्रबोधिका

(अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताक) पक्षमात्र की व्यावृत्ति के लिए नहीं, अपितु साध्य और उपाधि में समव्याप्ति की सिद्धि के लिए दिया गया है। यदि उपाधि का विशेष्यभाग (दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वम्) कहते तो ''यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मिलने पर भी''यत्र यत्र दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'' यह व्याप्ति नहीं मिलती, क्योंकि बौद्धों का अनुमान है ''ब्रह्म क्षणिकं, सत्त्वात्, दीपज्वालावत्''। बौद्धों के द्वारा किये गये इस अनुमान का हेतु सिद्धान्ती के लिए दोष (बाधदोष) से युक्त है, क्योंकि इस अनुमान का साध्य (क्षणिकत्व) प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है। अतः उस दोषयुक्त (बाधदोषयुक्त) हेतु (सत्त्व) से जन्य जो 'ब्रह्मक्षणिकम्' यह ज्ञान है, इस ज्ञान का विषय ब्रह्म है। इस प्रकार से ब्रह्म में उपाधि गयी, किन्तु ब्रह्म में साध्य (मिथ्यात्व) नहीं है। अतः साध्य और उपधि में समव्याप्ति के लिए उपाधि का विशेषण (अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताक) भाग दिया गया। विशेषण के देने पर बौद्धों के द्वारा की गयी 'ब्रह्म क्षणिकम्' ऐसी जो क्षणिकत्व की कल्पना उसका अधिष्ठान ब्रह्म और उस ब्रह्म की सत्ता के समानसत्तावाला बाधदोष नहीं है। अतः तादृश बाधदोष से युक्त हेतु से जन्यज्ञान का विषय ब्रह्म को नहीं माना जा सकता है। अतः उपाधि के साथ साध्य की समव्याप्ति सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह दिखाया कि उपाधि का विशेषणभाग साध्य और उपाधि में समव्याप्ति के लिए है, न कि पक्षमात्र की व्यावृत्ति करने के लिए। इसलिए इस उपाधि को पक्षमात्र का व्यावर्तन करनेवाले पक्षेतरत्व के समान नहीं कहा जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर उपाधि साध्य का व्यापक नहीं है। इस को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बौद्धों के द्वारा ब्रह्म में जो क्षणिकत्वादि धर्मों की कल्पना की गई है, उन क्षणिकत्वादि धर्मों में मिथ्यात्व साध्य है, किन्तु उपाधि नहीं है। क्योंकि क्षणिकत्व का अधिष्ठान ब्रह्म है। उस ब्रह्म के समानसत्तावाला बाधदोष है नहीं, जिस से उस बाधदोष से युक्त हेतु (सत्त्व) से जन्यज्ञान (ब्रह्म क्षणिकम्) का विषय क्षणिकत्व हो सके। अर्थात् क्षणिकत्व में उपाधि नहीं गयी। अतः ब्रह्म में कल्पित क्षणिकत्वादि धर्म में साध्य मिथ्यात्व है, किन्तु उपाधि नहीं रहने से साध्य का व्यापक उपाधि नहीं हुई। दूसरा दोष यह है कि जब उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि करते समय उपाधि का विशेषण (अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताक) व्यर्थ है। अर्थात् ''यत्र यत्र अधिष्ठान – त्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वाभावः तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः'', इस व्याप्ति से अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकरूप विशेषण को हटाकर यदि व्याप्ति बनाए— ''यत्र यत्र दोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वाभावः तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः'' तब भी कोई व्यभिचारादिदोष नहीं है। अतः

साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेकसाधने व्यर्थविशेषणत्वस्योक्तत्वाच्च।।५।।

नापि श्रुतितात्पर्याविषयत्वमुपाधिः, श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य ब्रह्ममात्रनिष्ठतया तदभावस्य साधनव्यापकत्वात् ।। ६।।

नापि प्रातिभासिकत्वमुपाधिः, तद्धि ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम्, तस्य च देहात्मैक्ये

कैलासविद्याप्रकाशिका

ा का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस प्रकार से यह उपाधि ब्रह्म में नहीं है, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म में कल्पित जो मिथ्याभूत क्षणिकत्वादि धर्म है, उसमें भी अधिष्ठानसमसत्ताकदोषबद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वरूप उपाधि नहीं है। इसलिए साध्य का व्यापकत्व उपाधि में सिद्ध नहीं होगा और उपाध्यभाव से साध्याभाव के साधन में ''अधिष्ठानसमसत्ताक'' विशेषण का व्यर्थत्व पूर्वोक्त प्रकार से इस उपाधि में समझ लेना चाहिए।।५।।

श्रुतितात्पर्याविषयत्व को भी उपाधि नहीं बनाया जा सकता है,क्योंकि श्रुतितात्पर्यविषयत्व ब्रह्ममात्र में रहता है। अतः श्रुतितात्पर्याविषयत्व आकाशादि पक्ष में वर्तमान होने के कारण साधन का व्यापकत्व ही उपाधि में ग्रहण होगा न कि अव्यापकत्व।।६।।

प्रतिभासिकत्व को भी उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ है—ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व। वह मिथ्याभूत देहात्मैक्य में नहीं है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में नहीं

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यर्थविशेषण से युक्त होने के कारण मिथ्यात्व का व्यापक ''अधिष्ठानत्वाभिमतदोषवद्धेतु – जन्यज्ञानविषयत्वम्'' को नहीं माना जा सकता, अर्थात् तादृशदोषवद्धेतुजन्य ज्ञानविषयत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। यदि केवल दोषवद्धेतुजन्यविषयत्व को उपाधि बनाते तो, वह साध्य और साधन दोनों का व्यापक होने से उपाधि ही नहीं बन पायेगा। इन सभी विचारों को इसी प्रसङ्ग के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है।। ५।।

पूर्वपक्षी ने चतुर्थ उपाधि दी है—'श्रुतितात्पर्याविषयत्व'। पूर्वपक्षी ने इस उपाधि का समन्वय इस प्रकार से किया है— श्रुति के तात्पर्य का विषय शुक्तिरजत नहीं है। अतः दृष्टान्त में साध्य और उपाधि ा दोनों के रहने से उपाधि साध्य का व्यापक हो गयी। पक्षकोटि में धर्म भी प्रविष्ट है। वह धर्म श्रुति के तात्पर्य का विषय होता है, क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म श्रुति के तात्पर्य का विषय होता है, उसी प्रकार ध ार्म भी श्रुति के तात्पर्य का विषय होता है। अतः पक्ष के एकभाग (धर्म) में श्रुतितात्पर्य का अविषयत्व के न रहने से साधन का अव्यापक भी उपाधि है। इस का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि श्रुति के तात्पर्य का विषय केवल ब्रह्म है, न कि धर्मादि। अतः पक्ष में भी श्रुतितात्पर्याविषयत्व के रह जाने से वह साधन का व्यापक हो गया। इसलिए श्रुतितात्पर्याविषयत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। इस प्रकार यह चतुर्थ उपाधि भी खण्डित हो गई।। ६।।

पूर्वपक्षी के द्वारा मिथ्यात्वानुमान में पञ्चम उपाधि 'प्रातिभासिकत्व' दी गयी है। उसका समन्वय इस प्रकार किया गया है— दृष्टान्त शुक्तिरजत में मिथ्यात्व और प्रातिभासिकत्व दोनों के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है। पक्ष में हेतु है, किन्तु प्रातिभासिकत्व नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च को व्यावहारिक माना जाता है। अतः साधन का अव्यापकत्व उपाधि में है। इसलिए प्रातिभासिकत्व को उपाधि मानना चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का जो कथन है, उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रातिभासिकत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि यह उपाधि साध्य का व्यापक नहीं है। क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ होता है— ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व। मिथ्यात्वरूप साध्यवाले देहात्मैक्य में ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व नहीं है।

मिथ्याभूतेऽप्यसत्त्वेन साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेके व्यर्थविशेषणत्वाच्च। नापि प्रतिभासमात्रशरीरत्वमुपाधिः, दृष्टिसृष्टिपक्षे साधनव्यापकत्वात् परेषामसिद्धेश्चेति।। ७।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वादीनां सोपाधिकत्वभङ्गः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

मिलेगा। उपाध्यभाव से साध्याभाव के साधन में ''ब्रह्मज्ञानेतर'' विशेषण का व्यर्थत्व पूर्वोक्त प्रकार से यहां पर भी समझ लेना चाहिए। प्रतिभासमात्रशरीरत्व को भी उपाधि नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिपक्ष में साधन का व्यापकत्व ही उपाधि में मिलेगा न कि अव्यापकत्व। दूसरी बात यह भी है कि माध्वमत में शुक्तिरूप्य को प्रतिभासमात्र शरीर वाला नहीं माना जाता है किन्तु अलीक माना जाता है। अतः दृष्टान्त में साध्य के रहने और उपाधि के न रहने से साध्य का व्यापकत्व भी उपाधि में नहीं मिलेगा।।७।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां दृश्यत्वादीनां सोपाधिकत्वभङ्गः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः साध्य का व्यापक उपाधि नहीं हुआ। दूसरा दोष यह है कि जब उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि करेंगे, तब व्याप्ति बनेगी— 'यत्र यत्र ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वाभावः तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः यथा ब्रह्म'। यहाँ उपाधि का विशेषण 'ब्रह्मज्ञानेतर' व्यर्थ है, क्योंकि 'यत्र यत्र अबाध्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वाभावः यथा ब्रह्म' इस व्याप्ति में कोई दोष नहीं है। अतः व्यर्थविशेषण के कारण ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। यदि बाध्यत्व को उपाधि बनाते हैं, वह (बाध्यत्व) साध्य और साधन दोनों का व्यापक होने से उपाधि नहीं बन पायेगा। पूर्वपक्षी द्वारा षष्ठ उपाधि दी गयी है— 'प्रतिभासमात्रशरीरत्वम्''। उस पदार्थ को प्रतिभासमात्रशरीरवाला कहा जाता है, जिसका अपने ज्ञानकालमात्र में ही अस्तित्व रहता है, उसके ज्ञान के पूर्व या पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं रहता है। अर्थात् जिसकी सत्ता कभी अज्ञात नहीं रहती है, उस अज्ञातसत्ताराहित्यवाले को प्रतिभासमात्रशरीरवाला कहा जाता है। इस उपाधि का समन्वय इस प्रकार होगा— दृष्टान्त शुक्तिरजत में साध्य और उपाधि दोनों हैं। अतः साध्य का व्यापक उपाधि है। पक्ष (प्रपञ्च) में हेतु है, किन्तु प्रतिभासमात्रशरीरत्व नहीं है। अतः उपाधि साधन का अव्यापक है। इस प्रकार उपाधि समन्वय हो जाने से प्रतिभासमात्रशरीरत्व को उपाधि मानना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह उपाधि साध्य का व्यापक नहीं है। क्योंकि देहात्मैक्य में साध्य है, किन्तु प्रतिभासमात्रशरीरत्व नहीं है। इस प्रकार साध्य का व्यापक न होने से प्रतिभासमात्रशरीरत्व को उपाधि के रूप में कोई भी सुधी मान्यता नहीं दे सकता है। इसलिए आचार्यप्रवर ने इस दोष को सिद्धवत् मान कर दूसरा दोष दे रहे हैं— दृष्टिसृष्टिवाद में सम्पूर्ण प्रपञ्च को प्रातिभासिक माना जाता है। अतः उस मत के अनुसार पक्ष में भी प्रतिभासमात्रशरीरत्व के रह जाने से वह हेतु का व्यापक हो गया। इस प्रकार साधन का अव्यापक उपाधि सिद्ध न होने से उपाधि खण्डित हो गयी। अन्यदोष यह भी है कि पूर्वपक्षी शुक्तिरजत को अलीक मानता है, प्रातिभासिक नहीं। अतः पूर्वपक्षी के मतानुसार शुक्तिरजत में प्रतिभासमात्रशरीरत्व नहीं है, किन्तु साध्य मिथ्यात्व है। अतः साध्य का व्यापक प्रतिभासमात्रशरीरत्व के न होने से इसको उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। इस प्रकार अनेक उपाधियों का खण्डन करके आचार्यप्रवर ने यह सिद्ध कर दिया कि मिथ्यात्वानुमान सोपाधिक नहीं हैं।। ७।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां दृश्यत्वादीनां सोपाधिकत्वभङ्गः —

१४: दृश्यत्वादेराभाससाम्यविचारः

ननु विमतं प्रातिभासिकं दृश्यत्वात्। ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याद्याभाससाम्यमिति चेत् ॥ १ ॥

न, जगतो व्यावहारिकसत्त्वबाधे व्यवहारानुपपत्तिः, ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्चेति

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — विवादविषयीभूतव्यवहारिकप्रपञ्च प्रातिभासिक है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व है, जैसे शुक्तिरजत। ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि उसमें व्यवहार विषयत्व है अथवा असद् विलक्षणत्व है, जैसे शुक्तिरजत। ये जो अनुमानाभास हैं। इन अनुमानाभासों के साथ सिद्धान्तीकृत मिथ्यात्वानुमान का साम्य है।१ ॥

समाधान— नहीं, क्योंकि जगत् का व्यावहारिकसत्त्व बाधित मानने पर व्यवहार की अनुपत्ति होगी और ब्रह्मनिष्ठमिथ्यात्व को स्वीकार करने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी— ये जो प्रतिकूलतर्क है, इन तर्कों से निराकृत होने के कारण उक्त अनुमान अपने साध्य के साधक नहीं हो सकते हैं,जबकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

'विमतं प्रातिभासिकं दृश्यत्वात्'। 'ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवत्'। पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त दोनों अनुमान अनुमानाभास है। अतः दोनों अनुमानों के हेतु दुष्ट होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। यह जिस प्रकार से वादी–प्रतिवादी दोनों को मान्य है। ठीक उसी प्रकार से दृश्यत्वहेतुवाले मिथ्यात्वानुमान भी अनुमानाभासमात्र हैं। अतः मिथ्यात्वानुमान का भी हेतु दुष्ट होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। प्रपञ्चमिथ्यात्व अनुमान में जो व्यावहारिकप्रपञ्च पक्षरूप से ग्राह्य है, वही इस अनुमान में 'विमतम्' पद से कहा गया है, अर्थात् ''व्यावहारिकप्रपञ्चः प्रातिभासिकः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्''। शुक्तिरूप्यदृष्टान्त में दृश्यत्व और प्रातिभासिकत्व दोनों हैं। अतः दृश्यत्व का व्यापकत्व प्रातिभासिकत्व में है और पक्ष में दृश्यत्व भी है। अतः इस अनुमान के द्वारा प्रपञ्च में प्रातिभासिकत्व मानना चाहिए। दूसरा अनुमान—''ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात् शुक्तिरूप्यवत्''। शुक्तिरूप्यदृष्टान्त में व्यवहारविषयत्वरूप हेतु और मिथ्यात्वरूप साध्य दोनों हैं और पक्ष में हेतु व्यवहारविषयत्व है। अतः ब्रह्म में मिथ्यात्व मानना चाहिए। तीसरे अनुमान का आकार — ''ब्रह्म मिथ्या, असद्विलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्''। दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में हेतु और साध्य दोनों है और पक्ष में हेतु है। अतः ब्रह्म में मिथ्यात्व मानना चाहिए। किन्तु उक्त हेतुओं के द्वारा जैसे साध्य की सिद्धि नहीं मानी जाती है, उसी प्रकार उन हेत्वाभासों के समान ही सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा मिथ्यात्व की भी सिद्धि नहीं की जा सकती है, यही पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।। १ ।।

इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये अनुमानाभासों की समानता प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये अनुमानाभास प्रतिकूलतर्क से ग्रस्त है, जबकि सिद्धान्ती द्वारा किया गया प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान अनुकूलतर्कों से युक्त है, यह आगे दिखाया जायेगा। पूर्वपक्षी के प्रथम अनुमान में प्रतिकूलतर्क यह होगा— ''प्रपञ्चो यदि प्रातिभासिकः स्यात्, तर्हि व्यवहारनिर्वाहको न स्यात्''। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रपञ्च को प्रातिभासिक मान लेने पर चक्षुरादि से जन्य जो व्यावहारिकप्रपञ्च के आकार की वृत्ति होती है और जो व्यावहारिकप्रपञ्च की प्रत्यभिज्ञादि होती है, वह नहीं हो पायेगी। अर्थात् जगत् में व्यावहारिकसत्ता मानने पर ही चक्षुरादि को प्रमाण माना जा सकता है, क्योंकि व्यावहारिकसत्ता का अर्थ होता है अज्ञातसत्ता। जब विषय की अज्ञातसत्ता होती है, अर्थात् विषय के ज्ञान से पूर्व जब विषय की सत्ता होती है, तब अनधिगताबाधितविषयकज्ञान का करण होने से चक्षुरादि को प्रमाण माना जाता है। अर्थात् ज्ञान होने से पहले ही जब विषय विद्यमान

प्रतिकूलतर्कपराघातेन तयोरसाधकत्वात्, प्रकृते च प्रतिकूलतर्कस्य निरसिष्यमाणत्वात्। किञ्च प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम्? प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वा? आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वञ्च। द्वितीये दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम्॥२॥

एवं ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम्। निरुपाधिके व्यवहारविषयत्वरूपो

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्च में मिथ्यात्वसाधक जो अनुमान हैं, उसमें जो प्रतिकूलतर्क है, उनका निराकरण किया जाने वाला है। अतः मिथ्यात्वानुमान अपने साध्य का साधक है, दूसरी बात यह भी कि पूर्वपक्षीकृत अनुमान के साध्य प्रातिभासिकत्व का अर्थ क्या ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व है? अथवा प्रतिभासमात्रशरीरत्व? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर देहात्मैक्य में व्यभिचार है और हेतु में व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्कशून्यत्व है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर वक्ष्यमाण दृष्टिसृष्टि मत से सिद्ध साधन है॥२॥

इसी प्रकार ब्रह्मपक्षक मिथ्यात्व साध्य में सोपाधिक ब्रह्म में मिथ्यात्व सिद्ध करने पर

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो, तब उस विषय से इन्द्रियजन्यवृत्ति का सन्निकर्ष ज्ञान के अव्यवहित पूर्व क्षण में होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। तब उस ज्ञान का करण होने से चक्षुरादि को प्रमाण माना जाता है। एक बार वस्तु का ज्ञान होने पर ही पुनः उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है। जगत् को प्रातिभासिक मानने पर यह दोष होगा कि प्रातिभासिकपदार्थ ज्ञातसत्तावाले होते हैं, अर्थात् जब तक उनकी सत्ता होती है, तब तक वे ज्ञात होकर के ही रहते हैं। अतः अनधिगत न होने से अनधिगताबाधितविषयकज्ञान का करण चक्षुरादि नहीं बन पायेंगे। तब चक्षुरादि में प्रमाणत्व ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। प्रमाण के अभाव में प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय–प्रमा आदि किसी की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी का प्रथम अनुमान प्रतिकूलतर्कों से परास्त हो गया। पूर्वपक्षी के द्वितीय अनुमान में प्रतिकूलतर्क का आकार यह होगा– ''ब्रह्म यदि मिथ्या स्यात्, तर्हि सर्वं शून्यं स्यात्'। इस प्रकार प्रतिकूलतर्क से पराहत होने से पूर्वपक्षी का अनुमानाभास साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी माध्व को भी शून्यवाद अभीष्ट नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती का अनुमान भी प्रतिकूलतर्क से पराहत है, तो यह उचित नहीं होगा। क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कल्पित जो प्रतिकूलतर्क है, उसका आगे निराकरण किया जायेगा। अतः पूर्वपक्षी के अनुमानाभास से सिद्धान्ती के मिथ्यात्वानुमान में वैलक्षण्य होने से पूर्वपक्षी के द्वारा आभाससाम्य का प्रतिपादन खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये अनुमानाभास केवल प्रतिकूलतर्क से ही पराहत नहीं, अपितु उन अनुमानों में अन्य भी दोष हैं। उनके प्रथम अनुमान में साध्य प्रातिभासिकत्व है और उसका अर्थ ब्रह्मज्ञानेतरबा–ध्यत्व अथवा प्रतिभासमात्रशरीरत्व ही किया जा सकता है। प्रातिभासिकत्व का ब्रह्मज्ञानेतरबाध यत्वरूप अर्थ लेने पर देहात्मैक्य में व्यभिचार होगा, क्योंकि देहात्मैक्य में दृश्यत्व हेतु है, किन्तु ब्रह्मज्ञानेतरबा–ध्यत्व नहीं है। इस का कारण यह है कि देहात्मैक्य का बाध केवल ब्रह्मज्ञान से ही होता है और प्रतिकूलतर्क के निराकरण के लिए पूर्वपक्षी के पास कोई अनुकूलतर्क भी नहीं है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व का अभाव होने पर भी दृश्यत्व को मानने पर पूर्वपक्षी किसी अनिष्ट का आपादन नहीं कर सकता है। यदि प्रातिभासिकत्व का अर्थ प्रतिभासमात्रशरीरत्व करते हैं, तो अनुमान का आकार होगा– ''विमतं प्रतिभासमात्रशरीरं, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्''। दृष्टिसृष्टिमतानुसार आकाशादि प्रपञ्च प्रतिभासमात्रशरीरत्ववाले माने जाते है। उसी को दृश्यत्व हेतु के द्वारा सिद्ध करने पर सिद्धसाधनदोष होगा॥२॥

इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित द्वितीय अनुमान में भी दोष है, क्योंकि द्वितीय अनुमान का पक्ष ब्रह्म है। यहां पर प्रश्न होता है कि ब्रह्म शब्द से सोपाधिकब्रह्म लिया जाता है? अथवा निरुपाधिकब्रह्म?

हेतुरसिद्धः। वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽप्यप्रयोजकः। एवमसद्विलक्षणत्वमपि ब्रह्मण्यसिद्धमेव। क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं ह्यसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वञ्च क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

सिद्धसाधनदोष और निरूपाधिक ब्रह्म में मिथ्यात्व सिद्ध करने पर व्यवहारविषयत्वरूप हेतु पक्ष में नहीं जायेगा। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। वेदान्तजन्य अखण्डाकारचित्तवृत्तिविषयत्व निरूपाधिक ब्रह्म में स्वीकार करने पर भी हेतु में अप्रयोजकत्व है। इसी प्रकार असत् विलक्षणत्व भी ब्रह्म में असिद्ध ही है, क्योंकि किसी भी अधिकरण में सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्व का नाम असत्त्व है। ऐसा असद् विलक्षणत्व तो शुद्ध ब्रह्म में है ही नहीं।

शङ्का — असत्त्व का अर्थ है—बाध्यत्व। अतः बाध्यत्व से विलक्षणत्व=अबाध्यत्व। वह

सत्यानन्दप्रबोधिका

सोपाधिकब्रह्म लेने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि सोपाधिकब्रह्म को सिद्धान्ती मिथ्या मानते ही है। निरुपाधिकब्रह्म लेने पर वह व्यवहार का विषय नहीं बनेगा। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भामतीकार के मत में शुद्धब्रह्म वेदान्तजन्य—अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय न होने पर भी, श्री विवरणाचार्य के मतानुसार वेदान्तजन्य—अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय शुद्धब्रह्म होने से, अर्थात् वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वरूप व्यवहार की विषयता शुद्धब्रह्म में होने से स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि स्वरूपासिद्धिदोष श्रीविवरणाचार्य के मतानुसर न होने पर भी भामतीकार के मतानुसार तो है ही और हेतु में अप्रयोजकता भी है। क्योंकि शुद्धब्रह्म में मिथ्यात्व को न मानने पर भी उक्त हेतु को यदि माना जाय तो पूर्वपक्षी किसी अनिष्ट का आपादान नहीं कर सकता है। इसी प्रकार तीसरे हेतु के द्वारा जो अनुमान किया गया— ''ब्रह्म मिथ्या असद्विलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'' इसमें भी स्वरूपासिद्धिदोष है। क्योंकि असत् का अर्थ होता है कि जो किसी भी आश्रय में सत्त्वेन प्रतीयमानता के योग्य न हो। अतः असद्विलक्षण का अर्थ होगा—जो किसी भी आश्रय में सत्त्वेन प्रतीति की योग्यतावाला हो। ब्रह्म का कोई आश्रय होता ही नहीं। अतः उसमें असद्विलक्षणत्वरूप हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धिदोष है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि असत्त्व का अर्थ बाध्यत्व होता है। अतः उक्त अनुमान में असद्विलक्षणत्वरूप हेतु का अर्थ होगा— बाध्य से विलक्षणत्व, अर्थात् अबाध्यत्व। अबाध्यत्व शुद्धब्रह्म में है, इसलिए स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का अर्थ होता है बाध्यत्व। अतः पूर्वपक्षी के अनुमान (ब्रह्म मिथ्या, असद्विलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्) का पर्यवसान इस प्रकार होगा—'ब्रह्म बाध्यं, अबाध्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'। इस अनुमान में अबाध्यत्व के द्वारा बाध्यत्व को सिद्ध करने पर विरोध होगा, जैसे कृतकत्वेन नित्यत्व साधन में में विरोध माना जाता है, और दृष्टान्त में साधनवैकल्य और ''यत्र यत्र अबाध्यत्वं तत्र तत्र बाध्यत्वम्'' इस व्याप्ति में व्याघातदोष भी होने के कारण यह अनुमान नितान्त असङ्गत है। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि ब्रह्म को असत् से विलक्षण नहीं मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी। इस प्रकार के बाधकतर्क का समुचित निराकरण आगे किया जायेगा। अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में असद् विलक्षणत्व स्वीकार कर लिया जाय तो भी वह मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं हो सकता है, क्योंकि उसको प्रयोजक मानने पर ब्रह्म में मिथ्यात्व सिद्ध होने से शून्यवाद का प्रसंग आयेगा। जबकि शून्यवाद का आगे निराकरण होने वाला है। इसलिए वह अप्रयोजक ही है। कहने का आशय यह है कि द्रष्टा और दृश्य का तादात्म्य अनुपपन्न है, क्योंकि यहां पर प्रश्न होता है द्रष्टा ओर दृश्य में जो तादात्म्य है, उस तादात्म्य का स्वसम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध है? अथवा नहीं? यदि प्रथम पक्ष को स्वीकार करते है तब तो अनवस्थादि दोष होंगे। जैसे—तादात्म्य रूप प्रथम सम्बन्ध को

प्रतीत्यर्हत्वरूपम्। तच्च शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव। न च बाध्यत्वमसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वञ्चाबाध्यत्वम्, तच्च ब्रह्मण्यस्त्येवेति वाच्यम्, अबाध्यत्वेन बाध्यत्वलक्षणमिथ्यात्वसाधने विरोधात्, शुक्तिरूप्यदृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। शून्यवादस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। तस्मान्न दृश्यत्वादीनामाभाससाम्यमिति सिद्धम् ॥ ३॥

— इत्यद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वादेराभाससाम्यभङ्गः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

अबाध्यत्व ब्रह्म में है ही। अतः स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा।

समाधान— अबाध्यत्व हेतु से बाध्यत्वरूपमिथ्यात्व के साधक करने पर विरोध होगा और दृष्टान्तशुक्तिरजत में साधनवैकल्प भी होगा, क्योंकि उसमें अबाध्यत्व नहीं है। शून्यवाद का आगे निराकरण किया जायेगा। अतः दृश्यत्वादिनिष्ठ आभाससाम्य नहीं है—यह सिद्ध हो गया।।३।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां दृश्यत्वादेराभासाम्यभङ्गः

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वानुयोगी के साथ और स्वप्रतियोगी के साथ सम्बद्ध बनाने के लिए द्वितीय तादात्म्य सम्बन्ध की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार द्वितीय तादात्म्य सम्बन्ध को भी स्वानुयोगी के साथ और स्वप्रतियोगी के साथ सम्बद्ध बनाने के लिए सम्बन्धान्तर (तृतीय तादात्म्य) की अपेक्षा होगी। यदि वह सम्बन्धान्तर (द्वितीय तादात्म्य) प्रथम तादात्म्य रूप है, तब तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि स्वयं—स्वयं को सम्बद्ध कर रहा है। यदि वह सम्बन्धान्तर (तृतीय तादात्म्य) प्रथम तादात्म्य रूप है, तब तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि प्रथम तादात्म्य से अभिन्न तृतीय तादात्म्य नहीं है तब तृतीय तादात्म्य को भी स्वानुयोगी और स्व प्रतियोगी के साथ सम्बद्ध बनाने के लिए सम्बन्धान्तर (चतुर्थ तादात्म्य) की अपेक्षा होगी यदि वह सम्बन्धान्तर (चतुर्थ तादात्म्य) प्रथम तादात्म्य रूप है तब तो चक्रिका दोष होगा। यदि चतुर्थ तादात्म्य प्रथम तादात्म्य से भिन्न मानेंगे, तब चतुर्थ तादात्म्य को भी स्वानुयोगी और स्वप्रतियोगी से सम्बद्ध बनाने के लिए सम्बन्धान्तर की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष आयेगा। यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार कहो कि द्रष्टा और दृश्य में जो तादात्म्य है, उसका अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध नहीं है तब तो उक्त तादात्म्य को सम्बन्ध ही नहीं कहा जा सकता हे, क्योंकि वह असम्बद्ध है। यदि असम्बद्ध को भी सम्बन्ध माना जायेगा तब तो पट भी घटत्व और घट का सम्बन्ध बनने लगेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि द्रष्टा और दृष्य का तादात्म्य मिथ्या है। ऐसा स्वीकार करने पर स्वप्नेन्द्रजालवत् कोई अनुपपत्ति दोष नहीं होगा इसलिए असम्बन्ध में सम्बन्धत्व का व्यवहार होता है। पूर्वोक्त प्रकार से जब उक्त तादात्म्य मिथ्या सिद्ध हो गया तब तदनुयोगित्वप्रतियोगित्वविशिष्टरूप से द्रष्टा और दृश्य का भी मिथ्यात्व युक्त ही है। किन्तु शुद्ध जो द्रष्टा है उसके साथ तादात्म्य का संसर्ग न होने से उसको मिथ्या नहीं माना जाता है। ''मिथ्यात्व के बिना द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध होगा''—यह जो द्रष्टृदृश्यसम्बन्ध की अनुपपत्ति रूप तर्क है, इस तर्क के द्वारा तादृश सम्बन्ध के अनुयोगी और प्रतियोगी में ही मिथ्यात्व सिद्ध होता है, न कि शुद्ध द्रष्टा में। इसलिए सिद्धान्तमत में उपहित ब्रह्म और प्रपञ्च में मिथ्यात्व साधक जो अनुपपत्ति है, उससे शुद्ध द्रष्टा में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिए पूर्वपक्षी शून्यवाद की आपत्ति नहीं दे सकता है। इसलिए ही आचार्य के द्वारा बोद्धाधिकार में कहा गया—तस्यासंसृष्टत्वेन न तत्र तर्कावतारः, तर्कस्य संसृष्टमादयैव प्रवृत्तेः। अतः यह सिद्ध हो गया कि दृश्यत्वादि हेतुओं में आभाससाम्यता नहीं है।।३।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां दृश्यत्वादेराभाससाम्यभङ्गः —

१५: प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वविचारः

ननु 'सन् घटः' इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया दृश्यत्वादय इति चेन्न, चक्षुराद्यध्यक्ष–योग्यमिथ्यात्वविरोधिसत्त्वानिरुक्तेः। तथा हि न तावत्प्रमाविषयत्वं तद्योग्यत्वं वा, भ्रमाविषयत्वं वा तादृक्सत्त्वम्; चक्षुराद्यगम्यभ्रमप्रमाघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वात्, वक्ष्यमाणदूषणगणग्रासाच्च। तथा हि नाद्यः;असति प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाविषयत्वात्प्राक् सत्त्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्य तदन्यत्वात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– ''सन् घटः'' इत्यादि जो चक्षुरादीन्द्रियों से जन्य प्रत्यक्षात्मकज्ञान है, उस ज्ञान से बाधित है साध्य जिसका, एवम्भूतदृश्यत्वादि हेतु हैं।

समाधान – नहीं, क्योंकि चक्षुरादिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण के योग्य हो और मिथ्यात्व का विरोधी हो– ऐसे सत्त्व का निरूपण नहीं किया जा सकता है। तादृश सत्त्व की अनिरूक्ति को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उक्त मिथ्याविरोधी प्रत्यक्षयोग्यसत्त्व न प्रमा विषयत्व है, न प्रमाविषयत्वयोग्यत्व है और न भ्रम का अविषयत्व। इसका कारण यह है कि चक्षुरादि जन्य ज्ञान के अविषय जो भ्रम और प्रमा है, उन भ्रम तथा प्रमा से घटित होने के कारण उन सत्त्वों में चक्षुरादि प्रत्यक्ष योग्यत्व नहीं है और वक्ष्यमाण दूषणगण से उक्त सत्त्व आक्रान्त भी है। जैसे प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि असत् वस्तु में प्रमाण की प्रवृत्ति न होने से, सद्विषयक प्रमाण जन्य प्रमा के

सत्यानन्दप्रबोधिका

'यस्य हेतोः साध्याभावः प्रमाणान्तरेण पक्षे निश्चितः स बाधितः' इस नियम के अनुसार जैसे 'वह्निरनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्' इस अनुमान का साध्य–अनुष्णत्व का अभाव प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा पक्ष वह्नि में निश्चित है और इसलिए हेतु कृतकत्व बाधित है, ठीक उसी प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा किये गये प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के साध्य (मिथ्यात्व) का अभाव प्रत्यक्षप्रमाण से निश्चित होने के कारण इस अनुमान का हेतु बाधित है, ऐसी शङ्का करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि 'सन् घटः, सन् पटः' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाधित है साध्यरूपविषय जिनका, ऐसे दृश्यत्वादि हेतुवाले अनुमान सिद्धान्ती के द्वारा किये गये हैं। अतः वे अनुमान अपने साध्य (मिथ्यात्व) की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर सिद्धान्ती के अनुसार 'सन् घटः' का अर्थ 'सत्तादात्म्यापन्नो घटः' है और पूर्वपक्षी के अनुसार 'सन् घटः' का अर्थ 'सत्ताजातिमान् घटः' है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष से जब घट की सत्ता सिद्ध है, तब घट में सत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व की सिद्धि दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा नहीं की जा सकती है, ऐसी शङ्का पूर्वपक्षी को नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्वपक्षी को 'सन् घटः' इत्यादि चाक्षुषप्रत्यक्ष के द्वारा गृह्यमाण एक ऐसे सत्त्व का निरूपण करना पड़ेगा, जो सत्त्व चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत हो और मिथ्यात्व का विरोधी हो। तभी उस सत्त्वप्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्व अनुमान का बाध हो पायेगा। किन्तु ऐसे सत्त्व का निरूपण पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है, क्योंकि इसके लिए सत्त्व के अर्थ को स्पष्ट करना पड़ेगा। इसी को उद्देश्य करके पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती पूछ रहें है कि सत्त्व का अर्थ क्या है? क्या प्रमाविषयत्व को सत्त्व कहते हो? अथवा प्रमाविषयता की योग्यता को? अथवा भ्रमाविषयत्व को सत्त्व कहते हो? सत्त्व के ये तीनों लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि इन तीनों लक्षणों में प्रमा अथवा भ्रम शब्द प्रविष्ट है। भ्रमज्ञान एवं प्रमाज्ञान चक्षु से प्रत्यक्ष होता नहीं है। अतः प्रमा और भ्रम से घटित जो सत्त्व है, वह भी चक्षुरादि से प्रत्यक्ष होता नहीं, जब कि पूर्वपक्षी को ऐसे सत्त्व को बतलाना पड़ेगा जो मिथ्यात्व का विरोधी हो और चक्षुरादि के प्रत्यक्ष के योग्य हो। उक्त तीनों प्रकार के सत्त्व, चक्षुरादि के प्रत्यक्ष के योग्य न होने के कारण, उनके प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होगा और ये तीनों प्रकार का सत्त्व, आगे प्रतिपादित किये

सत्त्वनिरूपणं विना सदर्थविषयकत्वरूपप्रमात्वस्य निरूपणे चान्योन्याश्रयात्, मिथ्याभूतस्य शुक्तिरजतसंसर्गस्य व्यवसायद्वारा साक्षाच्च निषेध्यत्वादिना प्रमाविषयत्वाभ्युपगमाच्च॥ १॥

कैलासविद्याप्रकाशिका

विषयत्वरूप सत्त्व के कथन से पहले प्रमाण विषयत्वरूप सत्त्व वक्तव्य होने से, वह प्रमाणविषयत्वरूप सत्त्व प्रमाविषयत्वरूप सत्त्व से पृथक है। फलत: प्रमाविषयत्वरूप सत्त्व से अतिरिक्त ही कोई सत्त्व पदार्थ सिद्ध होगा। प्रमाविषयत्वरूप सत्त्व से अतिरिक्त सत्त्वनिरूपण के बिना सदर्थविषयकत्वरूप जो प्रमात्व है, उसका निरूपण करने पर अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। मिथ्याभूत शुक्तिरजततादात्म्य में परम्परा रूप से व्यवसाय द्वारा और निषेध्यत्वरूप से साक्षात् प्रमाविषयत्व का अभ्युपगम होने से भी उक्त सत्त्व भ्रम विषयसाधारण होने से मिथ्यात्व का विरोधी नहीं हो सकता है।।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाने वाले दोषों से ग्रस्त भी है। उन दोषों को स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि प्रमाविषयत्व को सत्त्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति वहीं पर होती है, जहाँ सत्त्व रहता हो। सत्त्वरहित असत् में प्रमाण की प्रवृत्ति होती नहीं है। वार्तिककार ने कहा है—

सतोऽभिव्यञ्जकं मानं स्वभावोऽयं मितेर्भवेत्।
नाभिव्यनक्ति सविता शशशृङ्गं स्फुरन्नपि।। (बृ.वा.)

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पहले सत्त्व हो तो प्रमाण की प्रवृत्ति होगी और तब प्रमाज्ञान होगा, तब प्रमाज्ञान की विषयता सत्त्व में जायेगी। अत: यह मानना पड़ेगा कि सत्त्व से प्रमाज्ञानविषयत्व भिन्न है। अत: प्रमाविषयता की उपस्थिति से पहले ही सत्त्व का निरूपण करना होगा। प्रारम्भ में प्रमात्व से अघटितसत्त्व का निरूपण न कर के सदर्थविषयकत्वरूप प्रमात्व से घटित सत्त्व का निरूपण करने पर अन्योऽन्याश्रयदोष होगा। क्योंकि सत्त्व का निरूपण होने पर प्रमाविषयत्व का निरूपण होगा और प्रमाविषयत्व का निरूपण होने पर सत्त्व का निरूपण होगा। ('सदर्थविषयकत्वरूपप्रमात्वस्यानिरूपणे नान्योऽन्याश्रयात्' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। इस पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा कि पहले सत्त्व के निरूपण के बिना सदर्थविषयकप्रमात्व, अर्थात् प्रमाविषयत्व के द्वारा सत्त्व का निरूपण नहीं करते है तो अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं होगा। अर्थात् यदि सिद्धान्ती की बात मान लेते है कि सत्त्व और प्रमाविषयत्व भिन्न–भिन्न है और प्रमाविषयत्व से पहले ही सत्त्व विद्यमान रहता है, तो अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं होगा)। प्रमाविषयत्व को सत्त्व मानने पर असत् में अतिव्याप्ति होगी, इसको दिखाया जा रहा है। अन्यथाख्यातिवाद में 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल पर शुक्ति के साथ हट्टस्थरजत का संसर्ग असत् माना जाता है। अत: जहाँ पर 'इदं रजतम्' इस प्रकार का व्यवसायज्ञान होता है, वहाँ पर उक्त व्यवसायज्ञान का विषय शुक्ति के साथ रजत का असत्संसर्ग भी होता है। उक्त व्यवसायज्ञान के अनन्तर उसको विषय करने वाला जो 'इदं रजतमहं जानामि' इस प्रकार का प्रमात्मक अनुव्यवसायज्ञान होता है, उस ज्ञान का विषय भी शुक्तिरजत का असत्संसर्ग होता है। इस प्रकार परम्परया शुक्तिरजत के असत्संसर्ग में प्रमाविषयत्व जाने से अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिए सत्त्व के लक्षण में 'साक्षात्' पद देते है। अर्थात् साक्षात्प्रमाविषयत्व को सत्त्व कहते है, ऐसा कहने पर भी पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति न होने पर भी अन्य प्रकार से अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस प्रकार का जो निषेधात्मकप्रमाज्ञान होता है, उसका साक्षाद्विषय जैसे शुक्ति और रजत है, उसी प्रकार साक्षाद्विषय असत्संसर्ग भी है। अत: 'साक्षात्' पद देने पर भी असत्संसर्ग में अतिव्याप्ति बनी रही। अत: उक्त सत्त्व का लक्षण प्रमाविषयत्व नहीं किया जा सकता है।। १।।

नापि द्वितीयः; योग्यताया अनिरूपणात्। न तृतीयः; असिद्धेः, सर्वस्यैव क्षणिकत्वादिना भ्रमविषयत्वाभ्युपगमात्। अत एव नासत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वमपि; अन्योन्याश्रयाच्च। नापि सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वम्; आत्माश्रयात्। नाप्यसत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्, अन्योन्याश्रयात्।

कैलासविद्याप्रकाशिका

द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यता का निरूपण नहीं हो सकता है। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि भ्रमाविषयत्व असिद्ध है, क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिकत्व–शून्यत्वादि रूप से भ्रम के विषय माने जाते हैं। अत एव= सभी पदार्थ क्षणिकत्व–शून्यत्वादि प्रकारक भ्रम के विषय हो जाने से ही। असत्त्वाप्रकारक जो प्रमा है,तादृशप्रमाविषयत्वरूपसत्त्व भी नहीं हो सकता है। (अर्थात् भ्रम का विषय असत् होता है। उसमें असत्त्व रहता है। जब भ्रम का विषय पूर्वोक्त प्रकार से सभी पदार्थ हो गये तब सभी में असत्त्व ही रहेगा और तब असत्त्वाप्रकारक प्रमाविषयत्व लक्षण में असम्भव दोष होगा और दूसरी बात यह भी है कि अभी तक प्रमाविषयत्व का निरूपण ही पूर्वपक्षी नहीं कर सका है।) इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष भी है। सत्त्वप्रकारक प्रमाविषयत्व को भी सत्त्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सत्त्व की सिद्धि के लक्षण में सत्त्व का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष है। असत्त्वप्रकारक भ्रम का अविषयत्वरूप सत्त्व भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्योन्याश्रयदोष है। ज्ञात आश्रय में

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्त्व का द्वितीयलक्षण 'प्रमाविषयत्वयोग्यत्वम्' भी ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यता के अवच्छेदक का निरूपण न होने से योग्यता का निरूपण नहीं हो सकता है। अर्थात् जिन जिन पदार्थो मे प्रमाविषयता की योग्यता रहती है उन सभी पदार्थो में एक किसी धर्म (उपसङ्ग्राहक किसी अवच्छेदक) के बतलाए बिना योग्यता का निरूपण नहीं हो सकता है। ऐसा कोई अवच्छेदक यदि होता तो वहीं सत्त्व का लक्षण बन जाता। तब 'प्रमाविषयत्वयोग्यत्वम्' को सत्त्व का लक्षण बतलाना व्यर्थ हों जायेगा। भ्रमाविषयत्वरूप सत्त्व का तृतीयलक्षण भी असम्भवदोष से ग्रस्त है, क्योंकि बौद्धों के द्वारा 'सर्वं क्षणिकम्' इस प्रकार से सबको क्षणिक कहा गया है। किन्तु वस्तु को स्थायी मानने वालों की दृष्टि से 'सर्वं क्षणिकम्' यह ज्ञान भ्रमात्मक है। इस भ्रमज्ञान का विषय ही सर्व वस्तु है। अतः भ्रमज्ञान का अविषय कोई वस्तु न हो पाने से तृतीयलक्षण असम्भवदोष से व्याप्त हो गया। इसी प्रकार 'असत्त्वाप्रकारक– प्रमाविषयत्वम्' को सत्त्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रमाविषयत्व का ही निरूपण नहीं हो सका है और ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रयदोष भी होगा, क्योंकि सत्त्व का ज्ञान होने पर असत्त्व का ज्ञान होगा। क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण होता है। इस नियम से सत्त्वाभावरूप असत्त्व के ज्ञान के लिए प्रतियोगिरूप सत्त्व का ज्ञान आवश्यक है और असत्त्व का ज्ञान होने पर असत्त्व से घटित लक्षण के द्वारा सत्त्व का ज्ञान होगा। इस प्रकार सत्त्व की अपेक्षा से असत्त्व की सिद्धि और असत्त्व की अपेक्षा से असत्त्वघटितलक्षण के द्वारा सत्त्व की सिद्धि होने से अन्योऽन्याश्रयदोष है। ('अत एव नासत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वमपि' के स्थान पर पाठान्तर है–'अत एव नासत्त्वाप्रकारकभ्रमाविषयत्वमपि'। इसका अर्थ इस प्रकार से होगा– बौद्धों के द्वारा कथित 'सर्वं क्षणिकम्' यह स्थैर्यवादियों की दृष्टि से भ्रमात्मकज्ञान है। इस भ्रमज्ञान का विषय ही जब सर्वपदार्थ हो गये, कोई अविषय रहा ही नहीं तब भ्रमाविषयत्व की सिद्धि न होने से भ्रमाविषयत्वघटितसत्त्व का यह लक्षण भी दुष्ट सिद्ध हो गया। इस पाठान्तर में भी अन्योऽन्याश्रयदोष पूर्वोक्त प्रकार से ही लगेगा)। सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्व को सत्त्व का लक्षण मानने पर आत्माश्रयदोष होगा। क्योंकि सत्त्व के लक्षण में सत्त्व का ही प्रवेश हो गया। अर्थात् लक्ष्य का ही आश्रय कर के लक्षण बनाने से आत्माश्रयादोष है। असत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्व को सत्त्व का लक्षण मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से अन्योऽन्याश्रयदोष होगा और

नापि प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्व निषेधविरहः; आत्माश्रयात्। नापि सत्ताजातिरर्थक्रियाकारित्वम— सद्वैलक्षण्यं वा; एतेषां मिथ्यात्वाविरोधित्वेन तत्प्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमाने बाधाभावात्। नापि वेदान्त्यभिमतमिथ्यात्वाभावः सत्त्वम्; तुच्छेऽतिव्याप्तेः।।२।।

नाप्यसद्विलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वम्; अनारोपितत्वं हि आरोपाविषयत्वम्, तच्चासम्भवि।

कैलासविद्याप्रकाशिका

त्रैकालिक सत्त्व के निषेध का अभाव= सत्त्व है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आत्माश्रयदोष है। सत्ताजातिरूपसत्त्व, कार्यकारित्वरूपसत्त्व, अथवा असद्वैलक्षण्य रूप सत्त्व भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ये सभी मिथ्यात्व के विरोधी नहीं हैं। अतः तद्विषयकप्रत्यक्ष से मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होगा। अद्वैतवेदान्ती को अभिमत जो मिथ्यात्व है, उसके अभाव को भी सत्त्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तुच्छ में अतिव्याप्ति होगी।।२।।

जिसमें असद् विलक्षणत्व और अनारोपित्व हो, उसको सत्त्व कहते हैं—ऐसा सत्त्व का लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनारोपितत्व का अर्थ है— भ्रमाविषयत्व। वह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त प्रकार से 'सर्वं क्षणिकम्' इस भ्रमज्ञान के विषय सकलपदार्थ जब हो गये तो कोई भ्रमज्ञान का अविषय न होने से असम्भवदोष भी होगा। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वपक्षी ने सत्त्व का जो चतुर्थ, प्रञ्चम और षष्ठ लक्षण किया है, वे सभी लक्षण भ्रम अथवा प्रमा से घटित है। अतः उक्त प्रकारों का सत्त्व चक्षु से प्रत्यक्ष के योग्य होगा ही नहीं, क्योंकि भ्रम या प्रमा का चक्षु से प्रत्यक्ष होता ही नहीं। 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्वनिषेधविरहः' को सत्त्व नहीं कह सकते हो, क्योंकि सत्त्व के लक्षण में सत्त्व का प्रवेश होने से आत्माश्रयदोष होगा। इसी प्रकार सत्ताजति, अर्थक्रियाकारित्व अथवा असद्भिन्नत्व को सत्त्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त सत्त्व के सभी प्रकार मिथ्यात्व के विरोधी नहीं है। अतः सत्ताजातिरूप सत्त्व के चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान के बाध होने का प्रश्न ही नहीं होता है और मिथ्या प्रपञ्च में अर्थक्रियाकारित्व तथा असद्वैलक्षण्य स्वीकार किया जाता है। अतः अर्थक्रियाकारित्व और असद्वैलक्षण्यरूपसत्त्वप्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्व—अनुमान का बाध नहीं होगा। वेदान्तिसम्मत मिथ्यात्वाभाव को सत्त्व मानने पर वन्ध्यासुतादि अलीकपदार्थो में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि असत्पदार्थों में वेदान्तिसम्मत पूर्वोक्त पञ्चप्रकार के मिथ्यात्वलक्षणों से निरूपित मिथ्यात्व का अभाव माना जाता है।।२।।

'असद्विलक्षणत्वे सति अनारोपितत्वम्' को सत्त्व का लक्षण मानने पर असम्भवदोष होगा, क्योंकि अनारोपितत्व का अर्थ होगा आरोपाविषयत्व, अर्थात् भ्रमाविषयत्व। भ्रम का अविषयत्व असम्भव है, क्योंकि 'सर्वं क्षणिकम्' इस भ्रमज्ञान का विषय ही सम्पूर्ण पदार्थ है, अविषय कोई पदार्थ ही नहीं है। पूर्वपक्षी पुनः सत्त्व का लक्षण बना रहा है कि 'अस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वं सत्त्वम्' अथवा 'कालसम्बन्धित्वं सत्त्वम्'। प्रथमलक्षण में 'प्रमां प्रति विषयत्वम्', अर्थात् 'प्रमाविषयत्वं सत्त्वम्' ऐसा न कहकर अस्तित्वप्रकारक कदाचित् और साक्षात् ये विशेषण भी दिये गये है। पूर्वपक्षी के द्वारा अस्तित्वप्रकार दिये जाने से 'अत्र रजतं नास्ति' यहाँ पर नास्तित्वप्रकारकप्रमा का विषय शुक्तिरजतसंसर्ग भी है, जो कि असत् है। अतः सत्त्व के लक्षण की असत्शुक्तिरजतसंसर्ग में अतिव्याप्ति होती। उसके वारण के लिए प्रमाविषयत्व का 'अस्तित्वप्रकारक' विशेषण दिया गया। अस्तित्व का अर्थ वर्तमानत्व किया गया है, न कि सत्त्व। अतः आत्माश्रयदोष नहीं होगा। अर्थात् अस्तित्व को सत्त्व कहने पर सत्त्व

सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना आरोपविषयत्वात्। नाप्यस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित् साक्षाद्विषयत्वम्, कालसम्बन्धित्वं वा सत्त्वम्, अस्तित्वञ्च वर्तमानत्वम्, न तु सत्त्वमतो नात्माश्रयः; अतीतादिरपि कदाचिद् वर्तत एवेति नाव्याप्तिः, आरोपितञ्च कालत्रयासम्बन्धित्वेन बाधेन बोधितमिति न द्वितीयलक्षणेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, प्रमात्वस्य सत्त्वघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वेन च पूर्वोक्तदोषात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

सभी पदार्थ क्षणिकत्वादिरूप से भ्रम ज्ञान के विषय माने जाते हैं। अस्तित्व प्रकारक प्रमा के प्रति कदाचित् साक्षाद् विषयत्व सत्त्व है अथवा कालसम्बन्धित्व सत्त्व है। लक्षण घटक अस्तित्व शब्द का अर्थ सत्त्व नहीं है किन्तु वर्तमानत्व है। अतः आत्माश्रयदोष नहीं है। अतीत और अनागत पदार्थ भी कदाचित् रहते ही हैं। इसलिए उनमें अव्याप्ति नहीं और आरोपित पदार्थ कालत्रयासम्बन्धित्वरूप से बाध के द्वारा बोधित होने के कारण उनमें ''कालसम्बन्धित्वरूपसत्त्व'' इस द्वितीय लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। (इति नापि वाच्यम्— ऐसा अन्वय करना चाहिए।) यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रमात्व सत्त्व घटित होने से और चक्षुरादि प्रत्यक्ष के योग्य न होने से पूर्वोक्त आत्माश्रयादि दोष यहां पर भी होगा और वर्तमानत्व प्रकारक प्रमा के विषयत्वरूपसत्त्व को स्वीकार

सत्यानन्दप्रबोधिका

के लक्षण में ही सत्त्व का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रयदोष होता। अस्तित्व का अर्थ वर्तमानत्व करने पर अतीत, अनागत पदार्थ वर्तमान में नहीं होते हैं। अतः उनमें सत्त्व के लक्षण की अव्याप्ति होती, इसलिए कदाचित् कहा। अतीत—अनागत पदार्थ भी तो कदाचित् वर्तमान होते ही है। अतः अतीतादि पदार्थो में अव्याप्ति नहीं होगी। 'इदं रजतम्' इस व्यवसायज्ञान के बाद होने वाला 'इदं रजतमहं जानामि' इस अनुव्यवसायज्ञान का विषय परम्परा से शुक्तिरजत का संसर्ग भी होता है। अतः सत्त्व का लक्षण शुक्तिरजत के असत्संसर्ग में चले जाने से अतिव्याप्ति होगी। उसके वारण के लिए साक्षात् पद दिया गया। यदि कोई शङ्का करे कि कालसम्बन्धि— त्वरूपसत्त्व के द्वितीयलक्षण की अतिव्याप्ति असत्पदार्थों में भी होगी। क्योंकि मिथ्यारजत का संसर्ग भ्रमकाल में काल से सम्बन्धि है। उसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा हैं कि मिथ्यारजतादि किसी भी काल से सम्बन्धी नहीं है। क्योंकि त्रैकालिकबाध के द्वारा यह सूचित कर दिया जाता है कि मिथ्यापदार्थ किसी भी काल में नहीं रहता है। अतः कालसम्बन्धित्वरूप सत्त्व के द्वितीय लक्षण की मिथ्यापदार्थों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के दोनों लक्षणों में पूर्वोक्तदोष विद्यमान है। जैसे सत्त्व के होने पर ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है और प्रमाण की प्रवृत्ति होने पर प्रमा होती है। अतः प्रथमलक्षण में प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्व को सत्त्व से भिन्न मानना पडेगा, क्योंकि सत्त्व के सिद्ध होने पर ही प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्व की सिद्धि होती है। ऐसी स्थिति में यदि प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्व के द्वारा सत्त्व की सिद्धि करे तो, अन्योऽन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि सत्त्व की सिद्धि होने पर प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्व की सिद्धि होगी और प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्व की सिद्धि होने पर सत्त्व की सिद्धि होगी। प्रथमलक्षण में दूसरा दोष यह होगा कि लक्षण में प्रविष्ट प्रमा का प्रत्यक्ष चक्षुरादि से न होने के कारण प्रमा के प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वरूप सत्त्व का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अद्वैतवादियों के द्वारा व्यवहारकाल में वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्व मिथ्याभूतप्रपञ्च में स्वीकार किया जाता है। अतः प्रपञ्च में वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्व के रहने पर भी प्रपञ्चगतमिथ्यात्व से विरोध नहीं होगा। इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने जो कालसम्बन्धित्व को सत्त्व का लक्षण बतलाया वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि भ्रमकाल में शुक्तिरूप्यादि कालसम्बन्धी होते ही है। अतः सत्त्व के लक्षण की असत्पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी। पूवपक्षी

वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेऽपि मिथ्यात्वाविरोधाच्च। द्वितीयमपि न मिथ्यात्वविरोधि; शुक्तिरूप्यस्यापि प्रतिभासकालसम्बन्धित्वात्; बाधेन तात्त्विककालत्रयसम्बन्धनिषेधेऽप्यतात्त्विक–कालसम्बन्धस्यानिषेधात्। नापि तात्त्विककालत्रयसम्बन्धित्वं तत्; तात्त्विकत्वस्याद्याप्यनिरूपणात्, निरूपणे वा शेषवैयर्थ्यात्॥३॥

ननु भवन्मते यत् सत्त्वं ब्रह्मणि तदेवेह मम। उक्तं हि–
यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।

कैलासविद्याप्रकाशिका

करने पर भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि उसके साथ मिथ्यात्व का विरोध ही नहीं है। इसी प्रकार कालसम्बन्धित्वरूप सत्त्व भी मिथ्यात्व का विरोधी नहीं है, क्योंकि शुक्तिरूप्य में भी प्रतिभासकाल सम्बन्धित्व माना ही जाता है, क्योंकि ''इह कालत्रयेऽपि रजतं नास्ति'' इस बाध से तात्त्विक जो कालत्रय का सम्बन्ध है, उसका निषेध होने पर भी अतात्त्विककाल (प्रतिभासकाल) सम्बन्ध का निषेध नहीं होता है। अर्थात् शुक्तिरूप्य के साथ काल का व्यावहारिक सम्बन्ध न होने पर भी प्रातिभासिक सम्बन्ध रहता ही है। तात्त्विककालत्रयसम्बन्धित्व सत्त्व है– ऐसा भी लक्षण नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि अभी तक तात्त्विकत्वरूप सत्त्व का निरूपण ही नहीं हो पाया है। सत्त्व के लक्षण में तात्त्विकरूपसत्त्व का प्रवेश करने पर आत्माश्रयादि दोष भी होंगे। यदि तात्त्विक का निरूपण मान भी लिया जाय तो भी ''तात्त्विकत्वं सत्त्वम्'' इतना ही लक्षण पर्याप्त होगा, शेष (कालत्रयसम्बन्धित्व) भाग व्यर्थ हो जायेगा॥३॥

शङ्का – आप (अद्वैतवादी) के मत में ब्रह्म में जो सत्त्व है, वही सत्त्व हमारे (द्वैतवादी) मत में जगत् में माना जाता है। कहा भी गया है– ब्रह्मनिष्ठ यादृशसत्त्व है, तादृश सत्त्व जगत् का भी हो।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ने यह जो कहा था कि त्रैकालिकबाधज्ञान के द्वारा शुक्तिरूप्यादि के साथ त्रैकालिकसम्बन्ध का निषेध हो जाने से शुक्तिरूप्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बाधज्ञान के द्वारा शुक्तिरूप्यादि का काल के साथ तात्त्विकसम्बन्ध (व्यावहारिक सम्बन्ध) का निषेध होने पर भी भ्रमज्ञानकाल में शुक्तिरूप्यादि का काल के साथ जो अतात्त्विक (आध्यासिक) सम्बन्ध रहता है, इसका निषध बाधज्ञान के द्वारा नहीं होता है। अतः काल के साथ शुक्तिरूप्यादि का अतात्विकसम्बन्ध होने से कालसम्बन्धित्वरूप सत्त्व का लक्षण की अतिव्याप्ति शुक्तिरूप्यादि में है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए यदि कालसम्बन्धित्व का विशेषण तात्त्विक देते है, तो लक्षण का आकार होगा ' तात्त्विककालसम्बन्धित्वं सत्त्वम्'। किन्तु तात्त्विक क्या पदार्थ है, उसका निरूपण ही अभी तक हो नहीं पाया है। अतः जिसका निरूपण ही नहीं हो सका है, उसको लक्षण में प्रवेश नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि तात्त्विकत्व का निरूपण हो चुका है, तब तो 'तात्त्विकत्वं सत्त्वम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त है। लक्षण में जो शेषभाग कालसम्बन्धित्व है, वह व्यर्थ है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा बनाये गये पूर्वोक्त सभी लक्षणों का खण्डन हो जाने पर पूर्वपक्षी व्यङ्ग्पूर्वक सत्त्व का अन्य लक्षण बना रहा है, जिसका खण्डन भी सिद्धान्ती के द्वारा मनोरञ्जनपूर्वक किया जायेगा। ।३॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतवादी ब्रह्म में जिस लक्षणवाला सत्त्व मानता है, ठीक उसी लक्षणवाला सत्त्व प्रपञ्च में हम मानते हैं। जैसे–

'यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।
तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः'॥

तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः ।। इति।

न च तत्रापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्: तच्च न जगतीति वाच्यम्। तुच्छस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि सत्त्वानभ्युपगमान्नापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्, किन्त्वन्यदेव; तच्च ब्रह्मणीव भ्रमाधिष्ठानत्वाच्छुक्तिकादेरपि भविष्यतीति चेत्।।४।।

नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्टस्य यदेव भवतां गोत्रं तदेव ममापि

कैलासविद्याप्रकाशिका

यदि ब्रह्मनिष्ठसत्त्व निर्वचन के योग्य नहीं है तो हमारे मत में भी जगन्निष्ठ सत्त्व वैसा ही हो। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि हमारे मतानुसार ब्रह्म मेंं अपरिच्छिन्नत्वरूपसत्त्व माना जाता है, वह अपरिच्छिन्नत्वरूपसत्त्व जगत् में नहीं है तो ऐसा सिद्धान्ती का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तुच्छ में अपरिच्छिन्नत्व होने पर भी उसमें सत्त्व नहीं माना जाता है। अतः अपरिच्छिन्नत्वरूपसत्त्व नहीं माना जा सकता है, किन्तु उससे भिन्न ही सत्त्व है। वह सत्त्व ब्रह्मवत् भ्रमाधिष्ठान होने से शुक्तिकादि में भी होगा।।४।।

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन यदि ऐसा है तो नूनं=निश्चय ही, विवाह के समय में कन्या के पिता के द्वारा वर से निजगोत्र पूछने पर ''आप का (कन्या के पिता का) जो गोत्र है, वही गोत्र मेरा (वर का) भी है।'' ऐसा उत्तर देने वाले वर के भ्राता आप हैं। दृष्टान्त में वर और श्वसुर दोनों का एक गोत्रत्व होने पर जैसे विवाह की अनुपपत्ति होती है, ठीक वैसे ही दार्ष्टान्त में जगत् और ब्रह्म एतदुभयनिष्ठ एक सत्त्व होने पर जगन्निष्ठ असत्त्व ही सिद्ध होगा, क्योंकि स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् 'जिस लक्षणवाला सत्त्व ब्रह्म में है, वही लक्षणवाला सत्त्व जगत् में भी है। यदि कहो कि ब्रह्म में रहने वाले सत्त्व का निर्वचन किया नहीं जा सकता है, अर्थात् ब्रह्म में अनिर्वचनीयसत्त्व रहता है, तो पूर्वपक्षी का कथन है कि उसी प्रकार का अनिर्वचनीयसत्त्व हम जगत् में भी मानते है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म में देश काल वस्तु से अपरिच्छिन्नत्वरूपसत्त्व रहता है, किन्तु उस प्रकार का सत्त्व जगत् में नहीं है, क्योंकि जगत् देश काल वस्तु से परिच्छिन्न है। पूर्वपक्षी इसका समाधान करते हुए कह रहा है कि अपरिच्छिन्नत्व को सत्त्व मानने पर उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तुच्छपदार्थों में होगी, क्योंकि स्वसमानसत्ताकाभावप्रतियोगित्व को परिच्छिन्नत्व कहा जाता है। जैसे स्व=जगत्, जगत् के समानसत्तावाला अभाव=जगदभाव, उसका प्रतियोगी जगत् है। अतः जगत् को परिच्छिन्न कहा जाता है, किन्तु तुच्छ मे परिच्छिन्नत्व का लक्षण न जाने से तुच्छ को अपरिच्छिन्न मानना पडेगा, क्योंकि कि स्व=तुच्छ, तुच्छ के समानसत्तावाला अभाव कोई होता ही नहीं है। अतः तुच्छ में अपरिच्छिन्नत्व है। किन्तु तुच्छ में कोई सत्त्व नहीं माना जाता है। अतः अपरिच्छिन्नत्व को सत्त्व का लक्षण नहीं बनाया जा सकता है। किन्तु सत्त्व का अन्य ही लक्षण बनाना पडेगा, जैसे 'अबाध्यत्वोपलक्षितस्वरूपत्वं सत्त्वम्'। ऐसा सत्त्व जैसे प्रपञ्च अधिष्ठानभूत ब्रह्म में है, उसी प्रकार से रजतभ्रम के अधिष्ठानभूत शुक्ति आदि में भी रहेगा। क्योकिं ब्रह्म और शुक्ति दोनों ही अधिष्ठान हैं। इस प्रकार ब्रह्म में रहने वाला जो भी सत्त्व होगा, वही सत्त्व प्रपञ्च में सिद्ध हो जाने से वह सत्त्व प्रपञ्चमिथ्यात्व का विरोधि होगा। अर्थात् उस सत्त्व के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्व—अनुमान का बाध हो जायेगा।।४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रतिपादित उक्त सत्त्व का निराकरण आचार्यप्रवर एक मनोरञ्जक दृष्टान्त को उद्धृत करते हुए कर रहे है कि जैसे पाणिग्रहणसंस्कार के अवसर पर कन्या के पिता ने जामाता से पूछा कि आप का गोत्र क्या है? किन्तु विवाह इच्छुक वर के रूप में आया वह व्यक्ति अपना गोत्र तक का

गोत्रमिति वदतो वरस्य भ्राता भवान्, यतो जामातृश्वशुरयोरेकगोत्रत्वे विवाहानुपपत्तिवज्जगद्ब्रह्मणोरेकसत्त्वे जगतोऽसत्त्वमेव स्यात्। तथा हि स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपत्वमेव ब्रह्मणः सत्त्वम्; तदेव चेज्जडस्यापि जगतस्तदा रजतत्वविरोधिशुक्तिसत्तया रजतस्येव जडत्वविरोधिस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्यात्वोपपत्तेः। चैतन्यस्यैवावच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

ही ब्रह्म का सत्त्व है और यदि वही सत्त्व जड़ जगत् का भी मान लिया जाय तब तो रजतत्व की विरोधिनी शुक्तिसत्ता से जिस प्रकार स्वरूप से ही रजत का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जड़त्व की विरोधिनी प्रकाशसत्ता से जगत् का स्वरूप से ही मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। अवच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन चैतन्य को ही सभी भ्रमों का अधिष्ठान माना जाता है, न कि शुक्त्यादि जड़ को। अतः भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादिनिष्ठसत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। (अवच्छिन्नं च अनवच्छिन्नं च इति अवच्छिन्नानवच्छिन्नम्। एवम्भूतं यदज्ञानविषयत्वं तेन =अवच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन। इस प्रकार से समास करके यह अर्थ निकलेगा कि अवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वावच्छिन्ना जो चैतन्यनिष्ठ अधिष्ठानता है, वह प्रातिभासिक पदार्थों से निरूपिता है। अर्थात् शुक्त्यादि–अवच्छेदेन जो चैतन्य में अज्ञानविषयत्व है, उसको अवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वशब्द से कहा गया है और अविद्या और अविद्याप्रयुक्त एतदुभयानवच्छेदेन अज्ञानविषयत्व को अनवच्छिन्नाज्ञानविषयत्व शब्द से कहा गया है। अर्थात् घटपटादि व्यावहारिक पदार्थ निरूपिता अधिष्ठानता अनवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वाच्छिन्ना मानी गयी है। दूसरी बात यह है कि अज्ञानविषयत्व चैतन्य में ही है,क्योंकि जड़ में स्वप्रकाशत्व की प्रसक्ति ही नहीं है। इसलिए जड़ में अज्ञान विषयत्व मानना

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान न रखने वाला मन्दबुद्धि होने से उत्तर दिया कि जो आप (कन्या पिता) का गोत्र है, वही मेरा गोत्र है। इस प्रकार के उत्तर से हानि यह हुई कि वर स्वसुर का भ्राता सिद्ध हो गया। एवं वर और श्वसुर का एक गोत्र सिद्ध हो जाने से विवाहरूपकार्य ठप्प पड़ गया। ठीक इसी प्रकार पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती ने पूछा कि पूर्वपक्षी की भूमिका निभाने को इच्छुक तुम प्रपञ्च में सत्त्व कैसा मानते हो? तो सत्त्वपदार्थ का भी ज्ञान न रखने वाले पूर्वपक्षी ने उत्तर दिया कि जैसा आप का ब्रह्मगतसत्त्व है, वैसा ही सत्त्व हम प्रपञ्च में मानते है। ऐसा मानने पर ब्रह्म की सत्ता से पृथक् जगत् की सत्ता न होने से जगत् स्वतः ही मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। जैसे ब्रह्मगतसत्त्व का स्वरूप है 'स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यस्वरूपता'। यदि वही सत्ता जगत् की मानी जाती है तो जड़ जगत् उसी प्रकार से मिथ्या सिद्ध हो जायेगा, जिस प्रकार रजतत्वविरोधिशुक्ति की सत्ता के द्वारा रजत मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अर्थात् जड़त्व–विरोधिस्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूप सत्ता के द्वारा जगत् स्वरूपतः मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जगत् वस्तुतः स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूप है तो, उसमें भासित होने वाली जड़ता (नामरूपता) को मिथ्या मानना ही पड़ेगा, क्योंकि एक ही अधिकरण में एकसाथ दो विरोधिधर्म तात्विकरूप से रह नहीं सकते है; उनमे से एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना पडता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ब्रह्म के समान शुक्ति भी भ्रम का अधिष्ठान है। अतः ब्रह्म की सत्ता के समान शुक्ति की सत्ता होगी, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि रजतभ्रम का अधिष्ठान शुक्ति नहीं, अपितु प्रातिभासिकरजतादिभ्रम का उपादान जो शुक्ति आदि से अवच्छिन्न अज्ञान, उसका विषयीभूतचैतन्य ही अधिष्ठान है। व्यावहारिकघटादिप्रपञ्चभ्रम का उपादान अनवच्छिन्न अज्ञान (किसी से भी अवच्छिन्न न होने वाला मूलाज्ञान) का विषयीभूतचैतन्य ही व्यावहारिकप्रपञ्च का अधिष्ठान है। क्योंकि अज्ञान की विषयता जड़ में नहीं मानी जाती। इस प्रकार

सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वाभ्युपगमान्न भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादे: सत्त्वसिद्धि:।।५।।

नन्वेवमपि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमसत्त्वं तुच्छानिर्वचनीयसाधारणम्, तदभाव: सत्त्वम्, तच्च ब्रह्मणीव जगत्यपीति ब्रूम:। न च संयोगेऽव्याप्ति:, तस्याव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात्।

कैलासविद्याप्रकाशिका

व्यर्थ है। यहां पर युक्तिपूर्ण बात यह भी है कि जड़ प्रपञ्च तो अज्ञान का ही परिणाम है। अत: वह (प्रपञ्च) अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है और वह (अज्ञान) प्रपञ्च में आवरण भी नहीं कर सकता है,क्योंकि कोई भी उपादानकारण अपने कार्य में आश्रित होता हुआ अपने ही कार्य को आवृत करता हो—ऐसा लोक व्यवहार में देखा नहीं गया है।)।।५।।

शङ्का — एवमपि= ऐसा होने पर भी, सर्वदेशवृत्ति जो कालानवच्छिन्नात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप असत्त्व है, वह असत्त्व (कालानवच्छिन्नसर्वदेशवृत्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप—असत्त्व) तुच्छ और अनिवर्चनीय में समान रूप से रहने वाला है। उस असत्त्व का अभाव = सत्त्व है। वह जैसे ब्रह्म में है वैसे ही जगत् में भी है— इस प्रकार से हम सत्त्व का निर्वचन करते हैं। सत्त्व के इस लक्षण की संयोग में अव्याप्ति नहीं है,क्योंकि संयोग को हम अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते हैं। संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व स्वीकार करने पर अव्याप्तिदोष निवारणार्थ सत्त्व के लक्षण में अत्यन्ताभाव का विशेषण

सत्यानन्दप्रबोधिका

अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न—अज्ञानविषयता चैतन्य में ही रहने के कारण चैतन्य ही सम्पूर्ण भ्रमों का अधिष्ठान माना जाता है। जड़ को कहीं पर भी भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जाता है। अत: रजतभ्रम का अधिष्ठान शुक्ति के न होने से, शुक्ति में ब्रह्म के समानसत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है।।५।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्तप्रकार से सत्त्व का निर्वचन न होने पर भी दूसरे प्रकार से सत्त्व का निर्वचन करेंगे। अद्वैतसिद्धान्तसम्मतसर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप जो मिथ्यात्व है, उसी को हम असत्त्व मानते है। क्योंकि उक्त प्रकार का असत्त्व जैसे शुक्तिरूप्यादि में है, वैसे ही वन्ध्यासुतादि तुच्छ पदार्थों में भी है। (यह प्रसङ्ग पूर्वपक्षी ने द्वितीयमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर भी प्रतिपादित किया था कि मिथ्यात्व और असत्त्व में कोई भेद नहीं है)। अत: उक्त असत्त्व के अभाव को ही सत्त्व कहेंगे। वह जैसे ब्रह्म में है, उसी प्रकार से जगत् मे भी है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषधप्रतियोगित्वाभाववत्त्व को सत्त्व मानने पर उक्त लक्षण की संयोग में अव्याप्ति होगी, क्योंकि सयोंग को अव्याप्यवृत्ति मानने के कारण जहाँ संयोग रहता है, वहीं पर संयोगाभाव भी रहता है और जहाँ संयोग नहीं है वहाँ तो सयोंग का अभाव रहता ही है। अत: संयोग का अभाव सभी देश, सभी काल में रहने के कारण सर्वदेशीयत्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वरूप असत्त्व का लक्षण संयोग में चले जाने से असत्त्वलक्षण की संयोग में अतिव्यप्ति होगी और असत्वाभावरूपसत्त्व का लक्षण संयोग में न जाने से अव्याप्तिदोष होगा। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि हम संयोग को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानेंगे। अत: संयोग जहाँ है वहाँ संयोग का अभाव नहीं मिलेगा। अत: सर्वदेशीयत्रैकालिकाभावप्रतियोगित्व संयोग में जायेगा नहीं। अर्थात् तादृशप्रतियोगित्वाभावरूपसत्त्व का लक्षण संयोग में जाने से अव्याप्ति नहीं होगी। वैशेषिकादि के द्वारा संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व माना जाता है। अत: संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व न मानने पर वैशेषिकदर्शन से विरोध होगा। इस अरुचि के कारण पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि संयोग में अव्याप्यवृत्तित्व माना जाय तब तो संयोग में अव्याप्तिदोष वारण करने के लिए सत्त्व के लक्षण में अभाव का विशेषण व्याप्यवृत्तित्व देंगे। तब सत्त्व के लक्षण का आकार होगा— 'सर्वदेशीयत्रैकालिकव्याप्यवृत्तिनिषे—धप्रतियोगित्वाभावत्वं सत्त्वम्'। ऐसा लक्षण करने पर संयोग में सर्वदेशीयत्रैकालिकाव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्व

तदभ्युपगमे च व्याप्यवृत्तित्वेनाभावो विशेषणीयः। नापि वियत्यव्याप्तिः; तदत्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वानङ्गीकारेण लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव। न हि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा तस्याभावः, नित्यविभुत्वभङ्गप्रसङ्गात्। आकाशात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वाभ्युपगमे च वृत्तिमत्प्रतियोगिक–त्वेनाभावो विशेषणीय इति चेत्?।।६।।

न, चक्षुराद्ययोग्यानेकपदार्थघटितत्वेनैतादृशसत्त्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरसामर्थ्यात्। न हि सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वं कस्यापि प्रत्यक्षम्, येन तदभावः

कैलाशविद्याप्रकाशिका

व्याप्यवृत्तित्व को देंगे। उक्त विशेषण के देने पर भी आकाश में अव्याप्ति होगी, क्योंकि गगनात्यन्ताभाव को केवलान्वयी माना जाता है–ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि हम गगनात्यन्ताभावनिष्ठ केवलान्वयित्व नहीं मानते हैं। अतः उसमें सत्त्व का लक्षण विद्यमान ही है। दूसरी बात यह भी है कि किसी भी देश या काल में गगन का अभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गगन का अत्यन्ताभाव मानने पर गगननिष्ठनित्यत्व और विभुत्व के भङ्ग का प्रसङ्ग आयेगा। गगनात्यन्ताभाव निष्ठ केवलान्वयित्व स्वीकार करने पर सत्त्व के लक्षण में अत्यन्ताभाव का विशेषण वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व देना चाहिए। (वृत्तिमत्प्रतियोगि यस्य स वृत्तिमत्प्रतियोगिकः, तस्य भावः तत्त्वं तेन= वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वेन= वृत्तिमत् है, प्रतियोगी जिसका एवम्भूत जो अभाव, वह अभाव लक्षण का घटक है।)।।६।।

समाधान – इस प्रकार से भी सत्त्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य अनेक पदार्थों से गर्भित होने से एतादृश सत्त्व के ग्रहण में चक्षुरादि का सामर्थ्य नहीं है। सर्वदेशीय त्रैकालिक वृत्तिमत्प्रतियोगिक और व्याप्यवृत्ति इन चारों विशेषणों से विशिष्ट

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, परन्तु उक्त व्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्व नहीं है। अतः संयोग में लक्षण चले जाने से अव्याप्तिदोष नहीं होगा। अभाव में व्याप्यवृत्तित्व विशेषण देने पर भी आकाश में उक्त सत्त्व के लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि आकाश अवृत्तिमत्पदार्थ है। अतः आकाश में सर्वदेशीयत्रैकालिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्व है। अतः उक्त प्रतियोगित्व का अभाव आकाश में न होने से उक्त सत्त्वलक्षण की अव्याप्ति है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि आकाशाभाव को केवलान्वयि हम नहीं मानते है। क्योंकि आकाश का न तो किसी देश में अभाव है और न किसी काल में। क्योंकि किसी देश में आकाश का अभाव मानने पर आकाश में विभुत्व ही सिद्ध न हो पायेगा। इसी प्रकार किसी काल में आकाश का अभाव मानने पर आकाश में नित्यत्व ही सिद्ध न हो पायेगा। इसलिए आकाश का अभाव माना ही नहीं जा सकता है। अतः उसमे उक्त प्रतियोगित्वाभावरूपसत्त्व का लक्षण जाने से अव्याप्तिदोष नहीं होगा। प्रश्न होता है कि जो विभुपदार्थ है, उसमें आधेयता मानना असम्भव है। अतः किसी भी देश में विभुपदार्थो के न रहने के कारण, उनका अभाव मानना पडेगा और इस अभाव को केवलान्वयि ही माना जा सकता है। इस अरुचि के कारण पुनः पूर्वपक्षी कह रहा है कि आकाश के अत्यन्ताभाव को केवलान्वयि स्वीकार करने पर भी सत्त्व के लक्षण की आकाश में अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि सत्त्व के लक्षण में प्रतियोगिताकत्व का विशेषण 'वृत्तिमत्' देंगे। अर्थात् सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभाववत्त्वं सत्त्वम्। अतः आकाश अवृत्तिमत्पदार्थ है। इसलिए आकाशाभाव होगा अवृत्तिमत्प्रतियोगिक। अतः अवृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व आकाश में गया। वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व आकाश में नहीं गया। अतः सत्त्व का उक्त लक्षण आकाश में जाने से अव्याप्तिदोष का वारण हो गया।।६।।

पूर्वपक्षी के द्वारा रचित सत्त्व के लक्षण का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि यह

प्रत्यक्षो भवेत्। वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वव्याप्यवृत्तित्वपरित्यागेऽपि सर्वदेशीयत्वत्रैकालिकत्वयोरयोग्यत्वात् ।।७।।

ननु स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभावे गृह्यमाणे कालत्रयमध्ये वर्तमानकालस्य सर्वदेशमध्ये प्रकृतदेशस्यापि प्रवेशेन तत्र निषेधप्रतियोगित्वाभावस्य गृहीतत्वात्तत्संवलितं

कैलासविद्याप्रकाशिका

अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व किसी को भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता है। तब उक्त प्रतियोगित्व के अभावरूप सत्त्व का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन चारों विशेषणों में से वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्व और व्याप्यवृत्तित्व इन दो विशेषणों को छोड़ देने पर भी सर्वदेशीय और त्रैकालिकत्व– ये दोनों भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही हैं।।७।।

शङ्का – स्वदेश और स्वकाल में रहने वाला जो निषेध है। तादृशनिषेध निरूपित जो प्रतियोगित्व है। उक्त प्रतियोगित्व का अभाव स्व (सत्त्वेन अभिमत पदार्थ घट पटादि) में ग्रहण करने योग्य होने पर कालत्रय के मध्य में वर्तमान काल (स्वाधिकरणीभूतकाल) और सर्वदेश के मध्य में प्रकृतदेश (स्वाधिकरणीभूतदेश) का भी प्रवेश होने से, तत्र = स्वदेश में तथा स्वकाल में, स्व में उक्त निषेध प्रतियोगित्वाभाव के गृहीत होने से, स्वदेश और स्वकाल घटित जो कालत्रयवृत्ति सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूप

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्व में ही कहा गया है कि पूर्वपक्षी को ऐसा सत्त्व बतलाना है जो मिथ्यात्व का विरोधि हो और चक्षुरादि के द्वारा प्रत्यक्ष के योग्य हो। पूर्वपक्षी जिस प्रकार के सत्त्व को बतला रहा है वह चक्षुरादि के प्रत्यक्ष होने के अयोग्य अनेकपदार्थों (सर्वदेशीयत्रैकालिकादि) से घटित है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा बतलाये गये उक्त प्रकार के सत्त्व का प्रत्यक्ष चक्षुरादि से होना सम्भव नहीं है। क्योंकि किसी भी अभावप्रत्यक्ष के प्रति प्रतियोगी का प्रत्यक्ष कारण होता है। प्रकृत में सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्ति मत्प्रतियोगिक व्याप्यवृत्ति–निषधप्रतियोगित्वाभावरूप सत्त्व का प्रत्यक्ष करना है, उक्त अभाव का प्रतियोगी सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्ति निषेधप्रतियोगित्व है। उक्त प्रतियोगित्व का प्रत्यक्ष किसी भी व्यक्ति को हो नहीं सकता है। तब उक्त प्रतियागित्व के अभावरूप सत्त्व का प्रत्यक्ष कैसे होगा? यदि पूर्वपक्षी कहे कि संयोग को अव्याप्यवृत्ति न माने और आकाश का अत्यन्ताभाव भी न मानने के कारण संयोग और आकाश में अव्याप्ति वारण के लिए प्रतियोगित्व का विशेषण वृत्तिमत् और अभाव का विशेषण व्याप्यवृत्तित्व को नहीं देंगे। तब सत्त्व का लक्षण बनेगा– 'सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वाभाववत्त्वं सत्त्वम्'। उसका तो प्रत्यक्ष हो ही सकता है, इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि सत्त्व के इस लक्षण में आये हुए सर्वदेशीयत्व और त्रैकालिकत्व का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष हो नहीं सकता है। अतः सर्वदेशीयत्व और त्रैकालिकत्वादि से घटित सत्त्व के लक्षण का चक्षुरादि के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होगा ।।७।।

इस पर पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती ने जो कहा है कि तीनों कालों में सम्पूर्णदेश में जिसका अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगित्व घटादि में है। अतः घटादि मिथ्या है। इस प्रकार के मिथ्यात्व का बाध तभी होगा, यदि किसी काल में किसी देश में घटादि सिद्ध हो जाय। उसी को पूर्वपक्षी दिखा रहा है– जिस देश में घट वर्तमानकाल में है और उसका चक्षुरादिप्रमाण से प्रत्यक्ष हो रहा है, उस घट को मूल के 'स्व' पद से लेंगे। अर्थात् घट जिस देश और जिस वर्तमानकाल में है, उस देश–काल में घट से इतर पदार्थो का अत्यन्ताभाव हो सकता है, किन्तु घट का अत्यन्ताभाव नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष से गृहीत है। अर्थात् घटदेशकाल में यदि घट का अत्यन्ताभाव होता तो घट में प्रतियोगित्व आता, किन्तु जब घट में प्रतियोगित्व नहीं है, अपितु घटेतर सकल पदार्थों में है, तब घटेतर में रहने वाला जो

कालत्रयवृत्ति सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं नानुमानेन ग्रहीतुं शक्यत इति चेत्।।८।।

न, स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्वस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेन तदभावस्य सुतरां तदयोग्यत्वात्, स्वदेशकालवृत्तियत्किञ्चिन्निषेधाप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

मिथ्यात्व उसका अनुमान से ग्रहण करना शक्य नहीं है।।८।।

समाधान – नहीं, क्योंकि स्वाधिकरण जो देश और स्वाधिकरण जो काल तद्वृत्ति जो सकल निषेध, तादृशनिषेध निरूपित जो प्रतियोगित्व है। उस प्रतियोगित्व के चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से उक्त सकलनिषेध निरूपित प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व चक्षुरादि प्रत्यक्ष के अयोग्य होना तो स्वतः सिद्ध हो जायेगा। सत्त्वेन अभिमत घटादि पदार्थ के देश और काल में रहने वाले कुछ अत्यन्ताभावों का अप्रतियोगित्वरूप सत्त्व तो मिथ्यात्व का विरोधी नहीं माना जाता है। इसी प्रकार स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव का असामानाधिकरण्य रूप सत्त्व की सिद्धि केवलान्वयी प्रमेयत्वादि में नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमेयत्वादि धर्मों का स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव प्रसिद्ध ही नहीं है। सम्बन्ध भेद

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्व है, ऐसे प्रतियोगित्व का अभाव घट में है। जिसका चक्षुरादि प्रमाण से ग्रहण हो ही सकता है। इसलिए सिद्धान्ती का जो मिथ्यात्व है–'सर्वदेशीयत्रैकालिक–निषेधप्रतियोगित्वम्', इस मिथ्यात्व लक्षण का घटक जो सर्वदेश और कालत्रय है, उसमें वर्तमानकाल और प्रकृतदेश भी प्रविष्ट है और उस वर्तमानकाल और प्रकृतदेश में निषेधप्रतियोगित्व का अभाव घट में चक्षु से गृहीत है। इसलिए यदि आप अनुमान से प्रकृतदेश और वर्तमानकाल से घटित सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व घट में सिद्ध करना चाहते हो तो, घट में प्रकृतदेशीयवर्तमानकालीननिषेधप्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष ही उक्त मिथ्यात्वानुमान का बाध कर देगा। पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि घट में सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता सिद्ध होने पर घट में मिथ्यात्व सिद्ध होगा। यदि सर्वदेश का घटक सन्निकृष्टदेश या असन्निकृष्टदेश और त्रैकालिक का घटक अतीत, वर्तमान अथवा अनागत काल में से किसी एक देश या किसी एक काल में घट की सिद्धि प्रत्यक्षप्रमाण से हो जाय, तो घट में सर्वदेशीयत्रैकालि–कनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि प्रकृतदेश और वर्तमानकाल में घट से इतर सभी का अभाव है। अतः घटेतर सभी में प्रतियोगित्व है। उस प्रतियोगित्व का अभाव घट में बैठा है, न कि प्रतियोगित्व। अतः स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्व का अभाव जब घट मे बैठा है, यह चक्षुरादिप्रमाण से गृहीत है, तब स्वदेशकाल से घटित सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व अनुमानप्रमाण से घट में सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभाव का चक्षु प्रमाण से होने वाला चाक्षुषप्रत्यक्ष ही मिथ्यात्वानुमान का बाध कर देगा।।८।।

पूर्वपक्षी का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने कहा कि घट के प्रकृतदेश और वर्तमानकाल में घटेतरपदार्थ का अभाव है। उस अभाव का प्रतियोगित्व घटेतर सकलपदार्थों में है। उस प्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा घट में हो रहा है। इस पर सिद्धान्ती विकल्प उठा रहे हैं कि घट के प्रकृतदेश और वर्तमानकाल में घट से इतरपदार्थों का अभाव जो ले रहे हो, वह क्या घट से इतरसकलपदार्थों का अभाव ले रहे हो? अथवा घटेतरयत्किञ्चित्पदार्थों का अभाव ले रहे हो? अर्थात् घटदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष जो घट में होता है, वह प्रत्यक्ष घटमिथ्यात्वानुमान का विरोधी है। यह कहना चाहते हो? अथवा घटदेशकालवृत्तियत्किञ्चिन्निषेधप्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का विरोधी है, ऐसा कहना चाहते हो? प्रथम पक्ष में दोष दे रहे हैं कि घट के

स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यस्य च स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनि, सम्बन्धभेदेन घटादौ चासिद्धेः, स्वात्यन्ताभावयावदधिकरणावृत्तित्वं वा, स्वात्यन्ताभावयत्किञ्चिदधिकरणावृत्तित्वं वेति विकल्पेन पूर्वोक्तदोषाच्च तस्मात्तत्प्रकारान्तरस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

से घटादि का अभाव लेने पर इस सत्त्व के लक्षण की सिद्धि घटादि में नहीं हो पायेगी। स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासमानाधिकरण्य का अर्थ क्या स्वात्यन्ताभाव के निखिलाधिकरण में अवृत्तित्वरूप है? अथवा स्वात्यन्ताभाव के यत्किञ्चित् अधिकरण में अवृत्तिरूप है– इस प्रकार से विकल्प करने पर पूर्वोक्त दोष होंगे। इसलिए सत्त्व के निर्वचन का प्रकारान्तर से निरूपण अशक्य होने से तथा मिथ्यात्व का अविरोधी होने से पूर्वपक्षी को मिथ्यात्व का विरोधी सत्त्व का लक्षण ऐसा बनाना होगा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकृतदेश और वर्तमानकाल में रहने वाला घटेतरसकलपदार्थो का अभाव लेने पर उस 'इतरपदार्थ' पद से चक्षुरादि से प्रत्यक्ष के अयोग्य अतीन्द्रियपदार्थ भी लिए जायेंगे। अतः उक्त अभाव का प्रतियोगित्व अतीन्द्रियपदार्थों में भी रहेगा। अतीन्द्रिपदार्थनिष्ठप्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष घट में नहीं होगा, क्योंकि अतीन्द्रियपदार्थो का प्रत्यक्ष होता ही नहीं है। अतः स्वदेशकालवृत्तियावद्निषेधप्रतियोगित्व ही जब प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, तब उक्त प्रतियोगित्वाभाव का भी घट में चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि स्वदेशकालवृत्तियावद्निषेधप्रतियोगित्वाभाव का घट में प्रत्यक्ष होने से उस प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा, उसका खण्डन हो गया। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर, स्वदेशकालवृत्तियत्किञ्चित्पटादिनिष्ठ अभावप्रतियोगित्व के अभाव का घटादि में चक्षु से प्रत्यक्ष स्वीकार करने पर भी उस प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं होगा। क्योंकि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व का विरोधी तो सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व का अभाव है। जिसको पूर्वपक्षी ने सत्त्व का लक्षण कहा था और उक्त प्रकार का सत्त्व घट में सिद्ध होने पर ही घट के मिथ्यात्व का विरोध होगा। स्वदेशकालवृत्तियत्किञ्चिन्निषेधप्रतियोगित्वाभाव, यह तो पूर्वपक्षी के मतानुसार सत्त्व का लक्षण ही नहीं है। अतः इस के सिद्ध होने पर भी मिथ्यात्व का विरोध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी स्वप्रतियोगिताकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्य को यदि सत्त्व कहेंगे और यह मानेंगे कि वह सत्त्व घटादि में है, क्योंकि जिस अधिकरण में घट है, उस अधिकरण में घट का अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। अतः घट के अत्यन्ताभाव का असामानाधिकरण्य घट में है। ऐसे सत्त्व का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष भी होता है, क्योंकि जहाँ घट है वहाँ घट का अत्यन्ताभाव नहीं है, यह चक्षुरादि प्रमाण से प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः ऐसे सत्त्व प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। तो ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि सत्त्व का यह लक्षण केवलान्वयिप्रमेयत्वादि में जायेगा ही नहीं, क्योंकि उसका अत्यन्ताभाव होता ही नहीं। दूसरी बात यह है कि जहाँ घट संयोगसम्बन्ध से है, वहाँ समवायसम्बन्ध से नहीं है। अतः घटात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य ही घट मे गया, असामानाधिकरण्य घट में न जाने से सत्त्व का लक्षण घटादि में नहीं जायेगा। इस प्रकार केवलान्वयिप्रमेयत्वादि और घटादि में सत्त्व के लक्षण की अव्याप्ति होगी। दूसरा दोष यह होगा कि स्व (घटादि) के अत्यन्ताभाव के सकलाधिकरण में अवृत्तित्व लेना है? अथवा स्व (घटादि) के अत्यन्ताभाव के यत्किञ्चित् अधिकरण में अवृत्तित्व लेना है? प्रथम पक्ष में यह दोष होगा कि घट के अत्यन्ताभाव के जितने अधिकरण है, उन सभी अधिकरणों का प्रत्यक्ष चक्षु से हो नहीं सकता है। अर्थात् घटात्यन्ताभावनिष्ठा–धेयतानिरूपितसकलाधिकरणतानिरूपितवृत्तित्व का चक्षु से प्रत्यक्ष नही हो सकता है, क्योंकि उक्त अधिकरणता अतीन्द्रियादि पदार्थों में भी बैठी है। इसलिए

निरूपयितुमशक्यत्वान्मिथ्यात्वाविरोधित्वाच्च स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ता भावप्रतियोगि–त्वाभावरूपमेव सत्त्वमुपेयम्। तच्च न चक्षुरादियोग्यमित्युक्तम्।।९।।

ननु यस्मिन्कस्मिंश्चित् स्वदेशकालवृत्तिनिषेधे एतद्देशैतत्कालवृत्तिनिषेधत्वं ज्ञात्वा तेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्वसमानाधिकरणक निखिल अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व है, किन्तु ऐसे सत्त्व का प्रत्यक्ष चक्षुरादि से हो नहीं सकता है—यह पहले कहा जा चुका है।।९।।

शङ्का— स्वदेशकालवृत्ति यत्किञ्चित् निषेध में स्वदेशकालवृत्तिनिषेधत्व को ज्ञात कर उस

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटात्यन्ताभावनिष्ठाधेयता– निरूपितयावदधिकरणतानिरूपितवृत्तित्वाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा हो नहीं सकता है। क्योंकि अभावप्रत्यक्ष के प्रति प्रतियोगी का प्रत्यक्ष कारण होता है। द्वितीयपक्ष में यदि घट के अत्यन्ताभाव के यत्किञ्चिदधिकरण पटादि से निरूपितवृत्तित्व का अभाव घट में सिद्ध हो भी जाय तो भी घट में सत्त्व सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि घट के जितने अधिकरण है, उनमे से किसी एक अधिकरण में भी यदि घट का अत्यन्ताभव रहता है तो घट मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। घट के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए घट के यावदधिकरण में घट का अत्यन्ताभाव रहता है, यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे मिथ्यात्वलक्षण का वही सत्त्व विरोध कर सकता है, जिस सत्त्व का लक्षण हो—'स्वात्यन्ताभावयावदधिकरणावृत्तित्वम्'। यदि घट में स्वात्यन्ताभावयत्किञ्चिदधिकरणावृत्तित्व रहे तो तब घट के मिथ्यात्व का विरोध नहीं होगा, क्योंकि घटात्यन्ताभाव के यत्किञ्चिदधिकरण में घट की अवृत्ति है। उससे अन्य किसी एक भी घटात्यन्ताभाव के अधिकरण में घट का वृत्तित्व रहे, तब भी घट का मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि उक्त स्थल पर मिथ्यात्व का चतुर्थलक्षण जा रहा है—यह पहले दिखाया जा चुका है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा बतलाये गये सत्त्व के व्यापकस्वरूपवाले लक्षणों का चक्षुरादि के द्वारा प्रत्यक्ष न होने से उन लक्षणों का खण्डन हो जाने से पूर्वपक्षी उन लक्षणों से भिन्न प्रकार के ऐसे लक्षणों के द्वारा सत्त्व का निरूपण नहीं कर सकता है, जिसके द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो सके। सत्ताजातिवाले अथवा अर्थक्रियाकारित्ववाले सत्त्व जो चक्षुरादि के प्रत्यक्ष के योग्य है, किन्तु उनसे मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। अब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी को मिथ्यात्वानुमान का विरोधी सत्त्व का लक्षण इस प्रकार बनाना चाहिए। घट के अधिकरण कपाल में रहने वाले घट से इतर सम्पूर्णपदार्थों का अभाव है, उन अभावों की प्रतियोगिता घटेतरसकलपदार्थों में है, उस प्रतियोगिता का अभाव घट में है। उक्त प्रतियोगित्व का अभाव घट में रहने से घट मिथ्या सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि घट में सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व के सिद्ध होने से घट मिथ्या सिद्ध होता। अत: इस प्रकार के सत्त्व से मिथ्यात्वानुमान का विरोध होता। किन्तु सिद्धान्ती को इस प्रकार के सत्त्व से कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि उक्त प्रकार के सत्त्व का प्रत्यक्ष चक्षु से हो नहीं सकता है। क्योंकि घट के अधिकरण में अतीन्द्रियपदार्थों का भी अभाव है, उसका चक्षुरादि के द्वारा प्रत्यक्ष होता नहीं है, यह पीछे कहा जा चुका है। अत: घट के अधिकरण में घट से इतर सभी का अभाव का प्रत्यक्ष न होने से स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपसत्त्व का भी चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होगा। अत: इस प्रकार के सत्त्व से भी मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं होगा। पूर्वपक्षी को ऐसा सत्त्व का निरूपण करना था जो चक्षुरादि के द्वारा प्रत्यक्ष हो और मिथ्यात्व का विरोधि हो। किन्तु लौकिकसंन्निकर्ष के माध्यम से होने वाले लौकिकचाक्षुषप्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्व विरोधी सत्त्व का ग्रहण नहीं हो सका।।९।।

अब आगे जो शङ्का उठायी जा रही है वह माध्वमत के द्वारा उद्धृत नहीं है। किन्तु आचार्यप्रवर

प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितानां स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधानां प्रतियोगित्वस्याभावो घटे ग्राह्यः, ततः सार्वदिकसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वस्य ग्रहणं घटे दुर्घटमिति चेत्।।१०।।

न, एवं सामान्यलक्षणया सर्वनिषेधेषूपस्थितेष्वपि तत्प्रतियोगित्वाभावस्य चक्षुरादिना

कैलासविद्याप्रकाशिका

निषेधत्व रूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से उपस्थापित जो निखिल निषेध है। तादृश निषेध निरूपित जो प्रतियोगित्व है। उस प्रतियोगित्वाभाव का ग्रहण घट में हो ही जायेगा। ऐसा होने पर सर्वकालीन सर्वदेशीय निषेध के प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण से घट में सम्भव नहीं हो सकता है।।१०।।

समाधान— नहीं, क्योंकि उक्त प्रकार से सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा निखिलनिषेधों के उपस्थित होने पर भी उन निखिल निषेधों के प्रतियोगित्व का अभावरूप सत्त्व का प्रत्यक्ष चक्षुरादि के

सत्यानन्दप्रबोधिका

ने प्रसङ्गवश सामान्यलक्षणा आदि का खण्डन करने के लिए स्वयं शङ्का उठाया है कि यदि पूर्वपक्षी कहता है कि लौकिकसन्निकर्ष के द्वारा यद्यपि मिथ्यात्व विरोधी सत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता हे, किन्तु अलौकिकसन्निकर्ष के द्वारा चक्षुरादि से मिथ्यात्व विरोधी सत्त्व का प्रत्यक्ष हो जायेगा और उसके द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इस आशय से पूर्वपक्ष का उत्थापन किया जा रहा है कि जैसे यत्किञ्चिद्घटव्यक्ति में घटत्वधर्म का प्रत्यक्ष हो जाने पर, उस घटत्व को ही सामान्यलक्षणासन्निकर्ष बनाकर उसके माध्यम से चक्षु सकल घट का प्रत्यक्ष कर लेती है, ठीक उसी प्रकार घट के अधिकरण में घट से इतर दो चार पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष करेंगे। फिर अभावत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के माध्यम से स्व (घट) देशकालवृत्तिसकल—अभाव का प्रत्यक्ष कर लेंगे। इस प्रकार से सकलाभाव का प्रत्यक्ष करने पर सिद्धान्ती ने जो यह दोष दिया था कि सकलाभाव के प्रतियोगिकोटि में अतीन्द्रियपदार्थ भी है और अतीन्द्रियपदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, ऐसा दोष अब सिद्धान्ती नहीं दे सकते हैं। क्योंकि यहाँ सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के माध्यम से सकलाभाव का प्रत्यक्ष किया गया है। इस प्रकार स्वदेशकालवृत्तिसकलाभाव का प्रत्यक्ष हो जाने पर, उन सकलाभावों का प्रतियोगी सकलपदार्थ है, अतः उन सकलपदार्थों में रहेगा प्रतियोगित्व, उस प्रतियोगित्व का अभाव घट में है। अतः प्रकृतदेश एवं वर्तमानकाल में स्थित घट में सकलाभाव के प्रतियोगित्व का अभाव रह जाने से प्रकृतदेश और वर्तमानकाल से घटित सर्वदेशीयत्रैकालिकप्रतियोगित्वरूप— मिथ्यात्व का ग्रहण घट में न होने से मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। पूर्वपक्षी के भाव को सुगमता पूर्वक अवगत इस प्रकार से किया जा सकता है—जहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है, वहां पर प्रत्यक्ष प्रमा को फल कहते है और इन्द्रिय को करण कहते है। व्यापारवत् असाधारण कारण को करण कहते है। इन्द्रियों का विषय के साथ जो सम्बन्ध है, उसको प्रायः व्यापार कहते है। उसको प्रत्यासत्ति भी कहते है। इन्दिय का विषय के साथ जो सम्बन्ध रूप प्रत्यासत्ति है, वह प्रत्यासत्ति दो प्रकार की होती है। प्रथम लौकिक प्रत्यासत्ति। द्वितीय—अलौकिक प्रत्यासत्ति। प्रथम—लौकिक प्रत्यासत्ति = लौकिक सन्निकर्ष षट् प्रकार का होता हे—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। द्रव्य प्रत्यक्ष में आद्य है, द्रव्यसमवेत जाति और गुणादि के प्रत्यक्ष में द्वितीय है। द्रव्यसमवेतसमवेत गुणत्वादि के प्रत्यक्ष में तृतीय है। शब्द के प्रत्यक्ष में चतुर्थ है। शब्दत्वादि के प्रत्यक्ष में पंचम है और अभाव तथा समवाय के प्रत्यक्ष में षष्ठ है। द्वितीय अलौकिक प्रत्यासत्ति = अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का होता है—सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा और योगजधर्मलक्षणा। यह दोनों प्रकार के सन्निकर्ष इन्द्रियप्रतियोगिक

ग्रहीतुमशक्यत्वात्। योग्यप्रतियोगिक एव हि संसर्गाभावो योग्यः। न चाशेषनिषेधानां प्रति– योगित्वमतीन्द्रियसाधारणञ्चक्षुरादियोग्यम्। वस्तुतस्तु सामान्यं नेन्द्रियप्रत्यासत्तिः, मानाभावात्। न च महानसीयधूमेन्द्रियसंयोगेन तत्रैव व्याप्तिग्रहे पर्वतीयधूमादनुमितिर्न स्यात्, सामान्यस्य च

कैलासविद्याप्रकाशिका

द्वारा करना शक्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षयोग्यप्रतियोगिक संसर्गाभाव को ही प्रत्यक्षयोग्य माना जाता है। जबकि निखिल अत्यन्ताभावों का प्रतियोगित्व अतीन्द्रियसाधारण होने से चक्षुरादि से प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। वस्तुतः प्रमाणाभाव होने से सामान्यलक्षणारूप इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं माना जा सकता है।

शङ्का– महानसीय धूम के साथ इन्द्रिय संयोग से महानसीय धूम में ही व्याप्तिग्रह होने पर पर्वतीय धूम से वह्नि की अनुमिति नहीं होगी। धूमत्वादि सामान्य धर्म को प्रत्यासत्ति रूप से स्वीकार करने पर पर्वतीय धूम भी इन्द्रिय से प्रत्यासन्न (सन्निकृष्ट) होने से उस पर्वतीय धूम में भी व्याप्तिग्रह होने पर उस पर्वतीय धूम से भी अनुमिति होगी।

समाधान– ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि धूमत्वविशिष्टत्वेन गृहीत धूम का वह्निविशिष्टत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

और विषयानुयोगिक हुआ करते है। जहां पर लौकिक सन्निकर्ष से एक घट का ज्ञान होता है, वहां पर सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से निखिल घट का ज्ञान होता है। पूर्वोवर्ति घट का संयोगसन्निकर्ष से ज्ञान होता है और पूर्वोवर्ति घट से भिन्न निखिल घटों का स्वसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतरूपप्रत्यासत्ति से ज्ञान होता है। यह प्रत्यासत्ति स्वप्रतियोगिजन्यज्ञान को विषयता सम्बन्ध से स्वानुयोगी में उत्पन्न करती है। प्रत्यासत्ति बोधक वाक्य घटक स्व शब्द से इन्द्रिय को लिया जाता है। अर्थात् – इन्द्रियेण सम्बद्धमिति = इन्द्रियसम्बद्धम्। इन्द्रियसम्बद्धं विशेष्यं यस्मिन् तत् = इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकम्। इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं च तज्ज्ञानं च इति इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानम्, तस्मिन् प्रकारीभूतम्। अर्थात् ''घटः'' इत्याकारकज्ञान इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक है। उस ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म घटत्व है। उस घटत्व को ही सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति कहते है और इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञानप्रकारीभूतसम्बन्ध से चक्षु का निखिल घटों से सम्बन्ध हो जाता है, तब निखिल घटों का ज्ञान हो जाने में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती हे। प्रकृत में समन्वय इस प्रकार से होगा – वर्तमान कालावच्छेदेन घटाधिकरण कपाल में पटादि का अभाव रहता है, किन्तु उन सभी अभावों का चक्षु से संयुक्त विशेषणता रूप लौकिक सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि लौकिक सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष में प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूप योग्यानुपलम्ब को सहकारी माना जाता है, किन्तु कपालवृत्ति निखिल अभाव इस सहकारी से सहकृत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि निखिल अभावों के अर्न्तगत अतीन्द्रिय पदार्थो का भी अभाव है। अतः अतीन्द्रिय पदार्थो के अभावों के जो प्रतियोगी होंगे,वे अतीन्द्रिय पदार्थ होंगे और उनमें प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूप योग्यानुपलम्ब रूप सहकारी का समन्वय सम्भव नहीं है, परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष से कपालवृत्ति निखिल अभावों का प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे योग्यप्रतियोगिक होने से एतत् कालावच्छेदेन कपाल में पटाभाव का प्रत्यक्ष स्वसंयुक्तविशेषणतासम्बन्ध से हो जायेगा। उस पटाभाव में एतद्देश– एतत्कालवृत्तिनिषेधत्व रहता है। ऐसे स्थल पर स्वसंयुक्तविशेषणतासम्बन्ध से इन्द्रियसम्बद्ध हुआ पटाभाव, तद्विशेष्यक जो ज्ञान = वर्तमान काले कपाले पटो नास्ति–इत्याकारक अभावज्ञान, इस ज्ञान में प्रकारीभूतधर्म होगा – एतद्देश– एतत्कालवृत्तिनिषेधत्व। यह एतद्देश– एतत्कालवृत्तिनिषेधत्व जैसे पटाभाव में है, ठीक वैसे ही पटाभावसमानाधिकरणकपालनिष्ठ सकल अभावों में भी है। इस प्रकार से सामान्यरूपप्रत्यासत्ति से चक्षु के

धूमत्वादे: प्रत्यासत्तित्वे तस्यापि प्रत्यासन्नत्वात्तत्र व्याप्तिग्रहे ततोऽनुमितिरिति वाच्यम्, पर्वतीयधूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमत्वेन प्रकारेण गृहीतस्मृतव्याप्तेस्तत्र वैशिष्ट्यग्रहसम्भवात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

गृहीत वह्नि के साथ जो सामानाधिकरण्य पूर्व गृहीत हुआ था, वह इस समय पर्वतीय धूम के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की दशा में स्मृत हुआ। उस सामानाधिकरण्य रूप स्मृत व्याप्ति का पर्वतीय धूम में ''धूम वह्नि व्याप्य'' इस प्रकार से विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध का ग्रह हो ही सकता है, क्योंकि ''सुरभि चन्दनम्'' इस स्थल के समान ही यहां पर भी विशेष्य के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष, विशेषण का ज्ञान और

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वारा कपालवृत्ति सकल अभावों का प्रत्यक्ष हो जायेगा, तब प्रत्यक्षज्ञानविषयीभूत — अभावनिरूपितप्रतियोगित्वाभाव घट में ग्राह्य हो जाने से सर्वकालिकसर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ग्रहण (ज्ञान) घट में नहीं हो सकता है। यही पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।।१०।।

इस प्रकार पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है। क्योंकि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से सभी पदार्थों के अभाव की उपस्थिति होने पर भी उन सभी अभावों के प्रतियोगी सकलपदार्थ होंगे, उन सकलपदार्थों में प्रतियोगित्व रहेगा और उन सकलपदार्थों में अतीन्द्रियपदार्थ भी होंगे। अत: अतीन्द्रियपदार्थनिष्ठप्रतियोगित्व का अभाव जो घट में है, उसका प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा नहीं होगा। क्योंकि अतीन्द्रियपदार्थ का जब चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता है तब अतीन्द्रियनिष्ठप्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष चक्षु कैसे कर सकता है? इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस संसर्गाभाव का प्रतियोगी चक्षुरादि से प्रत्यक्ष के योग्य होता है, ऐसे योग्य प्रतियोगीवाले संसर्गाभाव का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व ही अभाव का योग्य प्रतियोगिकत्व है। जैसे ''अत्र घट: स्यात् तर्हि उपलभ्येत, न तूपलभ्यतेऽतोऽत्र घटाभाव:।'' ऐसे स्थल पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि यहां घटाभाव के प्रतियोगी घट के सत्त्व की प्रसक्ति से प्रसक्त घट अभाव का प्रतियोगी होता है, किन्तु धर्मादि के अभाव स्थल पर ''मयि धर्म: स्यात् तर्हि उपलभ्येत, न तूपलभ्यतेऽतोऽत्र धर्माभाव:।'' ऐसा कहा नहीं जा सकता है। अत: धर्माभाव को प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमेय पदार्थ माना जाता है। प्रकृत में स्व (घट) देशकालवृत्ति जो घट से इतर सभी पदार्थों का अभाव है, उसका प्रतियोगित्व अतीन्द्रियसाधारणपदार्थों में भी है। उन अतीन्द्रिपदार्थों में चक्षुरादि से प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। इसलिए उनका अभाव भी चक्षुरादि से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। ऐसा होने पर घट में घटेतर पदार्थों के अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व का अभाव भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। अत: पूर्वपक्षी पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यात्वानुमान का विरोध नहीं दिखा सकता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि प्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष घटादि में लौकिकसन्निकर्ष के द्वारा भले ही न हो, किन्तु अलौकिकसन्निकर्ष के द्वारा उक्त प्रतियोगित्व के अभाव का प्रत्यक्ष घटादि में हो जाने से मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इस अरुचि के कारण 'वस्तुतस्तु' से पुन: कह रहे हैं कि वस्तुत: अद्वैतसिद्धान्त में इन्द्रिय का सामान्यलक्षणासन्निकर्ष माना ही नहीं जाता है। क्योंकि सामन्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष नहीं मानने पर पर्वत में वह्नि की अनुमिति नहीं हो पायेगी। क्योंकि महानस में महानसीयधूम के साथ चक्षु का संयोगसन्निकर्ष होता है। इसलिए महानसीयधूम में ही वह्निसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का ग्रहण होगा। पर्वतीयधूम में व्याप्ति का ग्रहण न होने से पर्वत मे वह्नि की अनुमिति नहीं होगी। अर्थात् व्यभिचारज्ञानाभावविशिष्टसहचारदर्शन से महानसीय धूम में सर्व प्रथम वह्नि निरूपित व्याप्ति का ज्ञान होता है किन्तु जिस समय महानसीय धूम में वह्निनिरूपित व्याप्ति का ज्ञान होता है, उस समय पर्वतीय धूम

'सुरभि चन्दनम्' इतिवत्, विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षविशेषणज्ञानासंसर्गाग्रहरूपाया विशिष्टज्ञानसामग्र्या पूर्णत्वात्। व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण वा पक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुता; महानसीय एव धूमो धूमत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

विशेष्य के साथ विशेषण के असंसर्ग का अग्रह रूप विशिष्टज्ञान की पूर्ण सामग्री है। अथवा व्याप्तिस्मृतिविशिष्टत्वेन पक्षधर्मता का ज्ञान अनुमिति के प्रति हेतु है। यहां महानसीय धूम ही धूमत्वेन व्याप्ति स्मृति का विषय है, न कि महानसीयत्वेन धूम व्याप्तिस्मृति का विषय है। इसी प्रकार धूमत्वेन पर्वतीय धूम का भी ज्ञान होता है और उस पर्वतीय धूम में धूमत्वेन धूम का ज्ञान सामान्यलक्षणासन्निकर्ष

सत्यानन्दप्रबोधिका

का ज्ञान रहता नहीं है। इसलिए पर्वतीय धूम में व्याप्ति ग्रह नहीं हुआ। अतः पर्वतीय धूम के दर्शन से व्याप्ति की स्मृति भी नहीं होगी, क्योंकि सम्बन्धित्वेन ज्ञात दो पदार्थों में से एक पदार्थ का ज्ञान होने से संस्कार उद्बोधन द्वारा अपर पदार्थ की स्मृति उत्पन्न होती है—ऐसा हस्तिपक आदि स्थल पर देखा जाता है। किन्तु यहां पर वह्निनिरूपित व्याप्ति सम्बन्धित्वेन पर्वतीय धूम का ज्ञान तो हुआ नहीं है। अतः पर्वतीय धूम को देखकर व्याप्ति की स्मृति नहीं होगी। सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने पर महानस में महानसीयधूम और महानसीयवह्नि का प्रत्यक्ष हो जाने पर धूमत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा सकलधूम में सकलवह्नि की व्याप्ति का ग्रहण हो जायेगा। अतः सकलधूम के अन्तर्गत पर्वतीयधूम भी है, उसमें व्याप्तिग्रह हो जाने से पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो जायेगी। सिद्धान्ती इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को न मानने पर भी पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो जायेगी। इसलिए पर्वत में वह्नि की अनुमिति नहीं होगी, इस बात का भय दिखाकर पूर्वपक्षी सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को सिद्ध नहीं कर सकता है। सामान्यालक्षणासन्निकर्ष के विना पर्वत में वह्नि की सिद्धि कैसे होगी? उसको स्पष्ट कर रहें हैं कि यद्यपि व्याप्ति का मूल आकार 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' ऐसा ही है, तथापि व्याप्तिग्रहणकाल में 'यत्र यत्र तद्व्यक्तित्वेन धूमः तत्र तत्र तद्व्यक्तित्वेन वह्निः' इस प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण न होकर 'यत्र यत्र धूमत्वेन धूमः तत्र तत्र वह्नित्वेन वह्निः' इस प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण होता है। जब पर्वत में धूम और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है तब धूमत्वप्रकारेण जो धूम में व्याप्ति गृहीत थी, उस व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, क्योंकि व्याप्तिग्रहण के समय महानसीयधूम में जो धूमत्वप्रकार था, वही धूमत्वप्रकार पर्वतीयधूम मे भी रहता है। अतः पर्वतीयधूम में भी व्याप्ति के सम्बन्ध का ग्रहण हो जाता है। इसका कारण यह है कि विशेष्य के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष, विशेषण का ज्ञान और असंसर्गाग्रहरूपविशिष्टज्ञानसामग्री पूर्णरूप से विद्यमान है। इन तीनों सामग्रीयों से विशिष्टज्ञान कहाँ पर देखा जाता है? उसके लिए दृष्टान्त दिया—'सुरभि चन्दनम्'। इन तीनों सामग्रीयों से दृष्टान्त और द्रर्ष्टान्त में कैसे विशिष्टज्ञान होता है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे दृष्टान्त में 'सुरभि चन्दनम्', अर्थात् 'सुरभिगन्धविशिष्टं इदं चन्दनम्'। इसमें विशेष्य चन्दन है और गन्ध विशेषण है। चन्दन के साथ चक्षु इन्द्रिय सन्निकर्ष है, अतः प्रथमसामग्री की पूर्ती हो गयी। चन्दन को देखकर गन्ध (विशेषण) का स्मरण होता है। अर्थात् विशेष्यग्राहक इन्द्रिय संयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतस्मृविषयत्व रूप अलौकिक ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से या श्वेतचन्दनत्वरूपलिङ्ग से गन्ध रूप विशेषण का ज्ञान हो जाता है। जैसे विशेष्य ग्राहक इन्द्रिय हुई—चन्दनग्राहक चक्षुरिन्द्रिय, उससे संयुक्त मन, मन से संयुक्त आत्मा और उस आत्मा समवाय सम्बन्ध से स्थित गन्धविषयकस्मृतिज्ञान, उसका विषय = गन्ध। अतः उक्त विषयत्व गन्ध में गया। इसप्रकार से गन्ध रूप विशेषण का ज्ञान हो जाता है। अतः द्वितीयसामग्री स्मरणात्मकविशेषण का ज्ञान भी हो गया। स्मृतगन्ध के साथ में प्रत्यक्षीभूतचन्दन का संसर्ग नहीं है ऐसा ज्ञान न होने से तृतीयसामग्री (असंसर्गाग्रह) की भी

व्याप्तिस्मृतिविषयो भवति, धूमत्वेन पर्वतीयधूमज्ञानं चापि जातम्, तच्च सामान्यलक्षणां विनैव; तावतैवानुमितिसिद्धेः।।११।।

न च सामान्यप्रत्यासत्तिं विना धूमो वह्निव्यभिचारी न वेत्यनुभूयमानसंशयो न स्यात्,

---

कैलासविद्याप्रकाशिका

के बिना ही होता है। ऐसा होने से ही अनुमिति की सिद्धि हो जायेगी।।११।।

शङ्का— सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को स्वीकार न करने पर ''धूम वह्नि का व्यभिचारी है? अथवा नहीं?'', इस प्रकार से अनुभूयमान संशय की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में ही वह्नि के सम्बन्ध का ज्ञान है और अप्रसिद्ध धूम का अज्ञान है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्ती हो जाने से 'सुरभि चन्दनम्' ('सुरभि गन्धविशिष्टं इदं चन्दनम्') इस प्रकार से विशिष्टज्ञान हो जाता है। द्राष्टान्त में 'व्याप्तिविशिष्टोऽयं (पर्वतीय) धूमः' इस प्रकार के विशिष्टज्ञानस्थल पर पर्वतीयधूम विशेष्य है, व्याप्ति विशेषण है। उस पर्वतीयधूम के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष रहने से प्रथमसामग्री (विशेष्येन्द्रियसन्निकर्ष) की पूर्ति हो जायेगी। धूम के प्रत्यक्ष से व्याप्ति (विशेषण) का स्मरण हो जाने से द्वितीयसामग्री (विशेषणज्ञान) की पूर्ति हो गयी। जैसे विशेष्य ग्राहक इन्द्रिय हुई— धूमग्राहक चक्षुरिन्द्रिय। उससे संयुक्त मन, मन से संयुक्त आत्मा और उस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से स्थित व्याप्ति विषयक स्मृति ज्ञान, उसका विषय = व्याप्ति। अतः उक्त विषयत्व व्याप्ति में चला गया। इस प्रकार से व्याप्ति रूप विशेषण का ज्ञान हो जाने से द्वितीय सामग्री की पूर्ति हो जाती है। स्मृत व्याप्ति के साथ पर्वतीयधूम का सम्बन्ध नही है, ऐसा ज्ञान न रहने से तृतीयसामग्री (असंसर्गाग्रह) की भी पूर्ती हो जाने से 'व्याप्तिविशिष्टोऽयं धूमः' इस प्रकार विशिष्टज्ञान हो जायेगा। इस प्रकार से परामर्शज्ञान हो जाने से पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो जायेगी। उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्ष—धर्मताज्ञानरूपपरामर्श को अनुमिति का कारण मानकर समाधान दिया गया। अब कह रहे हैं कि परामर्श को अनुमिति का कारण न मानने पर भी अनुमिति हो जायेगी। पक्षधर्मताज्ञान को हेतु मानेंगे व्याप्तिस्मृति को व्यापार मानेंगे और उससे अनुमिति हो जायेगी। व्याप्ति के अनुभव से जन्य संस्कारों के उद्बोधन के लिए पक्षधर्मतावच्छेदक और व्याप्यतावच्छेदक एक होना चाहिए। एक होने से एक स्थलपर धूमत्व को देखते ही व्याप्ति के संस्कार जागृत होकर व्याप्ति की स्मृति हो जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि व्याप्ति की स्मृति में जो प्रकार (धूमत्व) है, वही पक्षधर्मता का भी प्रकार (धूमत्व) है। ऐसे धूमत्वप्रकारवाले पक्षधर्मताज्ञान को ही अनुमिति के प्रति कारण मानेंगे। व्याप्यतावच्छेदक और पक्षधर्मतावच्छेदक एक होने से यह लाभ हुआ कि महानस में धूमत्वेन धूम में व्याप्ति का ग्रहण हुआ है, उसी धूमत्वेन धूम का ज्ञान पक्ष में (पर्वत में) हो रहा है। दोनों में प्रकार, एक ही धूमत्व होने से पर्वतीयधूम को देखकर धूमत्वेन धूमनिष्ठव्याप्ति का स्मरण हो जायेगा। उसके पश्चात् अनुमिति हो जायेगी। अतः धूमत्वेन धूमनिष्ठव्याप्तिस्मरण के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है। उसके माने बिना ही अनुमिति होगी।।११।।

इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को नहीं मानेंगे तो 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा' ऐसा अनुभव का विषयीभूत संशय नहीं हो सकेगा। क्योंकि महानसीय—धूम में महानसीयवह्नि की व्याप्ति का ग्रहण हो रहा है, किन्तु अतीत—भावी धूम का ज्ञान नहीं होगा। यदि अतीत—भावी धूम का ज्ञान होता, तब संदेह होता है कि धूम वह्नि का व्यभिचारी है की नहीं। सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने पर उससे अतीत—अनागत—वर्तमान सभी धूमों का ज्ञान होगा और सकल धूम का ज्ञान होने पर यह संशय अवश्य होगा कि महानसीयधूम से भिन्न धूम वह्नि के व्यभिचारी हैं या नहीं।

प्रसिद्धधूमे वह्निसम्बन्धावगमादप्रसिद्धस्य चाज्ञानादिति वाच्यम्; प्रसिद्धधूम एव तत्तद्धूमत्वादिना व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमत्वेन तत्संशयोपपत्तेः। तथा चोक्तं मणिकृता—'घटत्वेनेतरभेदनिश्चयेऽपि पृथिवीत्वादिना तत्र संशयसिषाधयिषे भवत एव' इति। निश्चितेऽप्यर्थे प्रामाण्यसंशयाहितसंशय—वद्धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वेति संशयादपि तादृशसंशयोपपत्तेश्च। एतेन वायू रूपवान्न

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान — ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में ही महानसीय धूमत्व, पर्वतीय धूमत्वादि रूप से व्याप्ति का निश्चय होने पर भी महानसीयत्वपर्वतीयत्वादि धर्मो से विनिर्मुक्त शुद्ध धूमत्वावच्छिन्न धूमधर्मिक व्यभिचार के संशय (धूमो वह्नि व्यभिचारी न वा?) की उपपत्ति हो जायेगी। जैसा कि मणिकार ने कहा है कि—घटत्वेन घट में इतर भेद निश्चय होने पर भी पृथिवीत्वादि सामान्य धर्म से घटेतरभेद में संशय और सिषाधयिषा हो जाती है। इसलिए निश्चित अर्थ में भी जिस प्रकार प्रामाण्य के संशय से उत्थापित संशय होता है ठीक उसी प्रकार धूमत्व वह्निव्यभिचारी पदार्थ में स्थित है या नहीं? इस प्रकार के धूमत्वधर्मिक संशय से भी ''धूम वह्नि का व्यभिचारी है या नहीं?'' ऐसा धूमधर्मिक संशय हो ही सकता है। अतः ऐसे संशय के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसार के सभी धूमों का प्रत्यक्ष करना सम्भव नहीं है। महानसीय, चत्वरीय, गोष्ठीय आदि कुछ धूमों का ही लोग प्रत्यक्ष करते है। इस प्रकार प्रत्यक्ष करने से उन धूमों में जो व्याप्ति का निश्चय होता है, वह धूमत्वेन नहीं होता है, किन्तु महानसीयत्व, गोष्ठीयत्व आदि प्रकार से धूम में व्याप्ति का निश्चय होता है। अर्थात् जितने धूमों का प्रत्यक्ष होता है, उसी में व्याप्ति का निश्चय होता है। जिन धूमों को प्रत्यक्ष नहीं किया है, उन सकल धूमों में धूमत्वेन व्याप्ति का निश्चय न होने से 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा' यह संशय हो जायेगा। जैसे कि चिन्तामणिकार ने कहा है कि जितने पृथ्वी पदार्थ है उनमें से घट, पट इत्यादि कुछ पदार्थों में जलादि का भेद निश्चय होने से न तो जलादिभेद का घटादि में संशय होता है और न तो घटादि में जलादिभेद को सिद्ध करने की इच्छा होती है, अर्थात् घटत्व, पटत्व आदि पृथ्वीत्व के व्याप्यधर्म से अवच्छिन्न घटादिरूप पृथ्वी में जलादि भेद का निश्चय रहने पर भी घटत्वादि के व्यापक पृथ्वीत्वधर्म से अवच्छिन्न पृथ्वी मे जलादि के भेद का निश्चय न होने से संशय हो जाता है और उसको सिद्ध करने की इच्छा भी होती है। इसी प्रकार से प्रकृत में धूमत्व के व्याप्य तत्तद्धूमत्व में (महानसीय धूमत्व, गोष्ठीय धूमत्वादि प्रकार से अवच्छिन्न धूम में) व्याप्ति का निश्चय होने पर भी तत्तद्धूमत्व (महानसीयधूमत्व, गोष्ठीयधूमत्व) के व्यापक धूमत्व में व्याप्ति का निश्चय न होने से संशय हो जायेगा। अर्थात् महानसीयत्वेन धूम में व्याप्ति का निश्चय होने पर भी धूमत्वेन धूम में व्याप्ति का संशय हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि घट का निश्चय होने पर भी घटज्ञान के प्रमा के विषय में संशय होने पर उसके माध्यम से घटज्ञान के विषय घट में भी 'घटो न वा' इत्याकारकसंशय हो जाता है, अर्थात् दृष्टान्त में तीन कोटि है। प्रथम—घट का निश्चय रहने पर भी। द्वितीय—घटज्ञान के प्रमात्व में संशय हो सकता है। तृतीय—उस संशय के माध्यम से 'घटो न वा' ऐसा संशय भी हो सकता है। प्रकृत में प्रथम कोटि—प्रसिद्धधूम वह्निव्यभिचारी नहीं है, अर्थात् जितने धूम देखे गये है वह सब धूम वह्नि के व्यभिचारी नहीं है, ऐसा निश्चय रहने पर भी, द्वितीय कोटि—'धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वा' ऐसा संशय हो ही सकता है। 'धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वा' का तात्पर्य यह है कि जो धूम हमने प्रत्यक्ष नहीं किया है वे धूम वह्नि के व्यभिचारी है अथवा नहीं है? अर्थात् उसमें धूमत्व की वृत्ति है अथवा नहीं? ऐसा संशय होगा ही। इसी के आधार पर तीसरी कोटि होगी— 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा' ऐसा संशय

वेति संशयोऽपि व्याख्यातः ।।१२।।

ननु सिद्धे नेच्छा, किन्त्वसिद्धे; सा च स्वसमानविषयकज्ञानजन्या, तच्च ज्ञानं न सामान्यप्रत्यासत्तिं विना। न च सिद्धगोचरसुखत्वप्रकारकज्ञानादेवाज्ञाते सुखे भवतीच्छा, समानप्रकारकत्वमात्रस्य नियामकत्वादिति वाच्यम्, रजतत्वेन प्रकारेण रजतेऽनुभूयमाने घटादौ

कैलासविद्याप्रकाशिका

आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ''वायू रूपवान् न वा?'' इस संशय की उपपत्ति के लिए भी सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है।।१२।।

शङ्का— प्राप्त वस्तु में प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है किन्तु अप्राप्तवस्तु में प्राप्ति की ही इच्छा होती है और वह प्राप्ति की इच्छा तो स्व (इच्छा) समानविषयक ज्ञान से जन्य है। वह इच्छा जनक ज्ञान सामान्यप्रत्यासत्ति के बिना हो नहीं सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते है कि प्राप्तसुखविषयक सुखत्वप्रकारकज्ञान से ही अज्ञात सुख में इच्छा होती है, क्योंकि इच्छा के प्रति ज्ञान के जनकत्व में सुखत्वादि समान प्रकारकत्व मात्र नियामक है—ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि समानप्रकारकत्व मात्र में नियामकत्व स्वीकार करने पर रजतत्व प्रकार से रजतत्वावच्छिन्न रजत अनुभूयमान होने पर रजतत्वप्रकारक इच्छा घटादि में भी होने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। यत्प्रकारकज्ञान

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो ही जायेगा। इसी प्रकार वायु में रूपाभाव का निश्चय होने पर भी, अर्थात् पृथ्वी—जल—तेज में जो रूप देखें हैं उसका अभाव वायु में है, ऐसा निश्चय होने पर भी 'रूपत्वं पार्थिवादिरूपभिन्नवृत्ति न वा' इस प्रकार से सन्देह होता है। अतः इस सन्देह के माध्यम से 'वायु रूपवान् न वा' यह सन्देह हो ही सकता है।। १२।।

प्रकारान्तर से सामान्यलक्षणासन्निकर्ष का प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है। पर्वत में सिद्ध वह्नि को सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती है। किन्तु जो वह्नि पर्वत में सिद्ध नहीं है, उसी को सिद्ध करने की इच्छा होती है। इच्छा के विषय में यह नियम है कि इच्छा अपने समानविषयकानुभव से जन्य होती है। अतः असिद्धवह्नि को सिद्ध करने की इच्छा से पूर्व असिद्धवह्नि का अनुभव होना आवश्यक है। किन्तु पर्वत में जो वह्नि सिद्ध है नहीं, उसका ज्ञान सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के बिना नहीं हो सकता है। अतः सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को अवश्य मानना चाहिए। इस प्रकार असिद्धवह्नि का सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से पहले ज्ञान होगा। इसके पश्चात् उस असिद्धवह्नि को सिद्ध करने की इच्छा होती है। तदनन्तर पर्वत में वह्नि की सिद्धि होगी। इस को सुख के दृष्टान्त से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि हर कोई व्यक्ति सुख चाहता है, किन्तु जो सुख पहले से ही प्राप्त हो चुका है उसको नहीं, किन्तु जो सुख नहीं प्राप्त हुआ है, उसको चाहता है। अर्थात् सिद्धसुख की इच्छा नहीं करता है, किन्तु असिद्धसुख की इच्छा करता है। असिद्धसुखविषयक—इच्छा असिद्धसुखविषयकज्ञान से ही होगी। असिद्धसुखविषयकज्ञान सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के बिना नहीं होगा। इसलिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानना पडेगा। सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के मानने से असिद्धसुख का ज्ञान होगा, उसके पश्चात् तद्विषयिणी इच्छा होगी। अन्यथा जगत् में असिद्धसुख की इच्छा ही नहीं होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि 'यद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयिणी इच्छा'। यदि सिद्धान्ती कहते है कि पूर्वपक्षी का 'यद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयिणी इच्छा' यह नियम ठीक नहीं है, अपितु ' यत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकारिका इच्छा भवति' यह नियम है। अतः असिद्धसुख की इच्छा के लिए सुखत्वप्रकारकज्ञानमात्र की अपेक्षा होती है। वह सुखत्वज्ञान किसी प्रसिद्धसुख के अनुभव के समय हो ही जाता है। अतः अप्रसिद्धसुख जो अभी सिद्ध

रजतत्वप्रकारकेच्छाप्रसङ्गात्। न च प्रकाराश्रयत्वमपि नियामकम्; रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छानुदयप्रसङ्गात्। तथा च समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकत्वं तन्त्रम्। अत एवाख्यातिपक्षे रजतस्मरणस्यैव शुक्तौ प्रवर्तकत्वमित्यपास्तमिति चेत्।। १३।।

न, यतो रजतभ्रमाच्छुक्ताविच्छा नास्त्येव, किन्त्वनिर्वचनीये रजत इत्यनिर्वचनीयख्यातौ वक्ष्यते। प्रकाराश्रयत्वं नियामकं वदन्नख्यातिवादी परमेवं विभीषणीयः। तथा च प्रकाराश्रयत्वस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

इच्छा का जनक होता है तत्प्रकाराश्रय में ही इच्छा होती है—यही इच्छा में नियामक है। ऐसा नियामक स्वीकार करने पर उक्त दोष नहीं आयेगा किन्तु शुक्ति में जब रजतभ्रम होता है, उस समय रजतत्व का आश्रय शुक्ति के न होने से उसको लेने के लिए इच्छा और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है। इसलिए उक्त नियामक ठीक नहीं है। इसलिए इच्छासमानप्रकारकत्व और इच्छासमानविशेष्यत्व ही इच्छानिष्ठजन्यतानिरूपित ज्ञाननिष्ठ जनकता में नियामक है। अत एव = ज्ञाननिष्ठसमानप्रकारकत्व समानविशेष्यकत्व को ही इच्छा के प्रति नियामकत्वरूप से स्वीकार करने से ही, अख्यातिवादी के मत में रजतविषयक स्मरण को ही शुक्ति में प्रवृत्ति का प्रवर्तक मानना खण्डित हो गया, क्योंकि समानविषयकत्व के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।।१३।।

समाधान— नहीं, क्योंकि रजतभ्रम स्थल पर शुक्तिविषयिका इच्छा नहीं होती है अपितु अनिर्वचनीय रजतविषयिका इच्छा होती है। यह अनिर्वचनीयख्याति के निरूपण के अवसर पर स्पष्ट किया जायेगा। (इसलिए ''समान प्रकारकत्वे सति समानाश्रयकत्वम्'' को नियामक माना जा सकता

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है, उसकी इच्छा के लिए उसके पहले उस सुख के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अतः अप्रसिद्धसुख के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानना व्यर्थ है। पूर्वपक्षी इसका खण्डन करते हुए कह रहा है कि 'यत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकारिका इच्छा भवति' इस नियम को मानने पर यह दोष होगा कि किसी व्यक्ति को रजतत्वेन रजत का ज्ञान हुआ, उसके पश्चात् उस व्यक्ति को रजतत्वप्रकारकघट (रजतत्वविशिष्टघट) की इच्छा होनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान और इच्छा में समानविषयता के नियम को सिद्धान्ती ने स्वीकार नहीं किया है। अपितु ज्ञान और इच्छा में केवल समानप्रकारत्व को ही स्वीकार किया है। अतः रजतत्वप्रकारकज्ञान से रजतत्वविशिष्टघट की इच्छा होनी चाहिए। यहाँ पर ज्ञान और इच्छा में रजतत्वप्रकार समान है। यदि सिद्धान्ती प्रकार के साथ—साथ आश्रय का भी प्रवेश करे, अर्थात् 'यत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकाराकाश्रये इच्छा भवति'। प्रकृत में रजतत्वप्रकारकज्ञान से रजतत्वप्रकारकाश्रय जो रजत, उस रजत में इच्छा हो सकती है, रजतत्वप्रकार का आश्रय घट नहीं है, अतः रजतत्वप्रकारकज्ञान से रजतत्वप्रकारकघट में इच्छा होने का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यत्प्रकारकज्ञान से तत्प्रकारकतदाश्रयवस्तुविषयिणी इच्छा मानने पर रजतभ्रम से शुक्ति की इच्छा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्रकारीभूतरजतत्व का आश्रय शुक्ति नहीं है। जब कि रजतभ्रम से सभी को शुक्ति में इच्छा होती हुयी देखी जाती है, क्योंकि शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर शुक्ति के प्रति प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः सिद्धान्ती को भी यह मानना पडेगा कि इच्छा समानप्रकारकसमानविषयकज्ञानजन्या यही नियम ठीक है। इदन्त्वप्रकारक इदंविषयकभ्रमज्ञान में 'इदम्' (पुरोवर्तिवस्तु शुक्ति) की इच्छा हो जायेगी। अतः अन्यप्रकारकज्ञान से अन्यप्रकारक—इच्छा अथवा अन्यविषयकज्ञान से अन्यविषयिणी इच्छा होने का प्रसङ्ग नहीं आता है, ऐसा नियम होने के कारण अख्यातिवादी का यह कथन है कि रजत के स्मरण से शुक्ति को ग्रहण करने की इच्छा, अर्थात्

नियामकत्वादन्यथाख्यातिपक्षोऽपि निरस्त एव। न च तर्हि भ्रमत्वं न स्यात्, इदं रजतमिति भ्रमत्वाभिमतज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वानभ्युपगमादिति वाच्यम्; बाधितविषयत्वेन हि भ्रमत्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

है। ऐसा नियामक मानने पर सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है) प्रकाराश्रयत्व को इच्छा के प्रति नियामक कहता हुआ पूर्वपक्षी ने तो उन अख्यातिवादियों को पूर्वोक्त प्रकार से अतिशय भय दिखाने लायक है। इसी प्रकार प्रकाराश्रयत्व को इच्छा के प्रति तथा इच्छा द्वारा प्रवृत्ति के प्रति नियामकत्व के रूप से स्वीकार करने पर अन्यथाख्यातिवाद भी निरस्त हो गया, क्योंकि उपरोक्त नियामक शुक्ति में नहीं है।

शङ्का— यदि ''इदं रजतम्'' इत्याकारक भ्रमात्मक ज्ञान रजत में भी रजतत्व को ग्रहण करता है तब तो इस ज्ञान में भ्रमत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि ''इदं रजतम्'' इस प्रकार भ्रमत्वेन अभिमत ज्ञान के व्यधिकरणप्रकारकत्व को सिद्धान्ती स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसके लिए प्रवृत्ति होती है वह निरस्त हो जाता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध कर दिया गया कि अन्यविषयकज्ञान से अन्यविषय की इच्छा या प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए असिद्धसुखविषयिणी—इच्छा का जनक असिद्धसुखविषयकज्ञान को ही मानना पडेगा। असिद्धसुख का ज्ञान सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के बिना हो नहीं सकता है। अतः सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को अवश्य मानना चाहिए।। १३।।

इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का समर्थन किए जाने पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यत्प्रकारकज्ञान से तत्प्रकारकतदाश्रययिणी इच्छा होती है, इस नियम को मानने पर यत्किञ्चित्सुख में सुखत्व का ज्ञान होने पर सुखत्वप्रकारक और सुखत्व का आश्रयीभूत असिद्धसुख के विषय में इच्छा हो जायेगी। उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है। यत्प्रकारकज्ञान से तत्प्रकारकतदाश्रयवस्तुविषयिणी इच्छा के मानने पर पूर्वपक्षी ने जो यह दोष दिया था कि रजतभ्रम से शुक्ति की इच्छा नहीं होगी। यह कथन ठीक है, क्योंकि सिद्धान्ती तो यह मानते ही नहीं है कि रजतभ्रम से शुक्ति की इच्छा होती है और शुक्ति के लिए प्रवृत्ति होती है। सिद्धान्तपक्ष में तो रजतभ्रम से अनिर्वचनीयरजत की इच्छा और उसके लिए प्रवृत्ति मानी गयी है। इसका विचार अनिर्वचनीयख्याति के निरूपण के अवसर पर किया जायेगा। अतः 'यत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकारिका इच्छा भवति' इस नियम में प्रकाराश्रयत्व का प्रवेश कर के 'यत्प्रकारकं ज्ञानं तत्प्रकारकतदाश्रयवस्तुविषयिणी इच्छा भवति' ऐसा नियम मानने पर अनिर्वचनीयख्यातिवादी के ऊपर कोई भी दोष नहीं आयेगा। क्योंकि सिद्धान्त में रजतत्वप्रकारकभ्रमज्ञान से उसके आश्रयीभूत—अनिर्वचनीयरजत की ही इच्छा और प्रवृत्ति मानी जाती है। पूर्वपक्षी के द्वारा नियम में प्रकाराश्रयत्व के प्रवेश से अख्यातिवादी को डराया जा सकता है, क्योंकि वह रजत के स्मरण से शुक्ति की इच्छा और उसके लिए प्रवृत्ति मानता है। (वस्तुतः अख्यातिवाद में भी पूर्वपक्षी के द्वारा कल्पित उपरोक्त दोष नहीं है, क्योंकि अख्यातिवाद में सफल प्रवृत्ति में ही प्रकाराश्रयत्व को नियामक मानते है। विसंवादिप्रवृत्ति में नियामक दोष या दोषसमवधान के पश्चात् होने वाला विशेषणज्ञान है तथा प्रवृत्ति मात्र में असंसर्गाग्रह को हेतु मानते है। अतः अख्यातिवादी को भी भय दिखाना पूर्वपक्षी का अज्ञान मात्र है।) इसी प्रकार उक्त नियम में प्रकाराश्रयत्व का प्रवेश करने से अन्यथाख्यातिवादी के पक्ष में भी दोष आयेगा, क्योंकि उपरोक्त नियामक शुक्ति में नहीं है किन्तु वह भी रजतत्वप्रकारकरज्ञान से रजतत्व के अनाश्रयीभूतशुक्ति की इच्छा और उसके लिए प्रवृत्ति मानता है। यदि अन्यथाख्यातिवादी कहता है कि प्रकाराश्रयत्व को घटाने के लिए देशान्तरस्थ रजत को लेंगे, तब तो पूरोवर्ति में रजत का भान और रजतार्थी

न तु व्यधिकरणप्रकारत्वेन, तस्यापि विषयबाधप्रयोज्यत्वादिति हि वक्ष्यते।। १४।।

नन्वभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानजन्यत्वात् प्रौढप्रकाशयावत्तेजोविरहरूपस्य तमसः प्रत्यक्षता

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— नहीं, क्योंकि बाधितविषयत्वेन ही शुक्तिरूप्यज्ञान का भ्रमत्व है, न कि व्यधिकरणप्रकारत्वेन। वह व्यधिकरणप्रकारत्व भी विषयबाध से ही ज्ञाप्य है—इस बात को आगे अनिर्वचनीयख्याति के निरूपण के अवसर पर कहेंगे।।१४।।

शङ्का— अभावज्ञान प्रतियोगिज्ञान से जन्य होने से, प्रोढ़प्रकाशरूप जो यावत्तेज है। उनका अभावरूप जो तम है, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, क्योंकि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के बिना यावत्तेजरूपप्रतियोगी की उपस्थिति नहीं हो सकती है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की प्रवृत्ति दोनों ही असम्भव हो जायेंगे। अन्यथाख्यातिवादी शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती के द्वारा रजतत्वप्रकार का आश्रय अनिर्वचनीयरजत को मानने पर भ्रम की सिद्धि नहीं हो पायेगी। क्योंकि रजतत्वाभाववाले शुक्ति में रजतत्वप्रकारकज्ञान को ही भ्रम कहा जाता है, न कि रजतत्ववाले अनिर्वचनीयरजत में रजतत्वप्रकारकज्ञान को भ्रम कहा जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानस्थल पर सिद्धान्ती के द्वारा व्यधिकरणप्रकारत्व नहीं माना गया। अर्थात् शुक्ति मे रजतत्वप्रकार का भान मानते तो भ्रमज्ञान माना जाता, किन्तु सिद्धान्ती ने अनिर्वचनीयरजत में रजतत्वप्रकार का भान माना है। अतः भ्रम की सिद्धि नहीं होगी। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान में रजतत्ववाले रजत में रजतत्वप्रकारकज्ञान मानने पर उस ज्ञान को प्रमाज्ञान मानने की आपत्ति होगी, क्योंकि तद्वति तत्प्रकारकज्ञान को प्रमाज्ञान कहते है। इसका निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि किसी ज्ञान को भ्रमज्ञान तभी कहा जाता है, जब उसका विषय बाधित होता है। अर्थात् जिस ज्ञान का विषय प्रमाणान्तर से बाधित होता है, तद्विषयकज्ञान को भ्रमज्ञान कहा जाता है। व्यधिकरणप्रकारकत्व के द्वारा भ्रमज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है। क्योंकि व्यधिकरण– प्रकारकत्व की सिद्धि विषय के बाध के द्वारा होती है। क्योंकि विषय के अबाधित होने पर ज्ञान में व्यधिकरणप्रकारत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्ती का अनुमान यह होगा—'रजतज्ञानं भ्रमो बाधितविषयत्वात्'। पूर्वपक्षी का अनुमान होगा— 'रजतज्ञानं भ्रमो व्यधिकरणप्रकारत्वात्'। यहाँ पर पूर्वपक्षी का अनुमान में पक्षधर्मता की सिद्धि तब होगी जब रजतज्ञान का विषय बाधित सिद्ध हो। अतः पूर्वपक्षी को अपने अनुमान में पक्षधर्मता की सिद्धि के लिए एक और अनुमान करना पडेगा—'रजतज्ञानं व्यधिकरणप्रकारकं बाधितविषयत्वात्'। इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत में बाधितविषयत्व से व्यधिकरणप्रकारत्व और व्यधिकरणप्रकारत्व से भ्रमत्व की सिद्धि परम्परा से होगी और सिद्धान्ती के मत में बाधितविषयत्व के द्वारा साक्षात् भ्रमत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः भ्रमत्व की सिद्धि का प्रयोजक बाधितविषयत्व को ही मानना उचित है। मूल मे व्यधिकरणप्रकारकत्व का अर्थ है—'स्वनिरूपितविशेष्यतावद्वृत्तिभिन्न– वृत्तिप्रकारताकत्वम्'। स्व से रजतादि लेना है। उससे निरूपितविशेष्यता शुक्ति में है। उसमें इदन्त्व वर्तमान है, उससे भिन्न रजतादि है और मूल में आये विषयबाधप्रयोज्यत्व का अर्थ है विषयबाधाधीनसिद्धिकत्व ।। १४।।

पूर्वपक्षी पुनः प्रकारान्तर से सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को सिद्ध करने के लिए शङ्का कर रहा है— अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण होता है। अर्थात् प्रतियोगी का ज्ञान होने के बाद ही अभाव का ज्ञान होता है। अतः प्रौढप्रकाशाश्रितसम्पूर्णतेज का अभावरूप जो अन्धकार है, उसका प्रत्यक्ष तभी होगा,

न स्यात्, सामान्यप्रत्यासत्तिं विना प्रतियोग्यनुपस्थितेरिति चेन्न; अस्मन्मते तमसो भावान्तरत्वात्। न च तथापि तद्व्यञ्जकत्वात्तदपेक्षेति वाच्यम्, स्वरूपसत एव तादृक्तेजोविरहस्य तमोव्यञ्जकत्वम्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— नहीं, क्योंकि हमारे मत में अर्थात् पूर्वमीमांसकों और उत्तरमीमांसकों के मत में तम को भाव पदार्थों के अन्तर्गत माना जाता है। तथापि = तम के भावान्तर होने पर भी तद्व्यञ्जकत्वात् = तम के व्यञ्जक होने से, तदपेक्षा = तेजोऽभावज्ञान की अपेक्षा होगी—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में यह स्वीकार किया जाता है कि स्वरूप से विद्यमान प्रोढप्रकाशयुक्त यावत्तेजों का अभाव ही तम का व्यञ्जक है, न कि तादृक्तेजोऽभाव का ज्ञान, क्योंकि तादृकतेजोऽभाव

सत्यानन्दप्रबोधिका

जब प्रतियोगीभूतप्रौढप्रकाशवाला सकलतेज का ज्ञान हो। सम्पूर्णतेज का ज्ञान तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के बिना हो नहीं सकता है। अत: सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को अवश्य मानना चाहिए। पूर्वपक्ष की इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि 'अस्मन्मते', अर्थात् पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक के मत में तम को एक स्वतन्त्र भावरूपपदार्थ माना जाता है। तम को तीव्रप्रकाशवाले तेज का अभावरूप नहीं माना जाता है। अत: प्रतियोगीभूतप्रौढप्रकाशवाला सकलतेज के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि तम को भावपदार्थ मानने पर भी प्रौढ—आलोक के रहने पर तम का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अत: प्रौढ—आलोकवाले सकलतेज के अभाव को तम का व्यञ्जक मानना पडेगा। अत: प्रौढ—आलोकवाले सकलतेजाभावरूपव्यञ्जक के ज्ञान के लिए प्रतियोगीभूतप्रौढालोकवाले सकलतेज का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए प्रौढालोकवाले सकल तेज के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानना पडेगा। पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तम की अभिव्यक्ति के लिए तीव्रप्रकाशवाले तेजाभाव के स्वरूप से विद्यमान रहने की अपेक्षा है, न कि उसके ज्ञान की, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अत: अज्ञातरूप से स्वरूपत: विद्यमान प्रौढप्रकाशवाला तेजाभाव ही तम को अभिव्यक्त कर देता है। प्रश्न होता है कि पूर्वमीमांसक और उत्तरमीमांसक भले ही तम को भावपदार्थ मानते हो, किन्तु नैयायिकादि तम को प्रौढप्रकाशवाले सकलतेज का अभावरूप ही मानते है। अत: उनके मत में प्रतियोगीभूतप्रौढप्रकाशवाले सकलतेज के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि नैयायिकादि के मत में प्रतियोगीभूतप्रौढप्रकाशवाले सकलतेज का ज्ञान अभावरूपतम के ज्ञान के लिए अपेक्षित होने पर भी सकलतेज का ज्ञान प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान से ही हो जायेगा। अर्थात् प्रौढप्रकाशवाले सकलतेज के अभाव का प्रतियोगी उक्त सकल तेज, प्रतियोगितावच्छेदक प्रौढप्रकाशत्व; प्रौढप्रकाशत्वप्रकारकज्ञान किसी एक तेज को देखकर हो जायेगा। इस प्रकार प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक किसी एक प्रतियोगी (तेज) के ज्ञानमात्र से उक्त अभावरूप तम का ज्ञान हो जायेगा। अत: उक्त अभावरूपतम के ज्ञान के लिए प्रतियोगिभूतसकलतेज के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, अत: सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है, प्रौढप्रकाशवाले सकलतेजाभाव के ज्ञान को विशिष्टज्ञान माना नहीं जाता है। इसलिए उसके ज्ञान के लिए प्रतियोगीभूतविशेषणज्ञान की आवश्यकता नहीं हैं। क्योकि विशिष्टज्ञान में ही विशेषणज्ञान को कारण माना जाता है। अभावज्ञान को विशिष्टज्ञान नहीं माना जाता है, किन्तु अभावज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान माना जाता है। क्योंकि अभावज्ञान को विशिष्टज्ञान मानने पर विशेषणज्ञानमात्र से अभावज्ञान हो जाना चाहिए। जब कि सर्वत्र ऐसा होता नहीं है। जैसे सामने मदीयघट है। किन्तु मुझे मदीयत्वेन घटत्वेन उसका ज्ञान नहीं है, किन्तु यत्किञ्चित्पदार्थत्वेन उसका ज्ञान है। वहाँ भी 'मदीयघटो

न तु ज्ञातस्य मानाभावादित्यभ्युपगमात्। अन्येषां मते तादृक्तेजोविरहज्ञानस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव तत्सम्भवेन तदर्थं सकलप्रतियोगिज्ञानजनिकायाः सामान्यप्रत्यासत्तेरनुपयोगात्। न च गोत्वाभावज्ञानं गोत्वत्वप्रकारकज्ञानजन्यम्, तच्च गवेतरावृत्तित्वे

कैलासविद्याप्रकाशिका

के ज्ञान को व्यञ्जक रूप से स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त जो तेजोऽभाव है—वही तम है—ऐसा स्वीकार करने वाले वैशेषिकादि के मत में तमोव्यवहार के लिए तादृक् तेजोऽभावविषयकज्ञान के अपेक्षित होने पर भी प्रतियोगितावच्छेदक जो प्रोढप्रकाशत्व है, तत्प्रकारक ज्ञान से ही उक्त तेजाऽभावरूप तम का ज्ञान सम्भव हो जाने से, उस अभाव ज्ञान के लिए सकलप्रतियोगिज्ञानजनिका जो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति है, उसके उपयोग की कोई आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—गोत्वाभावज्ञान गोत्वत्वप्रकारकज्ञान से जन्य है और वह गोत्वत्व गवेतर में वृत्ति न होकर

सत्यानन्दप्रबोधिका

नास्ति' इस प्रकार अभावज्ञान हो जाना चाहिए, क्योंकि मदीयघटाभाव में विशेषण मदीयघट है और मदीयघटरूप विशेषण का यत्किञ्चित्पदार्थत्वेन ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से ही है। उस विशेषणज्ञान के बल पर 'मदीयो घटो नास्ति' इस प्रकार अभावज्ञान हो जाना चाहिए, जब कि वैसा अभाव का ज्ञान उक्त स्थल पर नहीं होता है। अभावज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान मानने से लाभ यह होगा कि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान के प्रति प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान ही कारण होता है और उक्त दृष्टान्तस्थल पर प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान नहीं है, क्योंकि 'मदीयघटो नास्ति' इस अभाव का प्रतियोगी मदीयघट, प्रतियोगितावच्छेदक मदीयत्वघटत्व (मदीयत्वविशिष्टघटत्व) और मदीयत्वघटत्वप्रकारकज्ञान उक्त स्थल पर नहीं है। उक्त स्थल पर तो यत्किञ्चित्पदार्थत्वेन मदीयघट का ज्ञान है। अतः प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान के न रहने से उक्त स्थल पर 'मदीयघटो नास्ति' इस प्रकार अभावज्ञान नहीं होगा। अतः अभावज्ञान को विशिष्टज्ञान न मानकर विशिष्टवैशिष्ट्यावागाहिज्ञान मानना उचित है। अतः प्रौढप्रकाशवाले सकलतेज के अभाव के ज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान माना जाता है। जिससे प्रतियोगितावच्छेदकरूपविशेषणता—वच्छेदकप्रकारकज्ञानमात्र अपेक्षित होता है। यहाँ पर प्रतियोगितावच्छेदक और विशेषणतावच्छेदक एकार्थक है। उक्त प्रकारकज्ञान किसी एक प्रतियोगी के ज्ञान से हो जाता है, उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सिद्धान्ती के द्वारा अभावज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान माना गया। उसके प्रति प्रतियोगितावच्छेदकरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान को कारण माना गया। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि अश्वादि में होने वाला गोत्वाभाव का ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान है। उसमें प्रतियोगितावच्छेदकरूप विशेषणतावच्छेदक गोत्वत्व है। इसलिए गोत्वत्वप्रकारकज्ञान से जन्य गोत्वाभाव का ज्ञान होगा। अर्थात् गोत्वत्व का ज्ञान जब तक नहीं होगा तब तक प्रतियोगी (गोत्व) का ज्ञान नहीं होगा और प्रतियोगी (गोत्व) का ज्ञान जब तक नहीं होगा तब तक गोत्वाभाव का ज्ञान नहीं होगा। किन्तु गोत्वत्व कोई जातीय या अखण्ड उपाधि नहीं है, किन्तु सखण्ड उपाधि है। अर्थात् अनेक वृत्ति धर्म होने से गोत्ववृत्ति होता हुआ सकल गो व्यक्तियों में रहता है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से गोत्व निखिल गो व्यक्तियों में है और उस गोत्व में गोत्वत्व समवेत है। अतः गोत्वत्व निखिल गो व्यक्तियों में भी रहता है। अतः गोत्वत्व के ज्ञान के लिए उसके आश्रयीभूत निखिल गो व्यक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् सकल गो का ज्ञान हो तब उसमें वृत्तित्व रूप गोत्वत्व की सिद्धि होगी। सकल गोव्यक्तियों का ज्ञान सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के विना हो नहीं सकता है। इसलिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानना चाहिए। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि गोत्वाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो गोत्वत्व है वह गोव्यक्तिरूप ही

सति सकलगोवृत्तित्वरूपं सामान्यप्रत्यासत्तिमन्तरेण न शक्यमवगन्तुमितिसाम्प्रतम्, यत्किञ्चिद्गोव्यक्तेरेव गोत्वत्वरूपत्वात्। एतेन प्रागभावप्रतीतिरपि व्याख्याता। किञ्चानागतज्ञानस्यापेक्षितत्वेऽनुमानादेव तद्भविष्यति, तथा च न्यायकुसुमाञ्जलौ– 'शङ्का चेदनुमास्त्येव

कैलासविद्याप्रकाशिका

सकल गोवृत्तित्वरूप है। इस प्रकार के गोत्वत्व का ज्ञान सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के बिना हो नहीं सकता।

समाधान– ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चित् गो व्यक्ति ही गोत्वत्वरूप है। (सिद्धान्ती के कथन का आशय यह है कि समवेतत्व सम्बन्ध से गो व्यक्ति को ही गोत्व का अवच्छेदक माना जाता है, क्योंकि जब यह प्रश्न होता है कि गोत्व किम् निष्ठ है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि गोव्यक्ति निष्ठ है। इसलिए गोत्व का व्यावर्तक गोव्यक्ति से पृथक कोई अन्य अनुभव में नहीं आता है। इसलिए गोत्वव्यावर्तकत्वेन अभिमत गोत्वत्व गोव्यक्तिस्वरूप ही है। इस गोव्यक्तिरूप अवच्छेदक के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं है।) इस कथन से प्रागभाव की प्रतीति व्याख्यात हुयी। दूसरी बात यह है कि यदि प्रागभाव की प्रतीति के लिए

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। प्रश्न होता है कि जो जिस से अभिन्न होता है वह उसके स्थान पर प्रयुक्त होता है और उसके समान ही कार्य करता है। अतः गोत्वत्व और गोव्यक्ति को अभिन्न मानने पर गोत्वत्व जहाँ रहता है वहाँ पर गोव्यक्ति को भी रहना चाहिए। गोत्वत्व का जो कार्य होता है वही कार्य गोव्यक्ति से भी होना चाहिए। उसका समाधान यह है कि गोत्वत्व को गोव्यक्तिरूप मानने पर, जैसे गोत्वत्व गोत्व में रहता है उसी प्रकार गोव्यक्ति भी स्वसमवेतत्वसम्बन्ध से गोत्व में रहता है और गोत्वत्व, गोत्व को इतरभिन्नत्वेन जिस प्रकार से बोध कराता है। उसी प्रकार गोव्यक्ति भी गोत्व को इतरभिन्नत्वेन बोध कराता है। अतः गोत्वत्व को गोव्यक्तिरूप मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इसलिए गोत्वाभाव के ज्ञान के लिए किसी एक गोव्यक्ति के ज्ञान की आवश्यकता है। वह लौकिकसन्निकर्ष से होने वाले चाक्षुषप्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि घटप्रागभाव के ज्ञान के लिए उसके प्रतियोगी अनागतघटज्ञान की अपेक्षा होती है, अनागतघट का ज्ञान सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के बिना हो नहीं सकता है। अतः सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानना चाहिए। पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया। क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान की आवश्यकता होती है। प्रकृत में घटप्रागभाव का प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व है। घटत्वप्रकारकज्ञान किसी भी एक घट के ज्ञान के समय हो सकता है, उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि प्रागभावज्ञान के लिए प्रागभाव के प्रतियोगी अनागतघट के ज्ञान की अपेक्षा मानी भी जाय तो भी अनागतघट का ज्ञान अनुमानप्रमाण से हो जायेगा। उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि आचार्य उदयन ने कहा है–

> शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
> व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः।। (न्यायकुसुमाञ्जलि)

शङ्का (चार्वाक की शङ्का) है कि यद्यपि वर्तमानकाल और पुरोवर्तिदेश में वह्नि के बिना धूम नहीं दिखायी देता है। फिर भी भविष्यत्काल और देशान्तर के सन्दर्भ में यह शङ्का होती है कि धूम वह्निजन्य है या नहीं? क्योंकि अनेक स्थलों पर सहचार देखने पर भी व्यभिचार हो जाया करता है। जैसे अनेक स्थलों पर पृथिवीत्व और लोहलेखत्व का सहचार होने पर भी हीरे में व्यभिचार है। अतः शङ्का रहने से

न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः'।। इत्यत्र शङ्कोपपादक–मनागतज्ञानमनुमानादेवेत्युक्तम्।। १५।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अनागतविषयकज्ञान की अपेक्षा मानी भी जाय तो भी उक्त ज्ञान अनुमान प्रमाण से हो जायेगा। (जैसे—वर्तमानघटप्रागभावः घटप्रतियोगिकः, घटप्रागभाववत्वात्, अतीतघटप्रागभाववत्।) जैसे कि आचार्य उदयन ने न्याय कुसुमाञ्जली में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले चार्वाकों के प्रति कहा है— यदि चार्वाकों को देशान्तर और कालान्तर में स्थित धूम में व्यभिचार की शङ्का है तब तो अनुमान प्रमाण की सिद्धि हो गयी और यदि शङ्का नहीं है तो सुतराम् अनुमान प्रमाण सिद्ध हो गया (यह प्रथम पंक्ति चार्वाकों के प्रति कही गयी है और द्वितीय पंक्ति शिष्यों के प्रति कही गयी है। उसका अर्थ यह है—) व्याप्यारोप से व्यापकारोप रूप तर्क, शङ्का की अवधि = शङ्का की सामग्री, का विनाशक माना जाता है। (तर्क भी व्याप्ति मूलक होता है—इसलिए अनवस्था होगी—इसके समाधान में कह रहे हैं—) यह अनवस्थारूपा आशङ्का व्याघातावधि होगी— इस कारिका में शङ्का के उपपादक अनागतविषयकज्ञान की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही आचार्य उदयन ने स्वीकार किया है।।१५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

('धूमो वह्निजन्यः पिशाचादिजन्यो वा?' ऐसी शङ्का के रहने से) 'धूमो वह्निव्याप्यः' ऐसा व्याप्तिग्रह हो नहीं सकता है और व्याप्तिग्रह के बिना अनुमानप्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इस शङ्का का उत्तर आचार्य उदयन ने उक्तश्लोक में दिया है कि 'शङ्का चेत्'—ऐसी शङ्का है तो अनुमाऽस्त्येव—अनुमानप्रमाण है। अर्थात् चार्वाक ने अनुमान प्रमाण को मान लिया। क्योंकि वर्तमानधूम और वह्नि में व्यभिचार की शङ्का तो है नहीं, किन्तु भाविधूम और वह्नि में शङ्का है। अतः भावी धूम का ज्ञान आप को प्रत्यक्षप्रमाण से होगा नहीं। इसलिए उस धूम का ज्ञान अनुमान से ही होगा। अतः आप ने अनुमानप्रमाण को मान लिया। अर्थात् यदि धूम को देखकर उक्त शङ्का हुयी है तो उसका तात्पर्य यह हो गया कि भावी धूम को आपने माना और उसमें शङ्का की। अतः भावी धूम का ज्ञान अनुमानप्रमाण से माना। इससे यह सिद्ध हो गया कि आपने अनुमाप्रमाण को स्वीकार कर ही लिया। यदि धूम में व्यभिचारशङ्का नहीं है, तब, तो, ततस्तराम्=सुतराम् अनुमान की सिद्धि होगी, क्योंकि महानसादि में व्याप्तिग्रह है ही। अतः व्यभिचारज्ञानाभावसहकृतव्याप्तिज्ञान होने से अनुमान होगा ही। (यहाँ तक जल्पवाद से पूर्वपक्षी (चार्वाक का) खण्डन करके आगे की पंक्ति से तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए कहते है) तर्कः शङ्कावधिर्मतः—शङ्कायाः अवधिः शङ्कावधिः तर्कः मतः—शङ्का की सामग्री का विघटक तर्क माना जाता है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि तर्क भी तो व्याप्तिमूलक होता है। जैसे 'यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्' अर्थात् वह्नि के अभाव से धूमाभाव की सिद्धि। अतः व्याप्ति से तर्क की सिद्धि और तर्क से व्याप्ति की सिद्धि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय और भिन्न–भिन्न मानने पर चक्रक, अनवस्थादिदोष आयेगा। इसके समाधान में आचार्य ने कहा कि व्याघातावधिराशङ्का—व्याघातेन आशङ्का निवारणीया। उक्त अनवस्थादि दोषों का व्याघात—उद्भावन के द्वारा वारण करना चाहिए कि यदि सर्वत्र शङ्का करोगे तो धूम को देखकर जो वह्नि के लिए तुम्हारा प्रवृत्ति होती है वह नहीं होगी। व्याघात का तात्पर्य है, स्ववचन, स्वक्रिया और स्वस्वभाव से विरोध। प्रकृत में धूम को देखकर प्रवृत्त होता है और कहता है कि अनुमान नहीं मानते है। यहाँ पर स्वक्रियारूपव्याघात है। इस प्रकार के व्याघात के द्वारा पूर्वपक्षी का निराकरण कर देना चाहिए। इस प्रकार आचार्य उदयन ने 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा'? इस शङ्का का उपपादन करने के लिए अनागतधूम का ज्ञान अनुमानप्रमाण से माना है न कि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से। यदि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिवादी पूर्वपक्षी आचार्य उदयन के इस मत (भाविपदार्थ का ज्ञान अनुमानप्रमाण से

अनुमानञ्च 'वर्तमानपाक: पाकपूर्वकालीन:, पाकत्वादतीतपाकवत्' इत्यादि। न च चरमपाके व्यभिचार:, साध्यसिद्ध्युपजीवकस्य व्यभिचारज्ञानस्यादोषत्वात्, अन्यथा सिद्ध्यसिद्धिव्याघातात्। किञ्च शब्दादपि सकलधूमपाकादिगोचरज्ञानसम्भव:। न च शङ्कादिपूर्वं शब्दस्योपस्थितिनियमाभाव

कैलासविद्याप्रकाशिका

अनागत अर्थ साधक अनुमान का आकार यह है—वर्तमानकालीनपाकपाकपूर्वकालीन है, क्योंकि उसमें पाकत्व है, जैसे अतीत पाक। अन्तिम पाक में व्यभिचारदोष है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साध्यसिद्धि का उपजीवक व्यभिचारज्ञान को दोष नहीं माना जाता है। अन्यथा = एतादृश व्यभिचारज्ञान में दोषत्व को स्वीकार करने पर, सिद्धि और असिद्धि में व्याघातापत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि शब्द से भी सकलधूमविषयक ज्ञान और भाविपाकविषयकज्ञान सम्भव है। शङ्कादि होने से पूर्व शब्द की उपस्थिति नियमपूर्वक नहीं होती है। इसलिए अर्थ की उपस्थिति भी नियमपूर्वक नहीं हो सकती है। ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि कदाचित् शब्द से अनुभूत अर्थ की, तदानीम्=

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है) को स्वीकार नहीं करता है, तब उस पर यह न्याय चरितार्थ होगा—

हन्यतां हन्यतां बालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता। स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद् य: कुलाङ्गारताङ्गत:।।१५।।

जिस अनुमान के द्वारा भाविपदार्थो का ज्ञान होता है। उस अनुमान का आकार कैसा है? उसका आकार आचार्यप्रवर स्वयं दिखा रहे हैं—'वर्तमानपाक: पाकपूर्वकालीन:, पाकत्वात्, अतीतपाकवत्'। दृष्टान्त अतीतपाक में हेतु पाकत्व है और साध्य पाकपूर्वकालीनत्व है, क्योंकि अतीतपाक वर्तमानपाक से पूर्वकाल मे रहता है। अत: अतीतपाक में वर्तमानपाक से पूर्वकालीनत्व है। पक्ष में पाकत्व हेतु के रहने से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानरूप परामर्श की सिद्धि हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो गयी। यदि कोई कहे कि चरमपाक में हेतु है, किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि चरमपाक के बाद कोई पाक न होने से चरमपाक में पाकपूर्वकालीनत्व नहीं है। अत: व्यभिचारदोष होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि यदि भाविपाक (चरमपाक) की सिद्धि पहले हो तो उसमें व्यभिचारदोष दिया जा सकता है। क्योंकि चरमपाक, अर्थात् प्रलयकाल के समय का पाक जिसके बाद पाक होता नहीं है। अत: उसमे पाकपूर्वकालीनत्व के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। लेकिन जब भाविपाक (चरमपाक) रूप साध्य की सिद्धि मान लिया तो फिर व्यभिचारदोष कह नहीं सकता है। अर्थात् साध्यसिद्धि का आश्रय कर के होने वाला व्यभिचारज्ञान को दोष नहीं माना जाता है। यदि साध्यसिद्धि के उपजीवक व्यभिचारज्ञान को भी दोष माना जाय तब तो पहले चरमपाक को स्वीकार कर के साध्यसिद्धि कहा, बाद में उसमें व्यभिचारदोष देकर साध्यासिद्धि कहा। अत: वदतो व्याघातदोष होगा। दूसरी बात यह है कि शब्दप्रमाण के द्वारा भी सकलधूम, सकलपाक आदि का ज्ञान होना सम्भव है। अर्थात् विद्यमान पद में शक्ति के ज्ञान से अविद्यमानव्यक्ति का शब्द से ज्ञान होता है। क्योंकि विद्यमानपद में यत्प्रकारकशक्तिग्रह होता है, तत्प्रकारक—अविद्यमानव्यक्तिविषयक भी शाब्दबोध होता है। इसलिए भाविपदार्थ के बोध के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यद्यपि भाविपदार्थों को लेकर जहाँ जहाँ व्यभिचार की शङ्का होती है वहाँ शब्दप्रमाण की उपस्थिति नियतरूप से रहती है, ऐसा नियम नहीं है, तथापि कदाचित्शब्द के द्वारा अनागतवस्तु की अनुभूति होती है। जिसकी अनुभूति होती है, उसका संस्कार अन्त:करण में अवश्य रहता है। उन्ही संस्कारों के द्वारा भाविवस्तु का स्मरण होता है। उक्त स्मरणीयभाविपदार्थों के विषय से व्यभिचार शङ्का हो ही सकती है। प्रश्न होता है कि शङ्का से पूर्व जब भाविपदार्थों की स्मृति आपने माना तब उसमें तत्ता—अंश को भी भासना चाहिए, अर्थात्

इति वाच्यम्; कदाचिदेव शब्दादनुभूतस्य तदानीं प्रमुष्टतत्ताकस्मृतिसम्भवात्।। १६।।

नन्वनुमितेर्विशेषणज्ञानजन्यत्वेन सामान्यप्रत्यासत्तिसिद्धिः, न चानुमानान्तराद्विशेषण–ज्ञानमनवस्थानादिति चेन्न; विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव साध्यविशेषणकपक्षविशेष्य–कानुमितिसम्भवात्। एतेन 'सुरभि चन्दनम्'इत्यादिविशिष्टज्ञानाय कल्पिता ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्कादि होने से पूर्व, प्रमुष्टतत्ताक= तत्कालतद्देशवृत्तित्व रूप तत्तांश से रहित, केवल धूमादि की स्मृति का होना सम्भव है।।१६।।

शङ्का— विशिष्टविषयकानुमितिज्ञान के साध्यरूप विशेषण ज्ञान से जन्य होने के कारण अनुमिति से पूर्व साध्यरूप विशेषण का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु साध्यरूप विशेषण का ज्ञान पक्ष में लौकिकसन्निकर्ष से हो नहीं सकता है। अतः पक्ष में साध्यरूपविशेषण के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को स्वीकार करना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि पक्ष में साध्यरूपविशेषण का ज्ञान दूसरे अनुमान से हो जायेगा तो ऐसा कथन ठीक नहीं है,क्योंकि वैसा मानने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी।

समाधान— नहीं, क्योंकि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान से ही साध्य विशेषणक पक्षविशेष्यक अनुमितिज्ञान हो जायेगा। ''सुरभि चन्दन है।'' इत्यादि विशिष्टज्ञान के लिए तार्किकों के द्वारा कल्पित

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्दप्रमाण से तद्धूम=तत्ताविशिष्टधूम= धूमत्वेन तद्देशकालविशिष्टधूम की स्मृति होनी चाहिए, न कि सकलधूम की स्मृति। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि तत्ता–अंश का संस्कार उद्बुद्ध न होने से तत्ता–अंश का लोप होकर केवल धूमत्वेन धूम की ही स्मृति होती है। इस प्रकार भाविपदार्थों का ज्ञान कही पर साक्षात्शब्दप्रमाण से होता है और कहीं पर शब्दप्रमाण से अनुभूतपदार्थों से जन्य संस्कार से उत्पन्न स्मृति के द्वारा होता है। अतः भाविपदार्थों के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है।। १६।।

पूर्वपक्षी के मत में 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक अनुमिति मानी जाती है और इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान माना जाता है। विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान कारण होता है। अतः असन्निहितवह्निरूपविशेषण के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानना चाहिए। अर्थात् साध्यतावच्छेद–कावच्छिन्नसाध्यप्रकारकपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नपक्षविशेष्यकविशिष्टज्ञानरूप अनुमिति से पूर्व में साध्यरूपविशेषणज्ञान चाहिए। उस साध्यरूपविशेषण का ज्ञान पर्वतादिरूप पक्ष में लौकिकसन्निकर्ष से तो हो नहीं सकता है। अतः उसके ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को अवश्य मानना चाहिए। यदि कहो कि विशेषण का ज्ञान दूसरे अनुमान से करेंगे तो, प्रश्न होता है कि दूसरे अनुमान से जो अनुमिति होगी उसके विशेषण का ज्ञान किससे करेंगे। यदि उसके लिए भी अनुमानान्तर मानने पर अनवस्थादोष आयेगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान से ही साध्यप्रकारकपक्षविशेष्यक अनुमिति हो जायेगी। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में विशेषण वह्नि है। विशेषणतावच्छेदक वह्नित्व है। वह्नित्वप्रकारकवह्नि का ज्ञान महानसादि में लौकिकसन्निकर्ष के माध्यम से ही हो जायेगा। उसके लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त प्रकार से जैसे सामान्यलक्षणासन्निकर्ष का निराकरण किया गया, उसी प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा 'सुरभि चन्दनम्' (सुरभिगन्धविशिष्टमिदं चन्दनम्) इस प्रकार से विशिष्टज्ञान के लिए कल्पित ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का भी खण्डन समझ लेना चाहिए। 'सुरभि चन्दनम्' इस स्थल पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सुगन्धवाला चन्दन है, इत्याकारक चाक्षुषज्ञान होता है।

निरस्ता; चन्दनत्वेन सुरभित्वानुमानोपपत्तेः, अन्यथा साध्यविशिष्टपक्षप्रत्यक्षोपपत्तेरनुमान–मात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। न चाभावसाध्यककेवलव्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्धेरनङ्गत्वात्तत्र क्लृप्ताया अनुमितिसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीतो बलवत्त्वमिति वाच्यम्, अर्थापत्तिवादिभिरस्माभिस्त–

कैलासविद्याप्रकाशिका

ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का भी खण्डन पूर्वोक्त निरूपण के आधार पर हो गया, क्योंकि चन्दनत्व हेतु से सुरभित्वानुमान हो जायेगा। अन्यथा = ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को स्वीकार करने पर, साध्यविशिष्टपक्ष का प्रत्यक्ष सम्भव होने से अनुमानमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

शङ्का— अभावसाध्यक केवलव्यतिरेकी अनुमान में साध्य की प्रसिद्धि अङ्ग (कारण) नहीं होती है। अतः व्यतिरेकी में क्लृप्त अनुमति की सामग्री प्रत्यक्ष की सामग्री से बलवती है। अतः अनुमान

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस ज्ञान में चन्दन विशेष्य है, सुगन्ध और चन्दनत्व ये दोनों विशेषणकोटि में प्रविष्ट है। चन्दन के साथ चक्षु का संयोगसम्बन्ध है। चन्दनत्व के साथ चक्षु का स्वसंयुक्तसमवायसम्बन्ध होता है और यही सम्बन्ध चन्दन में समवेत सुगन्ध के साथ भी है, किन्तु सुगन्ध में लौकिकप्रत्यासत्तिजन्यघ्राणजज्ञानीयविषयता मानी जाती है, लौकिकसन्निकर्षजन्यचाक्षुषज्ञानीयविषयता नहीं। अतः सुगन्ध लौकिकप्रत्यासत्तिजन्यचाक्षुषज्ञानीयविषयता के अयोग्य होने के कारण सुगन्ध–अंश में चक्षु का स्वसंयुक्तसमवेतसम्बन्ध अनुपपन्न है। किन्तु चक्षु से ही 'सुरभि चन्दनम्' यह ज्ञान नियम से होता है, अर्थात् पहले दिन चन्दन में घ्राण से सुरभि का ज्ञान होने पर दूसरे दिन दूर से चन्दन देखते ही 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवति' इस नियमानुसार सुगन्ध का स्मरण होता है। उस स्मृति ज्ञान को ही सन्निकर्ष बनाकर चक्षु से चन्दन में सुगन्ध का चाक्षुषप्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिए चक्षु का सुगन्ध के साथ ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष माना जाता है। क्योंकि असम्बद्धपदार्थ का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय से होता ही नहीं है। यहाँ पर चक्षु से 'सुरभि चन्दनम्' इत्याकारक विशिष्टज्ञान हो रहा है। अतः पूर्वपक्षी ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानता हैं। उसका स्वरूप यह होगा— 'स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयत्वम्' इस सम्बन्ध से चक्षु गन्ध तक पहुँचता है। यहाँ स्व शब्द से चक्षु का ग्रहण है। स्वसंयुक्तमन और मनसंयुक्त–आत्मा, उस आत्मा मे समवेत स्मृतिरूपज्ञान, उस ज्ञान का विषय गन्ध है। इस प्रकार से चक्षु के द्वारा 'सुरभि चन्दनम्' इत्याकारक विशिष्टज्ञान हो जायेगा। इसके लिए ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं— 'सुरभि चन्दनम्' यह ज्ञान ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति को न मानने पर भी अनुमानप्रमाण से हो जायेगा। जैसे 'इदं सुगन्धि चन्दनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जपाकुसुमम्'। यदि ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति को माना जायेगा तो अनुमानमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग आयेगा। क्योंकि महानसादि में धूम के साथ वह्नि का ज्ञान चक्षु से हुआ है। पर्वत में धूम को देखते ही 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवति' इस नियम से वह्नि की स्मृति होगी। उस स्मृतिज्ञान को सन्निकर्ष (ज्ञानलक्षाणासन्निकर्ष) बनाकर पर्वतरूपपक्ष में 'पर्वतो वाह्निमान्' इत्याकारक चाक्षुषप्रत्यक्षज्ञान हो जायेगा। सिद्धान्ती का कहने का तात्पर्य यह है 'सुरभि चन्दनम्' इस स्थल पर अनुमिति की ही सामग्री है और ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के माध्यम से चाक्षुषप्रत्यक्ष की भी सामग्री है। उक्त दोनों सामग्रीयों में से प्रत्यक्ष की सामग्री को बलवान् मानकर पूर्वपक्षी ने 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञान को (चाक्षुष) प्रत्यक्ष माना। ठीक इसी प्रकार पर्वत में जहाँ धूम दिखायी दे रहा है, वहाँ पर ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की सामग्री है। उनमें से प्रत्यक्ष की सामग्री बलवान् होने से पर्वत में वह्नि का ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिए। ऐसा होने पर अनुमानमात्र का ही उच्छेद हो जायेगा। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष

दनभ्युपगमात्। पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य इति परामर्शात् साध्यविशेष्यकपक्षविशेषण–कानुमित्यभ्युपगमे तु नैव काप्यनुपपत्तिः। अनुमितेः पक्षविशेष्यत्वनियमे मानाभावात् ॥ १७॥

किञ्च धूमत्वादिसामान्यं न स्वरूपतः प्रत्यासत्तिः, धूलीपटले धूमभ्रमानन्तरं धूमत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रमाण में व्यर्थतापत्ति नहीं होगी।

समाधान– ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले हम लोग केवल व्यतिरेकी अनुमान को नहीं मानते हैं। ''पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य'' इस परामर्श से साध्य विशेष्यक पक्षविशेषणक '' पर्वते वह्निरस्ति'' इत्यात्मिका अनुमिति का अभ्युपगम होने पर तो कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। पक्षविशेष्यक परामर्श से जन्य अनुमति पक्षविशेष्यक ही होती है– इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है।॥१७॥

दूसरी बात यह भी है कि धूमत्वादि सामान्य धर्म स्वरूप से प्रत्यासत्ति नहीं है, क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रमानन्तर धूमत्वरूप से सकलधूमवृत्ति वह्निव्याप्ति के ज्ञान का अनुदय प्रसङ्ग होगा,

सत्यानन्दप्रबोधिका

को मान लेने पर अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रत्यक्ष की सामग्री अनुमिति की सामग्री से प्रबल नहीं है। जैसे अप्रसिद्धसाध्य – ककेवलव्यतिरेकी–अनुमान में साध्य का ज्ञान पहले से होता नहीं हैं। क्योंकि व्यतिरेक–अनुमिति में साध्य की प्रसिद्धि कारण नहीं होती है। अतः पक्ष में हेतु को देखकर ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा पक्षविशेष्यकसाध्यप्रकारकचाक्षुषप्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता है। अतः व्यतिरेकी अनुमान स्थल पर प्रत्यक्ष की सामग्री से अनुमिति की सामग्री बलवान् होने के कारण अनुमिति मानना पड़ेगा। अर्थात् पूर्वपक्षी का कहना है कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस स्थल पर अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होने के कारण अनुमान से पूर्व साध्य की प्रसिद्धि अङ्ग है। अतः वहाँ पर्वतीयधूम को देखकर वह्नि की स्मृति हो सकती है और वहीं स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष, वह्नि को पर्वत में प्रत्यक्ष करा सकता है। परन्तु केवल व्यतिरेकी–अनुमानस्थल पर तो अनुमान से पूर्व साध्य की प्रसिद्धि अङ्ग नहीं है। अतः वहाँ साध्य का ज्ञान अनुमान से पूर्व होता ही नहीं है और वहाँ अनुमान करते समय साध्य की स्मृति भी होगी नहीं। अतः वहाँ स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से साध्य का प्रत्यक्ष होना सम्भव ही नहीं है। इसलिए वहाँ बाध्य होकर अनुमानप्रमाण से ही साध्य का ज्ञान होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। अतः ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानने पर भी अनुमानमात्र का उच्छेद नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अद्वैतसिद्धान्त में केवलव्यतिरेकव्याप्ति को अनुमिति का अङ्ग (करण) ही नहीं माना जाता है। पूर्वपक्षी केवलव्यतिरेकी–अनुमान से जो सिद्ध करता है, उसकी सिद्धि सिद्धान्तपक्ष में अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा की जाती है। अतः ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानने पर अन्वयव्याप्तिवाले सभी अनुमानों में ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से साध्यप्रकारकपक्षविशेष्यकचाक्षुषप्रत्यक्षज्ञान ही हो जायेगा। अतः अनुमानमात्र का उच्छेद के प्रसङ्ग की आपत्ति होगी। इसलिए ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति को इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं माना जाता है। पूर्वपक्षी ने पीछे यह जो कहा था कि साध्य विशेषण होता है और पक्ष विशेष्य होता है। अतः विशेषणरूप साध्यज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानना चाहिए। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि'पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्यः' इस प्रकार के परामर्श से 'पर्वते वह्निः' इस प्रकार की साध्यविशेष्यकपक्षविशेषण–अनुमिति होती है। अतः अनुमिति में हमेशा पक्ष विशेष्य और साध्य विशेषण होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः साध्यरूप विशेषण के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।। १७।।

सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का विग्रह दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम– 'सामान्यं लक्षणं स्वरूपं

सकलधूमनिष्ठवह्निव्याप्तिग्रहानुदयप्रसङ्गात्, तत्र स्वरूपतो धूमत्वाभावान्न चेष्टापत्तिः तदुत्तरकालमनुमित्यनुदयापत्तेः, तथा च धूमत्वज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्; तच्च धूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमज्ञानात्प्राङ्नास्त्येव। निर्विकल्पके मानाभावात्, विशिष्टज्ञानत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

क्योंकि धूलीपटल में स्वरूप से धूमत्व का अभाव है। इस पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि धूलीपटल में धूम भ्रमानन्तर काल में अनुमिति के न होने की आपत्ति होगी। फलतः धूमत्वज्ञान प्रत्यासत्ति है, इन्द्रियसन्निकृष्टनिष्ठ ज्ञायमान धूमत्व नहीं—ऐसा कहना होगा। किन्तु वह धूमत्वज्ञान धूम और इन्द्रिय के सन्निकर्ष काल में होने वाले धूमज्ञान से अव्यवहित पूर्वकाल में नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान को मानने में कोई प्रमाण है नहीं। विशेषणज्ञानत्वरूप से धूमत्वज्ञान की कारणता और विशिष्टज्ञानत्वरूप से धूमत्वविशिष्ट धूमज्ञान की कार्यता है—ऐसा कार्यकारणभाव को स्वीकार नहीं

सत्यानन्दप्रबोधिका

यस्याः'। इस विग्रह के अनुसार सामान्य (घटत्व,पटत्व इत्यादि) को ही सन्निकर्ष माना गया है। द्वितीय—'सामान्यं लक्षणं निरूपकं यस्याः'। इस विग्रह के अनुसार सामान्य के ज्ञान को सन्निकर्ष माना गया है। प्रथम विग्रह के अनुसार सामान्य को स्वरूपतः सन्निकर्ष मानने पर क्या दोष है? इसको आचार्यप्रवर दिखा रहे हैं। स्वरूपतः धूमत्वादि सामान्य को सन्निकर्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि धूलीपटल में धूम का भ्रम होने के पश्चात् धूमत्वेन उपस्थित सकल धूमनिष्ठवह्नित्वेन वह्नि की व्याप्ति का स्मरण होता है। उक्त स्मरण नहीं होना चाहिए। क्योंकि धूलीपटल में स्वरूपतः धूमत्व विद्यमान ही नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे घट के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर घटत्ववाले घट का ज्ञान होता है, उसके पश्चात् घट में रहने वाले घटत्वसामान्य को सन्निकर्ष बनाकर सकलघट का ज्ञान होता है। प्रकृत में धूलीपटल में धूमत्व स्वरूपतः नहीं है। अतः धूमत्व को सन्निकर्ष बनाकर धूमत्वेन सकलधूम में वह्नित्वेन सकल वह्नि की व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि धूलीपटल में धूमत्वसामान्य का अभाव होने से धूलीपटल में वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण न होना इष्ट ही है तो, ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रम के अनन्तर व्याप्तिस्मरण के पश्चात् जो अनुमिति का होना अनुभव सिद्ध है, व्याप्तिग्रह के अभाव में वह अनुमिति नहीं हो पायेगी। अतः स्वरूपतः सामान्य को प्रत्यासत्ति नहीं मान सकते हो। अतः धूमत्व के ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानना पड़ेगा। धूमत्व के ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानने पर धूलीपटल में धूम के भ्रम के अनन्तर धूमत्व का ज्ञान रहता ही है। अतः धूमत्व के ज्ञानरूपसन्निकर्ष के माध्यम से धूमत्वेन सकलधूम में वह्नि की व्याप्ति का स्मरण होने से अनुमिति हो जायेगी। इस प्रकार पूर्वोक्त दोष का वारण हो जायेगा। किन्तु वह धूमत्व का ज्ञानरूपसन्निकर्ष धूम के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष से होने वाले धूमज्ञान से पहले विद्यमान नहीं है, क्योंकि पहले धूम और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और उसके पश्चात् धूमत्व का ज्ञान होता है। धूमत्व का ज्ञान न होने से ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष की सिद्धि न होने से व्याप्ति की सिद्धि नहीं होगी और व्याप्ति की सिद्धि न होने से अनुमिति नही हो पायेगी। यदि कहो कि नैयायिक धूमज्ञान से पहले अर्थात्, 'धूमत्ववान् अयम्' इस प्रकार की विशिष्टबुद्धि से पहले 'धूमधूमत्वे' इस प्रकार से वैशिष्ट्यरहितकेवलधूमत्व का निर्विकल्पकज्ञान मानता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि निर्विकल्पकज्ञान को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। यदि इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करे कि निर्विकल्पकज्ञान की सिद्धि में अनुमानप्रमाण है। अनुमान का आकार— 'विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वाद् दण्डिपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्'। अतः धूमत्वविशिष्टधूम के ज्ञान से पहले धूमत्वरूपविशेषण का ज्ञान जिसे नैयायिक निर्विकल्पकज्ञान कहता है, उसकी सिद्धि में अनुमानप्रमाण है। अतः निर्विकल्पकज्ञान में कोई

विशेषणज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावानभ्युपगमात्, अवश्यक्लृप्तकार्यकारणभावविशेषेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः।। १८।।

न च धूमत्वेन सन्निकृष्टधूमव्यक्तिज्ञानानन्तरं तत्समानाकारमसन्निकृष्टधूमगोचरं ज्ञानान्तरमुत्पद्यत इत्यत्र मानमस्ति; धूमत्वेन पुरोवर्तितनं धूमं साक्षात्करोमि न व्यवहितमित्यनुभवाच्च। अन्यथा जगतीगतसकलधूमव्यक्तीरहं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसीयेत। न चैवमनुभवमात्र–

कैलासविद्याप्रकाशिका

किया जा सकता है, क्योंकि अवश्य नियत कार्यकारणभाव विशेष से ही सर्वव्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। अतः उक्त कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए निर्विकल्पकज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।।१८।।

धूमत्वेन सन्निकृष्ट धूमव्यक्ति के ज्ञान के अनन्तर उस धूम के समानाकार असन्निकृष्ट धूमविषयक ज्ञानान्तर उत्पन्न होता है—ऐसा जो प्राचीन नैयायिकों का कथन है—इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि धूमत्वेन पुरोवर्ति धूम को साक्षात् करता है न कि व्यवहित धूम को। अन्यथा = प्रमाणाभाव और उक्त अनुभव को स्वीकार न करने पर, तो सम्पूर्ण जगत् में स्थित सकल धूम व्यक्तियों का मैं साक्षात्कार करता हूं—इत्याकारक अनुव्यवसाय होना चाहिए,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमाण नहीं है, सिद्धान्ती का यह कहना ठीक नहीं है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि विशेषणज्ञान कारण होता है और विशिष्टज्ञान कार्य होता है, ऐसा कार्य—कारणभाव हम नहीं स्वीकार करते हैं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान में विशिष्टविषयता का भान अपनी नियतसामग्री से ही हुआ करता है। जैसे प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्ष, आलोकादिघटितसामग्री से विशिष्टविषयता का भान होता है और अनुमानादि परोक्षज्ञानों में परामर्शादि से विशिष्टविषयता का भान होता है। जब इस प्रकार के भान से सम्पूर्णव्यवहार की सिद्धि हो जाती है तब उसके लिए विशिष्टज्ञान विशेषणज्ञान से जन्य होता है, ऐसा कार्य—कारणभाव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।। १८।।

इसी प्रकार धूमत्वरूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से धूमत्व के आश्रयीभूतसकलधूम का ज्ञान हो जाता है, यह भी अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि इन्द्रिय से सन्निकृष्ट धूम के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर, पहले धूमत्वेन धूमव्यक्ति का ज्ञान होता है, ठीक उसके उत्तरक्षण में धूमत्व को सन्निकर्ष बनाकर धूमव्यक्ति को विषय करने वाले ज्ञान के समान ही सन्निकृष्ट— असन्निकृष्ट सकल धूमव्यक्ति का दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार की प्रक्रिया नितान्त प्रमाणरहित है। क्योंकि धूम को देखने पर यही अनुभूति होती है कि 'धूमत्वेन सन्निकृष्टमेव धूमं पश्यामि न त्वसन्निकृष्टम्'। यदि एक धूम को देखकर सकलधूमव्यक्तियों का ज्ञान मानोगे तो संसार से सकल धूमव्यक्तियों का मुझे साक्षात्कार हो रहा है, ऐसा अनुव्यवसायज्ञान होना चाहिए। यदि कहो कि धूमव्यक्ति को देखकर सकलधूमव्यक्तियों का मुझे साक्षात्कार हो रहा है, ऐसा अनुव्यवसाय होता है, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि एक ही घट को चक्षु के द्वारा देखने वाले व्यक्ति से यदि कोई पूछता है कि तुम्हारे द्वारा कितने घटों को देखा गया? तो वह व्यक्ति कहता है कि ''एक ही घट को मैने देखा, कितने घटों को मैने देखा? ऐसा प्रश्न करना ही अनुपपन्न है''। अतः अनुभव के बल पर सकलघटविषयक उक्त अनुव्यवसाय की सिद्धि नहीं की जा सकती है। दूसरा दोष यह है कि जहाँ अनुमान का आकार ऐसा होगा— 'इदं अभिधेयं, प्रमेयत्वात्,' यहाँ व्याप्ति का आकार होगा— 'यत्प्रमेयवत् तदभिधेयवत्'। यहाँ पर सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के बल पर प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का ज्ञान

शरणैरभ्युपेयते। किञ्च सामान्यप्रत्यासत्त्यङ्गीकारे यत् प्रमेयम्, तदभिधेयम्, यत्प्रमेयवत्, तदभिधेयवदित्यादिव्याप्तिपरिच्छेदे सार्वज्ञ्यापत्तिः। न चेष्टैव सा; परज्ञानविषयो घटो न वेत्यादिसंशयानुपपत्तेः ॥ १९॥

न च घटत्वप्रकारकघटविषयकनिश्चयो घटसंशयविरोधी, प्रमेयमिति निश्चयस्तु घटविषयोऽपि न घटत्वप्रकारक इति वाच्यम्, भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिन एव प्रकारत्वात्, घटत्वस्यापि

कैलासविद्याप्रकाशिका

किन्तु अनुभव मात्र है आश्रय जिनका ऐसे व्यक्तियों में से कोई भी व्यक्ति उक्त आकार वाले अनुव्यवसाय को स्वीकार नहीं करता है। किञ्च सामान्यप्रत्यासति को स्वीकार करने पर ''जो प्रमेय है वह अभिधेय है'' और '' जो प्रमेयवान् है, वह अभिधेयवान् है।'' इत्यादि व्याप्तियों का ज्ञान होने पर सर्वज्ञत्वापत्ति होगी। उक्त सर्वज्ञत्वापत्ति में इष्टापत्ति नहीं कह सकते हो, क्योंकि प्रमेयत्वेन सकल प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर परज्ञानविषयीभूतघट का भी ज्ञान हो जाने से ''घटः परज्ञानविषयो न वा?'' ऐसे संशय की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।॥१९॥

शङ्का— घटत्वप्रकारक घटविषयक निश्चय घट संशय का विरोधी होता है। किन्तु ''घट प्रमेय है।'' यह निश्चय अर्थात् प्रमेयत्वेन घटज्ञान तो घट विषयक होने पर भी घटत्वप्रकारक नहीं है। अतः ''घटो न वा'' इस संशय की उपपत्ति हो जायेगी।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने पर सर्वज्ञता की आपत्ति होगी, क्योंकि एक प्रमेय का प्रत्यक्ष होनें से सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के बल पर प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का प्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का ज्ञान होना हमें इष्ट है, तो ऐसा नहीं कह सकता है, क्योंकि प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का ज्ञान मानने पर प्रत्येक व्यक्ति को सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। यदि नैयायिक कहता है कि प्रमेयत्वेन घटादि को जानता है, घटत्वेन घटादि को नहीं जानता है। अतः सर्वज्ञतापत्ति नहीं होगी, तो ऐसा नहीं कह सकता है, क्योंकि प्रश्न होगा कि घटत्वादि में प्रमेयत्व है कि नहीं? यदि है तो प्रमेयत्वेन उसका भी ज्ञान होगा, यदि घटत्वादि में प्रमेयत्व नहीं है तब उसे (घटत्वादि को) सप्तमरस के समान असिद्ध मानना पड़ेगा। अतः घटत्वादि मे प्रमेयत्व के रहने से प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का ज्ञान के समय घटत्वेन भी घट का ज्ञान होगा ही और तब सर्वज्ञतापत्ति दोष होगा ही। सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानने पर उसका निवारण नहीं हो सकता है। इसी को उद्धृत करते हुए खण्डनकार श्रीहर्ष ने जो कहा है वह उचित है— 'तथा सति एकं प्रमेयं प्रत्यक्षतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्धधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदं यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तते'। दूसरा दोष यह है कि प्रमेयत्वेन सकलप्रमेय का ज्ञान हो जाने पर परज्ञानविषयीभूतघट का भी प्रमेयत्वेन ज्ञान हो ही जायेगा, और तब 'घटः परज्ञानविषयों न वा' ऐसा संशय नहीं हो पायेगा, जब कि लोक में यह संशय होते हुए देखा जाता है।। १९॥

सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये उक्त संशय की अनुपपत्तिरूपदोष का वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि घटत्वप्रकारकघटविषयकनिश्चय ही घटसंशय का विरोधी होता है, क्योंकि समानप्रकारकनिश्चय ही संशय का विरोधी होता है। प्रकृत में प्रमेयत्वेन घट के निश्चय का विषय घट के होने पर भी प्रकार घटत्व नहीं है, किन्तु प्रमेयत्व है। अतः प्रमेयत्वेन घट का निश्चय उक्त संशय का विरोधी न होने से उक्त संशय होगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि भासमानवैशिष्ट्य (सम्बन्ध) के प्रतियोगी और अनुयोगी में से प्रतियोगी को प्रकार और अनुयोगी को विशेष्य कहा जाता है, अर्थात् प्रकार उसको कहा जाता है जो भासमानवैशिष्ट्य का प्रतियोगी हो। विशेष्य उसको कहा जाता है जो भासमानवैशिष्ट्य

प्रमेयमिति ज्ञाने भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वात्। घटत्वप्रकारकनिश्चयस्य घटत्वज्ञानजन्यत्व– विशेषणाददोष इति चेत्, न; विशेषणज्ञानत्वेनैव तस्य जनकता वाच्या; तस्याः प्रागेव निरासात्; स्वरूपसम्बन्धविशेषाभ्युपगमे चानिर्वचनीयवादापत्तेरित्यादिदूषणानि बहुतरमूहनीयानि। तस्मात्

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान– ऐसा कथन ठीक नहीं है,क्योंकि ज्ञान में भासमान वैशिष्ट्य (विशेषणविशेष्यसम्बन्ध) का प्रतियोगी ही प्रकार होता है। अतः ''घट प्रमेय है।'' इस ज्ञान में भासमान वैशिष्ट्य का प्रतियोगी घटत्व को भी मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ''घटो न वा'' इस संशय की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

शङ्का– घटत्वप्रकारकनिश्चय में घटत्वज्ञानजन्यत्व विशेषण देने से पूर्वोक्त दोष नहीं आयेगा।

समाधान– नहीं, क्योंकि विशेषणज्ञानत्वेन ही घटत्वज्ञान की जनकता माननी होगी, किन्तु विशेषणज्ञानत्वेन घटत्वज्ञान की जनकता का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। स्वरूपसम्बन्ध विशेषणरूप विषयता स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी को अनिर्वचनीयवाद स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अनुयोगी होता है। यही सिद्धान्त है। अतः भासमानसम्बन्ध के प्रतियोगी में ही प्रकारता रहेगी। जैसे जहाँ घटज्ञान होता है, वहाँ पर उस ज्ञान में घटत्व और घट का समवायसम्बन्ध भी भासित होता है। उक्त समवाय का अनुयोगी घट और प्रतियोगी घटत्व होता है। अतः प्रतियोगी घटत्व को प्रकार कहा जाता है और अनुयोगी घट को विशेष्य कहा जाता है। अर्थात् घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकज्ञान होता है। अब जहाँ पर प्रमेयत्वेन घट का ज्ञान हो रहा है, वहाँ पर भी प्रमेयत्व के साथ साथ घटत्व का भी सम्बन्ध घट में भासित हो रहा है। अतः भासमानसम्बन्ध का प्रतियोगी घटत्व भी है। इसलिए घटत्व में प्रकारता रहेगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि जिसको प्रमेयत्वेन घटज्ञान हो रहा है उसको घटत्वेन भी घटज्ञान होता है। अतः जिसको प्रमेयत्वेन घटज्ञान हो रहा है, उसको 'परज्ञानविषयों घटो न वा' इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए, यह स्वीकार करना पड़ेगा। अथवा प्रमेयत्वेन प्रमेय के अन्तर्गत घटत्व भी है। क्योंकि घटत्व में भी प्रमेयत्व मानते ही हैं। इसलिए जिस को प्रमेयत्वेन घट का बोध हो रहा है, उसको घटत्वेन घट का भी बोध मानना ही पड़ेगा। जब घटत्वेन घट का निश्चय है तब उक्त संशय नहीं होना चाहिए। इस पर पुनः पूर्वपक्षी उक्त संशय को सिद्ध करने के लिए कह रहा है कि घटत्वप्रकारकनिश्चय को ही उक्त संशय का विरोधी हम नहीं मानते हैं, किन्तु घटत्वज्ञान से जन्य घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकनिश्चय को ही उक्त संशय का विरोधी मानते हैं। अतः प्रमेयत्वेन घट का ज्ञान जहाँ हो रहा है, उसमें घटत्वप्रकार भासित होने पर भी वह घटत्वप्रकारकनिश्चय घटत्वज्ञान से जन्य नहीं है, अपितु प्रमेयत्व ज्ञानजन्य है। अतः प्रमेयत्वेन घटज्ञान उक्त संशय का विरोधी नहीं होगा। इसलिए उक्त संशय के होने में कोई बाधा नहीं होगी। तो ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता हैं, क्योंकि पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यही है कि जहाँ पर घटत्वरूपविशेषण के ज्ञान से जन्य घटत्वविशिष्टघट का ज्ञान होता है, वहीं ज्ञान संशय का विरोधी होता है, किन्तु विशेषणज्ञान से जन्य विशिष्टज्ञान होता है, इसका खण्डन पीछे कर दिया गया है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा संशयविरोधिज्ञान के विषय में दी गयी व्यवस्था खण्डित हो गयी हैं, यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रमेयत्वेन घटज्ञान का (जो घटसंशय का विरोधी नहीं है) घट के साथ जो स्वरूपसम्बन्ध है वह भिन्न प्रकार का है और जो घटसंशय के विरोधीभूत घटत्वेन घट का ज्ञान है, उसमें घट का ज्ञान के साथ जो स्वरूपसम्बन्ध है वह भिन्न प्रकार का है। अतः सम्बन्ध भेद के कारण दोनों ज्ञान भिन्न–भिन्न हैं। उसमें से प्रमेयत्वेन घट का निश्चय संशय का विरोधी नहीं होगा और घटत्वेन घट का निश्चय संशय का विरोधी होगा। उसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भिन्न–भिन्न स्वरूपसम्बन्ध को मानने पर पूर्वपक्षी को

सामान्यप्रत्यासत्त्या निषेधमात्रप्रतियोगित्वोपस्थितौ तदभावग्रहाद् बाध इत्यनुपपन्नमेव ।।२०।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ सामन्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

से अनेक दूषणों का उत्थायन करना चाहिए। अत:' सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से निखिलनिषेध के प्रतियोगित्व की उपस्थिति होने पर, उस प्रतियोगित्वाभावरूप सत्त्व के ज्ञान से मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा ही अनुचित है।।२०।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां सामान्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनिर्वचीनयतावाद को स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि स्वरूपसम्बन्ध का अर्थ होता है कि सम्बन्ध जो है वह सम्ब—न्धिद्वय का स्वरूप है। अत: ज्ञान का घट के साथ स्वरूपसम्बन्ध का तात्पर्य यह होगा कि वह सम्बन्ध घट और ज्ञानरूप हो जायेगा। अत: सम्बन्ध से अभिन्न घट और ज्ञान दोनों को मानना पड़ेगा। इस प्रकार सभी में अभेद होने पर यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान में घट अध्यस्त है। क्योंकि घट और ज्ञान वास्तव में अभिन्न हो ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षी द्वारा कल्पित सामान्य— लक्षणा प्रत्यासत्ति आदि के विषय में जितना विचार किया जाय उतना ही दोषों का भण्डार खुलता जायेगा। अत: सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति आदि का खण्डन हो जाने से मिथ्यात्वविरोधी स्वसमाना—धिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपसत्त्व का अलौकिकसन्निकर्ष के द्वारा भी चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अर्थात् पीछे जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि सकल निषेध के प्रतियोगित्व को सामान्यलक्षणासन्निकर्ष बनाकर सकलप्रतियोगियों का प्रत्यक्ष ज्ञान होगा और उन सभी प्रतियोगियों के अभाव का प्रत्यक्ष घट में ही जाने से उक्त प्रकार के सत्त्व का प्रत्यक्ष हो जायेगा और उस के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। किन्तु सामान्यलक्षणासन्निकर्षादि के खण्डित हो जाने से पूर्वपक्षी का उक्त मनोरथ सफल नहीं हो पाया। इस प्रकार लौकिक—अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा उक्त सत्त्व का प्रतिपादन नहीं हो पाने के कारण मिथ्यात्वानुमान में प्रत्यक्ष से बाध्यत्व सम्भव नहीं है।। २०।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सामन्यप्रत्यासत्तिभङ्गेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः —

१६: साक्षिबाधोद्धारः

ननु प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वे शुक्तिरूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं कथं प्रत्यक्षं स्यात्? अथ तत्र रजतत्वविरोधिशुक्तित्वे साक्षात्कृते तदन्यथानुपपत्त्या च रजतत्वाभावे निश्चिते मिथ्यैव रजतमभादिति तादृङ्निषेधप्रत्ययः स्वसम्बद्धसर्वावभासकेन साक्षिणैवोपपन्नः। तर्हि साक्षात् स्वविषयस्य गगनादेर्भाविकालनिषेधाप्रतियोगित्वं सकलकालग्राहिणा

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का – प्रत्यक्षप्रमाण के वर्तमानमात्रग्राहित्व होने पर शुक्तिरूप्यादिनिष्ठ प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व का प्रत्यक्ष किस प्रकार होगा? यदि कहो कि उक्त स्थल पर रजतत्व का विरोधी जो शुक्तित्व है, उस शुक्तित्व के साक्षात्कृत होने पर रजतत्वविरोधी शुक्तित्व की अन्यथानुपपत्ति से रजतत्वाभाव के निश्चित होने पर ''मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ था।'' इस प्रकार स्वाश्रयत्वेन ज्ञात–अधिकरण में त्रैकालिकनिषेध का ज्ञान स्व से सम्बद्ध सर्व के अवभासक साक्षी से

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रपञ्च में मिथ्यात्वानुमिति के पूर्व, दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में साध्य मिथ्यात्व सिद्ध होना चाहिए। वह प्रत्यक्ष के द्वारा ही कहना पड़ेगा। प्रत्यक्षप्रमाण वर्तमानवस्तु का ही ग्राहक होता है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा शुक्तिरूप्यादिनिष्ठप्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान कैसे होगा? अर्थात् जब प्रत्यक्षप्रमाण से वर्तमानकालीनपदार्थ का ही ग्रहण होता है, तब कालत्रयगर्भितमिथ्यात्व का शुक्तिरूप्यादि में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि रजतभ्रम का जनक शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्यादिदोषों का निवर्तक 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार रजतत्वविरोधिशुक्तित्व का साक्षात्कार होता है। तत्पश्चात् रजतत्वविरोधि– शुक्तित्व की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण ('पुरोवर्तिनि त्रैकालिकरजतत्वाभावं विना शुक्तित्वमनुपपन्नम्') से (न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से) पुरोवर्ति में रजतत्व के त्रैकालिकाभाव का निश्चय (उपस्थापन) होता है। फिर साक्षी के द्वारा अर्थापत्तिप्रमाण से निश्चित (उपस्थापित) पुरोवर्तिवस्तु में रजतत्व के त्रैकालिकाभाव का ग्रहण ''मिथ्यैव रजतमभात्'' इस प्रकार से साक्षी के द्वारा होता है। क्यों कि साक्षी स्वसम्बन्धी सर्वपदार्थों का भासक होता है और उक्त त्रैकालिकनिषेध उक्त अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा उपस्थापित होने के कारण साक्षी से सम्बद्ध है। अतः साक्षी उक्त निषेध का प्रकाशन कर देगा। अर्थात् साक्षी के साथ तादात्म्येन सम्बद्ध सभी पदार्थों का अवभासक साक्षी होता है। अन्तःकरण और उसके धर्म तो सर्वदा साक्षी के साथ (वृत्ति के बिना ही) सम्बद्ध रहते हैं। अतः सर्वदा ही अन्तःकरणादि का साक्षिप्रत्यक्ष होता है। अन्तःकरणादि को छोड़कर अन्य पदार्थो के लिए जब किसी कारण से तदाकारवृत्ति होगी, तब वृत्ति के माध्यम से उन वस्तुओं के साथ साक्षी का सम्बन्ध होता है और तब साक्षी के द्वारा उन पदार्थों का प्रत्यक्ष होगा। वैसे तो अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा शुक्ति में रजतत्व के त्रैकालिकाभाव का निश्चय हो गया है। अर्थात् रजतमिथ्यात्व का निश्चय अर्थापत्ति के द्वारा ही यद्यपि हो गया है तो भी प्रत्यक्ष से तादृश निश्चय होता है, यह सिद्ध करने के लिए साक्षी के द्वारा तादृश अभाव का प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहा गया है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि साक्षी त्रैकालिकवस्तु का भासक है तब तो केवलसाक्षिभास्य गगनादि का भविष्य में प्रतीत होने वाला जो त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व, उसका अभाव वर्तमान गगनादि में है। अतः गगनादि में कालत्रय–निषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्यत्व का प्रत्यक्ष सकलकालग्राही साक्षी से हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर गगनादिपदार्थ सत्य सिद्ध हो जायेगा और उक्त साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा ही गगनादि के मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह दिखाया कि साक्षी के द्वारा त्रैकालिकवस्तु का ग्रहण स्वीकार करने पर मिथ्यात्व अनुमान में बाधदोष आयेगा। साक्षी

साक्षिणा गृह्यतामिति चेत् ।। १ ।।

न, साक्षिणो विद्यमानसर्वावभासकत्वेनाविद्यमानभाविबाधाभावभासकत्वानुपपत्तेः, साक्षिज्ञानस्य भ्रमप्रमासाधारणत्वेन प्रमाणाबाधकत्वाच्च ।। २।।

ननु ज्ञानप्रामाण्यं गृह्णन् साक्षी घटादिगतमबाध्यत्वं गृह्णात्येव, न हि विषयाबाधमनन्तर्भाव्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

ही उपपन्न हो जायेगा। ऐसा स्वीकार करने पर तो सकलकालग्राही साक्षी के द्वारा साक्षात् अपने विषय गगनादि के भाविकाल में प्रतीयमान निषेध के अप्रतियोगित्व का भी ग्रहण होना चाहिए।।१ ।।

समाधान — नहीं, क्योंकि अविद्यावृत्ति से उपहित अर्थात् प्रमाणवृत्ति से अनुपहित साक्षिचैतन्य विद्यमान काल में उपस्थित सर्व का अवभासक होने से अविद्यमान जो भाविबाध, तादृशबाधाभाव का अवभासक नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि साक्षिज्ञान भ्रम और प्रमा साधारण होने से प्रमाण का बाधक नहीं होता है।।२ ।।

शङ्का— घटादिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को ग्रहण करता हुआ साक्षी घटादिगत अबाध्यत्व को भी ग्रहण

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा वर्तमानपदार्थो का ग्रहण स्वीकार करने पर साक्षी या इन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष वर्तमानग्राही होने के कारण दृष्टान्त में कालत्रयगर्भितमिथ्यात्व का प्रत्यक्ष नहीं हो पाने से दृष्टान्त की असिद्धि होने के कारण मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्च में मिथ्यात्व की अनुमिति नहीं होगी।। १।।

सिद्धान्ती इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि तत्काल में विद्यमान जितने वस्तु हैं, उनमें से साक्षी के साथ जिन जिन का तादात्म्य है, उनका साक्षी अवभासक होता है, किन्तु तत्काल में अविद्यमान जो पदार्थ है, जिनका साक्षी से तादात्म्य– सम्बन्ध नहीं है उनका प्रकाशक साक्षी नहीं होता है। अतः गगनादि में भाविबाधाभावरूप सत्यत्व का उपस्थापन किसी प्रमाण के द्वारा एतत्काल में नहीं होने से भाविबाधाभावरूप सत्यत्व का गगन में साक्षी ग्रहण नहीं कर सकता है। शुक्तिरूप्य में अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा ही (पुरोवर्तिवस्तु में जब शुक्तित्व है, तब तीनों काल में पुरोवर्तिवस्तु में रजतत्व नहीं रह सकता है, इस प्रकार से) रजतत्व के त्रैकालिकाभाव का बोध हो गया है। अतः साक्षी पुरोवर्ति में रजतत्व के त्रैकालिकाभाव का प्रत्यक्ष कर सकता है। किन्तु गगन के भाविबाध का अभावरूप सत्यत्व का उपस्थापन किसी भी प्रमाण के द्वारा एतत्काल में न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष साक्षी नहीं कर सकता है। अर्थात् भाविकाल में होने वाले प्रपञ्च का बाध अथवा भाविकाल में होने वाले प्रपञ्च के बाधाभाव का जब तक किसी प्रमाण से उपस्थापन वर्तमान में नहीं होता है तब तक साक्षी उसका ग्रहण नहीं कर सकता है। अतः साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होगा और मिथ्यात्वानुमान के दृष्टान्त में उक्त मिथ्यात्वरूपसाध्य का प्रत्यक्ष भी साक्षी के द्वारा हो जाने से प्रपञ्च में मिथ्यात्व की अनुमिति भी हो जायेगी। अब सिद्धान्ती यह दिखा रहे हैं कि गगनादि में भाविकालनिषेधप्रतियोगित्व के अभाव का ग्रहण साक्षी से मान भी लें तो भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि साक्षिज्ञान भ्रमप्रमासाधारणरूप होने से उसके द्वारा किसी प्रमाण का बाध नहीं होता है। अर्थात् सुखादि अंश में साक्षिज्ञान को जैसे प्रमा माना जाता है, वैसे ही शुक्तिरजतांश में साक्षिज्ञान को भ्रम भी माना जाता है। इसलिए गगनादि में भाविकालनिषे–धप्रतियोगित्वाभावांश में साक्षिज्ञान भ्रम है अथवा प्रमा है? इस प्रकार संशयापन्न होने के कारण साक्षिज्ञान के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं हो सकता है।।२।।

यद्यपि आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार ने स्वरचित अद्वैतरत्नरक्षण नामक ग्रन्थ में प्रमात्व का लक्षण 'अज्ञातार्थनिश्चयात्मकत्वम्' किया है। परन्तु यहाँ पर इस प्रमात्व के लक्षण के अनुसार पूर्वपक्षी की शङ्का

प्रामाण्यग्रहणं नाम इति चेत्॥ ३॥

न, व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्रेण प्रवृत्तावपि संवादोपपत्तेः तद्रूप(गत)प्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि विरोधाभावात्। न हि घटादिज्ञानस्य संवादिप्रवृत्तिजनकतावच्छेदकं प्रामाण्यं त्रिकाला-बाध्यविषयकत्वम्; किन्तु शुक्तिरूप्यादिज्ञानव्यावृत्तं व्यवहारकालाबाध्यविषयकसकलज्ञानवृत्ति-

कैलासविद्याप्रकाशिका

करता ही है। विषयाबाध को अन्तर्भाव किये बिना प्रामाण्य का ग्रहण हो ही नहीं सकता है॥३॥

समाधान — नहीं, क्योंकि व्यवहारकाल में अबाध्यत्वमात्र से प्रवृत्ति में भी संवाद (सकलप्रयोजनत्व) हो सकता है और व्यवहारकालीनाबाध्यविषयकत्व रूप प्रामाण्य का ग्रहण साक्षी के द्वारा होने पर भी मिथ्यात्वानुमान से कोई भी विरोध नहीं होगा। घटादिज्ञाननिष्ठ जो सफलप्रवृत्तिजनकतावच्छेदक प्रामाण्य है, वह त्रिकालाबाध्यविषयकत्वरूप नहीं है किन्तु वह शुक्तिरूप्यादि ज्ञानों में न रहने वाला और व्यवहारकालाबाध्यविषयक सकलज्ञानों में रहने वाला व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप ही है। वह व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूपप्रामाण्य तो भाविकाल में होने वाला जो ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्च का बाध, उस बाध का विरोधी नहीं है—यह पीछे कहा जा चुका है। भाविकाल में होने वाला प्रपञ्च का बाध

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। क्योंकि प्रमात्व के उक्त लक्षण में अबाधित पद का प्रवेश ही नहीं है। तथापि वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमात्व का लक्षण 'अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्' किया है। प्रमात्व के इसी लक्षण को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि अद्वैतसिद्धान्त में ज्ञानगतप्रामाण्य साक्षिभास्य माना जाता है और प्रामाण्य (प्रमात्व) उसी ज्ञान में रहता है जिसका विषय बाधित नहीं होता है। अतः घटादि ज्ञानों में प्रमात्व का ग्रहण करता हुआ साक्षी घटादिज्ञानों के विषय घटादि में अबाधितत्व का भी ग्रहण अवश्य करेगा, क्योंकि किसी भी ज्ञान का विषय जब तक अबाधित नहीं होगा तब तक उस ज्ञान में प्रमात्व का ग्रहण साक्षी नहीं कर सकता है। अतः साक्षी के द्वारा गृहीत प्रमात्व का बाध जैसे किसी भी प्रमाण से नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार साक्षी के द्वारा गृहीत विषयगताबाधितत्व(सत्यत्व) का बाध मिथ्यात्वानुमान से नहीं हो सकता है। अपितु साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत विषयगताबाधितत्व(सत्यत्व) के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का ही बाध हो जायेगा॥ ३॥

वेदान्तपरिभाषाकार के द्वारा कथित प्रमात्व के लक्षण के अनुसार ही सिद्धान्ती समाधान देते हुए कह रहे हैं कि प्रामाण्य दो प्रकार का होता है— त्रिकालाबाध्यविषयकत्वरूप और व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप। घटादि ज्ञानों में साक्षी के द्वारा जो प्रामाण्य का ग्रहण होता है वह व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप है। इसी का संवाद (समर्थन) व्यवहार या प्रवृत्ति में पाया जाता है। अर्थात् मुझे जो घट ज्ञान हुआ है वह व्यवहारकाल में अबाध्यविषयक है। इस प्रकार से ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण कर व्यवहार में संवादिप्रवृत्ति होती है। अतः संवादिप्रवृत्ति की जनकता का अवच्छेदक व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व है, न कि त्रिकालाबाध्यविषयकत्व। संवादिप्रवृत्ति का जनक है प्रमा, अतः तादृशजनकता का अवच्छेदक प्रामाण्य (प्रमात्व) है। अतः व्यवहारकालाबाध्यविषयकज्ञानगतप्रामाण्य (प्रमात्व) का साक्षी के द्वारा ग्रहण होने पर भी मिथ्यात्वानुमान से विरोध नहीं होगा। क्योंकि साक्षी से यदि त्रिकालाबाध्यविषयकत्वरूपप्रमात्व का ग्रहण होता, तो उस साक्षिप्रत्यक्ष से मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जाता। घटादि ज्ञानों में जो सफलप्रवृत्ति की जनकता है उस जनकता का अवच्छेदकीभूतप्रामाण्य त्रिकालाबाध्यविषयकत्वरूप नहीं है, अपितु व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि विफलप्रवृत्ति के जनकीभूतशुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकपदार्थविषयकज्ञानों में नहीं रहने वाला एवं व्यवहारकाल में अबाध्य जो

व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वमेव। तच्च न भाविकालबाधविरोधीत्युक्तम्। भाविकालबाधतदभावौ न च मानं विना साक्षिणा ग्रहीतुं शक्यौ, तस्य विद्यमानमात्रग्राहित्वादिति चोक्तम्।।४।।

ननु तर्हि देहात्मैक्यज्ञानमुष्णं जलमित्यादिज्ञानञ्च प्रमा स्यात्, व्यवहारदशायां विषयाबा–धादिति चेन्न; आब्रह्मज्ञानमबाधितत्वेन तेषामपि घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात्। ननु कालान्तरस्थमपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

और तादृशबाध का अभाव इन दोनों का जब तक प्रमाण के द्वारा उपस्थापन नहीं किया जाता है तब तक इन दोनों का साक्षी के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है। यह भी पीछे कहा जा चुका है।।४।।

शङ्का – तर्हि = जब व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वेन ही ज्ञान में प्रामाण्य रहता है तब तो, देहात्मैक्यज्ञान, उष्ण जल ज्ञान इत्यादि में भी प्रमात्व मानना चाहिए क्योंकि व्यवहारकाल में उक्त ज्ञानों के विषय बाधित नहीं होते हैं।

समाधान– ठीक है, ब्रह्मज्ञान होने तक अबाधित होने से देहात्मैक्यादि ज्ञानों का भी घटादि ज्ञान के समान योगक्षेमत्व है।

शङ्का – कालान्तर में स्थित जो बाधक है, वह जिस काल के मध्य में घटादिज्ञान घटादिरूप स्वार्थ का ग्रहण करता है, उसी काल के मध्य में ही घटादि का निषेध करता है? अथवा अन्य काल

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषय, तादृशविषयक सकलज्ञानों में रहने वाला व्यवहारकालाबा–ध्यविषयकत्वरूपप्रामाण्य सफलप्रवृत्ति की जनकता का अवच्छेदक है। अर्थात् जो–जो ज्ञान सफल प्रवृत्ति के जनक हैं, उन सबमें व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व है और जो–जो ज्ञान संवादि (सफल) प्रवृत्ति के जनक नहीं है, जैसे शुक्तिरूप्यादि का ज्ञान, उसमें व्यवहारकालाबा–ध्यविषयकत्व नहीं है। अत: इस नियम में कोई व्यभिचार न होने के कारण सफलप्रवृति की जनकता का अवच्छेदक व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूपप्रामाण्य हो ही सकता है। इस प्रकार का प्रामाण्य स्मृतिसाधारण कहा जाता है। अर्थात् संवादिप्रवृत्तिजनकत्वानुकूलरूपप्रामाण्य यहाँ पर विवक्षित है। अत: स्मृति में उक्त प्रामाण्य की अतिव्याप्ति नहीं है। व्यवहारकालाबाध्य–विषयकत्वरूपप्रामाण्य जो है, वह भाविकाल में होने वाला ब्रह्मज्ञान, जिससे प्रपञ्च का बाध होता है। उसका विरोधी नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। क्योंकि भाविकाल में होने वाला प्रपञ्च का बाध और भाविकाल में होने वाला प्रपञ्च के बाधाभाव, इन दोनों का जब तक किसी प्रमाण से उपस्थापन नहीं किया जा सकता है तब तक इनका साक्षी से ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि साक्षी स्वसम्बद्धवर्तमानमात्र का ग्राही होता है, यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं।।४।।

इस पर पूर्वपक्षी पुन: शङ्का कर रहा है कि यदि सफलप्रवृत्ति का जनकतावच्छेदक व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व को मानते हैं, तो व्यवहारकाल में जिस ज्ञान के विषय का बाध न होता हो, उस ज्ञान को प्रमाज्ञान मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में देह और आत्मा की एकता का ज्ञान, जैसे 'श्यामोऽहम्, गौरोऽहम्,' एवं जलादिगत उष्णता के ज्ञान (आदि पदसे 'काणोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' इत्यादि ज्ञानों) को प्रमाज्ञान ही मानना पड़ेगा, क्योंकि उक्त ज्ञानों के विषयों का बाध व्यवहारकाल में नहीं होता है। पूर्वपक्षी के इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि देहात्मैक्यज्ञान (श्यामोऽहं, गौरोऽहम्) और जल में उष्णतादि का ज्ञान जो है, उनके विषयों का बाध ब्रह्मज्ञान होने से पहले पहले नहीं होता है। अत: घटादिज्ञान के समान ही उसको व्यवहारत: प्रमाण माना जाता है। अर्थात् घटादि ज्ञानों का जैसे व्यवहारकाल में बाध नहीं होता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान से बाध होता है । ठीक इसी प्रकार देहात्मैक्यादि ज्ञानों का व्यवहारकाल में बाध नहीं होता है किन्तु ब्रह्मज्ञान से बाध होता है। अत: घटादिज्ञान के समान ही

यद् बाधकं तदपि किं यत्कालावच्छेदेनानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधति, उतान्यकालावच्छेदेन, आद्ये कथमस्य प्रामाण्यम्? अन्त्येऽनित्यत्वादिकमेवेति चेन्न, अबाध्यत्व– रूपप्रामाण्यस्य प्रपञ्चज्ञाने मयाऽनङ्गीकारात्। यत्कालावच्छेदेनैवानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधाभ्युपगमात्। यच्च प्रामाण्यं मयाभ्युपेयते तद् व्यवहारदशायां विपरीतप्रमारूपबाधक–

कैलासविद्याप्रकाशिका

के मध्य में निषेध करता है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर घटादि ज्ञान में प्रामाण्य नहीं आ सकता है, क्योंकि यत्कालावच्छेदेन घटादिज्ञान ने स्वार्थ गृहीत किया, तत्कालावच्छेदेन ही उसके विषय का निषेध हो गया। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर घटादि में अनित्यत्वादि की ही सिद्धि होगी।

समाधान– नहीं, क्योंकि घटादिज्ञान में त्रैकालिक अबाध्यत्वरूप प्रामाण्य को हम स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए जिस कालावच्छेदेन घटादिज्ञान से स्वार्थ गृहीत होता है, तत्कालावच्छेदेन ही उक्त स्वार्थ का निषेध मानते हैं। घटादिज्ञान में जिस प्रामाण्य को हम स्वीकार करते हैं, वह प्रामाण्य तो व्यवहारकाल में रहेगा ही क्योंकि उसका विरोधी निष्प्रकारक प्रमारूप बाधकज्ञान (ब्रह्मज्ञान) उत्पन्न नहीं हुआ है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

देहात्मैक्यादिज्ञानों में भी व्यावहारिकप्रामाण्य माना जाता है। भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के समन्वयाधिकरण के समाप्ति के अवसर पर इस विषय की व्यवस्था सुन्दरपाण्ड्याचार्य के वाक्पुष्पों से इस प्रकार की है।

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्।।

अद्वैतसिद्धान्त में व्यावहारिकप्रमाणभूतघटादिज्ञानों का भाविकाल में ब्रह्मज्ञान से बाध स्वीकार किया जाता है। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहा है कि भाविकाल में होने वाला घटादिकों का बाधक जो ब्रह्मज्ञान है वह ब्रह्मज्ञानरूपबाधक व्यवहारकाल में ही व्यावहारिकप्रमाण के द्वारा जिस समय अपने विषय का सद्भाव बतलाया जा रहा है, उसी व्यवहारकालावच्छेदेन ही घटादियों का निषेध (बाध) कर देता है? अथवा व्यावहारिकप्रमाण के द्वारा जिस समय अपने विषय के सद्भाव को बतलाया जा रहा है उससे अन्यकाल (भाविकाल) में ब्रह्मज्ञानरूपबाधक के द्वारा घटादियों का निषेध(बाध) होता है। अर्थात् घटादिज्ञानों के भाविबाधक ब्रह्मज्ञान क्या यह सूचित करता है कि घटज्ञान जिस काल में घटादि को ग्रहण करता है, उस काल में घटादि नहीं है? अथवा उस काल से अन्य काल में घटादि नहीं है? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर यह दोष होगा कि घटादिज्ञानों में प्रमात्व की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि घटादिज्ञानकाल में ही उसका विषय बाधित हो जाता है। जिस ज्ञान का विषय बाधित हो जाता है, उस ज्ञान को प्रमाज्ञान न मानकर भ्रमज्ञान माना जाता है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर घटादि अनित्य सिद्ध होंगे, न कि मिथ्या। क्योंकि एक काल में विषय का होना और दूसरे काल में न होना, यह विषय (घटादि) की अनित्यता को बतलाता है, न कि मिथ्यात्व को। सिद्धान्ती प्रथम पक्ष को स्वीकार कर के समाधान देते हुए कह रहे हैं कि इस प्रपञ्च के ज्ञान में त्रैकालिकाबाध्यविषयकत्वरूपप्रामाण्य, अर्थात् पारमार्थिकप्रामाण्य नहीं स्वीकार करते हैं, अपितु व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप व्यावहारिकप्रामाण्य को प्रपञ्च के ज्ञान में स्वीकार करते हैं। अतः जिस व्यवहारकालावच्छेदेन व्यावहारिकप्रमाण के द्वारा अपने विषय घटादि का ग्रहण होता है, उसी व्यवहारकालावच्छेदेन भाविबाधकप्रमाण के द्वारा घटादि विषय का निषेध होता है यह स्वीकार किया जाता है। पूर्वपक्षी ने जो यह दोष दिया था कि विषय का बाध (निषेध) हो जाने से घटादिज्ञानों में प्रमात्व की सिद्धि नहीं होगी, उसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि घटादिज्ञानों में जो व्यावहारिकप्रामाण्य

स्यानुत्पन्नत्वादस्त्येव। न च यद् भवतां घटादिबुद्धेः प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्षण्यं विषयस्य व्यावहारिकसत्त्वसाधकम्, तदेवेह मम विषयस्य पारमार्थिकसत्त्वसाधकमस्त्विति वाच्यम्; प्रातिभासिकबुद्धिवैलक्षण्यं हि घटादिबुद्धेः सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्वादिरूपम्; तन्न पारमार्थिकसत्त्वं

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — सिद्धान्ती के मत में घटादिबुद्धि निष्ठ प्रातिभासिक बुद्धि से जो वैलक्षण्य है, वह जिसके द्वारा सिद्ध होता है वही घटादि विषय में व्यावहारिक सत्त्व का साधक है किन्तु वही पूर्वपक्षी के मत में व्यवहारदशा में घटादिविषयनिष्ठ पारमार्थिकत्व का साधक है।

समाधान — ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि घटादिबुद्धिनिष्ठ प्रातिभासिक बुद्धि के भेद का साधक सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वादिरूप है किन्तु वह घटादि निष्ठ पारमार्थिकत्व का साधक नहीं हो

सत्यानन्दप्रबोधिका

(व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वरूप प्रमात्व) माना जाता है, वह व्यवहारदशा में विपरीतप्रमारूपबाधक, अर्थात् 'नायं घटः' ऐसी प्रमारूपबाधक के न होने से बना ही रहता है। अर्थात् भाविबाधकप्रमाण (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा घट का बाध होने पर भी, अभी व्यवहारदशा में बाधक (नायं घटः) उत्पन्न नहीं है। अतः घटज्ञान का व्यवहारकाल में कोई बाधक न होने से घटज्ञान व्यावहारिकदशा में प्रमा माना ही जाता है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती अबाध्यविषयकत्वरूप हेतु के बल पर घटादि ज्ञान को शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकवस्तु के ज्ञान से विलक्षण सिद्ध करते हैं और घटादिज्ञानों के विषय घटादि को व्यावहारिकसत्य सिद्ध करते हैं। अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुसार सिद्धान्ती के अनुमान का आकार इस प्रकार होगा— 'घटादिज्ञानं प्रातिभासिकज्ञानभिन्नम्, अबाध्यविषयकत्वात्' और 'घटादिकं व्यावहारिकसत्, अबाध्यविषयत्वात्'। इन दोनों अनुमानों मे से प्रथम अनुमान से घटादिज्ञान में प्रातिभासिकज्ञानविलक्षणत्व सिद्ध होगा और दूसरे अनुमान से घटादिज्ञानों के विषयीभूतघटादि में व्यावहारिकसत्त्व सिद्ध होगा। किन्तु उसी अबाध्यविषयकत्वरूप हेतु के द्वारा द्वैतमत में घटादि ज्ञान को पारमार्थिकसद्विषयक सिद्ध करते हैं। अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुमान का आकार होगा— 'घटादिज्ञानं पारमार्थिकसद्विषयकम्, अबाध्यविषयकत्वात्' और 'घटादिकं पारमार्थिकसत्, अबाध्यविषयत्वात्'। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि घटादिज्ञानों को प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि ज्ञानों से विलक्षण सिद्ध करने के लिए सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्वरूप हेतु का प्रयोग किया जाता है न कि अबाध्यविषयकत्वरूप हेतु का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् अनुमान का आकार होगा— 'घटादिज्ञानं प्रातिभासिकज्ञानभिन्नम्, सप्रकारज्ञानाबाध्यविषयकत्वात्' क्योंकि प्रातिभासिकादि ज्ञानों में सप्रकारकज्ञानवाला विषयकत्व रहता है। इसी प्रकार विषय में व्यावहारिकसत्त्व सिद्ध करने के लिए अनुमान का आकार होगा— 'घटादिकं व्यावहारिकसत्, सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वात्'। परन्तु पूर्वपक्षी प्रथम अनुमान के हेतु (सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्व) के द्वारा घटादिज्ञान में पारमार्थिकसद्विषयकत्व सिद्ध नहीं कर पायेगा, क्योंकि अनुमान का आकार यह होगा— 'घटादिज्ञानं पारमार्थिकसद्विषयकम्, सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्वात्, ब्रह्मज्ञानवत्'। ऐसा अनुमान करने पर देहात्मैक्यज्ञान और ब्रह्मज्ञान से अव्यवहितपूर्व में उत्पन्न भ्रमज्ञान में व्यभिचारदोष आयेगा। क्योंकि देहात्मैक्यज्ञान और उक्त भ्रमज्ञान, ये दोनों ही केवल ब्रह्मज्ञान से बाध्य होने के कारण सप्रकारकज्ञानाबाध्य— विषयकत्वरूप हेतु उनमें है, किन्तु साध्य नहीं है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के घटादिविषय में पारमार्थिकसत्त्व सिद्ध करने के लिए अनुमान का आकार होगा— 'घटादिकं पारमार्थिकसत्, सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वात्, ब्रह्मवत्'। किन्तु ऐसा अनुमान करने पर देहात्मैक्य और ब्रह्मज्ञानाव्यवहितपूर्व में उत्पन्न भ्रमज्ञान के विषय में व्यभिचार होगा, क्योंकि

घटादेः साधयितुं शक्तम्, देहात्मैक्यज्ञाने ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमे च व्यभिचारात् ॥५॥

ननु ''घटः सन्'' ''रूप्यं मिथ्या'' इति प्रतीत्योरविशेषे कथं ''घटो मिथ्या रूप्यमिथ्यात्वं न मिथ्या'' इति विशेषः? न च तदपि मिथ्यैव; रूप्यतात्त्विकत्वापत्तेः, इति चेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि यथा न रूप्यस्य तात्त्विकत्वं तत्रोपपत्तेरुक्तत्वात्। न च पारमार्थिकसत्त्वस्य प्रत्यक्षागोचरत्वे

कैलासविद्याप्रकाशिका

सकता है, क्योंकि देहात्मैक्यज्ञान और ब्रह्मज्ञान से अव्यवहितपूर्वक्षणवृत्ति भ्रम में व्यभिचार है।।५।।

शङ्का – ''घटः सन्'' ''रूप्यं मिथ्या'' इन दोनों प्रतीतियों में तुल्यता होने पर भी घट मिथ्या है और रूप्यमिथ्यात्व मिथ्या नहीं है—ऐसा भेद क्यों? रजत का मिथ्यात्व भी मिथ्या है—ऐसा तो स्वीकार कर नहीं सकते, क्योंकि रजत के तात्त्विकत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— नहीं, क्योंकि रजतगतमिथ्यात्वनिष्ठ मिथ्यात्व के होने पर भी जिस प्रकार से रजतगत तात्त्विकत्व सिद्ध नहीं होता है— इनमें जो युक्तियां हैं, उनका निरूपण मिथ्यात्वमिथ्यात्वविचार प्रकरण में पीछे कहा जा चुका है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

देहात्मैक्य और उक्त भ्रमज्ञान का विषयीभूतपदार्थ ब्रह्मज्ञानमात्र से बाध्य होने के कारण उनमें सप्रकारकज्ञानाबा—ध्यविषयत्वरूप हेतु है, किन्तु साध्य नहीं है। अतः घटादि में व्यावहारिकसत्त्व को सिद्ध करने वाले हेतु से घटादि में पारमार्थिकसत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है।। ५।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि 'घटः सन्' 'रूप्यं मिथ्या' यह दोनों प्रतीतियाँ तुल्य है, क्योंकि उक्त दोनों ज्ञान व्यावहारिक है, अर्थात् सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयकत्व दोनों में समान है 'रूप्यं मिथ्या' इस ज्ञान में त्रैकालिकाबाध्यविषयकत्व है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त ज्ञान का विषय जो रूप्यमिथ्यात्व वह तो ब्रह्म से भिन्न ही है, क्योंकि उसका भी ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाने के कारण वह (रूप्यमिथ्यात्व) त्रैकालिकाबाध्य नहीं है। फिर प्रथमज्ञान से उपस्थापित घट को जैसे मिथ्या कहते हो उसी प्रकार द्वितीयज्ञान से उपस्थापित शुक्तिरूप्यगतमिथ्यात्व को भी मिथ्या कहना चाहिए। यदि शुक्तिरूप्य के मिथ्यात्व को मिथ्या कहोगे तो शुक्तिरूप्य को तात्त्विक मानना पडेगा। जैसे ब्रह्म के मिथ्यात्व के मिथ्या होने से ब्रह्म को तात्त्विक माना जाता है, तो पूर्वपक्षी की यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरूक्तिप्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर भी शुक्तिरूप्यादि में तात्त्विकत्व की आपत्ति नहीं होती है। पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि किसी की प्राप्ति होने पर ही उसका निषेध किया जाता है। जिस की प्राप्ति ही नहीं उसका निषेध होता ही नहीं है। अतः प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व यदि प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है, तब प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व की निषेधकश्रुतियों में अप्रसक्तप्रतिषेधकता की प्रसक्ति होगी। अप्रसक्तप्रतिषेध का अर्थ होता है— जो वस्तु जिस रूप से जिस अधिकरण में ज्ञात नहीं है, उस वस्तु का उसी रूप से उसी अधिकरण में निषेध करना। अर्थात् जो पारमार्थिकसत्त्व प्रपञ्च में किसी प्रमाण से प्राप्त ही नहीं है, उसका निषेध श्रुति कर रही है ऐसा मानने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा जो कि माना नहीं जा सकता है। परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृश्यत्व, जडत्वादिरूपेण घटादि प्रपञ्च ब्रह्म में चक्षुरादिप्रमाणों के द्वारा प्रसक्त होता है और प्रपञ्चनिष्ठपारमार्थिकसत्त्वनिषेध– कश्रुतियों के द्वारा दृश्यत्वादिरूपेण ब्रह्म में घटादि का निषेध होता है। अर्थात् ब्रह्म में स्वरूपेण प्रपञ्च का निषेध उक्त श्रुतियों के द्वारा किया जाता है श्रुति के द्वारा पारमार्थिकत्वेन प्रपञ्च का निषेध नहीं किया जा सकता है। अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणों के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रसक्ति न होने पर भी अप्रसक्तप्रतिषेधकता की प्रसक्ति नहीं है। यह द्वितीयमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है और उसी द्वितीयमिथ्यात्व के

तन्निषेधश्रुतीनामप्रसक्तप्रतिषेधकता स्यादिति वाच्यम्, तासां चक्षुरादिप्रसक्तद्वैतनिषेधपरत्वात्, पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधपरत्वेऽपि नाप्रसक्तनिषेधकत्वम्; परोक्षप्रसक्तेः सम्भवात्, ''नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः'' इत्यादिवदप्रसक्तप्रतिषेधस्याप्युपपत्तेश्च।। ६।।

न चातात्त्विकप्रपञ्चे यदि तात्त्विकत्वमप्यध्यक्षेण न गृह्यते, कथं तर्हि तस्यातत्त्वावेदकत्वम्?

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का — प्रपञ्चगतपारमार्थिक सत्त्व प्रत्यक्ष का विषय न होने पर प्रपञ्च निष्ठ पारमार्थिक सत्त्व निषेधक श्रुतियों में अप्रसक्त प्रतिषेधकता की आपत्ति होगी।

समाधान— नहीं, क्योंकि उन श्रुतियों में दृश्यत्वादिरूप के चक्षुरादि से ज्ञात जो ब्रह्म में द्वैत, तादृशद्वैतनिषेधपरकत्व है। पारमार्थिकत्व रूप से द्वैतनिषेधपरकत्व स्वीकार करने पर भी उन श्रुतियों में अप्रसक्त प्रतिषेधकता की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि परोक्षरूप से प्रसक्ति सम्भव है। '' अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिए।'' इत्यादि के समान पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधक श्रुतियों में भी अप्रसक्त प्रतिषेधकता मानी ही जा सकती है।।६।।

शङ्का — वस्तुतः तात्त्विकत्व से रहित प्रपञ्च में यदि तात्त्विकत्व भी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं गृहीत होता है,तब प्रत्यक्ष में अतत्वावेदकत्व कैसे हैं? जो प्रत्यक्ष प्रमाण तद्रूपावच्छिन्न को

सत्यानन्दप्रबोधिका

निरूपण के अवसर पर यह जो कहा गया है कि पारमार्थिकत्वेन प्रपञ्च का निषेध होता है, ऐसा मानने पर भी अप्रसक्तप्रतिषे–धकतादोष नहीं होगा, क्योंकि पूर्वपक्षियों के द्वारा किया गया अनुमानाभासादि के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रसक्ति है ही। इस प्रकार दिखाया गया कि प्रकृत में अप्रसक्तप्रतिषेध नहीं है। आगे यह दिखाया जा रहा हैं कि अप्रसक्तप्रतिषेध होने पर भी दोष नहीं होता है। उदाहरणार्थ जैसे अन्तरिक्षादि में अप्राप्त इष्टिकाचयन का निषेध 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः' (यथा अन्तरिक्षादौ न चयनं तथा शुद्धपृथिव्यां नाग्निश्चेतव्यः किन्तु हिरण्यं निधाय चेतव्य इत्यर्थः) इस श्रुति के द्वारा किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ पर निषेध में तात्पर्य होता है, वहाँ पर प्रतियोगी की प्रसक्ति के बिना निषेध की कल्पना व्यर्थ होने के कारण प्रतियोगी की प्रसक्ति आवश्यक होती है और जहाँ पर मानान्तर से सिद्ध प्रतिषेध का अनुवाद कर विधेय की स्तुतिमात्र में तात्पर्य होता है, वहाँ पर प्रतियोगी की प्रसक्ति आवश्यक नहीं होती है। जैसे 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः' इस वाक्य का निषेध में तात्पर्य नहीं है किन्तु मानान्तर से प्राप्त अन्तरिक्षादि में अग्निचयन के निषेध का अनुवाद कर पृथिवी में सुवर्णनिधानपूर्वक अग्निचयनरूप– विधेय के स्तुतिपरत्व में है। अतः यहाँ पर प्रतियोगी की प्रसक्ति की आवश्यकता नहीं है। ठीक इसी प्रकार पारमार्थिकसत्यत्वविशिष्टद्वैतरूपप्रतियोगी की ब्रह्म में प्रसक्ति के बिना भी मिथ्यात्वसा–धकानुमानादि से सिद्ध जो ब्रह्मगत पारमार्थिकसत्यत्वरूप से द्वैत का अभाव उसके अनुवाद द्वारा विधेय ब्रह्म की स्तुतिबोधकता निषेधबोधकश्रुतियों में है।। ६।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती प्रत्यक्षप्रमाण को भ्रमज्ञान का जनक मानते हैं। यह बात तभी सिद्ध हो सकती है यदि अतात्त्विकप्रपञ्च में तात्त्विकत्व का ग्रहण प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा हो। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अतात्त्विकप्रपञ्च में प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा यदि तात्त्विकत्व का ग्रहण नहीं होता है तब प्रत्यक्षप्रमाण को भ्रमज्ञान का जनक कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि तदभाववाले में तत्प्रकारकज्ञान को ही भ्रमज्ञान कहा जाता है। यह तभी सम्भव होगा जब तात्त्विकत्व के अभाववाले प्रपञ्च में तात्त्विकत्व का ग्रहण हो, जो प्रमाण तद्रूपावच्छिन्न को तद्रूपावच्छिन्नत्वेन बोध करता है, अर्थात्

नहि तदेव तत्त्वेनावेदयदतात्त्विकं नाम, दृश्यते च सार्वलौकिकप्रपञ्चे पारमार्थिकत्वानुभव इति वाच्यम्; न ह्यस्माकं तत्त्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, तद्भिन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वम्, किन्त्व—बाधितविषयत्वं तत्त्वावेदकत्वम्, बाधितविषयत्वं चातत्त्वावेदकत्वम्, अबाधितविषयत्वञ्च श्रौते ब्रह्मज्ञान एव, न तु तद्भिन्नज्ञाने तात्पर्यवद्वेदत्वेनैव तत्त्वावबोधकत्वात्। तथा च प्रपञ्चप्रत्यक्षस्य तात्त्विकत्वागोचरत्वेऽप्यतत्त्वावेदकत्वं सङ्गच्छते। सार्वलौकिकी पारमार्थिकत्वप्रसिद्धिस्तु

कैलासविद्याप्रकाशिका

तद्रूपावच्छिन्नत्वेन बोधन करता है। उस प्रत्यक्ष प्रमाण को अतात्त्विक नहीं माना जा सकता है। निखिल प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का अनुभव सार्वलौकिक देखने में आता है।

समाधान — ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में तद्रूपावच्छिन्न में तत्प्रकारकत्वरूप तत्त्वावेदकत्व और उससे भिन्न अतत्त्वावेदकत्व—ऐसा नहीं माना जाता है किन्तु अबाधितविषयत्व = तत्त्वावेदकत्व और बाधितविषयत्व = अतत्त्वावेदकत्व—ऐसा माना जाता है। अबाधितविषयत्व तो श्रुतिजन्य ब्रह्मज्ञान में ही है, उससे भिन्न ज्ञान में नहीं है,क्योंकि ब्रह्म प्रतिपादनपरकवेदत्व वेदान्तश्रुतियों में होने से उनसे जन्य ज्ञान में तत्त्वावबोधकत्व है। इसलिए प्रपञ्चविषयक प्रत्यक्ष में तात्त्विकत्वाविषयत्व होने पर भी अतत्त्वावेदकत्व सङ्गत हो जाता है। सभी लोगों को होने वाली प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रसिद्धि तो जलगत पिपासोपशमन करने की सामर्थ्य के समान परोक्षत्वरूप से भी उपपन्न हो सकती है। वह अपरोक्षत्व पर्यवसायिनी नहीं हो सकती है। इसलिए मिथ्यात्वानुमान के पक्षीभूत प्रपञ्च में प्रत्यक्षयोग्य सत्त्व का निर्वचन सम्भव न होने से, प्रपञ्चगतमिथ्यात्वसाधक

सत्यानन्दप्रबोधिका

तात्त्विकत्ववाले प्रपञ्च में तात्त्विकत्वप्रकारक बोध कराता हुआ कोई भी प्रमाण अतत्त्वावेदक नहीं माना जाता है। क्योंकि वह तद्वति तत्प्रकारकज्ञान का जनक है और सम्पूर्ण लौकिकप्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का अनुभव सभी लोगों को होता है। अतः इस प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वेदान्तसिद्धान्त में तद्वति तत्प्रकारकज्ञान को तत्त्वावेदक (प्रमा) नहीं माना जाता है और तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान को भ्रमज्ञान भी नहीं माना जाता है। किन्तु जिस ज्ञान का विषय बाधित नहीं होता है उस ज्ञान को प्रमाज्ञान कहा जाता है और जिस ज्ञान का विषय बाधित हो जाता है उस ज्ञान को भ्रमज्ञान कहा है। श्रुतिजन्यब्रह्मविषयकप्रमाज्ञान में अबाधितविषयकत्व है और ब्रह्मज्ञान से भिन्न ज्ञानों में अबाधितविषयकत्व नहीं है। क्योंकि ब्रह्मतात्पर्यकवेदवाक्यजन्यज्ञान में ही तत्त्वावेदकत्व है। यद्यपि श्रुति कहीं सृष्टि कहीं उपासना और कहीं द्वैत आदि बतलाती है फिर भी सर्वत्र ब्रह्म का बोध कराने में श्रुति का तात्पर्य है, जब कि सृष्ट्यादि की बोध कराने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है और ब्रह्म अबाधित होने के कारण अबाधितविषयकश्रुतिबोध को तत्त्वावेदकत्व माना जाता है। अतः अतात्त्विकप्रपञ्च में प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा तत्त्वावेदकत्व का प्रत्यक्ष न होने पर भी बाधितविषयकप्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्ष को अतत्त्वावेदक माना ही जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रसिद्धि सर्वानुभव सिद्ध है। पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक उसी प्रकार का है जैसे प्रत्यक्ष से जल में प्यास बुझाने की प्रसिद्धि लोक में है। अर्थात् जलगत जो प्यास बुझाने की अतीन्द्रियशक्ति है, उससे प्यास बुझती है, उस अतीन्द्रियशक्ति का प्रत्यक्ष होता नहीं है, अपितु सर्वत्र शक्ति को अनुमानादिगम्य माना जाता है। फिर भी लोकव्यवहार में उसके प्रत्यक्ष की प्रसिद्धि है। उसी प्रकार द्वैतवादियों के किए गये अनुमानों के द्वारा परोक्षरूप से प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की जो प्रसिद्धि है, उस परोक्षप्रसिद्धि में ही गौणरूप से प्रत्यक्षात्मकव्यवहार लौकिक लोग करते हैं। वास्तव में प्रपञ्च में

जलगतपिपासोपशमनसामर्थ्यप्रसिद्धिवत् परोक्षतयाप्युपपन्ना नापरोक्षत्वपर्यवसायिनी।

तस्मादध्यक्षयोग्यस्य सत्त्वस्येहानिरुक्तितः।
नाध्यक्षबाधो मिथ्यात्वलिङ्गस्यात्रोपपद्यते।।
न लौकिकं न सामान्यजन्यं साक्ष्यात्मकं न च।
प्रत्यक्षं बाधते लिङ्गं मिथ्यात्वस्यानुमापकम्।। ७।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः —

कैलासविद्याप्रकाशिका

दृश्यत्वादि हेतु का प्रत्यक्ष से बाध नहीं हो सकता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि प्रपञ्चगतमिथ्यात्वसाधक दृश्यत्वादि हेतु को न लौकिक प्रत्यक्ष बाधित करता है, न सामान्यलक्षणासन्निकर्ष जन्य अलौकिक प्रत्यक्ष बाधित करता है और न साक्षिरूप प्रत्यक्ष भी बाधित करता है।।७।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

पारमार्थिकत्व की अपरोक्षप्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार मिथ्यात्वानुमान के पक्ष प्रपञ्च में मिथ्यात्वविरोधिसत्त्व का प्रत्यक्ष न होने से प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध पक्षरूपप्रपञ्च में नहीं किया जा सकता है। लौकिकप्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणासन्निकर्षजन्यप्रत्यक्ष, साक्ष्यात्मकप्रत्यक्ष और पारमार्थिकत्वसाधक हेतु, ये चारों ही प्रपञ्चधर्मिकमिथ्यात्वसाधक हेतु का बाध नहीं कर सकते हैं।। ७।।

— इति सत्यान्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः —

१७: सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधः

'किञ्चेदं रूप्यम्' इत्यत्र इदमितिवत् 'सन् घटः' इत्यत्रापि सदित्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव भासते। न च चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनस्य ब्रह्मणः कथं स्फुरणमिति वाच्यम्; रूपादिहीनस्यापि कालादिन्यायेन स्फुरणस्य प्रागेवोपपादितत्वात् ।। १ ।।

नन्वेवं 'नीलो घटः मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्गम्' इत्यादावपि 'नीलः' इत्यादिरधिष्ठानानुवेध इति स्यात्, न च नैल्यं घटादिष्वस्ति, सत्त्वं तु न तथेति वाच्यम्; अस्यारोपितत्वसिद्ध्युत्तर—

कैलासविद्याप्रकाशिका

सिद्धान्तमत का यह भी आशय है कि ''यह रजत है।'' इस ज्ञान में जैसे अधिष्ठान का सामान्यस्वरूप ही ''इदम्'' रूप से भासित होता है, ठीक उसी प्रकार ''सन् घटः'' इस ज्ञान में भी ''सन्'' इत्याकारकरूप से अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही भासित होता है। चक्षुरादि जन्य ज्ञान में रूपादि से रहित ब्रह्म का स्फुरण नहीं हो सकता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि रूपादि रहित ब्रह्म का स्फुरण कालादिस्फुरणन्याय से हो जायेगा। इसका उपपादन परिच्छिन्नत्व हेतु के विचार के समय किया जा चुका है।।१ ।।

शङ्का— एवम् = ''सन् घटः'' का पूर्वोक्त प्रकार से अर्थ करने पर, ''नील घट, मिथ्या रजत, असत् नृशृङ्ग'' इत्यादि प्रतीतियों में भी नीलादि पदार्थ भी अधिष्ठान होकर आरोपित घटादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर प्रतीत होने चाहिए। यदि यह कहा जाय कि नीलिमादि तो आरोप्यमाण घटादियों के ही अन्तर्गत है। अतः नीलिमादि अधिष्ठान नहीं हो सकते हैं किन्तु सद्रूप ब्रह्म वैसा नहीं है—ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् में घटादि के आरोपितत्त्व की सिद्धि के उत्तरकाल में ही

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि 'सन् घटः' ऐसा जो प्रत्यक्ष है, उसके द्वारा घट में सत्त्व का ग्रहण होता है। अतः 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि 'इदं रजतम्' इस स्थल पर इदं रूप से पुरोवर्ति वस्तु शुक्ति—अवच्छिन्नचैतन्यरूप अधिष्ठान का भान होता है। अर्थात् 'इदं रजतम्' का अर्थ होता है कि पुरोवर्ति वस्तु शुक्ति—अवच्छिन्नचैतन्य से तादात्म्यापन्न रजत। यहाँ पर रजत और तादात्म्यसम्ब—न्ध दोनों ही मिथ्या होते हैं, केवल अधिष्ठान ही सत्य होता है। ठीक इसी प्रकार 'सन् घटः' इस स्थल पर सत् शब्द से सद्रूप ब्रह्म जो अधिष्ठान है, उसका भान होता है। अर्थात् 'सत् तादात्म्यापन्नो घटः' ऐसा बोध होता है। यहाँ पर केवल अधिष्ठान ही सत्य है और घट एवं तादात्म्य दोनों मिथ्या होते हैं। अतः 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का साधक है न कि बाधक। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि चाक्षुषद्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूप और महत्परिमाण कारण होते हैं, ब्रह्म में महत्परिमाण होने पर भी उद्भूतरूप नहीं है। अतः 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष में रूपादि रहित ब्रह्म का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यह पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि रूपादि रहित काल का प्रत्यक्ष पूर्वमीमांसक मानते हैं और पूर्वपक्षी भी रूपादिरहित जाति का प्रत्यक्ष मानता है। अतः रूपादि रहित ब्रह्म का भी प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस पर विशेष चर्चा परिच्छिन्नत्व हेतु के निरूपण के अवसर पर की जा चुकी है ।। १।।

सिद्धान्ती ने 'सन् घटः' का अर्थ किया— 'सत्तादात्म्यापन्नो घटः'। इस प्रकार के अर्थ को सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि जैसे 'सन् घटः' का अर्थ किया गया ठीक उसी प्रकार 'नीलो घटः' का अर्थ ''नील तादात्म्यापन्नो घटः'' होना चाहिए, अर्थात् नील अधिष्ठान है और घट एवं घट के साथ नील का तादात्म्य मिथ्या है। इसी प्रकार 'मिथ्या रूप्यम्' का अर्थ 'मिथ्यातादात्म्यापन्नं रूप्यम्' एवं 'असन्नृशृङ्गम्' का अर्थ 'असत्तादात्म्यापन्नं नृशृङ्गम्' करना पडेगा। अर्थात् नील, मिथ्या, असत्—आदि को

कालीनत्वेनान्योन्याश्रयात्; अन्यथा 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यत्रापि सत्यमित्यधिष्ठानानुवेध एव स्यादिति चेत्।।२।।

न, सन्नित्यस्य 'घटः' इत्यनेन सामानाधिकरण्यस्य बाधितत्वात्। तथा हि सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनं वा? स्वरूपसत्त्वनिबन्धनं वा? कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं वा?

कैलासविद्याप्रकाशिका

घटादि में सत्त्वाभाव की सिद्धि होगी। ऐसा होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। अन्यथा= इस अन्योन्याश्रयदोष को तिरस्कृत कर के ''सन् घटः'' इस स्थल पर 'सन्' यह अधिष्ठान का ही अनुवेध है—ऐसा अङ्गीकार करने पर ''सन् घटः'' के समान ही ''सत्यं ज्ञानम्'' इस स्थल पर भी ''सत्यम्'' यह अधिष्ठान का ही अनुवेध है—ऐसा स्वीकार करना होगा, जो कि सिद्धान्ती के लिए अभीष्ट नहीं है।।२।।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''सन् घटः'' इस स्थल पर ''सन्'' इत्याकारक प्रतीतिविषयीभूत सत्त्व का ''घटः'' इत्याकारक प्रतीतिविषयीभूत घट पदार्थ के साथ जो सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) है, वह बाधित है। इस अर्थ को ''तथाहि'' से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वह सामानाधिकरण्य क्या सत्ताजाति स्फुरण से घटित है? अथवा वह सामानाधिकरण्य क्या स्वरूपसत्त्व से

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिष्ठान मानकर उसमें घट, रूप्य और नृशृङ्गादि एवं उनके तादात्म्य को मिथ्या मानना पडेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि घटादि में नीलता (नीलरूप) आदि धर्म रहते हैं, अतः नीलादि को अधिष्ठान मानकर उनमें घटादि का तादात्म्य नहीं दिखाया जा सकता है यह इसी प्रकरण में आगे कहेंगे, किन्तु सत्त्व घटादि में रहने वाला धर्म नहीं है। अतः सत् को अधिष्ठान मानकर उसमें घटादि का तादात्म्य दिखाया जा सकता है। यह बात सिद्धान्ती तभी कह सकते हैं जब सद्रूप ब्रह्म में घट आरोपित सिद्ध हो जाय। अन्यथा अन्योऽन्याश्रयदोष होगा— 'घटे सत्त्वाभावसिद्धौ सत्यां घटस्यारोपितत्वसिद्धिः, घटस्यारोपितत्वसिद्धौ च सत्यां घटे सत्त्वाभावसिद्धि' अर्थात् सद्रूप ब्रह्म में घटादि के आरोपित सिद्ध हो जाने पर घटादि में सत्त्वाभाव की सिद्धि होगी और घटादि में सत्त्वाभाव की सिद्धि होने पर अधिष्ठानगत जो सत्त्व है वही घट में प्रतीत होता है, न कि घट में रहने वाला सत्त्व, इस प्रकार से घट में आरोपितत्व की सिद्धि होगी, अतः अन्योऽन्याश्रयदोष होगा। अन्यथा घट में आरोपित्व की सिद्धि के बिना भी घटादि में सत्त्वाभाव मानेंगे तो, जैसे 'सन् घटः' का 'सत्तादात्म्यापन्नो घटः' अर्थ कर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में 'सत्यं ज्ञानम्' का अर्थ 'सत्तादात्म्यापन्नं ज्ञानम्' ऐसा करना पडेगा, अर्थात् इस श्रुतिवाक्य में स्थित 'ज्ञानम्' पद का वास्तविक ज्ञानरूप अर्थ न होकर सत् में ज्ञान अध्यस्त है ऐसा कल्पितज्ञानरूप अर्थ लेना पड़ेगा जो कि सिद्धान्ती को मान्य नहीं है। क्योंकि सिद्धान्ती ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। अतः 'ज्ञानम्' पद से कल्पितज्ञानरूप अर्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि तब तो ब्रह्म ज्ञानस्वरूप सिद्ध नहीं हो पायेगा।।२।।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सर्वप्रथम पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये अन्योऽन्याश्रयदोष का वारण कर रहे हैं। पूर्वपक्षी ने अन्योऽन्याश्रयदोष देते समय कहा था कि घट में आरोपितत्व के सिद्ध होने पर घट में सत्त्वाभाव सिद्ध होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सत् का घट के साथ जो तादात्म्य है, उसके बाधित होने के कारण घट में सत्त्वाभाव है, न कि घट के आरोपित (मिथ्या) होने के कारण। अतः अन्योऽन्याश्रय की दूसरी कोटि का खण्डन हो जाने से अन्योऽन्याश्रयदोष का वारण हो गया। घट में सत्त्वाभाव है, न कि सत्त्व है, इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि 'घटः सन्'

सामानाधिकरण्यं स्यात्। न चाभावादिसाधारणसत्प्रतीतौ सत्ताजातिस्फुरणं सम्भवति; अभावादिषु त्वयापि तदनङ्गीकारात्। न च क्वचित्साक्षात्सम्बन्धेन क्वचित् परम्परासम्बन्धेन सदिति प्रतीत्युपपत्तिः; विजातीयसम्बन्धेन समानाकारप्रतीत्यनुपपत्तेः, अन्यथा सम्बन्धभेद एव न सिध्येत्। न च स्वरूपसत्त्वेनाभावादौ तत्प्रतीतिः, अननुगमात्, अननुगतेनाप्यनुगतप्रतीतौ जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्।

कैलासविद्याप्रकाशिका

घटित है? अथवा वह सामानाधिकरण्य क्या कालत्रयाबाध्यत्व से घटित है? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं कर सकते हो, क्योंकि ''अभावः सन्'' इत्यादिरूप से अभावादि साधारण सत्प्रतीति में सत्ता जाति का भान हो नहीं सकता है, क्योंकि अभावादि में सत्ता जाति तुम मानते नहीं हो। कहीं पर साक्षात् सम्बन्ध से और कहीं पर परम्परा सम्बन्ध से ''सत्'' इस प्रकार से प्रतीति मानी नहीं जा सकती है, क्योंकि विजातीय सम्बन्ध से समानाकार प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अन्यथा = साक्षात् सम्बन्ध का प्रामाणिकत्व सम्भव होने पर भी परम्परा सम्बन्ध की कल्पना करने पर, सम्बन्ध भेद (साक्षात्सम्बन्ध का नानात्व) ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। स्वरूप सत्त्व से भी अभावादि में सत्प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुगत प्रयोजक का अभाव है। अननुगत प्रयोजक से भी अनुगत प्रतीति रूप प्रयोज्य की सिद्धि स्वीकार करने पर जाति मात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अतएव = पूर्वोक्त

सत्यानन्दप्रबोधिका

से घट में सत् के तादात्म्य की जो प्रतीति होती है वह पूर्वपक्षी के मतानुसार सिद्ध नहीं हो सकती है। इसको स्पष्ट करने के लिए सिद्वान्ती विकल्प कर के पूर्वपक्षी से पूछ रहे हैं कि 'घटः सन्' इस प्रतीति के द्वारा सत्ताजाति का स्फुरण होने के कारण घट के साथ सत् का सामानाधिकरण्य (तादात्म्य) मानते हो? अर्थात् घट में सत्ताजाति का स्फुरण होने के कारण घट में सत्तादात्म्य मानते हो? इस प्रथम पक्ष में सत्ता जाति न कह कर सत्ताजाति स्फुरण क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि पूर्वपक्षियों के सिद्धान्त के जिस पक्ष में जाति सर्वगत मानी जाती है उस पक्ष में सत्ताजाति अभावपदार्थ में भी रहेगी। अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए सत्ताजाति के स्फुरण का निवेश किया है। अतः अभाव में सत्ताजाति के रहने पर भी उसका स्फुरण अभाव में नहीं होता है। अतः स्फुरण के निवेश से अभावादि की व्यावृत्ति की गयी है। अथवा घट स्वरूपेण सत् है (न कि सत्ताजाति के रहने से) इसलिए घट के साथ सत् के तादात्म्य की प्रतीति मानते हो? अर्थात् घट स्वरूपेण सत् है इसलिए घट में सत् तादात्म्य मानते हो? अथवा घट कालत्रयाबाध्य है, इसलिए घट में सत् के तादात्म्य की प्रतीति मानते हो? अर्थात् घट कालत्रयाबाध्य है इसलिए घट में सत् का तादात्म्य हैं। प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि घट में सत्ताजाति का स्फुरण होने से 'सन् घटः' ऐसी प्रतीति मानोगे तो 'जातिः सती,' 'समवायः सन्,' 'विशेषः सन्', 'अभावः सन्' इस प्रकार से अभावादि में जो सत् के तादात्म्य की प्रतीति होती है, वह सत्ताजाति के स्फुरण के बल पर सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि अभावादि में तुम भी सत्ताजाति का स्फुरण नहीं मानते हो। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि द्रव्य—गुण—कर्म में सत्ताजाति का स्फुरण साक्षात्सम्बन्ध (समवायसम्बन्ध) से होता है और उसके द्वारा 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सन्', 'कर्म सत्' प्रतीतियां होती है और ये 'जातिः सती' 'समवायः सन्' 'विशेषः सन्' 'अभावः सन्' इन प्रतीतियों में सत्ताजाति का स्फुरण परम्परासम्बन्ध (स्वाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्ध। स्व—अभावादि, उनका अधिकरण—भूतलादि, उसमें वृत्ति सत्ताजाति। अतः उक्त वृत्तित्व सत्ताजाति में) से होता है। अतः 'अभावः सन्' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी का ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विजातीयसम्बन्ध (कहीं साक्षात् सम्बन्ध और कहीं पर परम्पर सम्बन्ध अर्थात् अननुगत

अत एव न सर्वत्रापि स्वरूपसत्त्वेनैव सद्व्यवहार:,एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ बहूनां तद्धेतुत्वकल्पने मानाभावात्। नापि कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं तत्, तस्य चक्षुराद्य–गम्यत्वस्योक्तत्वात्, 'सदिदं रजतम्' इत्यादिभ्रमेऽभावाच्च। तस्मादेकं सर्वाधिष्ठानमेव सदिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

दोष के सद्भाव से ही, भाव–अभावादि सभी पदार्थों में भी स्वरूप सत्त्व से ही सत्प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि माया तत्प्रयुक्त निखिल पदार्थों के साथ तादात्म्यापन्न एक सद्रूप ब्रह्म से ही सर्वत्र सत्प्रतीति की उपपत्ति सम्भव हो जाने पर बहुत पदार्थों में सत्प्रतीतिहेतुत्व की कल्पना में प्रमाणाभाव है। (इस प्रकार से द्वितीय पक्ष का खण्डन हो गया। आगे तृतीय पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि) कालत्रयाबाध्यत्व से घटित सत्त्व से भी सत्प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती

सत्यानन्दप्रबोधिका

सम्बन्ध) से समानाकार प्रतीति, अर्थात् 'घटः सन्', 'अभावः सन्' इस प्रकार से एकविध (अनुगत) प्रतीतियों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। यदि विभिन्न सम्बन्धों से भी एकाकार प्रतीति मानी जाये तो सम्बन्धों में भेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि किसी भी एक सम्बन्ध से सभी सम्बन्धों का काम चल जायेगा। जैसे संयोगसम्बन्ध से साक्षाद् घट भूतल पर रहता है और परम्परासम्बन्ध, अर्थात् स्वाधिकरणाधेयत्वसम्बन्ध से घट कपाल में रह जायेगा (जैसे स्व=घट, उसका अधिकरण=भूतल, उसमें आधेय कपाल है। अतः आधेयत्व कपाल में है। इस प्रकार घट कपाल में रह गया)। इस प्रकार समवायसम्बन्ध को लेंगे तो समवायसम्बन्ध से साक्षाद् घट कपाल में रहेगा और स्वाधिकरणाधारत्वसम्बन्ध से घट भूतल में रह जायेगा। जैसे स्व–घट, उसका अधिकरण कपाल, उसका आधार है भूतल, अतः आधारत्व भूतल में चला गया। इस प्रकार एक ही सम्बन्ध से काम चल जाने से अन्य सम्बन्ध व्यर्थ हो जायेंगे। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता समवायसम्बन्ध से रहेगी और अभावादि में सत्ता स्वरूपसम्बन्ध से रहेगी, अतः सम्बन्धों में भेद की भी सिद्धि हो जायेगी और 'घटः सन्' 'अभावः सन्' इत्यादि सत्प्रतीतियों की उपपत्ति भी हो जायेगी, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि यहाँ पर प्रयोज्य सत्प्रतीति है। उसका प्रयोजक द्रव्यादि में समवायसम्बन्ध से सत्ता है और अभाव आदि में स्वरूप सम्बन्ध से सत्ता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रयोजक होने के कारण अनुगतप्रयोजक नहीं है। यदि अननुगतप्रयोजक के द्वारा भी सर्वत्र सत्–सद्रूप से अनुगतप्रतीति मानेगे तो अननुगत जो घट के भिन्न–भिन्न स्वरूप, अर्थात् आकार हैं उनके द्वारा ही सभी घटों में 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार से एकाकार अनुगतप्रतीति का निर्वाह हो जायेगा, उसके लिए जाति मानना व्यर्थ होगा, इसलिए अननुगत से अनुगतप्रतीति का निर्वाह सम्भव न होने के कारण द्वितीय विकल्प भी खण्डित हो गया। क्योंकि सभी पदार्थों को स्वरूपेण सत् मानकर एकाकार सत् की प्रतीति, अर्थात् 'घटः सन्', 'अभावः सन्' इस प्रकार की प्रतीति का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यही है कि सभी पदार्थों के स्वरूप भिन्न–भिन्न है। अतः उनके द्वारा एकविधप्रतीति नहीं हो सकती है। दूसरा दोष यह है कि एक ही सद्रूप ब्रह्म के आध्यासिकतादात्म्य के द्वारा सद्रूप प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है, तब प्रपञ्चगत अनेक पदार्थों के स्वरूपों को सत्प्रतीति के प्रति कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार द्वितीय कल्प का खण्डन हो जाने पर अब तृतीय कल्प का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि घट कालत्रयाबाध्य है, अर्थात् पारमार्थिकसत् है। इसलिए घट में सत् के तादात्म्य की प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि कालत्रयाबाध्यत्वरूप सत्त्व कालत्रय से घटित होने के कारण वह चक्षुरादि से अगम्य है– यह प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वविचारप्रकरण में कहा जा चुका है। जब कि 'घटः सन्' यह चाक्षुषप्रत्यक्ष है। इसी प्रकार

सर्वत्रानुभूयत इति युक्तम् ।।३।।

नीलादेस्तु घटादिसामानाधिकरण्ये किमपि नास्ति बाधकम्, न वा नीलादेरधिष्ठानत्वं सम्भवतिः, प्रागसत्त्वात्, नीलपीतादिप्रातिस्विकानन्ताधिष्ठानकल्पने गौरवात्, अधिष्ठेयतुल्ययोगक्षेमत्वाच्च। अधिष्ठेयविषमसत्ताकमेव ह्यधिष्ठानं भवति; ''मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्गम्'' इत्यादौ मिथ्यात्वासत्त्वयोरधिष्ठानत्वशङ्काऽपि नास्ति, शून्यवादापत्तेः। तत्र चानुपपत्तिरुक्ता; वक्ष्यते

कैलासविद्याप्रकाशिका

है, क्योंकि उसका चक्षुरादि से अगम्यत्व पहले ही कहा जा चुका है और ''सदिदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमात्मक प्रतीति में कालत्रयाबाध्यत्वरूपसत्त्व का अभाव है। इसलिए सर्व का अधिष्ठान एक ब्रह्म ही सत् इत्याकारक रूप से सब में अनुभव होता है—यह कथन युक्त है।।३।।

घटादि के साथ नीलादि का सामानाधिकरण्य मानने में कोई भी बाधक नहीं है। वा=तथा, नीलादि निष्ठ अधिष्ठानत्व सम्भव भी नहीं हो सकता है, क्योंकि घटादि की उत्पत्ति से पूर्व नीलादि का अभाव है। नीलपीतादि असाधारण अनन्त व्यक्तियों में अधिष्ठानत्व की कल्पना करने में गौरव भी है। नीलपीतादि का अधिष्ठेय (घटादि) के तुल्य ही योगक्षेमत्व है। (अर्थात् घटादि की उत्पत्ति के साथ नीलादि की उत्पत्ति होती है और घटादि की निवृत्ति के साथ ही नीलादि की निवृत्ति होती है। इसलिए अधिष्ठेय (घटादि) के समान सत्तावाला नीलादि है।) जबकि अधिष्ठेय से विषमसत्ताक अधिष्ठान होता है। ''मिथ्या रजत'' ''असत् नृशृङ्ग'' इत्यादि स्थल पर मिथ्यात्व और असत्त्व—इन दोनों के अधिष्ठानत्व की शङ्का भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि शून्यवाद की आपत्ति होगी। तत्र=शून्यवाद

सत्यानन्दप्रबोधिका

'सदिदं रजतम्' इस भ्रमस्थल पर सद्रूप प्रतीति तो हो रही है किन्तु कालत्रय—अबाध्यत्व रूपसत्व नहीं है, क्योंकि भ्रम का व्यवहारकाल में ही बाध हो जाता है। इसलिए निखिल प्रपञ्च का अधिष्ठानभूत एक ही सत्तत्त्व सर्वत्र अनुगतरूप से प्रतीत हो रहा है। यह मानना ही युक्तिसङ्गत है।।३।।

पूर्वपक्षी ने पीछे नीलादि को अधिष्ठान मानने की जो आपत्ति दी थी, उसका निवारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे सत् के साथ घट का तादात्म्य बाधित है, उस प्रकार से घट के साथ नील का तादात्म्य बाधित नहीं है, क्योंकि घट में नीलादि की वृत्ति है। दूसरी बात यह है कि नीलादि में घट के अधिष्ठान बनने की योग्यता भी नहीं है। इसका प्रथम कारण यह है कि जो अधिष्ठान बनता है, वह अध्यस्तपदार्थ के पहले से विद्यमान रहता है। नीलादि घट के पहले से विद्यमान हैं ही नहीं। अतः नीलादि घट का अधिष्ठान नहीं बन सकते है। दूसरा कारण यह है कि 'नीलो घटः' में नील, 'रक्तो घटः' में रक्त और 'पीतो घटः' में पीत, इस प्रकार नील, रक्त, पीत आदि प्रत्येक को घट का अधिष्ठान मानने में गौरव होगा। तीसरा कारण यह है कि नीलादि को भी यदि घट का अधिष्ठान मानते हैं तो नीलरूप अधिष्ठान में भासित होने वाले (अधिष्ठेय) घटादि की सत्ता और अधिष्ठान नीलादि की सत्ता समान हो जायेगी। जब कि अधिष्ठेय की सत्ता से भिन्न अधिकसत्तावाला अधिष्ठान होता है। अतः नीलादि को घट का अधिष्ठान नहीं बनाया जा सकता है। इसी प्रकार 'मिथ्या रूप्यम्' और 'असन्नृशृङ्गम्' में मिथ्या और असत् को भी अधिष्ठान नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि तब शून्यवाद की आपत्ति होगी। अर्थात् अधिष्ठान हमेशा सत् ही होता है, मिथ्या या अलीक पदार्थ अधिष्ठान नहीं होते हैं। निरधिष्ठानकभ्रम हम नहीं मानते हैं, यह पहले भी हम कह चुके है और आगे भी कहेंगे। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य से 'सत्तादात्म्यापन्नं ज्ञानम्' ऐसा बोध होना चाहिए, अर्थात् ज्ञान का अधिष्ठान सत्य पदार्थ

च। यत्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यत्रापि तथा स्यादिति। तन्न, यतो न तत्र सत्तासम्बन्धेन सत्त्वम्, किन्तु स्वरूपेणैवेत्युक्तदोषानवकाशात्। न चैवं घटादावपि स्वरूपेणैव तथात्वम्, पूर्वमेव निराकृतत्वात् ।।४।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधनिरूपणम् —

कैलासविद्याप्रकाशिका

में, अनुपपत्ति का कथन पीछे (आभास साम्य भङ्ग प्रकरण में) कहा गया है और आगे (एक जीववाद प्रकरण में) कहा भी जायेगा। पूर्वपक्षी ने ऐसी जो शङ्का की थी कि ''सत्यं ज्ञानम्'' यहां पर भी ''सत्यम्'' यह अधिष्ठान का अनुवेध होगा। वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान में सत्ता के सम्बन्ध से सत्त्व है—ऐसा नहीं माना जाता है किन्तु वह स्वरूप से ही सद्‌रूप माना जाता है। इसलिए उक्त दोष की आपत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार घटादि में भी स्वरूप से ही तथात्व=सत्प्रतीतिविषयत्व, की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि इसका निराकरण पीछे किया जा चुका है।।४।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधनिरूपणम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होना चाहिए, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान में सद्‌रूपता अथवा सत्य में सद्‌रूपता सत्तादात्म्य के कारण नहीं है किन्तु स्वरूपतः ज्ञान सत् है। अतः पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को कल्पित मानना पडेगा, वह दोष नहीं लगेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घटादि को स्वरूपतः सत् मानकर सत् की प्रतीति की उपपत्ति कर लेंगे, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि घटादि का स्वरूप अनेक और अननुगत है। उसके द्वारा एकविध अनुगतसत्प्रतीति नहीं हो सकती है, यह पीछे कहा जा चुका है। इस प्रकार 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष, सत् में घट के तादात्म्य को बतलाता हुआ यह सिद्ध करता है कि तादात्म्य और घट मिथ्या हैं। अतः 'सन् घटः' यह प्रतीति मिथ्यात्वानुमान की साधिका है, यह सिद्ध हो गया।।४।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधनिरूपणम् —

१८: प्रत्यक्षस्य न्यायैः प्राबल्यविचारः

किञ्च निश्चितप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षमितरबाधकं भवेत्, न चात्र प्रामाण्यं निश्चितम्, आगमविरो–धात्, अनुमानविरोधात्, भाविबाधाभावानिर्णयाच्च। ननु प्रत्यक्षमेव प्रबलमनुमानागमबाधकम्, नानुमानागमौ; प्रत्यक्षाप्रमाण्ये तद्विरोधाभावेनानुमानागमयोः प्रामाण्यम्, तयोः प्रामाण्ये च

कैलासविद्याप्रकाशिका

किञ्च निश्चित है प्रामाण्य जिसका एवम्भूत जो प्रत्यक्ष विशेष वह ही अनुमानादि अन्य का बाधक होता है (सामान्य प्रत्यक्ष नहीं)। अत्र = 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष में तो प्रामाण्य निश्चित नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चगत मिथ्यात्वबोधक आगम से विरोध है, प्रपञ्चगत मिथ्यात्वबोधक अनुमान से विरोध है और ब्रह्मज्ञान से अविद्या–तत्प्रयुक्त का विच्छेदरूप भाविबाध के अभाव का निर्णय भी नहीं हुआ है।

शङ्का– प्रत्यक्ष ही प्रबल है। इसलिए प्रबल प्रत्यक्ष ही अनुमान और आगम का बाधक है। अनुमान और आगम प्रत्यक्ष से प्रबल नहीं है। इसलिए ये दोनों प्रबल प्रत्यक्ष के बाधक नहीं हो सकते हैं। अनुमान और आगम से विरुद्धार्थवगाही प्रत्यक्ष में यदि सिद्धान्ती अप्रामाण्य का हठ करेंगे तो अन्योन्याश्रयदोष होगा। जैसे– प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य होने पर अप्रमाणभूत प्रत्यक्ष के साथ विरोध के न होने से अनुमान और आगम के प्रामाण्य की सिद्धि होती है और अनुमान तथा आगम में प्रामाण्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी के द्वारा यह शङ्का की गयी थी कि 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का बाध कर देगा। सर्वप्रथम उस शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस प्रत्यक्षविशेष में प्रामाण्य निश्चित है वही प्रत्यक्षविशेष अनुमानादि का बाधक हो सकता है, न कि सामान्यमात्रप्रत्यक्ष। 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष में प्रामाण्य निश्चित नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन,' 'अतोऽन्यदार्तम्,' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि प्रपञ्च में मिथ्यात्वबोधक आगम से उक्त प्रत्यक्ष का विरोध है और 'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्' इत्यादि मिथ्यात्वबोधक अनुमानों से भी विरोध है। एवं आगे होने वाला अविद्या का उच्छेदक विशुद्धब्रह्मज्ञान से अविद्या एवं तत्प्रयुक्त प्रपञ्च का बाध का अभाव है ऐसा निर्णय अभी तक न हो पाने के कारण, अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से जो गृहीत हो रहा है उसका भाविकाल में बाध नहीं होगा ऐसा निश्चय नहीं है। अतः 'सन् घटः' यह अनिश्चितप्रामाण्यवाला प्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं कर सकता है। यहाँ पर पूर्वपक्षी के कथनानुसार यह व्याप्ति है– 'यद् यत् प्रत्यक्षं तत् तदनुमानादिबाधकम्' सिद्धान्ती के अनुसार व्याप्ति है– 'यद् यद् निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षं तत् तदनुमानादिबाधकम्'। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि प्रपञ्चनिष्ठसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष ('सन् घटः' इत्याकार प्रत्यक्ष) ही प्रबल है। अत एव वह प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम का बाधक है। अनुमान और आगम प्रत्यक्ष से प्रबल नहीं हैं, अतः ये दोनों प्रत्यक्ष के बाधक नहीं हैं। यदि अनुमान और आगम के विरुद्धार्थवगाहिप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य मानोगे तो अन्योऽन्याश्रयदोष होगा। उसको दिखा रहे हैं– प्रत्यक्षनिष्ठ–अप्रामाण्य के सिद्ध होने पर, अप्रमाणभूतप्रत्यक्ष के साथ विरोध न होने से अनुमान और आगम में प्रामाण्य की सिद्धि होगी और अनुमान तथा आगम में प्रामाण्य की सिद्धि होने पर प्रामाण्यवाले अनुमान और आगम से विरोध होने पर प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की सिद्धि होगी। इस पर यदि सिद्धान्ती कहे कि प्रत्यक्ष में प्रथमतः प्रामाण्य मान लेने पर भी अन्योऽन्याश्रयदोष होगा– 'प्रत्यक्षस्य प्रामाण्ये सिद्धे सति तद् विरोधात् अनुमानागमयोरप्रामाण्यं सिद्धम्। अनुमानागमयोरप्रामाण्ये च सिद्धे सति तद्विरोधाभावेन प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं सिद्धम्'। अर्थात् प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निश्चय होने पर प्रामाण्यवाले प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण अनुमान और आगम में

तद्विरोधातप्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात्, न हि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽप्येवमन्योन्याश्रयः, तस्यानपेक्षत्वादिति चेत्।। १।।

न, चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षेऽनुमानागमविरोधेन तस्याप्रामाण्यदर्शनात्, तेनापि स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमितराविरोधस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात्। तथा चान्योन्याश्रयतुल्यत्वात्

कैलासविद्याप्रकाशिका

की सिद्धि होने पर, उन दोनों से विरोध होने पर प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा। अनुमानागमविरूद्धार्थावगाहिप्रत्यक्ष के प्रामाण्य में भी उक्त प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष स्वनिष्ठ प्रामाण्य के लिए अनुमान–आगम के अविरोध की आकांक्षा नहीं करता है।।१।।

समाधान– नहीं, क्योंकि चन्द्रनक्षत्रादिसमवेतपरिमाणप्रत्यक्ष में अनुमान–आगम से विरोध होने से उक्त परिमाणप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य देखा गया है। इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा भी स्वप्रामाण्य की सिद्धि के लिए इतर अविरोध की अवश्य अपेक्षा होती है। फलतः दोनों ही पक्षों में समानरूप से अन्योन्याश्रयदोष होने के कारण परस्पर विरोध होने से प्रामाण्य में सन्देह होने पर अनाप्ताप्रणीतत्वादि के साथ प्रमाजनकत्व की व्याप्ति होने से वेदनिष्ठ प्रामाण्य का निश्चय उत्पन्न हो जाने पर तेन=

सत्यानन्दप्रबोधिका

अप्रामाण्य की सिद्धि होगी और अनुमान और आगम में अप्रामाण्य का निश्चय होने पर अप्रामाण्य वाले अनुमान और आगम सें विरोध न होने के कारण प्रत्यक्ष में प्रामाण्य की सिद्धि होगी। इस प्रकार से अन्योऽन्याश्रयदोष होगा। इस दोष का भी वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षनिष्ठप्रामाण्य का निश्चय अनुमान और आगम में अप्रामाण्य की सिद्धि की अपेक्षा नहीं करता है। अर्थात् प्रत्यक्ष में स्वतःप्रामाण्य होता है। इसलिए अन्योऽन्याश्रय की दूसरी कोटि को हम नहीं मानते है। यह नियम है कि अन्योन्याश्रय में दो कोटियाँ होती है, उसमें से किसी भी एक कोटि का खण्डन हो जाने से अन्योऽन्याश्रयदोष का खण्डन हो जाता है। प्रकृत में द्वितीय कोटि का खण्डन हो जाने से अन्योऽन्याश्रयदोष का वारण हो गया।। १।।

पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में भी अन्योऽन्याश्रयदोष है। पूर्वपक्षी ने अन्योऽन्याश्रयदोष का वारण करते हुए यह जो कहा था कि प्रत्यक्ष को अपने में प्रामाण्य सिद्धि के लिए अनुमान–आगम के अविरोध की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष में स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है, अतः अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चन्द्रतारकादि के परिमाणप्रत्यक्ष में अनुमान ('चन्द्रतारकादि दृष्टपरिमाणापेक्षयाऽधिकपरिमाणकम्, दूरस्थितत्वात्, पर्वतोपरिस्थितवृक्षवत्') और आगम (ज्योतिश्शास्त्र आदि) से विरोध होने के कारण चन्द्रतारकादि के परिमाणप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। अतः 'घटः सन्' प्रत्यक्ष को भी अपने में प्रामाण्य सिद्धि के लिए अनुमान और आगम से अविरोध की निश्चितरूप से आवश्यकता है। अतः पूर्वपक्षी ने जैसे हमारे पक्ष में अन्योऽन्याश्रयदोष दिया था, ठीक उसी प्रकार पूर्वपक्षी के मत में भी अन्योऽन्याश्रयदोष है ही। अब पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये अन्योऽन्याश्रयदोष को वारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान–आगम में परस्पर विरोध होने पर दोनों में प्रामाण्य का सन्देह होता है। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण प्रपञ्च में सत्यत्व बतला रहा है और अनुमान–आगम प्रपञ्च में मिथ्यात्व बतला रहे हैं। अतः किस प्रमाण से बोधित ज्ञान में प्रामाण्य है ऐसा सन्देह होने पर 'यत्र यत्र अनाप्ताप्रणीतत्वं तत्र तत्र प्रमाजनकत्वम्' (अनुमान का आकार होगा–'वेदाः प्रमाजनकाः, अनाप्ताप्रणीतत्वात्, आप्तवाक्यवत्')। इस प्रकार की

परस्परविरोधेन प्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्ताप्रणीतत्वादिना प्रमाजनकत्वव्याप्तेर्वेदप्रामाण्यनिश्चये जाते तेन स्वतस्सम्भावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य बाधात्, अस्मन्मते क्वान्योन्याश्रयः? अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षबुद्ध्या बाधाद्देहभिन्नत्वमप्यात्मनो नागमानुमानाभ्यां सिध्येत्।। २।।

ननु प्रत्यक्षमनुमानाद्यपेक्षया जात्यैव प्रबलम्ः, कथमन्यथा औष्ण्यप्रत्यक्षेण

कैलासविद्याप्रकाशिका

निश्चितप्रामाण्यकवेद से स्वतः सम्भावित दोष वाले प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है। अतः सिद्धान्तमत में अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। अन्यथा= पूर्वोक्त प्रकार से आगमादि के प्राबल्य को स्वीकार न करके सर्वथा प्रत्यक्ष का ही प्राबल्य मानने पर, ''गौरोऽहम्, श्यामोऽहम्'' इत्यादि देहात्मैक्यविषयकप्रत्यक्षबुद्धि से देह और आत्मा को भिन्नरूप से बोधन करने वाले अनुमान और आगम का बाध हो जाने से अनुमान और आगम से आत्मा का देह से भिन्नत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा।। २।।३।।४—।।५।।६।।७।।८।।९।।१०।।११।।१२।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्राबल्यनिराकरणम्

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याप्ति के बल पर वेद में प्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर निश्चितप्रामाण्यवाले वेद के द्वारा विविध दोषों की सम्भावनावाले प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का बाध हो जाता है। अर्थात् भ्रम—प्रमाद— विप्रलिप्सा और अपाटव ये चारो दोष अथवा यथासम्भव एक—दो या तीन दोष जिस वक्ता में रहते हो, उसे अनाप्त कहा जाता है। वेद अनाप्त से प्रणीत न होने के कारण सम्पूर्ण दोषों से रहित होने से प्रबल है और प्रत्यक्ष अविद्यादि अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण दुर्बल हैं। अतः प्रबल के द्वारा दुर्बल का बाध कर दिये जाने से अन्योऽन्याश्रयदोष की शङ्का ही नहीं है, क्योंकि आगम में प्रामाण्यसिद्धि के लिए प्रत्यक्ष के साथ अविरोध ा दिखाना ही नहीं पड़ा। इस प्रकार प्रथम कोटि का खण्डन हो जाने से अन्योन्याश्रयदोष का वारण हो गया। यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार प्रत्यक्ष में प्रामाण्यसिद्धि के लिए अनुमान—आगम में अप्रमाण्यसिद्धि की अपेक्षा नहीं मानी जाय, अर्थात् प्रत्यक्ष में स्वाभाविकप्रामाण्य मानने पर देहात्मैक्य का प्रत्यक्ष के द्वारा देह और आत्मा को भिन्न बतलाने वाले अनुमान और आगम का बाध कर दिये जाने से देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि अनुमान और आगम से न हो पाने के कारण चार्वाकमत में प्रवेश की आपत्ति होगी।। २।।

प्रत्यक्ष में जात्या प्राबल्य है— इसको ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि प्रत्यक्ष अनुमान—आगम की अपेक्षा से प्रत्यक्षत्वरूप से प्रत्यक्ष प्रबल है, न कि अनुमान—आगम के अविरुद्धत्वरूप से प्रबल है। अर्थात् जहाँ प्रत्यक्ष है वहाँ केवल प्रत्यक्षत्वरूप से प्रत्यक्ष प्रबल माना जायेगा। उसकी प्रबलता के लिए यह आवश्यक नहीं होगा कि अनुमान—आगम का अविरोध होना चाहिए। अतः 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। यदि प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षत्वरूप से प्रबल नहीं मानोगे तो वह्निनिष्ठ—औष्ण्य के प्रत्यक्ष से वह्निपक्षकशैत्य की अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं हो पायेगा। यहाँ पर पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जहाँ पर वह्निशैत्य का अनुमान (वह्निः शीतः, कृतकत्वात्, हिमखण्डवत्) विद्यमान है और वह्नि—उष्णता का प्रत्यक्ष भी विद्यमान है। यहाँ पर यदि अनुमान—अविरुद्धत्वरूप से प्रत्यक्ष की प्रबलता मानोंगे तो वह्नि—उष्णता के प्रत्यक्ष का उक्त अनुमान से विरोध होने के कारण उक्त प्रत्यक्ष वह्नि—शैत्यानुमान का बाध नहीं कर पायेगा। क्योंकि यहाँ पर अनुमान—अविरुद्धत्वरूप से प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं है अपितु अनुमानविरुद्धत्वरूप से है। अतः प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षत्वरूप से ही प्रबल मानना चाहिए। इस पर यदि सिद्धान्ती के द्वारा कहा जाय कि शैत्यानुमान का बाधक हम भी प्रत्यक्ष को मानते हैं, किन्तु प्रत्यक्षनिष्ठ प्रबलता का अवच्छेदक प्रत्यक्षत्व नहीं है अपितु उपजीव्यत्व है, क्योंकि प्रत्यक्ष शैत्यानुमान

वह्निशैत्यानुमितिप्रतिबन्धः? न च तत्रोपजीव्यत्वनिबन्धनं प्रत्यक्षस्य बाधकत्वम्; धर्म्यादिश्चक्षुरादिनैव सिद्धेस्त्वचोऽनुपजीव्यत्वात्, किञ्च प्रत्यक्षस्य प्राबल्यमनुमानाद्यगृहीतरेखोपरेखादिग्राहक-त्वादनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्चेति चेत्।।३।।

न, त्वाचप्रत्यक्षस्याप्युपजीव्यत्वेनैव शैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्, चक्षुरादिना धर्म्यादिग्रहेऽपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्धेरभावात्। तथा च न जात्या प्राबल्ये मानमस्ति। तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये प्रयोजकम्; प्रत्यक्षागृहीतधर्मादिग्राहकत्वेन परोक्षप्रमाणस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

का उपजीव्य है। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा ही पक्ष, साध्य, हेतु आदि का ज्ञान होने पर ही अनुमान किया जाता है। इसलिए उपजीव्य प्रत्यक्ष है और उपजीवक अनुमान है। उपजीव्य–उपजीवक में से उपजीव्य बलवान होने के कारण उपजीव्यरूप प्रत्यक्ष बलवान है। अतः प्रबलता का अवच्छेदक उपजीव्यत्व है। अतः उपजीव्यत्वरूप से प्रत्यक्ष शैत्यानुमान का बाध कर देता है। किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान में उपजीव्य–उपजीवक भाव नहीं है, वहाँ पर प्रत्यक्ष अनुमान का बाध नहीं कर सकता है। प्रकृत में 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का उपजीव्य नहीं है, अतः इस प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान का बाध नहीं होगा। (प्रयोजक को उपजीव्य कहते है और प्रयोज्य को उपजीवक कहते है। प्रयोजक शब्द साक्षात्परम्परासाधारणकारणताश्रय का वाचक होता है। अर्थात् साक्षात्कारण हो या परम्परा से कारण हो, वह उपजीव्य होता है और कार्य को प्रयोज्य कहते है और प्रयोज्य को ही उपजीवक कहते हैं) पूर्वपक्षी इसका खण्डन करते हुए कह रहा है कि शैत्यानुमान के पक्ष, हेतु आदि का ज्ञान चाक्षुषप्रत्यक्ष से हो रहा है। वह चाक्षुषप्रत्यक्ष शैत्यानुमान का विरोधि नहीं है। अर्थात् जो चाक्षुषप्रत्यक्ष उपजीव्य है वह शैत्यानुमान का विरोधि नहीं है और जो त्वाचप्रत्यक्ष (शैत्यप्रत्यक्ष) शैत्यानुमान का विरोधी है, वह उपजीव्य नहीं है। अतः मानना पड़ेगा प्रत्यक्ष में प्रबलता का अवच्छेदक उपजीव्यत्व नहीं है अपितु प्रत्यक्षत्व है। अतः प्रत्यक्षत्वरूप से ही प्रत्यक्ष बलवान होने के कारण 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष प्रपञ्च के मिथ्यात्वानुमानादि का बाध कर देगा। प्रत्यक्षत्वरूप से प्रत्यक्ष प्रबल है, इसमें पूर्वपक्षी दूसरी युक्ति देते हुए कह रहा है कि अनुमानादि परोक्षप्रमाणों के द्वारा परोक्षरूप से घटादि का ग्रहण होने पर भी घटगत रेखा–उपरेखारूप चिह्न विशेषों का अनुमानादि से ग्रहण नहीं होता है। अपितु प्रत्यक्ष से ही ग्रहण होता है। अतः अनुमानादि से अगृहीत का ग्राहकत्व प्रत्यक्ष में होने के कारण प्रत्यक्षरूप से ही प्रत्यक्ष अनुमानादि की अपेक्षा प्रबल है। इसी प्रकार अनुमानादि परोक्षप्रमाणों के द्वारा अनिवर्तित दिग्–भ्रम आदि का निवर्तक प्रत्यक्षप्रमाण होने से, अर्थात् किसी को प्रतीची में प्राचीत्व का भ्रम हो जाय, तब 'नेयं प्राची किन्तु प्रतीची' इत्यादि आप्तवाक्यजन्यज्ञान के द्वारा अथवा 'नेयं प्राची सूर्योदयशून्यत्वात्' इत्यादि अनुमानजन्यज्ञान के द्वारा दिङ्मोह की स्पष्ट रूप से निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु सूर्योदय आदि के प्रत्यक्ष से स्पष्ट रूप से दिङ्मोहादि की निवृत्ति होती है। इसलिए प्रत्यक्षत्वरूप से ही प्रत्यक्ष को प्रबल मानना चाहिए। इस प्रकार अनुमानादि से अगृहीत का ग्राहित्व प्रत्यक्ष में होने से 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध कर देगा।। ३।।

पूर्वपक्षी के द्वारा उत्थापित शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शैत्यानुमान के पक्ष हेतुग्राहकचाक्षुषप्रत्यक्ष होने के कारण जैसे चाक्षुषप्रत्यक्ष उपजीव्य है, ठीक उसी प्रकार शैत्यानुमान के साध्य (शैत्य) ग्राहकत्वाचप्रत्यक्ष होने के कारण त्वाचप्रत्यक्ष भी उपजीव्य है। अतः त्वाचप्रत्यक्षरूप उपजीव्य से विरोध होने के कारण शैत्य–अनुमिति में प्रतिबन्धत्व सम्भव हो जायेगा। उसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चक्षुरादि से पक्ष–हेतु का ज्ञान होने पर भी त्वाचप्रत्यक्ष के बिना शैत्यरूप साध्य की प्रसिद्धि दृष्टान्त में नहीं हो सकती है। इसलिए त्वाचप्रत्यक्ष उपजीव्य है। अतः उपजीव्यत्वरूप से प्रत्यक्ष

प्राबल्यापत्तेः। नाप्यनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहनादिनिवर्तकत्वेन प्राबल्यम्; एतावता हि वैधर्म्यमात्रं सिद्धम्। न च तावतेतरप्रमाणापेक्षया प्राबल्यं भवति; अन्यथा त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवंशोरगभ्रम–निवर्तकत्वाच्चक्षुषोऽपि त्वगपेक्षया प्राबल्यं स्यात्। ततश्च चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुषस्य तद्विरोधित्वाचज्ञानाद् बाधो न स्यात्। प्रत्युतागमस्यैव सर्वतः प्राबल्यं स्मार्यते। 'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्' इति। न च तद्वैदिकार्थविषयमिति वाच्यम्; अद्वैतस्यापि वैदिकार्थत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शैत्यानुमान का बाध कर देता है, न कि प्रत्यक्षत्वरूप से। अतः प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षत्वरूप से प्रबल नहीं माना जाा सकता है। इसलिए उपजीव्य न होने के कारण 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्च के मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि अनुमानादि से अगृहीत रेखा–उपरेखारूप विशेष चिह्नों का प्रकाशक होने के कारण प्रत्यक्ष बलवान है। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अगृहीतग्राहित्व को प्रबलता का प्रयोजक माना जाय तो अनुमानादि ही प्रत्यक्ष से बलवान सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि प्रत्यक्ष से अग्रहीत धर्मादि का ग्राहक अनुमानादि होने के कारण अनुमानादि प्रमाण ही प्रत्यक्ष से प्रबल हो जायेंगे। अर्थात् यागादि में स्वर्गादि की साधनता प्रत्यक्ष से गम्य नहीं है किन्तु पूर्वमीमांसकों के अनुसार केवल आगमगम्य है और नैयायिकों के अनुसार आगम और अनुमान दोनों से गम्य है। अनुमान का आकार यह है–यागो मदिष्टसाधनम्, मत्कृतिविषयत्वेन मदाप्तत्वेन इष्यमाणत्वात्, यन्मत्कृतिविषयत्वेन मदाप्तत्वेन इष्यमाणं भवति तन्मदिष्टसाधनं भवति, यथा मत्पित्रा मत्कृतिविषयत्वेन इष्यमाणं स्वाद्वन्नम्। अतः प्रत्यक्षाग्रहीतग्राहित्व होने से परोक्ष प्रमाण को ही प्रबल मानना होगा। इसी प्रकार अनुमानादि से अनिवर्तित दिङ्मोहादि का निवर्तक प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष प्रबल है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इतने मात्र में प्रत्यक्ष और अनुमान आदि में वैधर्म्यमात्र सिद्ध होगा अर्थात् अनुमानादि में जो धर्म (दिङ्मोहनिवर्तकत्वादि) नहीं है, वह धर्म प्रत्यक्ष में है, इतना ही इससे सिद्ध होगा न कि अनुमानादि से अनिवर्तित का निवर्तक होने मात्र से प्रत्यक्ष में अनुमानादि की अपेक्षा से प्रबलता सिद्ध होगी। यदि अनिवर्तितनिवर्तकत्व को प्राबल्य का प्रयोजक मानोगे तो त्वाचप्रत्यक्ष के द्वारा अनिवर्तित बाँसगत सप्रभ्रम का निवर्तक चाक्षुष–प्रत्यक्ष होने के कारण, अर्थात् बाँस में जहाँ सप्रभ्रम होता है वहाँ पर त्वचा से सप्रभ्रम की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि बाँस भी छूने से कुछ शीतल मालूम हेता है। उसी प्रकार सप्र भी छूने से शीतल मालूम पड़ता है। इसलिए बाँसगतसप्रभ्रम की निवृत्ति त्वाच–प्रत्यक्ष से न होकर चाक्षुष–प्रत्यक्ष से होती है। इसलिए चक्षुरिन्द्रिय को त्वगिन्द्रिय से प्रबल मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर जहाँ चक्षु के द्वारा चित्रस्थ पर्वत आदि में उन्नतत्व और चित्रस्थ गर्तादि में निम्नता का भ्रमात्मक जो चाक्षुष–ज्ञान होता है, उसका त्वाच–ज्ञान से बाध हो जाता है। क्योंकि चित्र पर हाथ फेरने से मालूम होता है कि पर्वत–गर्त आदि में निम्नोन्नतत्व प्रयुक्त कोई भेद नहीं है। पूर्वपक्षी के अनुसार त्वाचप्रत्यक्ष से उक्त भ्रम का बाध नहीं होना चाहिए। क्योंकि प्रबल प्रमाण से उपस्थापित का दुर्बलप्रमाण से बाध नहीं होता है। पूर्वपक्षी के मतानुसार चक्षु प्रबल है और त्वग् दुर्बल है। आगम से प्रत्यक्ष प्रबल नहीं होता है, अपितु आगम ही प्रत्यक्ष से प्रबल होता है। जैसे कि स्मृतिशास्त्र में कहा गया है– प्रत्यक्ष–अनुमान–आगम, इन तीनों में आगमत्वरूप से आगम ही प्रबल है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त स्मृति वाक्य वेदमात्रगम्यविषयक आगम की प्रबलता को कह रहा है। अतः सिद्धान्ती के इष्ट का साधक नहीं हो सकता है, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि अद्वैततत्त्व भी वैदिकार्थ है। पूर्वपक्षी के द्वारा (मध्वाचार्य के द्वारा) उक्त वाक्य को उद्घृत किया गया– 'क्व च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमानागमबाधितम्' अर्थात् किस स्थल पर प्रत्यक्ष से बोधित अर्थ का अनुमान और आगम बाध कर सकते है? इसका समाधान यह है कि जिस प्रत्यक्ष

क्व च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमानागमबाधितमिति तु परीक्षितप्रामाण्यप्रत्यक्षविषयम्।।४।।

ननु प्रत्यक्षस्यासञ्जातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेनैव प्राबल्यम्। उक्तं हि– ''असञ्जातविरोधित्वादर्थवादो यथाश्रुतः। आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा'' इति चेत्।। ५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में प्रामाण्य परीक्षा के द्वारा निश्चित हो गया है उस प्रत्यक्ष को आगम और अनुमान नही बाध कर सकते हैं। प्रकृत में 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य परीक्षित नहीं है। अतः 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष का आगमादि के द्वारा बाध हो जायेगा।।४।।

उपक्रमप्राबल्यन्याय से प्रत्यक्ष में प्राबल्य है, इस दृष्टि से पुनः शङ्का करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रत्यक्षप्रमाण में जात्याप्राबल्य न होने पर भी प्रत्यक्षप्रमाण असञ्जात–विरोधी (जिस का विरोधी उत्पन्न न हुआ हो) होने के कारण आगम आदि से प्रबल है। उपक्रम को उपसंहार से प्रबल माना जाता है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है–

असञ्जातविरोधित्वादर्थवादो यथा श्रुतः। आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा।।

अर्थात् असञ्जातविरोधी होने के कारण अर्थवाद वाक्य का वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) ही अङ्गीकार्य हैं असञ्जातविरोधी–अर्थवाद के विरुद्ध विधिवाक्य में स्थित पदों (ऋगादि पदों) में लक्षणा की जाति है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसादर्शन के तृतीय अध्याय मे तृतीय पाद के प्रथम सूत्र 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' के व्याख्यान के अवसर पर ज्योतिष्टोम याग के प्रसङ्ग में एक अर्थवादवाक्य पठित है 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति। स तपोऽतप्यत। तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः'। सर्ग रचना के पूर्व परमात्मा ने इच्छा की – मैं प्रजा को उत्पन्न करूँ। वह प्रजापतिरूप परमात्मा ने विचाररूप तप किया। उस तपोविशिष्ट परमात्मा से तीन देव उत्पन्न हुए – अग्नि, वायु और आदित्य। उन तीनों देवों ने तप किया। उन तपोविशिष्ट तीनों देवों से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद। इस उपक्रमवाक्य के पश्चात् वहीं पर एक विधिवाक्य पढ़ा गया है। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना,' अर्थात् ऋक् और साम का उच्चारण उच्च स्वर से कर के कर्म किया जाता है और यजुः का उपांशु अर्थात् धीरे से बोलकर कर्म किया जाता है। यहाँ पर संशय होता है कि विधिवाक्य में पठित ऋक्, यजुः और साम पद से ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र और साममन्त्र कहा गया है? अथवा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद कहा गया है? इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि विधि प्रधान होती है और विधि का शेष अर्थवाद गौण होता है। अतः प्रधान और गौण में विरोध होने पर प्रधान के अनुसार अर्थ किया जाता है। इसलिए विधिवाक्य में आये हुए ऋगादि पदों का अर्थ ऋगादि मन्त्र ही करना चाहिए और विधि वाक्य के अनुसार ही अर्थवाद में आये हुए ऋग्वेद आदि पदों में लक्षणा करके ऋगादि मन्त्र अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्ष के होने के पश्चात् 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (जै.सू.३–३–२) से सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि विधिवाक्य प्रबल और अर्थवादवाक्य दुर्बल माना जाता है फिर भी जब अर्थवाद–वाक्य उपक्रम में होता है, तब वह असञ्जातविरोधी होने के कारण प्रबल हो जाता है और उसी के अनुसार विधिवाक्य का अर्थ किया जाता है। इसलिए विधिवाक्य में आये हुए ऋक्, यजुः, साम पदों का लक्षणा से अर्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद होगा और तब विधिवाक्य का अर्थ होगा, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को उद्देश्य कर के उच्च स्वर आदि का विधान किया गया है। इस प्रकार यहाँ देखा गया कि असञ्जातविरोधी होने के कारण अर्थवाद–वाक्य को प्रबल माना गया और सञ्जातविरोधी होने के कारण विधिवाक्य को दुर्बल माना गया। ठीक इसी प्रकार 'घटः सन्' यह प्रत्यक्ष असञ्जातविरोधी होने के कारण अद्वैतागमादि

न , यत एकवाक्यस्थपरस्परसापेक्षपदत्वेन उभयोः साम्ये सत्युपक्रमस्थवेदपदानुरोधे–नोपसंहारस्थर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कृत्स्नवेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृते तन्न्यायः सम्भवति, उभयोः साम्याभावात्, गृहीतप्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चितस्य प्रत्यक्षस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

से प्रबल है। अतः उक्त 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के द्वारा अद्वैतागमादि का मुख्य अर्थ बाधित हो जायेगा।। ५।।

इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने उपक्रमप्राबल्यन्याय को जो यहाँ पर उपस्थित किया है वह पूर्वपक्षी के द्वारा अकाण्ड–ताण्डव का प्रदर्शन मात्र है। क्योंकि जब विधिवाक्य और अर्थवाद–वाक्य मिलकर एक महावाक्य बनता है तब उस एक ही महावाक्य में स्थित विधिवाक्य के पद और अर्थवाद–वाक्य के पदों में परस्पर सापेक्षत्वेन साम्य होने पर उपक्रम में आये हुए अर्थवाद–वाक्य में स्थित ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः इन पदों के अनुसार उपसंहार में आये हुए विधिवाक्य में स्थित मन्त्रवाचक ऋग्, यजुः, साम पदों का सम्पूर्ण वेदवाचक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अर्थ किया जाता है। किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष और आगम आदि में विवाद चल रहा हो, वहाँ पर असञ्जातविरोधिन्याय नहीं लगता है, क्योंकि 'यत्र यत्र उभयसाम्यं तत्र तत्र असञ्जातविरोधिन्यायम्'। प्रकृत में प्रत्यक्ष और आगम दोनों समानरूप से एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते हैं। क्योंकि आगम में भ्रम से विलक्षणरूप से निश्चितप्रमाजनकत्व है और प्रत्यक्ष में भ्रम से विलक्षणरूप से प्रमाजनकत्व अनिश्चित है। इसलिए प्रत्यक्ष दुर्बल है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ उपक्रम और उपसंहार में परस्पर साम्यता हो वहीं पर उक्त न्याय प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष और आगम दोनों में परस्पर साम्य नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से आगम प्रबल है और प्रत्यक्ष दुर्बल है। अतः उक्त न्याय प्रकृत में लागू नहीं होगा। यदि साम्य के न रहने पर भी उपक्रम में स्थितिमात्र से किसी को बलवान मानने पर 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान भी प्रथम उत्पन्न होने के कारण उपक्रम में स्थित माना जायेगा और उपक्रम मे स्थित होने के कारण असञ्जातविराधी रूप से प्रबल होगा। पश्चाद्भावी 'इयं शुक्तिः' यह आप्त उपदेश सञ्जातविरोधी होने के कारण दुर्बल माना जायेगा। ऐसा होने पर 'इयं शुक्तिः' इस आप्त उपदेश के द्वारा 'इंद रजतम्' इस भ्रम का बाध नहीं हो पायेगा, किन्तु बाध होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार साम्य के न रहने पर उक्त न्याय के न लगने के कारण उक्त प्रकार से उपक्रम में स्थित होने पर भी 'इदं रजतम्' इस असञ्जातविरोधी भ्रम का बाध उपसंहार में स्थित सञ्जातविरोधी 'इयं शुक्तिः' इस आप्तोपदेश के द्वारा हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अद्वैत–श्रुति के द्वारा द्वैत–सत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष का भी बाध हो जाता है। अब प्रकारान्तर से द्वैत–सत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष में प्रबलता को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है– प्रत्यक्ष शीघ्रबोधक होने के कारण प्रबल है, और आगमादि पहले प्रत्यक्ष का आश्रय कर के बोध कराते हैं, अतः वे मन्दगति से बोध कराते हैं, इसलिए दुर्बल है। जैसे लिङ्ग से श्रुति बलवान है, क्योंकि लिङ्ग से श्रुति का अनुमान करना पड़ता है और उसके बाद लिङ्गप्रमाण से अङ्ग का बोध होता है। किन्तु श्रुति किसी की अपेक्षा किये बिना ही बोध करा देती है। अतः मन्दगतिवाले लिङ्ग की अपेक्षा से शीघ्रगामी श्रुति प्रबल मानी जाती है। पूर्वपक्षी के कथनानुसार अनुमान का आकार यह होगा– 'प्रत्यक्षं प्रबलं शीघ्रगामित्वाद् लिङ्गात् श्रुतेरिव'। श्रुति–लिङ्ग–न्याय को श्री पार्थसारथिमिश्र ने इस प्रकार से स्पष्ट किया है–

प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्।
शीघ्रमन्थरवृत्तित्वात् तथेह श्रुतिलिङ्गयोः।।

अर्थात् लोक में जैसे प्रत्यक्षप्रमाण शीघ्रगामी होने के कारण, प्रबल माना जाता है और अनुमान मन्थरगामी होने के कारण दुर्बल माना जाता है। वैसे ही शीघ्रगामी होने के कारण श्रुति प्रबल मानी जाती है और

न्यूनबलत्वात्, अन्यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमोऽपि ''इयं शुक्तिः'' इति आप्तोपदेशापेक्षया प्रबलः स्यात्। एतेन लिङ्गात् श्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम्, तदुक्तम्—''प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्। शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिङ्गयोः''॥६॥

इत्यपास्तम्, परीक्षितस्य मन्थरगामिनोऽपि प्राबल्यात् ॥ ७॥

न च 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यस्मात् 'पदे जुहोति' इत्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

लिङ्गप्रमाण मन्थरगामी होने के कारण दुर्बल माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के सप्तम अधिकरण में पूर्वमीमांसाकार ने कहा है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै.सू. ३—३—१४)। अर्थात् श्रुति लिङ्ग का, लिङ्ग वाक्य का, वाक्य प्रकरण का, प्रकरण स्थान का, स्थान समाख्या का, अथवा आपस में किसी के एकसाथ अनेक विनियोग कारणों के उपस्थित होने से पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है, क्योंकि अङ्गता—बोधरूप प्रयोजन में उत्तरोत्तरव्यवधान होता जाता है, अर्थात् उत्तरोत्तरप्रमाण पूर्वपूर्वप्रमाण की अपेक्षा से ही विनियोजक होता है। अतः उत्तरोत्तरप्रमाणों की अपेक्षा से पूर्व—पूर्व प्रमाण शीघ्र विनियोजक होने के कारण बलवान होते हैं। यहाँ पर प्रकृत उपयोगी श्रुति और लिङ्ग के विरोध को उदाहृत किया गया है। द्वितीया तृतीयादि विभक्तियों को श्रुतिप्रमाण और शब्दादिगतबोधकसामर्थ्य को लिङ्गप्रमाण कहा गया है। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'—'हे इन्द्र, तुम कभी भी घातक नहीं होते हो अपितु होम कर्ता से प्रसन्न होते हो'। इस ऋचा का अर्थ इन्द्रविषयक होने से ही इस ऋचा को ऐन्द्री कहा जाता है। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस ऋचा का विनियोग किस कर्म में किया जाय। इस मन्त्र में इन्द्र का सम्बोधन होने से प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग इन्द्रसम्बन्धी किसी याग में होना चाहिए। अतः इन्द्रपदगतबोधकसामर्थ्यरूप लिङ्गप्रमाण से इस ऋचा का विनियोग इन्द्र देवता के उपस्थान में प्राप्त होता है। जबकि 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस द्वितीया—तृतीया विभक्तिरूप श्रुतिप्रमाण से यह बोध होता है कि ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान (पूजा) करता है। इस प्रकार श्रुति और लिङ्ग प्रमाण एक साथ उपस्थित होने पर किससे विनियोग माना जाय? इस का समाधान करते हुए कहा गया है कि श्रुति के अनुसार विनियोग मानना चाहिए, क्योंकि श्रुति से शीघ्र बोध हो जाता है। लिङ्गप्रमाण से बोध मानने पर उसके लिए श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी। उसके पश्चात् लिङ्गप्रमाण से बोध होगा। इस प्रकार शीघ्रबोधक होने के कारण श्रुतिप्रमाण, लिङ्गप्रमाण से प्रबल माना गया। उसी प्रकार प्रकृत में व्याप्ति आदि की अपेक्षा करता हुआ मन्थरगामी अनुमानादि की अपेक्षा से 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष शीघ्रगामी होने के कारण प्रबल है। अतः प्रबल प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा दुर्बल अनुमान—आगमादि बाधित हो जायेंगे। यह पूर्व पक्षी का आशय है।। ६।।

इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी जैसे असञ्जातविरोधी—न्याय के बल पर प्रत्यक्ष में प्राबल्य स्थापित नहीं कर पाया, उसी प्रकार शीघ्र—मन्थरगामी—न्याय से भी श्रुति—लिङ्गादि को दृष्टान्त बनाकर प्रत्यक्ष में प्राबल्य स्थापित नहीं कर सकता है। क्योंकि आगमादि आकांक्षा—योग्यता आदि एवं व्याप्त्यादि निश्चायकमानान्तरसापेक्षत्वप्रयुक्त—विलम्ब— फलकरूप मन्थरगामी होने पर भी उसमें भ्रम से विलक्षण के रूप से प्रमाजनकत्व निश्चित है। इसलिए मन्थरगामी होने पर भी आगमादि प्रबल है और शीघ्रगामी प्रत्यक्ष में भ्रम से विलक्षणरूप से प्रमा—जनकत्व अनिश्चित है। इसलिए द्रुतगामी होने पर भी प्रत्यक्ष दुर्बल माना जायेगा। अतः प्रबल आगमादि के द्वारा ही प्रत्यक्ष का बाध हो जायेगा।। ७।।

पूर्वपक्षी सामान्य—विशेषन्याय के बल पर पुनः प्रत्यक्ष में प्राबल्य सिद्ध करने के लिए शङ्का कर रहा है। सामान्यरूप से बतलाने वाले की अपेक्षा से विशेषरूप से बतलाने वाले को प्रबल माना जाता है।

घटविषयसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य सामान्यतो द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया प्राबल्यमिति वाच्यम्; सामान्यविशेषन्यायस्य निश्चितप्रमाणभावोभयविषयत्वात्,अन्यथा 'अयं गौरश्वः' इत्यादेरपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसलिए 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष विशेषरूप से घट के सत्त्व को बतलाने के कारण प्रबल है और 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह आगम सामान्यरूप से सबके निषेध को बतलाने के कारण दुर्बल है। अतः 'घटः सन्' इस प्रबल प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा अद्वैत–बोधक दुर्बल आगम का बाध हो जायेगा। इसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहे हैं– पूर्वमीमांसा में सूत्र है– 'अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद् विशेषशिष्टं स्यात्' (जै.सू. १०–८–१६) इस सूत्र से यह कहा गया है कि जहाँ सामान्यविषयक और विशेषविषयक शास्त्रों का विरोध होता है वहाँ विशेषशास्त्र प्रबल माना जाता है। प्रधानकर्म के प्रकरण में जो पढ़ा जाता है उसे आरभ्याधीत कहते हैं और जो वाक्य किसी कर्मविशेष के प्रकरण में नहीं पढ़े गये हैं उनको अनारभ्याधीत कहा जाता है। 'यदाहवनीये जुहोति' यह वाक्य अनारभ्याधीत है। इस वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण होमों की अधिकरणता आहवनीय नामक अग्नि में प्रतीत होती है। अर्थात् यावद् होम वैदिकसंस्कारविशेषों से संस्कारित आहवनीय नामक अग्निविशेष में करना हैं यह इस वाक्य का अर्थ है। 'पदे जुहोति,' 'वर्त्मनी जुहोति' ये दोनों वाक्य ज्योतिष्टोम के प्रकरण में आये हैं, अतः आरभ्याधीत हैं। सोमयाग में सोम नामक लता का क्रयण किया जाता है। वह सोम–क्रयण एक गौ से किया जाता है। अर्थात् सोम को बेचने वाला ब्राह्मण एक शकट पर सोम को लाद कर ले आता है और जब सोम से लदा हुआ शकट यज्ञभूमि के समीप में पहुँचता है, तब यजमान जिस गौ से सोम को खरीदता है, उस गौ को लेकर शकट की तरफ आगे बढ़ता है। वहाँ पर गौ जिस मार्ग से जाती है उस मार्ग पर गोपद से चिह्नित स्थलों पर अग्नि का आधान कर होम का विधान 'पदे जुहोति' यह वाक्य करता है। इसी प्रकार सोमयाग में हवन करने योग्य जो हवि होती है उसे एक शकट पर लाद दिया जाता है और जहाँ पर हवि की आवश्यकता पड़ती है वहाँ पर हवि से लदा हुआ शकट पहुँचा दिया जाता है। वह शकट जिस मार्ग से जाता है उस मार्ग पर अग्नि का आधान कर के होम का विधान 'वर्त्मनि जुहोति' यह वाक्य करता है। यहाँ पर संशय होता है कि पदादि शब्द से निर्दिष्ट विशेष–अग्नियों के साथ आहवनीय–अग्नि का विकल्प है? अथवा उक्त विशेष अग्नियां अपने विषय में आहवनीय–अग्नि का बाध कर देती हैं। यहाँ पर यदि सामान्य और विशेष को तुल्यबलवाला माना जाय तो विकल्प प्राप्त होता है और यदि विशेष को बलवान माना जाय तो विशेष–अग्नि के द्वारा अपने विषय में आहवनीय–अग्नि का बाध प्राप्त होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे विशेषशास्त्र क्लृप्त और प्रत्यक्षश्रुत है, ठीक उसी प्रकार सामान्यशास्त्र भी क्लृप्त और प्रत्यक्षश्रुत हैं। अतः समान बल होने से विकल्प मानना चाहिए। अर्थात् उक्त होम कभी आहवनीय–अग्नि में कभी विशेष–अग्नि में किया जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर पूर्वमीमांसा में सिद्धान्त पक्ष से यह कहा गया कि 'पदे जुहोति,' 'वर्त्मनि जुहोति' इन विशेष होमों में होमसामान्यसम्बन्धित्वेन उपदिष्ट आहवनीय–वह्नि की प्राप्ति लक्षणा से होगी। जब कि उक्त होम–विशेषों में पदादि शब्द से उपदिष्ट वह्नि की प्राप्ति श्रुति से ही हो जायेगी। अतः विशेष विधियां बलवान हैं और सामान्य विधियां दुर्बल हैं। अतः विशेष विधियां अपने विषय में सामान्यविधियों का बाध कर देगी। इस लिए पद होमादि पदादिरूप से उपदिष्ट अग्निविशेष में करना चाहिए आहवनीय में नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि सामान्य का विशेष से बाध हो जाता है। अतः प्रकृत में पूर्वपक्षी इस न्याय का अवलम्बन करके कह रहा है कि 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष के द्वारा सामान्यबोधक अद्वैतागमादि का बाध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि सामान्य–विशेषन्याय वही पर लगता है जहाँ पर दोनों प्रमाणों

''गौरश्वो न भवति'' इत्यादितः प्राबल्यं भवेत् ।। ८।।

न च यथा ''यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ति'' इत्यत्रत्यस्य यत्किञ्चिच्छब्दस्य यत्किञ्चित्प्रकृतवाचित्वेन सामान्यविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वात् 'यावत्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

का प्रामाण्य निश्चित हो। वहाँ पर विशेष स्वविषय में सामान्य का बाध कर देता है। प्रकृत में प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का निश्चय नहीं है, क्योंकि आगमविरोध, मिथ्यात्वानुमानविरोधादि है। जबकि श्रुति के प्रामाण्य का निश्चय है। क्योंकि आगम अपने में प्रामाण्य निश्चय के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता है। अतः प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध नहीं हो सकता है। यदि प्रामाण्याप्रमाण्य का विचार न करके केवल सामान्य–विशेषभाव से ही बाध्य–बाधकभाव स्वीकार करें तो फिर ''अयं गौरश्वः'' (यह गौ अश्व है) इस विशेष विषयक भ्रम का बाध नहीं हो पायेगा, क्योंकि 'अयं गौरश्वः' यह विशेष–विषयक प्रात्यक्षिक भ्रमरूप निश्चय है। क्योंकि यह केवल एक सन्निहित गौ में अश्वत्व का प्रतिपादन करता है और 'गौरश्वो न भवति' (गौ अश्व नहीं होती है) यह वाक्य सभी गौ व्यक्तियों में अश्वत्व का निषेध करता है। अतः सामान्यविषयक है। अतः यहाँ पर भी 'अयं गौरश्वः' यह विशेष–विषयक भ्रम का 'गौरश्वो न भवति' यह सामान्यविषयकप्रमा के द्वारा बाध नहीं होना चाहिए, जब कि बाध होता है। किन्तु जब दोनों वाक्यों के प्रामाण्याप्रामाण्य की तरफ ध्यान देकर उक्त न्याय को लागू किया जाता है तब विशेषविषयक वाक्य में अप्रामाण्य का निश्चय होने से प्रामाण्य निश्चय वाले सामान्य विषयक वाक्य से उसका बाध हो जाता है। इसी प्रकार 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष सन्दिग्ध प्रामाण्यक होने से निश्चित प्रामाण्यक आगम के द्वारा बाध कर दिया जाता है।। ८।।

पूर्वपक्षी सावकाश–निरवकाश न्याय के बलपर पुनः प्रत्यक्ष में प्रबलता सिद्ध करने के लिए शङ्का कर रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वमीमांसा के नवम अध्याय के प्रथम पाद के षष्ठाधिकरण में विचार किया गया है कि ज्योतिष्टोम में अग्निषोमीय पशु का आलम्बन होता है। उस पशु आलम्बन से पहले ज्योतिष्टोम याग करने में अधिकार दिलाने वाली जो दीक्षा है, उस दीक्षा काल से आरम्भ करके किये जाने वाली जो दीक्षणीया इष्टि, यूपगर्तस्तरण (यूपावट के ऊपर बर्हिओं का आस्तरण अर्थात् यूप को गाडने के लिए जो गड्ढ़ा खोदा जाता है उसे यूपावट कहते है। वैदिक मन्त्रों से पूत चमकदार आठ गांठ वाले काष्ठ विशेष को यूप कहते हैं। बर्हि शब्द का अर्थ कुशा होता है, अर्थात् यूप गाडने के लिए जो गड्ढा है उसे कुशा से ढ़कना इसी को यूपगर्तस्तरण कहते हैं) ऋत्विग्वरण इत्यादि कर्म हैं। यहाँ पर दो वाक्य आते हैं। प्रथम वाक्य है– 'यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति' अर्थात् अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान करने से पूर्व विधीयमान दीक्षणीया इष्टि, यूपगर्तस्तरण और ऋत्विग्वरणादि अङ्गो का अनुष्ठान करते समय मन्त्रों का उच्चारण उपांशु (जिस उच्चारण में ओष्ठों में क्रिया का प्रत्यक्ष होता है किन्तु समीपवर्ती व्यक्ति को भी उच्चारण का श्रावणप्रत्यक्ष नहीं होता है, उसे उपांशु उच्चारण या उपांशुजप कहा जाता है।) स्वर में किया जाय। द्वितीय वाक्य है– 'यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्' अर्थात् दीक्षणीया इष्टि में मन्त्रों का उच्चारण जैसा चाहे वैसा ही उच्च या मन्द स्वर से कर सकता है। यहाँ पर संशय होता है कि अग्नीषोमीयपशु का अनुष्ठान करने से पूर्व विधीयमान दीक्षणीया–इष्टि, यूपगर्त–आस्तरण और ऋत्विग्वरण आदि सभी अङ्गों का अनुष्ठान करते समय मन्त्रों का उच्चारण उपांशु स्वर में किया जाय? अथवा दीक्षणीया–इष्टि को छोड़कर शेष अङ्गों में मन्त्रों का उच्चारण उपांशु स्वर से किया जाय? पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त सभी कर्मों में मन्त्रों का उच्चारण उपांशु पूर्वक ही करना चाहिए, क्योंकि उक्त समस्त कर्मों को ग्रहण करने वाला यावदर्थक 'यत्किञ्चित्' शब्द मन्त्र में आया हुआ है। अन्यथा यावदर्थक 'यत्किञ्चित्' शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर

वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्' इत्यनेन निरवकाशेन सङ्कोचस्तथा प्रत्यक्षेण निरवकाशेन वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः किं न स्यादिति वाच्यम्।।९।।

तात्पर्यलिङ्गैरुपक्रमादिभिर्द्वैतनिषेधपरत्वेऽवधृतेऽद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्, प्रत्यक्षस्यापि व्यावहारिकद्वैतविषयतया सावकाशत्वात्, विरुद्धयोश्च द्वयोः 'अहं मनुष्यः' इत्यादिप्रत्यक्षे 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादिश्रुत्योरिव तात्त्विकप्रामाण्यानुपपत्त्या कस्यचिद्व्यावहारिकं

सत्यानन्दप्रबोधिका

(पूर्वमीमांसा के) सिद्धान्त पक्ष से कहा गया है कि उक्त सभी कर्म उपांशु—उच्चारणपूर्वक करने का नियम नहीं है। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि यावदर्थक 'यत्किञ्चित्' शब्द ही प्रमाण है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'यत्किञ्चित्' शब्द उक्त सभी कर्मों का वाचक होने के कारण सामान्यवाची है। अतः दीक्षणीया—इष्टि से अतिरिक्त में सावकाश है। किन्तु 'यावत्या वाचा कामयेत.. ....' इस वाक्य से कहा गया दीक्षणीया—इष्टि में मन्त्रों का उच्चारण कामाचार है। यहाँ दीक्षणीया—इष्टिविशेष में विधान करने से निरवकाश है। अतः निरवकाश के द्वारा सावकाश का सङ्कोच किया जाता है, अर्थात् दीक्षणीया—इष्टि से व्यतिरिक्त कर्मों में मन्त्रों का उच्चारण उपांशुस्वर से करना चाहिए। ठीक इसी प्रकार से प्रकृत में प्रत्यक्ष निरवकाश है और अद्वैतश्रुति सावकाश है। क्योंकि शक्तिवृत्ति से भिन्न लक्षणावृत्ति से अद्वैतश्रुति का अन्य अर्थ निकाला जा सकता है। अर्थात् अद्वैतश्रुति सत्त्वबोधकप्रत्यक्षगम्यपदार्थों से इतर पदार्थों में मिथ्यात्व बतला रही है। अथवा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिवाक्य का घटक 'नाना' शब्द का 'हिरुक् नाना वर्जने' इस कोषवाक्यानुसार वर्जनरूप अत्यन्ताभावपरक अर्थ करेंगे। तब इस श्रुति का अर्थ होगा (इह) ब्रह्म में किसी का अत्यन्ताभाव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सबका आश्रय है। इस प्रकार अनेकार्थत्वेन भी श्रुति का सावकाश है। अतः 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष अपने विषय में अनुमान, आगमादि का बाध करके घटादि प्रपञ्च की सत्यता को सिद्ध कर देगा। पहले सामन्य—विशेषभाव दिखलाकर विशेष के द्वारा सामान्य का बाध किया गया था। अब निरवकाशत्व सावकाशत्वादि दिखाकर निरवकाश के द्वारा सावकाश का सङ्कोच दिखाया गया। यही दोनों में भेद है। यद्यपि सामान्य—विशेष स्थल पर भी निरवकाश के द्वारा सावकाश का ही संकोच किया जाता है, तथापि उदाहरणभेद से यहाँ पर भिन्नता समझनी चाहिए।।९।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अद्वैतश्रुति में सावकाशत्व को दिखाकर निरवकाश प्रत्यक्ष के द्वारा अद्वैतश्रुति का सङ्कोच किया गया। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अद्वैतश्रुति में सावकाशत्व असिद्ध है, प्रत्युत प्रत्यक्ष में ही सावकाशत्व है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि तात्पर्यनिर्णायक उपक्रमादिलिङ्गों के द्वारा अद्वैतश्रुति का द्वैतनिषेध में ही अवकाश निश्चित है। अतः द्वैतनिषेध में अद्वैतश्रुति का अवकाश न मानने पर अद्वैतश्रुति निरवकाश हो जायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रुति का जिस में तात्पर्य है, श्रुति यदि उस अर्थ को नहीं बतलाती है तो वह अनर्थक हो जायेगी, क्योंकि अतात्पर्यविषयीभूतार्थ को श्रुति बतलाती नहीं है और तात्पर्यविषयीभूतार्थ को बतलाया नहीं। अतः यह मानना पड़ेगा कि तात्पर्यविषयीभूतार्थ में ही अद्वैतश्रुति का अवकाश है। इसलिए निरवकाश प्रत्यक्ष के अनुरोध से सावकाश अद्वैतश्रुति का लक्षणादि से अन्य अर्थ कहना चाहिए ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन था वह खण्डित हो गया। प्रत्यक्ष निरवकाश है ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन था वह ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिप्रत्यक्ष व्यावहारिकसत्यता बतलाने में सावकाश है। इसलिए 'घटः सन्' यह प्रत्यक्ष सावकाश होने से दुर्बल है और अद्वैतश्रुति उक्त प्रकार से निरवकाश होने से प्रबल है। अतः सावकाश—निरवकाशन्याय के बल पर भी निरवकाश अद्वैतश्रुति के द्वारा सावकाशप्रत्यक्ष का बाध हो जायेगा। इस पर यदि कोई शङ्का

कस्यचित्तात्त्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्; अत्यन्ताप्रामाण्यस्यान्याय्यत्वात्, तत्राद्वैतश्रुतेर्व्यावहारिक–प्रामाण्यसम्भवे द्वैतग्राहिप्रत्यक्षादेस्तात्त्विकं प्रामाण्यं भवेत्, तदसम्भवे तु बलादेवाद्वैतश्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं पर्यवस्यतीति कृतबुद्धयो विदांकुर्वन्तु।।१०।।

ननु पञ्चदशरात्रे प्रथमेऽहन्यग्निष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्निष्टुद्धर्मभूता सुब्रह्मण्याग्नेयी

सत्यानन्दप्रबोधिका

करे कि सिद्धान्ती ने पूर्वोक्त प्रकार से अद्वैतश्रुति में सावकाशत्व का खण्डन कर दिया है और पूर्वपक्षी ने प्रत्यक्षप्रमाण में सावकाशत्व का खण्डन कर दिया है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार निरवकाश सत्त्वग्राहिप्रत्यक्ष और सिद्धान्ती के अनुसार निरवकाश मिथ्यात्वग्राहिश्रुति में परस्पर विरोध होने के कारण दोनों में अप्रमाण्य मानना चाहिए। ऐसी शङ्का का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि विरुद्धार्थविषयक जो सत्त्वप्रत्यक्ष और अद्वैतश्रुति इन दोनों में तात्त्विकप्रामाण्य तो नहीं माना जा सकता है। जैसे 'अहं मनुष्यः' इत्यादि प्रत्यक्ष आत्मा में परिच्छिन्नत्व को बतला रहा है और 'आकाशवत्सर्वगतश्च' यह श्रुति आत्मा में विभुत्व को बतला रही है, इन दोनों में ही तात्त्विकप्रामाण्य न मानकर एक ही मे तात्त्विकप्रामाण्य माना जाता है और दूसरे में व्यावहारिकप्रामाण्य माना जाता है, न कि दोनों में ही अतात्त्विकप्रामाण्य माना जाता है, क्योंकि दोनों में ही अतात्त्विकप्रामाण्य मानना युक्तिविरुद्ध है। इसलिए प्रत्यक्ष और अद्वैतश्रुति में से अद्वैतश्रुति में यदि व्यावहारिकप्रामाण्य सम्भव होता तब प्रपञ्चग्राहिप्रत्यक्ष में तात्त्विकप्रामाण्य माना जाता, किन्तु अद्वैतश्रुति में व्यावहारिकप्रामाण्य सम्भव नही है। प्रश्न होता है कि अद्वैतश्रुति में व्यावहारिकप्रामाण्य क्यों मानना सम्भव नहीं है? इसका समाधान यह है कि अद्वैतश्रुति से बोधित सच्चिदानन्दात्मकब्रह्म में व्यावहारिकप्रामाण्य मानना सम्भव नहीं है क्योंकि व्यावहारिकप्रामाण्य का बाध हो जाता है, जब कि ब्रह्म त्रिकालाबाध्य है। अतः अद्वैततत्त्व(ब्रह्म)–बोधकश्रुति में व्यावहारिकप्रामाण्य असम्भव है। इसलिए हठात् अद्वैतश्रुति में तात्त्विकप्रामाण्य मानना पड़ेगा और प्रत्यक्ष में व्यावहारिकप्रामाण्य मानना पड़ेगा। यह रहस्य विद्वानों को अच्छी तरह से अवगाहन कर लेना चाहिए।।१०।।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थे पृथिवीं (सकलं) त्यजेत्।।

इस उक्ति के अनुसार अनेकों के हितार्थ एक का त्याग करना न्यायसङ्गत है। एक को बचाने के लिए बहुतों को बाध करना न्यायोचित नहीं है। इस बहुबाधाऽन्याय नामक न्याय के सहारे पूर्वपक्षी कह रहा है कि द्वैतग्राहिप्रत्यक्ष, विश्वसत्यत्वानुमानादि बहुत प्रमाणों का बाध करना अन्याय होगा। अतः अद्वैतश्रुतिरूप एक प्रमाण के प्रतीत अर्थ का ही बाध कर देना चाहिए। इसमें दृष्टान्त के रूप से पूर्वमीमांसा के बारहवें अध्याय के द्वितीय पाद के विचार को प्रस्तुत किया जा रहा है। पञ्चदशरात्र नामक एक याग है। उसमें प्रथम याग का नाम अग्निष्टुत् है। इसके बाद होने वाले तीन यागों के नाम क्रमशः ज्योतिष्, गो और आयुष् है। इनसे अतिरिक्त और भी अग्निष्टुत्, ज्योतिष्, गो, आयुष् एकाह में होने वाले ऐकाहिक नाम से प्रसिद्ध याग है। अतः इनके नाम भी अग्निष्टुत्, ज्योतिष्, गो, आयुष् है और तदीय इतिकर्तव्यता प्राप्ति के लिए पञ्चदशरात्र के प्रथमदिवसचतुष्टय में उनको स्थापित किया जाता है। इसके अनन्तर द्वादशाहप्रकृतिक एकादश याग किये जाते हैं। इस प्रकार इन पञ्चदशयागों में उपसद् भी है। आज्यहविष्क इष्टियों का नाम उपसद् है। इन उपसदों में सुब्रह्मण्या नामक यजुर्वेदीय निगद मन्त्र (देवाह्वान मन्त्र) भी हैं। यह दो प्रकार का होता है– प्रथम आग्नेयी (अग्निदेवताका) और द्वितीय ऐन्द्री (इन्द्रदेवता का)। इस प्रकार इन दो सुब्रह्मण्याओं से अग्नि तथा इन्द्र का आह्वान उक्त यागों में उपसत्काल में करना है। उनमें से पञ्चदशरात्र का जो प्रथम अग्निष्टुत् नामक याग है। उसके उपसत् काल में एकाहाग्निष्टुन्नामधेय के साम्य

प्राप्ता, तस्या अल्पविषयत्वाच्चतुर्दशाहस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्र्या सुब्रह्मण्यया बहुविषयया यथा बाधः, बहुबाधस्यान्याय्यत्वात्; तथा द्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्ड—सगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? तदुक्तम्

सत्यानन्दप्रबोधिका

से आग्नेयी सुब्रह्मण्या प्राप्त हो रही है, क्योंकि एकाहाग्निष्टुत् के उपसत्काल में आग्नेयी—सुब्रह्मण्या का सत्त्व है। ज्योतिष्, गो, आयुष् इस नाम वाले जो तीन याग हैं, एतत्सम्बन्धी उपसदों के अनुष्ठान काल में ज्योतिष्, गो, आयुष् एतत्संज्ञक जो एकाह, इनके नामधेय के साम्य से ज्योतिष्, गौ, आयुष् इन तीन नाम वाले यागों में ऐन्द्री सुब्रह्मण्या प्राप्त है। क्योंकि एकाह जो ज्योतिष्, गो एवं आयुष हैं, उनके उपसत्काल में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या का सत्त्व है। परिशिष्ट जो एकादश याग है तदीय उपसत्काल मे अतिदेश वाक्य से ऐन्द्री सुब्रह्मण्या प्राप्त है। क्योंकि 'प्रकृतिवद् विकृतिकर्तव्या' यह अतिदेश—वाक्य है और एकादशों का प्रकृतिभूत जो द्वादशाह है, तदीय उपसत्काल में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या का सत्त्व है। इस प्रकार पञ्चदश सत्रों में से प्रथम—सम्बन्धी उपसद् में आग्नेयी—सुब्रह्मण्या प्राप्त है और शेषचतुर्दशसत्रसम्बन्धी उपसदों में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या प्राप्त है। अर्थात् ज्योतिष्, गो, आयुष् सम्बन्धी उपसदों में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या नामधेय साम्य होने से प्राप्त है। शेष एकादश में अतिदेश वाक्य से ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या प्राप्त है। इस प्रकार चतुर्दशसत्रसम्बन्धी उपसदों में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या प्राप्त है। यहाँ अग्निष्टुत् नामक प्रथम याग में उपसत्कालीन सुब्रह्मण्या में सन्देह होता है कि यहाँ पर क्या आग्नेयी—सुब्रह्मण्या है, या ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या? इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अग्निष्टुन्नामक प्रथम याग में उपसत्काल में आग्नेयी—सुब्रह्मण्या में ही अङ्गता माननी उचित है, क्योंकि वह नामसाम्य से प्रथम उपस्थित हैं, अतः एंव मुख्य है और असञ्जातविरोधी भी है। ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या में अङ्गता मानना उचित नहीं है, क्योंकि वह चरम में उपस्थित है और सञ्जातविरोधी होने से अमुख्य है। इस पूर्वपक्ष का समाधान देते हुए महर्षि जैमिनी कहते हैं— 'विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् स्वधर्मवत्वम्' (जै.सू. १२—२—२२) अर्थात् जहाँ पर विरुद्धधर्मों की कर्तव्यता एक साथ उपस्थित होती है, वहाँ पर उस धर्म को प्रधानता देनी चाहिए, जिसका क्षेत्र विस्तृत हो। प्रकृत में ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या पञ्चदशरात्र के प्रथम दिन को छोड़कर शेष चौदह दिनों में बोली जाती है, इसलिए उसके द्वारा आग्नेयी का बाध हो जायेगा, क्योंकि आग्नेयी केवल एक (प्रथम) दिन में ही प्राप्त है। अतः स्वल्प विषयक है। इसी विषय को मूल में संक्षेप से कहा गया है कि पञ्चदशयागरूप सत्र में अग्निष्टुत् नामवाले प्रथमयाग में नाम की समानता के बल पर, अर्थात् अग्निष्टुत् में अग्नि शब्द है और आग्नेयी—सुब्रह्मण्या में भी अग्निशब्द है, इसलिए एक दिन में होने वाला अग्निष्टुत् याग की अङ्गभूता आग्नेयी—सुब्रह्मण्या प्राप्त हुयी। नाम की समानता के बल पर प्राप्त आग्नेयी—सुब्रह्मण्या का अङ्गी अग्निष्टुत् नामक एक मात्र याग होने पर उसका विषय (अङ्गी) अल्प है। शेष चौदह दिन के यागों में अतिदेश के द्वारा प्राप्त ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या के द्वारा आग्नेयी—सुब्रह्मण्या का बाध होता है। वह ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या कैसी है? उसी व्याख्या कर रहे हैं कि बहुत है विषय (अङ्गी) जिसका, अर्थात् चौदह दिन के अङ्गीरूप यागों में अङ्गरूप से विद्यमान है ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या, इसलिए इसका विषय अधिक है। ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या का बाध क्यों नहीं होता है? इसके उत्तर में कहा कि बहुतों की अङ्गभूत जो ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या है, उसका बाध करना उचित नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय करने वाला अनुमान तथा वेद का कर्मकाण्ड भाग, उपासना काण्ड, पुराण, इतिहास, न्याय वैशैषिक, सांख्य, योग आदि ये सभी द्वैत के सत्यत्व के समर्थक हैं। अतः इनका क्षेत्र अधिक है, जब कि अद्वैतश्रुति का क्षेत्र अद्वैतमात्र में सीमित है। अतः अधिक क्षेत्रवाले प्रत्यक्ष आदि के द्वारा अद्वैतश्रुति का प्रतीत अर्थ (अद्वैत) का बाध हो जायेगा। जैसा कि कहा गया

"बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यं दृष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने" इति चेत्॥ ११॥

न, दृष्टान्ते बहुविषयया बाधोऽत्र बहुभिरिति वैषम्यात्; देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दाभासादिसत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्यपरत्वेन प्राबल्यवदत्राप्यनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्यात्, विद्याविद्याभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषभेदेन च विरोधाभावादिति॥ १२॥

— इत्यद्वैसिद्धौ प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्राबल्यनिराकरणम् —

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि बहुत प्रमाणों से विरोध होने पर एक प्रमाण आगम में अप्रामाण्य माना जाता है। जैसे कि एक व्यक्ति ने शुक्ति को रजत कहा और अनेक व्यक्तियों ने यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति है ऐसा कहा। अतः एक के द्वारा कहा गया रजत का बाध अनेक के द्वारा कहे गये 'यह शुक्ति है' इस उक्ति के द्वारा होता है। अन्यथा अनेक यथार्थ वक्ताओं के वाक्य अप्रामाणिक हो जायेंगे॥ ११॥

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सर्वप्रथम दृष्टान्त—दार्ष्टान्त में वैषम्य दिखा रहे हैं। पूर्वपक्षी ने बाध्य—बाधक भाव एक ही प्रमाण में दिखाया था। अर्थात् एक आगमप्रमाण ऐन्द्री—सुब्रह्मण्या का विषय अधिक था। और दूसरे आगमप्रमाण आग्नेयी—सुब्रह्मण्या का विषय अल्प था। इसलिए अधिकविषयवाले ने अल्प विषयवाले का बाध कर दिया। प्रकृत ने अद्वैतश्रुति एक प्रमाण है और बाध करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान आदि भिन्न—भिन्न अनेक प्रमाण हैं, अर्थात् एक ही प्रमाण के अल्पाधिकविषयों को लेकर बाध्य—बाधक भाव नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा बहुप्रमाण और एक प्रमाण में बाध्य—बाधक भाव दिखाया गया है। इसलिए वैषम्य है। दूसरी बात यह है कि देह और आत्मा की एकता को बतलाने वाले प्रत्यक्षाभास ('मनुष्योऽहं, गौरोऽहम्') अनुमानाभास ('आत्मा देहैक्यवान्, प्रत्यक्षेण तथा प्रतीयमानत्वात् अयं घटः इति प्रत्यक्षवत्') शब्दाभास ('अहं मनुष्यः सोऽयं पुरुषोऽन्नमयः' इत्यादि वाक्य) आदि के विद्यमान होने पर भी देह और आत्मा इन दोनों में भेदबोधक अनन्यपरक—आगम के द्वारा जैसे उनका बाध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अनन्यपरक अद्वैतश्रुति के द्वारा अन्यपरक— द्वैतसत्यत्वबोधकप्रत्यक्षादि का बाध हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि " शतमपि अन्धानां न पश्यति" (अन्धों का शतक भी नहीं देख सकता है अर्थात् सौ अन्धेव्यक्ति मिलकर भी नहीं देख सकते है। इस न्याय से निश्चितप्रामाण्यक एक प्रमाण के सामने अनिश्चितप्रामाण्यक विरुद्धार्थावगाही अनेक प्रमाणों का बाहुल्य अकिञ्चित्कर है, अर्थात् अनिश्चितप्रामाण्यवाले अनेक प्रमाण मिलकर भी अपने विषय को सिद्ध नहीं कर सकते है। अन्यथा देहात्मैक्य—अवगाही प्रत्यक्षाभास आदि का प्राबल्य सिद्ध हो जायेगा। पूर्वपक्षी ने प्रत्यक्षादि और अद्वैतश्रुति में विरोध दिखाकर बाध्य—बाधक भाव दिखाया था, उसका सिद्धान्ती ने पहले अभ्युपगमवाद से पूर्वपक्षी के पक्ष को मानकर समाधान दिया। अब दिखाने जा रहे है कि प्रत्यक्षादि और अद्वैतागम में विरोध ही नहीं है। क्योंकि विद्या—अविद्या के भेद से और विद्वत्पुरुष और अविद्वत्पुरुष भेद से दोनों प्रमाणों के विषय भिन्न—भिन्न है। अर्थात् प्रत्यक्षादि और कर्मकाण्डादि में जो प्रामाण्य है, वह व्यावहारिक है, क्योंकि अविद्यारूपदोष का अधिकरण जो प्रमाता है, उस को ही उसमें व्यावहारिकप्रामाण्य प्रतीत होता है। इस प्रकार कर्मकाण्डादि—आगम का क्षेत्र अविद्या है, क्योंकि जब तक अविद्या है तभी तक कर्मकाण्डादि में प्रमाण्य होता है और उसके अधिकारी अविद्वत्पुरुष हैं। अविद्यावाले पुरुष ही कर्मकाण्डादि में प्रामाण्य स्वीकार कर चित्तशुद्धि आदि के उद्देश्य से कर्मकाण्डादि का अनुष्ठान करते हैं और ज्ञानकाण्ड का क्षेत्र विद्या है और उसके अधिकारी विद्वत्पुरुष हैं। अतः तत्त्वज्ञानी में अविद्यरूपदोष न होने के कारण उस को प्रत्यक्षादि में प्रामाण्य का भान ही नहीं होता है। जैसे शुक्तितत्त्वज्ञ को शुक्तिरजतज्ञान में प्रामाण्य का भान ही नहीं होता है। अतः भिन्न—भिन्न क्षेत्र और अधिकारी होने से प्रत्यक्षादि और अद्वैतागम में विरोध ही नहीं है।।१२॥

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्रावल्यनिराकरणम् —

१९: प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविचारः

नन्वुक्तन्यायैः प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्याभावेऽप्युपजीव्यत्वेन प्राबल्यम्; उपजीव्यत्वं चानुमानागमापेक्षिताशेषार्थग्राहकतया, सा च क्वचित्साक्षात्क्वचित्परम्परया; दृष्टं चापेक्षितैकदेश– ग्राहिणामप्युपजीव्यत्वम्, तद्विरुद्धग्रहणे तेन बाधश्च; यथा घटविभुत्वानुमाने पक्षग्राहिणाऽक्ष्णा,

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— पूर्वोक्त न्यायों से प्रत्यक्ष का जात्या= उपजीव्यत्व से भिन्न प्रत्यक्षत्वेन प्राबल्य न होने पर भी उपजीव्यत्वेन प्राबल्य है और प्रत्यक्ष में उपजीव्यत्व यही है कि अनुमान और आगम को अपेक्षित अशेषार्थों की ग्राहकता प्रत्यक्ष में है और वह ग्राहकता कहीं पर साक्षात् रूप से है और कहीं पर परम्परा रूप से। अपेक्षित जो एक देश, उस एक देश मात्र के ग्राहकों का भी उपजीव्यत्व देखा गया है और उस उपजीव्य से विरुद्धार्थ का ग्रहण करने वाले अनुमान और आगम का उस उपजीव्य से बाध होते हुए भी देखा गया है। जैसे घटविभुत्वसाधकानुमान में परिच्छिन्नत्वरूप से घटरूप पक्ष ग्राही चाक्षुषप्रत्यक्ष से बाध देखा गया है। इसी प्रकार मृतनरशिरश्शुचित्व अनुमान का बाध साध्यग्राहक

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त जात्या (प्रत्यक्षत्वेन) उपक्रमप्राबल्यन्याय सामान्यविशेष न्याय, सावकाश–निरवकाशन्याय एवं बहुबाधाऽन्यायन्यायादि से अद्वैतागम की अपेक्षा प्रत्यक्ष में प्रबलता नहीं सिद्ध होने पर भी उपजीव्यरूप से प्रत्यक्ष में प्रबलता सिद्ध की जा सकती है। क्योंकि यह नियम है कि उपजीव्य और उपजीवक में विरोध होने पर उपजीव्य बलवान होता है। उसके द्वारा उपजीवक का बाध कर दिया जाता है। जैसे श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति के द्वारा स्मृति का बाध कर दिया जाता है। क्योंकि श्रुति में उपजीव्यत्व है स्मृति में उपजीवकता है। उपजीव्यता का अनेक प्रकार से निरूपण होता है। उसमें सर्वप्रथम यह है कि जो जिसके लिए अपेक्षित सम्पूर्णपदार्थों का ग्राहक होता है वह उसका उपजीव्य होता है, उपजीव्य के इस अर्थ को प्रकृत में पूर्वपक्षी समन्वय करते हुए कह रहा है कि अनुमान और आगम इन दोनों को अपेक्षित जितने पदार्थ है, उन सभी की ग्राहकता प्रत्यक्ष में होने से प्रत्यक्ष में उपजीव्यता है। अर्थात् अनुमिति को पक्ष–हेतु–साध्य–व्याप्ति, इन चारों की अपेक्षा है, क्योंकि अनुमिति के प्रति यह सभी प्रयोजक है और एतच्चतुष्टयग्राहकत्व प्रत्यक्ष में हैं। इसी प्रकार शाब्दबोध में शब्दस्वरूप अथवा शब्दस्वरूपनिष्ठयोग्यता, आकांक्षादि एवं उपक्रम–उपसंहार की एकता आदि अपेक्षित है, क्योंकि ये सभी शाब्दीप्रमा के प्रयोजक है और इन सबकी ग्राहकता प्रत्यक्ष प्रमाण में है। इस प्रकार अनुमान और आगम के लिए अपेक्षित सभी पदार्थों की ग्राहकता साक्षात्प्रत्यक्ष में होने से अनुमान और आगम के प्रति प्रत्यक्ष साक्षात उपजीव्य है। अनुमान और आगम के लिए आपेक्षित सभी पदार्थो की प्रत्यक्षनिष्ठ ग्राहकता कहीं पर साक्षाद्रूप से है और कही पर परम्परा से है जैसे प्रत्यक्षप्रमाण परम्परा से आगम के लिए अपेक्षित पदार्थों का ग्राहक इस प्रकार से होता है— चक्षु साक्षात् शब्द का ग्राही न होने पर भी शब्दग्राही श्रोत्र का सजातीय (चक्षु भी इन्द्रिय है और श्रोत्र भी इन्द्रिय है, इस प्रकार से इन्द्रियत्वेन दोनों में साजात्य है) होने से चक्षु उपजीव्य है और आगम उपजीवक है। और श्रोत्रज प्रत्यक्ष साक्षात् आगम के प्रति उपजीव्य है किसी प्रमाण को जितने पदार्थों की आवश्यकता है, उसमे से किसी एक भाग, अर्थात् किसी एक पदार्थ के ग्राही प्रमाण को भी उपजीव्य माना जाता है। उस उपजीव्यप्रमाण के विरुद्ध उपजीवकप्रमाण से ग्रहण होने पर उस उपजीव्यप्रमाण के द्वारा उक्त उपजीवकप्रमाण का बाध कर दिया जाता है। इसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहे है— 'घटो विभुः, सत्त्वात्, गगनवत्' इस अनुमान के पक्ष, हेतु आदि प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध

नरशिरश्शुचित्वानुमाने साध्यग्राहकेणागमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञानासमवाय्याधारत्वहेतुग्राहकेणानुमानेन, किमु वक्तव्यमपेक्षिताशेषग्राहिणा स्वविरुद्धग्राहकस्य बाधः? चक्षुरादेश्च शब्दतज्जन्यज्ञान प्रामाण्याद्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वादुपजीव्यत्वम्। दृष्टञ्च नरशिरः

कैलासविद्याप्रकाशिका

आगम प्रमाण से होते हुए देखा गया है। इसी प्रकार मनः पक्षक विभुत्वसाध्यकानुमान का बाध ज्ञानासमवायिकारणाश्रयत्वरूप हेतु ग्राहक अनुमान से होते हुए देखा गया है। अतः अपेक्षित अशेष का ग्राहक प्रत्यक्ष से स्वविरुद्धार्थ ग्राहक अनुमान और अगाम का बाध होता है—इसमें तो कहना ही क्या है? शब्द और शब्दजन्यज्ञान तथा शब्दजन्यज्ञाननिष्ठप्रामाण्य का ग्राहित्व चक्षुरादि में न होने पर भी शब्द की ग्राहक जो श्रोत्रेन्द्रिय और शब्दजन्यज्ञाननिष्ठप्रामाण्य का ग्राहक साक्षी—आदि के साथ ग्राहकत्वादि रूप से सजातीय होने से चक्षुरादि में उपजीव्यत्व है। (अतः चक्षुरादि से आगम का बाध हो जायेगा।) नरशिरःकपाल के अशुचित्वबोधक आगम का मृतनरशिरःकपालशुचित्वसाधक अनुमान

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने पर अनुमान के स्वरूप की सिद्धि होती है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण उपजीव्य है और अनुमान उपजीवक है। किन्तु जब उपजीव्य प्रत्यक्ष के विरुद्ध उपजीवक अनुमानप्रमाण से घट मे विभुत्व सिद्ध किया जाता है, तब घटपक्षक विभुत्वानुमान का परिच्छिन्नत्वेन घटरूप पक्षग्राही प्रत्यक्षप्रमाण से बाध हो जाता है। इसी प्रकार 'नरकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्' इस अनुमान में पक्षगत नर शब्द से अव्यवहितपूर्व मे 'मृत' इतना और जोड लेना चाहिए। इस अनुमान के साध्य को दृष्टान्त मे समन्वय करते समय निम्नोक्त आगम का आश्रय लिया जाता है—

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवस्य चाज्ञया। शङ्खे तिष्ठन्ति विप्रेन्द्र तस्माच्छङ्खं प्रपूजयेत्।।

इस प्रकार इस आगम के बल पर साध्य का समन्वय दृष्टान्त में होने से उक्त अनुमान के प्रति यह आगम उपजीव्य है। अतः आगमसजातीय—आगम भी उक्त अनुमान के प्रति उपजीव्य होगा। अतः सजातीय उपजीव्य—आगम के द्वारा यह कहा जा रहा है—

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा।। (मनुस्मृति ५/८७)

अर्थात् मृत मनुष्य की गीली अस्थि का स्पर्श यदि हो जाय तो स्नान से शुद्धि होती है और सूखी अस्थि के स्पर्श से जो अशुद्धि होती है उसकी निवृत्ति आचमन, गोस्पर्श या सूर्यदर्शन से होती है। इस प्रकार इन उपजीव्य—आगम से मृतनरकपाल में अशुचित्व बतलाया जा रहा है। इसके विरुद्ध उपजीवक—अनुमान से जब मृतनरकपाल से शुचित्व सिद्ध किया जाता है, तब उक्त उपजीव्य—आगम के द्वारा उक्त अनुमान का बाध कर दिया जाता है। इसी प्रकार जब मन में विभुत्व का अनुमान किया जाता है— 'मनो विभु, ज्ञानासमवाय्याधारत्वात्, आत्मवत्' (ज्ञानासमवाय्या—धारत्व का अर्थ है ज्ञानासमवायिकारणत्व)। ज्ञान का असमवायिकारण आत्ममनसंयोग होता है। वह आत्मा और मन में समवायसम्बन्ध से रहता है। इस अनुमान के पक्षीभूत मन के अतीन्द्रिय होने के कारण मन और उसमें हेतु का ज्ञान, अनुमान के द्वारा होता है। अतः यह अनुमान मन में विभुत्व सिद्ध करने वाले अनुमान के प्रति उपजीव्य होगा। इस अनुमान का आकार यह होगा— 'ज्ञानसुखादीनां क्रमिकप्रतीतिः क्रमिकसंयोगवत्करणसाध्या, क्रमिकक्रियात्वात् क्रमोत्पन्नच्छिदावत्'। इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि आत्ममनसयोंग के क्रम से ज्ञानादि भी क्रम से उत्पन्न होते हैं और क्रम से उत्पन्न होने वाले ज्ञानादि का असमवायिकारणीभूतसयोग का आधार अणुपरिणामवाला द्रव्य होता

कपालाशुचित्वबोधकागमस्य तच्छुचित्वानुमानोपजीव्यशुचित्वागमसजातीयत्वेन तदनुमानात् प्राबल्यम्। न चेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुमानमुपजीवतीति सम एवोपजीव्योपजीवकभावः, अज्ञातकरणतया ज्ञानजननार्थमनुमानानपेक्षणात्, अनुमानागमादिना तु ज्ञानजननार्थमेव तदपेक्षणादिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

के उपजीव्य शुचित्व प्रतिपादक आगम के सजातीय होने से मृतनरशिरःकपाल शुचित्वसाधकानुमान की अपेक्षया प्राबल्य देखा गया ही है। शङ्का की जाय कि इन्द्रियरूपप्रत्यक्ष प्रमाण भी स्वज्ञान के लिए अनुमान का आश्रयण करता है। इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमान में समानरूप से उपजीव्योपजीवक भाव है—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां अज्ञातकरण होने से ज्ञानजनन के लिए अनुमान की अपेक्षा नहीं करती हैं, जबकि अनुमान—आगमादि ज्ञानजनन के लिए प्रत्यक्ष प्रमाणरूप इन्द्रियों की

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। क्योंकि उक्त संयोग का आधार विभुद्रव्य मानने पर ज्ञानादि के युगपद् उत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। अर्थात् जैसे आत्मा विभु है, ठीक उसी प्रकार मन को भी विभु मान लेने पर आत्म—मन संयोग हमेशा बना रहने से एक साथ ही ज्ञान—सुखादि की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। इस प्रकार पक्ष में हेतु की सिद्धिमात्र करने वाले इस उपजीव्य—अनुमान से विरुद्ध जब मन में विभुत्व सिद्ध किया जाता है, तब इस उपजीव्य—अनुमान के द्वारा मनो—विभुत्व—अनुमान का बाध हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अपेक्षितपदार्थ के किसी एक भाग के ग्राहकरूप उपजीव्य से विरुद्ध उपजीवक के द्वारा सिद्ध करने पर उपजीवक का बाध होता है, तब अपेक्षित सम्पूर्णविषय के ग्राहकरूप उपजीव्य से विरुद्ध उपजीवक के द्वारा सिद्ध करने पर उपजीवक का बाध अवश्य ही होगा। चक्षुरादि में शब्द, शब्दजन्यज्ञान और शब्दजन्यज्ञाननिष्ठप्रामाण्य का ग्राहित्व न होने पर भी शब्दादिग्राही श्रोत्र साक्षी आदि का सजातीय होने से शब्दप्रमाण का उपजीव्य चक्षुरादि होते है। कहने का तात्पर्य यह है कि चक्षु साक्षात् शब्द का ग्राही नहीं है। किन्तु शब्द के साक्षाद्ग्राही श्रोत्र का इन्द्रियत्वेन सजातीय होने से चक्षुरादि शब्दप्रमाण के उपजीव्य है। इसी प्रकार शब्दजन्यज्ञाननिष्ठप्रामाण्यादि का साक्षाद्ग्राही चक्षुरादि के न होने पर भी शब्दजन्य—ज्ञाननिष्ठप्रामाण्य आदि का साक्षाद्ग्राही साक्षी का प्रत्यक्षजनकत्वेन सजातीय होने से चक्षुरादि शब्दप्रमाण के उपजीव्य है। अतः साक्षाद् उपजीव्यविरोध न होने पर भी सजातीयत्वेन उपजीव्यविरोध होने से 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के द्वारा अद्वैतआगम का बाध हो जायेगा। सजातीयत्वेन उपजीव्यविरोध होने पर भी उपजीवक का बाध हो जाता है, इसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि नरशिर की शुचिता का अनुमान का उपजीव्य शुचित्व—ग्राहक आगम है— 'त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि ....' इसका सजातीय आगम है, नरास्थि की अशुचिता का प्रतिपादक आगम— 'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं...............'। उक्त नरशिरशुचित्वानुमान का सजातीयरूप से उपजीव्य इस आगम से विरोध होने के कारण इस आगम के द्वारा नरशिरशुचित्वानुमान का बाध हो जाता है। इसी प्रकार उपजीव्यसजातीयत्वेन 'सन् घटः' इस चाक्षुषप्रत्यक्ष के द्वारा अद्वैतागम का बाध हो जोयगा। इस पर कोई शङ्का करे कि अनुमान के प्रति जैसे चक्षुरादि प्रत्यक्षप्रमाण उपजीव्य है, ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष के प्रति अनुमान भी उपजीव्य है। क्योंकि इन्द्रियों के स्वरूप की सिद्धि अनुमान से होती है— जैसे 'दर्शनादिक्रिया सकरणिका, क्रियात्वात्, छिदादिवत्'। इसलिए इन्द्रियों का उपजीव्य—अनुमान और अनुमान का उपजीव्य इन्द्रियाँ है। अतः दोनों मे समानरूप से उपजीव्य—उपजीवक भाव है। अतः परस्पर बाध्यबाधकभाव उनमें नहीं होना चाहिए। तो इस प्रकार की शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि अनुमान के हेतु धूमादि जो करण है उनका प्रत्यक्ष होने पर अनुमान होता है। अर्थात् अनुमान ज्ञातकरणवाला है। इसलिए प्रत्यक्ष उपजीव्य और अनुमान उपजीवक है। किन्तु घटादिज्ञान के लिए करण चक्षुरादि अज्ञात हो

विशेषादिति चेत्? ॥ १ ॥

न, उपजीव्याविरोधात्। तथा हि यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते, बाध्यते च तात्त्विकत्वाकारः; स च नोपजीव्यते, कारणत्वे तस्याप्रवेशात्। तदुक्तम्—पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥ इति। किञ्चापेक्षितग्राहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यता, तया च बाधकत्वम्, तदाऽपेक्षितप्रतियोगिग्राहकत्वेन 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्य बाधोपजीव्यत्वात्

कैलासविद्याप्रकाशिका

अपेक्षा करते हैं। (अतः प्रत्यक्ष और अनुमानादि में समानरूप से उपजीव्योपजीवक भाव नहीं है।)॥१ ॥

समाधान— नहीं, क्योंकि यहां पर अनुमानागमादि का अपने उपजीव्य के साथ विरोध नहीं है। जैसे प्रत्यक्ष के जिस स्वरूप की अपेक्षा अनुमानागमादि स्वउपजीव्यत्वेन (स्वप्रयोजकत्वेन) करते हैं, वह स्वरूप अनुमानागमादि के द्वारा बाधित नहीं होता है। यद्यपि अनुमानागमादि के द्वारा उसका तात्त्विकत्वाकार बाधित होता है तथापि उसका तात्त्विकत्वाकार स्वप्रयोजकत्वेन अपेक्षित नहीं है, क्योंकि तात्त्विकत्वाकार को कारणता के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं माना जाता है। इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए खण्डनकार ने कहा है कि अन्यथासिद्धिशून्यकार्याव्यवहितप्राक्क्षणवृत्तिरूप जो कार्य की व्यापकतारूप कारणता उभय सम्मत होने पर, उक्त कारणता के स्वरूप के बहिर्भूत सत्त्व और असत्त्व का विचार करना व्यर्थ ही है। दूसरी बात यह भी है कि अपेक्षितग्राहित्वमात्र से ही यदि उपजीव्यता है और उस

सत्यानन्दप्रबोधिका

कर के साधन बनते है। अर्थात् पहले चक्षु का ज्ञान हो, तब चक्षु से घट का ज्ञान होगा ऐसा नियम नहीं है। इसलिए चक्षु अनुमान की अपेक्षा नहीं करता है। यही दोनों (इन्द्रिय और अनुमान) में भेद है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय उपजीव्य है एवं अनुमानादि उपजीवक है, न कि अनुमान उपजीव्य और इन्द्रिय उपजीवक है॥ १॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती भामतीकार आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र के द्वारा दिए गये समाधान के अनुसार कह रहें है कि प्रकृत में उपजीव्य विरोध नहीं है। क्योंकि जगत् के व्यावहारिकप्रामाण्यवाले प्रत्यक्षरूप उपजीव्य के सहारे मिथ्यात्वानुमान और आगम खडा है। किन्तु अनुमानादि जिस व्यावहारिक प्रामाण्यवाले प्रत्यक्ष के सहारे खडा है उसका बाध नहीं कराता है, अपितु आगम तथा अनुमान के द्वारा प्रत्यक्षगतत्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व (पारमार्थिकप्रामाण्य) का बाध किया जाता है, वह त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व उपजीव्य नहीं है। क्योंकि श्रुतिजन्य—अर्थबोध की कारणता जो प्रत्यक्ष में है, उस कारणता में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व प्रविष्ट नहीं है, किन्तु व्यावहारिकसत्यत्व प्रविष्ट है। इसमें खण्डनकार आचार्य श्री श्रीहर्ष की सम्मति दिखला रहे है। पूर्वसम्बन्धनियमहेतुता अर्थात् अनन्यथासिद्ध होता हुआ कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन विद्यमानतारूप जो कार्य की व्यापकतारूप कारणता, प्रपञ्चसत्यत्ववादी और प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी उभयसम्मत होने से उक्त कारणता के स्वरूप से बहिभूर्त (अघटक) सत्त्व और असत्त्व का विचार करना व्यर्थ है। अर्थात् कारणता के लक्षण में पारमार्थिकसत्त्व प्रविष्ट नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रुतिजन्य—अर्थबोध की कारणता प्रत्यक्ष में है यह सिद्धान्ती को मान्य है, किन्तु उक्त कारणता में पारमार्थिकसत्त्व होना चाहिए, यह हमें मान्य नहीं है। दूसरी बात यह भी है उपजीवक को जिन विषयों की अपेक्षा है, उन विषयों के ग्राहक को उपजीव्य माना जाय और उस उपजीव्य के द्वारा उपजीवक का बाध मानने पर तो 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान को अपेक्षित जो प्रतियोगी (इदं रजतम्) का ज्ञान है, उक्त अपेक्षितप्रतियोगी का समर्थक 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान के प्रति

कथं 'नेदं रजतम्' इति बाधबुद्धिस्तद्विरुद्धोदीयात्? ।। २।।

अथ निषेध्यार्थसमर्पकतया प्रतियोगिज्ञानत्वेन तस्योपजीव्यत्वेऽपि तत्प्रामाण्यं नोपजीव्यम्, न हि प्रतियोगिप्रमात्वेनाभावज्ञानजनकता, गौरवात्, प्रतियोगिभ्रमादप्यभावज्ञानदर्शनाच्च, किन्तु तज्ज्ञानत्वेनैव; लाघवात्, अतस्तद्विरुद्धविषयकं ज्ञानमुदियादेवेति ब्रूषे, तुल्यमिदं प्रकृतेऽपि, पक्षज्ञानत्वादिना कारणता, न तु तत्प्रमात्वादिनाऽपीति ।। ३।।

अथ यत्प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थञ्च यत्प्रामाण्यमुपजीवति तत्तस्योपजीव्यम्;

कैलासविद्याप्रकाशिका

उपजीव्यता से उपजीव्यताश्रय का बाधकत्व है, तब तो बाधात्मकनिषेध को अपेक्षित प्रतियोगी का ग्राहकत्वरूप से ''यह रजत है।'' यह भ्रम भी बाध के प्रति उपजीव्य होगा और तब ''यह रजत नहीं है।'' यह बाध बुद्धि भी अपने उपजीव्य के विरुद्ध कैसे उदय होगी?।।२।।३।।४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपजीव्य हो जायेगा। तब 'इदं रजतम्' इस प्रबल उपजीव्य के रहते हुए उसके विरुद्ध 'नेदं रजतम्' यह बाधबुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी। ऐसा होने से भ्रम और बाध की जो व्यवस्था है वह भङ्ग हो जायेगी।।२।।

अब पूर्वपक्षी को यह दिखाना है कि 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्' मे उपजीव्य–उपजीवक भाव होने पर भी बाध्यबाधकभाव बनता है। इसे दिखा रहा है– 'नेदं रजतम्' इसके द्वारा निषेध्य जो विषय रजत है, उस रजत का ग्राहक जो 'इदं रजतम्' यह ज्ञान प्रतियोगिज्ञानत्वेन 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान का उपजीव्य होने पर भी 'इदं रजतम्' इस ज्ञानगतप्रामाण्य 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान का उपजीव्य नहीं है, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगी मात्र का ज्ञान जनक होता है, न कि प्रतियोगी का प्रमाज्ञान। कहने का तात्पर्य यह है कि 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान का 'इदं रजतम्' यह ज्ञान उपजीव्य है। किस रूप से उपजीव्य है? इस पर कहा कि प्रतियोगिज्ञानत्वेन, न कि प्रतियोगियथार्थज्ञानत्वेन, क्योंकि प्रतियोगिज्ञानत्व की अपेक्षा प्रतियोगियथार्थज्ञानत्व में शब्दादिकृत गौरव है और प्रतियोगी के भ्रमज्ञान (इदं रजतम्) से भी अभावज्ञान (नेदं रजतम्) होता है। इस में अनुभव भी प्रमाण है। अत: प्रतियोगिज्ञानत्वेन ही प्रतियोगी का ज्ञान, अभावज्ञान के प्रति कारण होता है। ऐसा मानने पर लाघव है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि बाधज्ञान (नेदं रजतम्) का उपजीव्य प्रतियोगिज्ञानत्वेन प्रतियोगी का ज्ञान (इदं रजतम्) उपजीव्य है, प्रतियोगिज्ञानगतप्रामाण्य उपजीव्य नहीं है। बाधज्ञान के द्वारा अनुपजीव्य जो प्रतियोगिज्ञानगतप्रामाण्य है, उसका निरास किया जाता है। इसलिए बाधज्ञान के द्वारा अनुपजीव्य का निरास होने से बाधज्ञान अपने उपजीव्य का बाधक नहीं है। इसलिए 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञान के विरुद्ध 'नेदं रजतम्' इत्याकारकज्ञान उत्पन्न होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के कहने पर सिद्धान्ती कह रहे है कि जिस प्रकार पूर्वपक्षी ने अपने पक्ष में समाधान दिया, ठीक उसी प्रकार हम भी अपने पक्ष मे समाधान दे देंगे। अनुयोगी–प्रतियोगी का समर्पकरूप से प्रत्यक्षादि उपजीव्य होने पर भी प्रत्यक्षादिगतप्रामाण्य उपजीव्य नहीं है। आगम–अनुमान के द्वारा अनुयोगी–प्रतियोगी के समर्पक प्रत्यक्षादिगत प्रामाण्य का निरास होता है। इसलिए आगम–अनुमान के द्वारा अनुपजीव्य (प्रत्यक्षगतप्रमाण्य) का निरास होने से उपजीव्यविरोध नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्वानुमान के प्रति पक्ष का ज्ञानादि जो कारण है वह पक्षज्ञानत्वेन है, न कि पक्षयथार्थज्ञानत्वेन। अत: प्रपञ्च कि प्रत्यक्षादिज्ञान का आश्रय लेकर मिथ्यात्वानुमान और आगम का उदय होगा और उसके द्वारा अनुपजीव्य प्रपञ्च के प्रत्यक्षादिज्ञाननिष्ठप्रामाण्य का निरास होने में उपजीव्यविरोध नहीं होगा।।३।।

पूर्वपक्षी पुन: कहता है कि जिस ज्ञान को अपने में प्रमात्व की सिद्धि के लिए और अपने में

यथा स्मृतेरनुभवः, न च रजतभ्रमस्तथेति चेत्, तर्हि व्याप्तिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वं स्यात्; लिङ्गाभासादपि वह्निमति वह्निप्रमादर्शनात् ।। ४।।

ननु येन विना यस्योत्थानं नास्ति तत्तस्योपजीव्यमित्येव वक्तव्यम्; तथा च रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव, न तु प्राबल्यम्, न ह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्, किन्तु परीक्षिततया।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— जिसके बिना जिसका उत्थान नहीं होता है वह (तृतीयान्त यच्छब्दनिर्दिष्ट पदार्थ) उसका (षष्ठ्यन्त यच्छब्दनिर्दिष्ट पदार्थ का) उपजीव्य होता है— यही कहना होगा। ऐसा होने पर रजतभ्रमगत बाध के प्रति उपजीव्यत्व है ही किन्तु रजतभ्रमगत बाध से प्रबलता नहीं है, क्योंकि उपजीव्यत्व होने मात्र से किसी में प्राबल्य नहीं माना जाता है अपितु परीक्षितत्वेन प्राबल्य माना जाता है और परीक्षा

सत्यानन्दप्रबोधिका

अप्रमात्व का निरास के लिए दूसरे ज्ञान के प्रमात्व की अपेक्षा करना पडता हो, वह दूसरा ज्ञान प्रथमज्ञान का उपजीव्य माना जायेगा। जैसे यह नियम है कि स्मृति अपने जनक अनुभव के समान विषयक होती है और प्रमानुभवजन्यस्मृतित्व के बल पर स्मृति में प्रमात्व सिद्ध किया जाता है— 'इयं स्मृतिः प्रमा, प्रमानुभवजन्यस्मृतित्वात्, यथार्थस्मृतिवत्'। इस प्रकार स्मृतिज्ञान में प्रमात्व की सिद्धि होती है और स्मृति में प्रमात्व का निश्चय हो जाने पर उसमें अप्रमात्व का निरास हो जाता है। अतः स्मृति का उपजीव्य अनुभव होता है। प्रकृत में बाधज्ञान (नेदं रजतम्) अपने में प्रमात्व की सिद्धि के लिए और अपने में अप्रमात्व का निरास के लिए भ्रमज्ञान (इदं रजतम्) की अपेक्षा नहीं करता है। इसलिए भ्रमज्ञान बाधज्ञान का उपजीव्य नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के बनाये गये पूर्वोक्त नियमानुसार व्याप्तिज्ञान अनुमिति के प्रति उपजीव्य नहीं बन पायेगा। क्योंकि अनुमिति को अपने में प्रमात्व की सिद्धि के लिए व्याप्तिज्ञान के प्रमात्व की अपेक्षा नहीं होती है। क्योंकि वह्निवाले पक्ष में वह्नि की प्रमात्मक अनुमिति लिङ्गाभास (धूलीपटल) से भी होती हुयी देखी जाती है। यहाँ पर व्यप्तिज्ञान में प्रमात्व नहीं है। इसलिए व्याप्तिज्ञान जो अनुमिति के लिए उपजीव्यरूप से प्रसिद्ध है उसकी सिद्धि नहीं हो पायेगी।।४।।

इससे पूर्व पूर्वपक्षी 'यद् यदुपजीव्यं तत्तत्प्रबलम्' इस व्याप्ति को मानकर दोष दे रहा था। अब 'यद् यत्परीक्षिततत्वविशिष्टोपजीव्यं तत् तत्प्रबलम्' इस व्याप्ति को मानकर शङ्का कर रहा है। जिसके बिना जिसका उत्थान नहीं होता है, वह उसका उपजीव्य होता है, इस नियम के अनुसार 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान 'नेदं रजतम्' इस बाधज्ञान के प्रति उपजीव्य है, किन्तु प्रबल नहीं है, क्योंकि उपजीव्यत्वमात्र ही प्रबलता का कारण नहीं होता है। अपितु उसमें परीक्षिततत्व भी होना चाहिए। अर्थात् जो उपजीव्य होता है वह प्रबल होता है, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु जो परीक्षिततत्वविशिष्ट—उपजीव्य होता है वह प्रबल होता है, यह नियम माना जाता है। प्रश्न होता है कि परीक्षा क्या है? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि वह चार प्रकार की है। सजातीयसंवाद, विजातीयसंवाद, सजातीयविसंवाद का अभाव और विजातीयविसंवाद का अभाव। अबाधितार्थविषयकत्वेन निश्चित जो ज्ञानान्तर है उसको प्रथमज्ञान का सजातीय कहते है। अबाधितार्थविषयकत्वेन निश्चित प्रवृत्ति आदि को प्रथमज्ञान का विजातीय कहते है। प्रथमज्ञान के सजातीय और प्रथमज्ञान के विजातीय इन दोनों के समानविषयकत्व को संवाद कहते है और विरुद्धार्थविषयकत्व को विसंवाद कहते है। इस प्रकार परीक्षा के लिए सजातीय का संवाद चाहिए और सजातीय के विसंवाद का अभाव चाहिए। एवं विजातीय का संवाद चाहिए और विजातीय के विसंवाद का अभाव चाहिए। यही अंशचतुष्टय परीक्षा का स्वरूप है। इसमें से प्रथम, सजातीयसंवाद का तात्पर्य यह है कि किसी ज्ञान का सजातीय— विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तर होता है। अर्थात् अबाधितविषयकत्वेन निश्चित ज्ञानान्तर। जैसे एक बार

परीक्षा च सजातीयविजातीयसंवादविसंवादाभावरूपा। न च तौ रजतभ्रमे स्तः, प्रकृते चाक्षस्य परीक्षितत्वेन प्राबल्यम्। अस्ति हि 'सन् घटः' इति विशेषदर्शनजन्यज्ञानानन्तरं घटार्थक्रिया प्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावाच्च। एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षञ्चा–दोषत्वात् परीक्षितमिति तदपि न बाध्यम्। एवमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामप्यिनाश्वासे

कैलासविद्याप्रकाशिका

तो सजातीयविजातीयसम्वादविसम्वादाभावरूपा है। रजतभ्रम स्थल पर सजातीय–विजातीयसम्वाद और सजातीय–विजातीय विसम्वादाभाव–ये दोनों ही नहीं हैं, जबकि प्रकृत में प्रत्यक्ष का परीक्षितत्व होने से प्राबल्य है। जैसे ''सन् घटः''इस प्रत्यक्ष में विशेष दर्शन जन्य के अनन्तर घटानयनादि में प्रवृत्यादि होती है और प्रत्यक्ष में क्लृप्त दूरत्वादि दोषभावादि भी है। (अतः प्रत्यक्ष परीक्षित है)। इसी प्रकार जीवेशाभेद प्रतिपादक श्रुति में निषेध्य को समर्पण करने वाली भेद श्रुति और ''मैं ईश्वर से भिन्न हूं।'' इत्याकारक भेद का साक्षिप्रत्यक्ष–ये दोनों ही दोष रहित होने से परीक्षित हैं। अतः ये दोनों ही बाध्य नहीं हैं। एवमेव च=जैसे ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष में विश्वास नहीं है ठीक वैसे ही दोषाभावादि ज्ञानरूप

सत्यानन्दप्रबोधिका

दूर से 'अयं घटः' यह ज्ञान हुआ, उसके बाद समीप में जाकर अच्छी तरह से देखने पर भी (विशेषदर्शन से जन्य) 'अयं घटः' ऐसा जो द्वितीयज्ञान होता है, वह प्रथम 'अयं घटः' इस ज्ञान का सजातीयज्ञान है। सजातीयसंवाद का तात्पर्य यह है कि परीक्षणीयज्ञान का संवाद। संवाद का अर्थ है समानविषयकत्व। यहाँ पर परीक्षणीयप्रथमज्ञान का विषय और सजातीयद्वितीयज्ञान का विषय एक ही घट है। अतः यहाँ सजातीयसंवाद हो गया। यदि 'अयं घटः' इस प्रथमज्ञान के पश्चात् विशेषदर्शन से 'अयं घटः' ऐसा ज्ञान न होकर 'अयं पटः' ऐसा ज्ञान होता, तब भी 'अयं पटः' यह ज्ञान 'अयं घटः' इस ज्ञान का ज्ञानत्वेन सजातीय होता है। किन्तु उस सजातीय 'अयं पटः' ज्ञान का परीक्षणीय 'अयं घटः' इस ज्ञान के साथ समानविषयकत्व न होने के कारण 'अयं घटः' इस ज्ञान में सजातीयसंवाद नहीं होता है। प्रकृत में 'इदं रजतम्' यह परीक्षणीयज्ञान है। इस ज्ञान के पश्चात् विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तर (अर्थात् सजातीयज्ञान) 'इयं शुक्तिः' (नेदं रजतम्) है। वह सजातीयज्ञान 'इदं रजतम्' इस परीक्षणीयज्ञान के समानविषयक न होने से 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में सजातीयसवांद नहीं है। द्वितीय–विजातीयसंवाद का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का सजातीयज्ञानान्तर होता है, किन्तु ज्ञान का विजातीयज्ञानान्तर नहीं होता है, अपितु ज्ञान का विजातीयप्रवृत्ति आदि (आदि पद से निवृत्ति) होते है। प्रवृत्ति का संवाद (विजातीयसंवाद) माने अर्थक्रिया, अर्थात् सफलप्रवृत्ति का होना। जैसे 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद जिस प्रयोजन से उस वस्तु को लेने के लिए जो द्रष्टा की प्रवृत्ति होगी, उसका सफल हो जाना ही विजातीयसंवाद है। प्रकृत में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का विजातीयसंवाद माने पुरोवर्ति वस्तु से चांदी के आभूषण बनाना आदि, वह सम्भव नहीं है। अतः यहाँ विजातीयसंवाद नहीं है। तृतीय–सजातीयविसंवाद के अभाव का तात्पर्य यह है कि सजातीय का अर्थ विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तर और संवाद का अर्थ है समानविषयकत्व। ठीक उसी प्रकार विसंवाद का अर्थ विरुद्धविषयकत्व (विरुद्धार्थग्राहित्व) है। अतः सजातीयविसंवाद का अर्थ होगा–विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तरविरुद्धविषयकत्व का अभाव। प्रकृत में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में विशेषदर्शनजन्यज्ञानान्तर ('इयं शुक्तिः' अथवा 'नेदं रजतम्') का विरुद्धार्थविषयकत्व है न कि विरुद्धार्थविषयकत्व का अभाव। चतुर्थ–विजातीयविसंवाद के अभाव। यहाँ विजातीय का अर्थ प्रवृत्ति आदि है। उसका विसंवाद का अर्थ है प्रवृत्ति आदि की विफलता। इस प्रकार विजातीयविसंवाद के अभाव का अर्थ होगा प्रवृत्ति आदि की

वेदे पौरुषेयत्वाभावज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने ब्रह्ममीमांसायां प्रत्यधिकरणं सिद्धान्त्यभिप्रेतार्थ उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति

कैलासविद्याप्रकाशिका

परीक्षा में भी विश्वास न करने पर, वेद में जो पौरुषेयत्वाभाव का ज्ञान होता है उसमें, और सिद्धान्ती के द्वारा कथित मिथ्यात्वानुमान में मिथ्यात्वविरोधी प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानुपलब्ध्यादिरूप हेतु से हेत्वाभासराहित्य ज्ञान में और ब्रह्ममीमांसा के प्रत्येक अधिकरण में सिद्धान्ती को अभिप्रेतार्थ में उपक्रमादि के आनुकूल्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

विफलता का अभाव, अर्थात् जिस प्रयोजन से द्रष्टा की वस्तु में प्रवृत्ति होती है उस प्रवृत्ति की अपूर्ति का अभाव। प्रकृत में 'इदं रजतम्' इस स्थल पर प्रवृत्ति की अपूर्ति ही है, उसका अभाव नहीं है। जो पहले प्रवृत्ति आदि कहा गया था वहाँ आदि पद से निवृत्ति को कहा गया था। निवृत्ति का अर्थ लेने पर विजातीयसंवाद का अर्थ होगा निवृत्ति की सफलता। जैसे जहाँ पर सर्प स्थित है वहाँ पर 'अयं सर्पः' इस ज्ञान के पश्चात् निवृत्ति की सफलता होती है, अतः यहाँ विजातीयसंवाद है। यदि रज्जु में सर्पभ्रम हो जाय तो वहाँ निवृत्ति सफल नहीं होती है, क्योंकि वहाँ सर्प के काटने का भय की निवृत्ति सफल नहीं होती है। इसी प्रकार विजातीयविसंवाद के अभाव का अर्थ होगा कि निवृत्ति के अपूर्ति का अभाव। 'अयं सर्पः' इस भ्रमस्थल पर निवृत्ति की अपूर्ति है न कि उक्त अपूर्ति का अभाव। इस प्रकार यह देखा गया कि 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल पर उक्त परीक्षाचतुष्टय नहीं है। अतः 'इदं रजतम्' यह उपजीव्य होने पर भी प्रबल नहीं है। अपितु परीक्षित होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण प्रबल है। अतः आगमादि का बाध करता है। 'सन् घटः' यह प्रत्यक्ष परीक्षित कैसे है? उसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रथम बार 'सन् घटः' इस प्रकार प्रत्यक्ष के बाद विशेषदर्शनजन्य जो द्वितीयज्ञान होता है उसका भी आकार 'सन् घटः' होने से सजातीयसंवाद है। 'सन् घटः' इत्याकारक ज्ञान के बाद घटानयनादि में प्रवृत्त्यादिरूप सफलघटार्थक्रिया होने से विजतीयसंवाद है। अतः उक्त परीक्षा के चारो अङ्ग 'घटः सन्' इस स्थल पर है और उक्त चारों प्रकार की परीक्षा से अतिरिक्त दूरत्वादि दोषों से रहित भी 'घटः सन्' यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार दोषाभाव और उक्त चार परीक्षाओं को मिलाकर पाँच प्रकार की परीक्षाओं से युक्त होने के कारण 'घटः सन्' यह प्रत्यक्ष प्रबल है। इसलिए 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतागम का बाध हो जायेगा। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अद्वैतबोधक श्रुतियों के द्वारा निषेध्य जो भेद, उस भेद को बतलाने वाली 'द्वा सुपर्णाः ..' यह श्रुति और साक्षिप्रत्यक्ष (मै ईश्वर नहीं हूँ, या मै जीव हूँ या अल्पज्ञ जीव हूँ ऐसा जो साक्षिप्रत्यक्ष) उक्त परीक्षा से परीक्षित उपजीव्य है। अतः जीव और ईश्वर मे अभेद बतलानेवाली श्रुति के द्वारा निषेध्यार्पकभेदश्रुति और साक्षिप्रत्यक्ष का बाध नहीं होगा। इसको न मानने पर पूर्वपक्षी बाधकतर्क देते हुए कह रहा है कि जैसे प्रपञ्चसत्यत्व में सिद्धान्ती को विश्वास नहीं है, ठीक उसी प्रकार वेद में दोषाभावादि का जो ज्ञान, तादृशज्ञानरूप परीक्षा में भी विश्वास न होने पर वेद मे अपौरुषेयत्व हेतु के द्वारा दोष (अर्थविप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष) के अभाव का ज्ञान रूप जो परीक्षा है उसमें भी आप को विश्वास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा किया गया प्रपञ्चमिथ्यात्व–अनुमान के हेतु दृश्यत्वादि में हेत्वाभासरूपदोष के अभाव का ज्ञान जो योग्यानुपलब्धि से किया गया है, वह भी परीक्षा के लिए किया गया है। यदि सिद्धान्ती परीक्षा नहीं मानेंगे तो हेत्वाभासरूप दोष के अभाव का ज्ञानरूपपरीक्षा में भी विश्वास नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन के प्रत्येक अधिकरण में सिद्धान्ती को अभिप्रेतार्थ में उपक्रमादि षड्विधतात्पर्यनिर्णायकलिङ्गों की अनुरूपता का जो ज्ञान है, वह भी परीक्षा के लिए किया गया है। परीक्षा को न मानने पर उक्त उपक्रमादि की अनुरूपता का ज्ञानरूप परीक्षा में भी विश्वास

प्रमाणतदाभासव्यवस्था न स्यादिति चेत्।। ५।।

न, परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा, तया च स्वसमानदेशकालीन–विषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव। तथा च व्यवहारदशामात्राबाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं परीक्षितप्रमाणे व्यवस्थितमिति कथमत्यन्ता–बाध्यत्वाभावग्राहकागमानुमानयोः प्रवृत्तिर्न स्यात्? तस्माद् विश्वासप्रमाणतदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकञ्च व्यावहारिकमित्युपपन्नमेव सर्वं जगन्मिथ्येति ।।६।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

ज्ञान में अविश्वास होने पर प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो पायेगी।।५।।

समाधान– नहीं, क्योंकि सजातीय विजातीय प्रवृत्ति संवाद और सजातीय–विजातीय प्रवृत्ति विसंवाद का अभाव तथा दोषाभाव रूप जो परीक्षा है, उसके द्वारा अपने समानदेशकालीन जो प्रामाण्यघटकविषयाबाध्यत्व है वह व्यवस्थापित किया जाता है। जैसे धूम के द्वारा स्वसमानदेशकालीन वह्नि की व्यवस्था होती है। फलतः परीक्षित प्रत्यक्ष प्रमाण में देहात्मैक्य साधारण व्यवहार दशामात्र में अबाध्यत्व सिद्ध हुआ। ऐसा होने पर अत्यन्ताबाध्यत्व के अभाव ग्राहक आगम और अनुमान की प्रवृत्ति क्यों न होगी? इसलिए विश्वास–प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था सूपपपन्न है तथा जीवेशभेदादि व्यावहारिक हैं। अतः सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है–यह उपपन्न हो गया है।।६ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं करना चाहिए। यदि इन सभी प्रकार की परीक्षाओं में विश्वास नहीं किया जाय तो कौन प्रमाण है? और कौन प्रमाणाभास है? इसकी व्यवस्था ही नहीं बन पायेगी। क्योंकि परीक्षा के बल पर ही प्रमाण और प्रमाणभास की व्यवस्था होती है।।५।।

पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रत्यक्षप्रमाण परीक्षित है, इसलिए प्रबल है। सजातीयसंवाद, विजातीयसंवाद, सजातीयविसंवाद का अभाव, विजातीयविसंवाद का अभाव और दोषाभावरूप परीक्षा का आकार भी पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया। सिद्धान्ती उक्त परीक्षा के आकार को संग्रह करते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो शङ्का की है वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रवृत्तिसंवादरूप और प्रवृत्तिविसंवादाभावरूप तथा दोषाभावरूप परीक्षा के द्वारा अपने देश और काल में ही विषय का अबाध्यत्वरूपप्रामाण्य, अर्थात् प्रामाण्य के घटक विषय में अबाध्यत्व सिद्ध किया जाता है, न कि अन्य देश–काल में विषय का अबाध्यत्व सिद्ध किया जाता है। जैसे धूमलिङ्गकवह्नि के अनुमान से धूम के देश और काल में ही वह्नि की सिद्धि होती है, न कि धूम के देश–काल से भिन्न देश–काल में वह्नि की सिद्धि होती है। अतः उक्त परीक्षा के द्वारा व्यवहारदशामात्र में विषयाबाध्यत्वरूपप्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। व्यवहारदशा में विषय के अबाध्यत्वमात्र से सर्वथा विषय का अबाध्यत्व सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि देहात्मैक्य व्यवहारदशामात्र में अबाध्य होने पर भी बाध्य माना जाता है। अतः परीक्षितप्रमाण से जो प्रामाण्य सिद्ध होता है वह देहात्मैक्य–साधारणव्यवहारकालाबाध्यत्वमात्र में पर्यवसित होता है। अतः व्यवहारकालाबाध्यत्वरूपप्रामाण्य के आधार पर त्रैकालिकात्यन्ताभाव के ग्राहक मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतागम की प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के उक्त परीक्षा को स्वीकार करने पर भी उक्त परीक्षा के द्वारा 'सन् घटः' इत्यादि ज्ञान में व्यावहारिकप्रामाण्य आता है। इस व्यवहारिकप्रमाण्य का अद्वैतश्रुति और मिथ्यात्वानुमान के द्वारा बाध नहीं हो सकता है, यह हम भी स्वीकार करते है; किन्तु अद्वैतश्रुति और मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकप्रामाण्य का बाध तो हो ही सकता है, क्योंकि परीक्षा के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकप्रामाण्य सिद्ध

ननु प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्धस्य व्याप्त्यादेर्बाधेनानुमेयादेरनुमित्यादिप्रामाण्यस्य च बाधः; अनुमेयादेर्व्याप्त्यादिनाऽनुमितिप्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्, अन्यथा प्रातिभासिकव्याप्त्यादि- मता बाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको वाग्निर्व्यावहारिकव्याप्त्यादिमता धूमेन तात्त्विकोऽग्निर्व्यावहारिकेणाबाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष से सिद्ध व्याप्त्यादि का बाध होने से अनुमेयादि और अनुमित्यादि के प्रामाण्य का बाध हो जायेगा, क्योंकि अनुमेयादि का व्याप्यादि और अनुमितिप्रामाण्य के साथ समानयोगक्षेमत्व है। (यहां पर योगक्षेम शब्द से सत्ता का ग्रहण करना चाहिए)। अन्यथा =समानसत्ताकत्व को स्वीकार न करने पर, प्रातिभासिक जो व्याप्त्यादि हैं, तद्वान् वाष्पाध्यस्त धूम से तात्त्विक या व्यावहारिक वह्नि की सिद्धि होगी और व्यावहारिक व्याप्त्यादि विशिष्ट

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होता है। अतः प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था, जीवेशभेद, साक्षिप्रत्यक्ष, ये सभी व्यावहारिक प्रामाण्य वाले मात्र है। इन सभी का अद्वैतश्रुति और मिथ्यात्वानुमान से बाध हो जाने पर, सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, यह सिद्ध हो जाने में कोई आपत्ति नहीं है।।६।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि प्रत्यक्ष का यदि प्रामाण्य नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध व्याप्ति, योग्यता आदि का बाध हो जायेगा। व्याप्ति, योग्यता आदि के बाध होने से अनुमेय (साध्य) एवं अनुमितिनिष्ठप्रामाण्य और शब्दार्थ तथा शाब्दधीप्रामाण्य का भी बाध हो जायेगा। क्योंकि अनुमेय की सत्ता व्याप्ति और अनुमितिनिष्ठप्रामाण्य की सत्ता के समान होती है। इसी प्रकार शब्दार्थ की सत्ता योग्यता और शाब्दधीप्रामाण्य की सत्ता के समान होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्याप्ति, योग्यता आदि और अनुमितिनिष्ठप्रामाण्य तथा शाब्दधीनिष्ठप्रामाण्य यदि बाधित है तो निश्चित है कि अनुमेय एवं शब्दार्थ भी बाधित होंगे, और व्याप्ति, योग्यतादि एवं अनुमितिनिष्ठप्रामाण्य तथा शाब्दधीनिष्ठप्रामाण्यादि अबाधित है तो निश्चित है कि अनुमेय और शब्दार्थ भी अबाधित होंगे। यदि सिद्धान्ती प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मानेंगे तो उसके द्वारा सिद्ध व्याप्ति, योग्यता आदि के बाधित होने से व्याप्ति–योग्यता आदि के द्वारा सिद्ध अनुमेय (साध्य) मिथ्यात्व और अखण्डार्थबोध भी बाधित हो जायेंगे और मिथ्यात्वरूप साध्य के बाधित होने पर प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो जायेगा। यदि अनुमेय आदि की सत्ता के समान व्याप्ति आदि और अनुमित्यादिनिष्ठप्रामाण्य की सत्ता नहीं मानोंगे, अर्थात् दोनों की सत्ता भिन्न–भिन्न मानोंगे तो प्रातिभासिक जो व्याप्ति आदि तद्वान् बाष्पाध्यस्त–धूम उस धूम से, अर्थात् बाष्प में धूमभ्रमानन्तर 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' ऐसा परामर्श से वह्नि की अनुमिति होती है। उस वह्नि की सत्ता व्याप्ति की सत्ता (प्रातिभासिकसत्ता) से भिन्न या तो व्यावहारिकसत्ता होगी अथवा पारमार्थिकसत्ता होगी। इसी प्रकार जहाँ व्यावहारिकसत्तावाली व्याप्तिविशिष्ट से वह्नि की अनुमिति होगी उस वह्नि की सत्ता पारमार्थिक माननी पड़ेगी। क्योंकि व्याप्ति की व्यावहारिकसत्ता से भिन्न प्रातिभासिकसत्ता वह्नि की नहीं मानी जाती है। इस प्रकार से व्याप्ति की सत्ता से भिन्न साध्य की सत्ता मानने पर ये सभी दोष आयेंगे। इसी प्रकार और भी दोष दे रहें है। आगे मूल का अन्वय इस प्रकार से कर के अर्थ करना चाहिए–'व्यावहारिकेणाबाधेन विश्वस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिध्येत्'। अर्थात् 'विश्वं सत्, व्यावहारिकाबाध्यत्वात्, ब्रह्मवत्'। यहाँ पर व्यावहारिकाबा–ध्यत्वरूप हेतु के द्वारा विश्व में तात्त्विकसत्त्व सिद्ध होगा। 'विरूद्धधर्माधिकरणत्वेन जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिध्येत्', अर्थात् 'जीवेशभेदः सन्, विरुद्धधर्माधिकरणवत्त्वात्, घटपटभेदवत्'। पक्ष में हेतु का समन्वय करते समय विरुद्धधर्म सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्वादि लेंगे। दृष्टान्त में हेतु के समन्वय करते समय

सत्त्वं सिध्येदिति चेत्।।७।।

न, एतावता हि व्याप्त्यादिसमानसत्ताकमनुमेयं सिद्ध्यत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः, स चास्माकमिष्ट एव; न हि ब्रह्मभिन्नं क्वचिदत्यन्ताबाध्यमस्ति। न चायमनुमेयादेर्व्याप्त्यादिना समसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति; व्यभिचारिणापि लिङ्गेन साध्यवति पक्षेऽनुमितिप्रमादर्शनात्; ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विभुभिर्वर्णैः सत्या शाब्दप्रमितिः क्रियत

कैलासविद्याप्रकाशिका

धूम से तात्त्विक वह्नि की सिद्धि होगी। व्यावहारिक अबाध से विश्व का और विरुद्धधर्माश्रियत्व से जीवेशभेद का तात्त्विक सत्त्व सिद्ध होगा।।७।।

समाधान— नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षी के इस कथन से व्याप्त्यादिसमानसत्ताक अनुमेय सिद्ध हो—यही आपत्ति का फलितार्थ हुआ। वह हमें इष्ट ही है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कहीं पर भी अत्यन्ताबाध्यत्व नहीं है और अनुमेयादि का व्याप्त्यादि के समानसत्ताकत्व का नियम भी माना नहीं जा सकता है, क्योंकि व्यभिचारी हेतु से भी साध्यवान् पक्ष में अनुमिति प्रमा होती हुई देखी गयी है, ध्वनिनिष्ठ

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटत्व, पटत्व आदि लेंगे। यहाँ पर व्यावहारिकविरुद्धधर्माधिकरणवत्त्वरूप हेतु से जीवेशभेद में तात्त्विकसत्त्व सिद्ध होगा। क्योंकि व्याप्तिवाले हेतु की सत्ता साध्य की सत्ता से भिन्न मान रहे हो। अतः हेतु की व्यावहारिकसत्ता होने पर साध्य की तात्त्विकसत्ता अवश्य माननी पड़ेगी ।।७।।

सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का का सार यह है कि व्याप्ति आदि के समानसत्तावाला अनुमेय की सिद्धि होगी। यह हमें अभीष्ट है। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कुछ भी त्रैकालिक—अबाध्य नहीं माना जाता है। यदि कहो कि व्याप्ति आदि के समान साध्य (मिथ्यात्व) के बाधित होने पर प्रपञ्च सत्य सिद्ध हो जायेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि इसका खण्डन मिथ्यात्व के मिथ्यात्व प्रसङ्ग पर किया जा चुका है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के कथन को स्वीकार कर समाधान दिया गया। अब यह दिखाने जा रहे है कि पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि व्याप्ति आदि के समानसत्ताक अनुमेयादि होते है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि लिङ्गाभास (धूलीपटल) में भ्रम से भासनेवाला धूम से भी वह्निवाले पक्ष में वह्नि की प्रमात्मक अनुमिति उत्पन्न होती हुयी देखी जाती है। यहाँ पर व्याप्ति की सत्ता प्रातिभासिक और साध्य आदि की सत्ता व्यावहारिक है। अर्थात् दोनों की समानसत्ता न होकर भिन्न—भिन्न सत्ता है। पूर्वमीमांसा के मत में वर्ण विभु और नित्य है। उसमें ह्रस्व दीर्घादि धर्म आरोपित होते है। ह्रस्व, दीर्घादि वर्णव्यञ्जकध्वनि के धर्म है और वे ध्वनि से व्यङ्ग्यवर्ण में आरोपित होते है। अकारादि वर्ण स्वरूपतः सत् होने पर भी ध्वनि के धर्म ह्रस्वत्व, दीर्घत्वादि से विशिष्ट रूप से मिथ्या है। ऐसे मिथ्याभूत नित्यविभु वर्णों के द्वारा व्यवहरिकालाबाध्यविषयिका शाब्दप्रमा होती है। ऐसा पूर्वमीमांसक स्वीकार करते है। यहाँ पर ह्रस्वादि से विशिष्ट वर्ण की सत्ता प्रातिभासिक और शाब्दप्रमा की सत्ता व्यावहारिक होने से दोनों में समान सत्ता नहीं है। 'उत्पन्नं क्षणं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' इस नियम को मानने वाले नैयायिकादि के मतानुसार यहाँ दोष देने जा रहें है। 'गन्धप्रागभावावच्छिन्नः (उत्पत्तिकालीनः) घटः गन्धवान्, पृथिवीत्वात्, उत्पत्तिकालान्तरघटवत्'— इस अनुमान के हेतु पृथिवीत्व में गन्ध की तात्त्विक व्याप्ति है, किन्तु तात्त्विकव्याप्ति वाले पृथिवीत्व हेतु के द्वारा भी गन्ध की भ्रमात्मक अनुमिति होती है। क्योंकि उत्पत्तिकालीन घट में गन्ध बाधित है। इस प्रकार यहाँ पर यह देखा गया कि व्याप्ति की सत्ता व्यावहारिक है और अनुमेय की सत्ता प्रातिभासिक है। अतः व्याप्ति की समानसत्तावाला अनुमेय होता है यह नियम भङ्ग हो गया। 'अयं

इति मीमांसकैरभ्युपगमात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्त्यादिमताऽपि पृथिवीत्वेना–तात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्, प्रतिबिम्बेन च बिम्बानुमितिदर्शनात्। न च तत्रापि बिम्बरहितावृत्तित्वरूपा व्याप्तिस्तात्त्विक्येवेति वाच्यम्; एवं सत्यवृत्तिगगनादेरपि व्याप्यतापत्तेः। न च तत्र

कैलासविद्याप्रकाशिका

ह्रस्वत्व–दीर्घत्वादि धर्मों से विशिष्टत्वेन मिथ्याभूत जो नित्य विभु वर्ण है, उन वर्णों से व्यवहारकालाबाध्यविषयिका शाब्द प्रमा होती है– ऐसी पूर्वमीमांसकों की मान्यता है। गन्धप्रागभावावाच्छिन्न उत्पत्तिकालीन घट में तात्त्विकव्याप्तिमत् जो पृथिवीत्वरूप हेतु है, उससे अतात्त्विक गन्ध की अनुमिति देखी जाती है और मिथ्याभूत प्रतिबिम्ब से व्यावहारिक सत्ता वाले बिम्ब की अनुमति भी दृष्ट है।

शङ्का– प्रतिबिम्ब से बिम्बानुमिति स्थल पर भी, बिम्बरहितावृत्तिरूपा= बिम्बप्रतियोगिका–भावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभावरूप व्याप्ति प्रतिबिम्बनिष्ठतात्त्विकी ही है।

समाधान– नहीं, क्योंकि व्याप्ति के उक्त स्वरूप को स्वीकार करने पर संयोगसमवायान्यतर सम्बन्ध से अवृत्ति गगनादि के व्याप्यता की आपत्ति होगी।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिबिम्बः बिम्बवान्, प्रतिबिम्बात्, पूर्वप्रतिबिम्बवत्' इस अनुमान का हेतु पक्ष और दृष्टान्त में तादात्म्येन रहता है। इस स्थल पर प्रतिबिम्बरूप हेतु के मिथ्या होने के कारण उसमें रहनेवाला साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति भी मिथ्या है। मिथ्या व्याप्ति से सत्य बिम्ब की यथार्थ अनुमिति होती है। अतः सर्वत्र व्याप्ति के समानसत्ताक अनुमेय होता है, यह नियम सिद्ध नहीं होता है। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि जिस मत में प्रतिबिम्ब बिम्बस्वरूप माना जाता है उस मत में बिम्ब के तात्त्विक होने पर प्रतिबिम्ब भी तात्त्विक होगा। अतः उस मतानुसार पूर्वपक्षी के उक्त नियम का खण्डन न हो पायेगा। इसका समाधान यह है कि जिस मत में प्रतिबिम्ब बिम्बस्वरूप माना जाता है उस मत में बिम्ब का प्रतिबिम्ब में भेद कल्पित माना जाता है। क्योंकि बिम्ब–प्रतिबिम्ब एक ही होने से स्व में स्व का भेद होता ही नहीं है। अतः उस कल्पितभेद से विशिष्ट प्रतिबिम्ब को हेतु बनाया जाता है और प्रतिबिम्ब के स्वरूपतः सत्य होने पर भी कल्पित भेद से विशिष्ट प्रतिबिम्ब मिथ्या होता है और उस मिथ्या, (कल्पित) भेदविशिष्ट प्रतिबिम्ब के द्वारा सत्य बिम्ब की अनुमिति होती है। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी का उक्त नियम भङ्ग हो जायेगा। सिद्धान्ती के द्वारा यह जो अनुमान किया गया कि 'अयं प्रतिबिम्बः बिम्बवान्, प्रतिबिम्बात्, पूर्वप्रतिबिम्बवत्' इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि इस अनुमान में भी व्याप्ति यथार्थ है। क्योंकि साध्याभाववदवृत्तित्व रूप व्याप्ति, अर्थात् 'यत्र यत्र बिम्बाभावः तत्र तत्र प्रतिबिम्बाभावः' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति मिल रही है। अतः यहाँ पर यथार्थ व्याप्ति होने पर उक्त नियम भङ्ग नहीं होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने पर अवृत्ति पदार्थ गगनादि में भी बिम्बादि साध्यों की व्याप्यता मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् 'अयं प्रतिबिम्बो बिम्बवान् गगनात्' 'पर्वतो वह्निमान् गगनात्' ऐसी अनुमानों की आपत्ति होगी। क्योंकि उक्त व्याप्ति 'यत्र यत्र बिम्बाभावः तत्र तत्र गगनाभावः, यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र गगनाभावः' यहाँ पर भी मिल रहीं है। क्योंकि गगनाभाव सर्वत्र विद्यमान है। अतः उक्त व्याप्ति को मानकर उक्त नियम का समर्थन नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी की पुनः शङ्का है कि बिम्ब की सिद्धि के लिए सिद्धान्ती ने जो अनुमान का आकार ('अयं प्रतिबिम्बो बिम्बवान्, प्रतिबिम्बात्') दिया वह ठीक नहीं है। बिम्ब की सिद्धि करने वाले अनुमान का आकार यह होगा– 'अयं प्रतिबिम्बो बिम्बपूर्वकः, बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वात्, पूर्वप्रतिबिम्बवत्'। पूर्वपक्षी के अनुसार दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा– बिम्बाभाव से प्रयुक्त जो प्रतिबिम्बाभाव उसका प्रतियोगी प्रतिबिम्ब। अतः

बिम्बपूर्वकत्वमेवानुमीयते; बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपेणाप्रातिभासिकेन हेतुनेति वाच्यम् ।। ८।।

प्रयुक्तत्वं हि न तज्जनकजन्यत्वादिरूपम्; व्यतिरेकयोः परस्परं तदभावात्, किन्तु व्याप्यव्यापकभावः, तथा च बिम्बव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं हेतुः, स चाकाशादौ व्यभिचार्येव। तस्मात्तत्र प्रतिबिम्बेनैव बिम्बानुमानम्, अनुमेयस्य लिङ्गव्याप्त्यादिसमान–सत्ताकत्वनियमस्यापास्तत्वात् ।।९।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– उक्त बिम्बानुमिति स्थल पर प्रतिबिम्ब को पक्ष बनाकर बिम्बपूर्वकत्व का ही बिम्बाभावप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्व रूप अप्रातिभासिक हेतु के द्वारा अनुमान किया जाता है।।८।।

समाधान– नहीं, क्योंकि प्रयुक्तत्त्व बिम्बव्यतिरेकरूप जनक से जन्यत्वादि रूप नहीं हो सकता है, क्योंकि दो अभावों का जन्यजनकभाव नहीं होता है, अपितु अभावों का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव होता है। ऐसा होने पर तो हेतु का आकार होगा– बिम्बव्यतिरेकव्यापक व्यतिरेकप्रतियोगित्व। किन्तु यह हेतु गगनादि में व्यभिचारी ही है। इसलिए उक्त स्थल पर मिथ्याभूत प्रतिबिम्ब के द्वारा व्यावहारिक बिम्ब का अनुमान होता है। ऐसा स्वीकार करने पर साध्य का व्याप्त्यादि के साथ समानसत्ताकत्व का नियम खण्डित हो गया।।९।।–।।१०।।–।।११।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त प्रतियोगित्व पूर्वप्रतिबिम्बरूप दृष्टान्त में गया और प्रतिबिम्ब बिम्बपूर्वक होता ही है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय एवं जिस प्रकार से दृष्टान्त में हेतु गया उसी प्रकार से पक्ष में भी हेतु का समन्वय हो जाने से प्रतिबिम्ब में बिम्बपूर्वकत्व की अनुमिति हो जायेगी। यहाँ पर व्याप्ति की सत्ता प्रातिभासिक नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब तो प्रातिभासिक हो सकता है, किन्तु बिम्बाभावप्रयुक्तप्रतिबिम्बाभाव बिम्ब के जैसे ही व्यावहारिकसत्तावाला है। अतः व्याप्ति की सत्ता व्यावहारिक है साध्य की सत्ता भी व्यावहारिक है। अतः व्याप्ति के समानसत्तावाला अनुमेय होता है यह नियम भङ्ग नहीं हुआ।। ८।।

सिद्धान्त का कथन है कि पूर्वपक्षी ने बिम्ब को सिद्ध करने के लिए जो अनुमान किया, उसका हेतु व्यभिचारी है। अतः उक्त हेतु से बिम्ब का अनुमान नहीं किया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि यहाँ पर प्रयुक्त का अर्थ जनकत्व या जन्यत्वरूप नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दो अभावों में परस्पर जन्य–जनकभाव होता नहीं है। क्योंकि अभाव नित्य माना गया है। अतः प्रयुक्त का अर्थ व्याप्य–व्यापकभाव मानना पड़ेगा। तब हेतु का अर्थ होगा– 'यत्र यत्र बिम्बव्यतिरेकः तत्र तत्र यस्य व्यतिरेको वर्तते तत्प्रतियोगित्वं हेतुः' अर्थात् जहाँ जहाँ बिम्बाभाव है वहाँ जिसका अभाव रहता हो उस अभाव के प्रतियोगित्व को हेतु कहेंगे। ऐसा अर्थ करने पर यह हेतु गगन में भी है। क्योंकि जहाँ जहाँ बिम्बाभाव है वहाँ गगन का अभाव रहता ही है, क्योंकि गगन का अभाव केवलान्वयि है। अतः उक्त अभाव का प्रतियोगित्व गगन में जाने से गगन में हेतु है। किन्तु गगन में साध्य (बिम्बपूर्वकत्व) नहीं है। क्योंकि गगन यदि किसी का प्रतिबिम्ब होता तब गगन में बिम्बपूर्वकत्व जाता, किन्तु गगन किसी का प्रतिबिम्ब न होने से गगन में बिम्बपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान का उक्त हेतु गगन में व्यभिचारी है। अतः सिद्धान्ती ने जो बिम्ब सिद्ध करने के लिए प्रतिबिम्ब हेतु के द्वारा अनुमान किया था उसी अनुमान को मानना पडेगा। वैसा मानने पर व्याप्ति आदि के समानसत्तावाला अनुमेय सर्वत्र होता है, पूर्वपक्षी का यह नियम खण्डित हो जायेगा।। ९।।

हेतु–व्याप्ति आदि के समानसत्तावाला अनुमेय होता है, इस नियम के खण्डित हो जाने से ही

एतेन शब्देऽपि योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यताबाधेऽप्यबाधितः स्यादिति परास्तम्। वेदान्तवाक्येऽखण्डार्थरूपवाक्यार्थाबाधरूपाया योग्यताया अप्यबाधाच्च ।। १० ।।

न च तथापि वेदान्ततज्ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति वाच्यम्; शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वं हि न विषयतात्त्विकत्वे तन्त्रम्; इदं रजतमित्यनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य च त्वन्मते तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात्। न च ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यज्ञाने दृष्टमिति प्रकृतेऽपि ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्दनिष्ठ योग्यता के समानसत्ताक ही वाक्यार्थ होना चाहिए। क्योंकि योग्यता के समानसत्ताक वाक्यार्थ होता है। अतः योग्यता के बाध होने पर वेदान्तवाक्यार्थ भी बाधित हो जायेगा, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी खण्डित हो गया। कार्यकारणभावापन्नज्ञान के विषयों में समानसत्ताकत्व का नियम न होने के कारण योग्यताज्ञान (कारण) और शाब्दज्ञान (कार्य) के विषयों में भी समानसत्ता नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि योग्यता के भ्रम से भी शाब्दप्रमा कहीं कहीं पर होती हुयी देखी जाती है। जैसे किसी ने कहा 'घटं पटञ्च आनय'– यहाँ पर घटादि को लाने वाला व्यक्ति 'घटम्' पद में पटार्थबोधन की योग्यता समझता है और 'पटम्' पद में घटार्थ के बोधन को योग्यता समझता है। किन्तु घटपट को लाने से वाक्यार्थबोध तो ठीक हो ही रहा है। इस प्रकार यहाँ योग्यता के भ्रम से भी वाक्यार्थबोध होने से योग्यता के समानसत्तावाला वाक्यार्थ होता है, यह नियम खण्डित हो गया। प्रकृत में वेदान्तवाक्यों में योग्यता के अबाधित होने से पूर्वपक्षी के उक्त नियम को स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वेदान्तवाक्य में अखण्डार्थरूप जो वाक्यार्थ की अबाध्यत्वरूप योग्यता का बाध नहीं होता है। अर्थात् वाक्यार्थ के अबाध का नाम है योग्यता। इस प्रकार की योग्यता का वेदान्तवाक्यों में बाध नहीं होता है। क्योंकि वेदान्तवाक्यार्थ जो ब्रह्म वह अखण्डरूप है, इसका बाध नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी के नियम को मानने पर भी कोई दोष नहीं है।। १० ।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती के मत में वेदान्तवाक्य और वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तिज्ञाननिष्ठ– प्रामाण्य की व्यावहारिकसत्ता है। अतः उनका ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाता है। इसलिए वे दोनों मिथ्या है। ऐसा मिथ्याभूत वेदान्तवाक्य से तात्त्विक अद्वैतरूप अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शब्द और शब्दजन्यज्ञान इन दोनों का तात्त्विकत्व, विषय के तात्त्विकत्व का समव्यापक नहीं है। अर्थात् 'यत्र यत्र शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वं तत्र तत्र विषयतात्त्विकत्वम्'। 'यत्र यत्र विषयतात्त्विकत्वं तत्र तत्र शब्दतज्ज्ञानतात्त्विकत्वम्'। ऐसी व्याप्ति नहीं मिलती है। इस व्याप्ति के प्रथम आकार में व्यभिचारदोष देते हुए कह रहे हैं कि माध्वमत में 'इदं रजतम्' इस प्रकार के अनाप्तवाक्य और उससे जन्य ज्ञान को तात्त्विक माना जाता है, किन्तु उसका विषय अतात्त्विक होता है। क्योंकि माध्वमत में असत्ख्याति मानी गयी है। व्याप्ति के द्वितीय आकार में भी व्यभिचारदोष है कि जहाँ पर तात्त्विकविषय है, किन्तु उक्त स्थल पर वाक्याभास और उससे जन्य भ्रमज्ञान जो होता है वह तात्त्विक नहीं है। 'यत्र यत्र प्रामाण्यमिथ्यात्वं तत्र तत्र ज्ञानविषयस्य मिथ्यात्वम्' इस व्याप्ति को लक्ष्य कर के पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि ज्ञानगतप्रामाण्य के मिथ्या होने पर विषय को मिथ्या माना जाता है। जैसे 'इदं रजतम्' इस ज्ञानगतप्रामाण्य के मिथ्या होने से इसके विषय रजत को मिथ्या माना जाता है। अतः प्रकृत में वेदान्तवाक्यजन्यज्ञाननिष्ठप्रामाण्य के मिथ्या होने से वेदान्तवाक्यजन्यज्ञान के विषयीभूत अर्थ (ब्रह्म) भी मिथ्या होगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ज्ञानगतप्रामाण्य का मिथ्यात्व ज्ञान के विषयगत मिथ्यात्व का व्याप्य नहीं

वाच्यम्; प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोजकम्, भ्रमप्रमाबहिर्भूते निर्विकल्पके विषयबाधाभावात्, किन्तु तदभाववति तत्प्रकारकत्वादिरूपमप्रामाण्यमेव तथा, तच्च प्रकृते नास्त्येव। न चार्थाबाधरूपप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादर्थस्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति वाच्यम्; अबाधितार्थविषयत्वं हि यत्प्रामाण्यं तस्य मिथ्यात्वं प्रकृते नार्थाबाधात्; तद्बाधकप्रमाणासम्भवात्, तस्य सर्वबाधावधित्वात्, किन्तु तद्विषयत्वरूपसम्बन्धबाधात्तथा। तथा चाबाधितार्थविषयत्वरूपप्रामाण्यमिथ्यात्वेऽपि नार्थो मिथ्या। विशिष्टस्यैकांशमिथ्यात्वेऽप्यपरांशसत्यत्वात्, यथा दण्डबाधनिबन्धनदण्डिपुरुषबाधेऽपि पुरुषो न बाधित एवेति ॥११॥

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वभङ्गः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है। अतः पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचारदोष है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि न्यायमत में भ्रम और प्रमा दोनों कोटियों से बहिर्भूत निर्विकल्पकप्रत्यक्ष प्रमा न होने के कारण उसमें प्रामाण्य (प्रमात्व) नहीं रह सकता है। किन्तु उसके विषय का बाध नहीं होता है। अतः निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में व्याप्य के रहने पर भी व्यापक के न होने से व्यभिचारदोष है। न्यायमत में निर्विकल्पकज्ञान, अर्थात् निष्प्रकारकज्ञान को प्रमा इसलिए नहीं माना जाता है कि उसमें प्रमा का प्रकारघटितलक्षण ('तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्') नहीं जाता है। इसी प्रकार प्रकारघटित अप्रमा का लक्षण ('तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्') भी निर्विकल्पकज्ञान में न जाने से निर्विकल्पकज्ञान को भ्रमज्ञान भी नहीं माना जाता है। प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति दुष्ट है, तो निर्दुष्टव्याप्ति क्या है? इसका उत्तर यह है कि निर्दुष्टव्याप्ति का आकार यह होगा—'यत्र यत्र तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपमप्रामाण्यं तत्र तत्र ज्ञानविषयस्य मिथ्यात्वम्'। इस व्याप्ति का समन्वय 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थल पर होता है। ऐसी व्याप्ति के आधार पर प्रकृत में दोष नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मज्ञान को निष्प्रकारक माना जाता है। अतः उसमें व्याप्य और व्यापक दोनों नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान के विषय ब्रह्म के मिथ्या होने का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती के मत में अबाधितार्थविषयकत्वरूप प्रामाण्य मिथ्या है, अतः प्रामाण्य का घटक विषय के अबाध्य न होने से, अर्थात् विषय का बाध होने से उसका विषय भी मिथ्या होगा। अर्थात् जिसके अर्थ (विषय) का बाध नहीं होता है उस ज्ञान में प्रमात्व (प्रामाण्य) रहता है। किन्तु जब प्रामाण्य ही मिथ्या है, तब उसका घटकविषय (ब्रह्म) भी मिथ्या होना चाहिए। इस शङ्का का निरास करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वृत्तिज्ञानगताबाधितार्थविषयतारूप प्रामाण्य में मिथ्यात्व जो कहा जाता है वह वृत्तिज्ञान के विषय (ब्रह्म) का बाध होने के कारण नहीं कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म का बाधक कोई प्रमाण सम्भव ही नहीं है और वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानविषयीभूत शुद्धब्रह्मरूप अर्थ सम्पूर्ण बाधों का अवधि है। उक्त वृत्तिज्ञाननिष्ठप्रामाण्य को मिथ्या इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्मनिष्ठब्रह्माकारवृत्ति की विषयतारूप जो सम्बन्ध है, उसका बाध हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक और असङ्ग है। इसलिए अबाधितार्थविषयकत्वरूपवृत्तिज्ञानगतप्रामाण्य के मिथ्या होने पर भी अर्थ (ब्रह्म) मिथ्या नहीं होता है। क्योंकि विशिष्टपदार्थ का एक भाग मिथ्या होने पर भी दूसरा भाग सत्य हुआ करता है। जैसे दण्डरहितपुरुष को किसी ने भ्रम से दण्डिपुरुष ऐसा समझ लिया किन्तु जब पास गया तो दण्ड का बाध हो गया। दण्डरूप विशेषण के बाध के कारण दण्डविशिष्टपुरुष (दण्डिपुरुष) का भी बाध हो गया। किन्तु वहाँ पर पुरुष मात्र का बाध नहीं होता है। इसी प्रकार अबाधितार्थ से विशिष्ट विषयितारूपप्रामाण्य में विषयितारूप सम्बन्ध का बाध होने से अबाधितार्थविशिष्टविषयितारूपप्रामाण्य का भी बाध हो जाता है, किन्तु अर्थ (ब्रह्म) मात्र का बाध नहीं होता है। अतः प्रामाण्य के मिथ्या होने पर भी विषय (ब्रह्म) में सत्यत्व उपपन्न है।। ११ ।।

—ः इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वभङ्गः —

२०: प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वविचारः

किञ्च विपक्षबाधकसचिवमनुमानमपि प्रत्यक्षबाधकम्। ननु एवमपि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्', 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते', 'शरमयं बर्हिर्भवति' इति श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षं यथाक्रमं

कैलासविद्याप्रकाशिका

किञ्च– विपक्ष में जो बाधकतर्क है, वह है सहकारी जिसका एवम्भूत जो अनुमान, वह भी प्रत्यक्ष का बाधक होता है।

शङ्का– ऐसा होने पर ''उदुम्बर शाखा को स्पर्श करके उद्गाता गान करें।'' ''इन्द्र सम्बन्धिनी ऋक् द्वारा गार्हपत्य अग्नि का पूजन करें।'' ''सौमारौद्र इष्टि में बर्हि शरमय होना चाहिए।'' इत्याकारक श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्ष यथाक्रम से ''उदुम्बरशाखा को सर्वाङ्ग वस्त्र से लपेटना चाहिए।'' इत्याकारक स्मृति रूप सर्ववेष्टन श्रुति के अनुमान से, ''हे इन्द्र! तुम कभी भी हिंसक नहीं हो। हविस् जिसने दिया है,

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी के द्वारा शङ्का की गयी थी कि 'घटः सन्' यह प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान का बाधक है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान से प्रबल है। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का निराकण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विपक्षबाधकसत्तर्क है सचिव (सहकारी) जिसका, ऐसा जो प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान, वह भी 'सन् घटः' इस प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष का बाधक होता है। 'प्रपञ्चो यदि मिथ्या न स्यात् तर्हि दृश्यत्वादिहेतुविशिष्टो न स्यात्'। 'सत्यस्य दृश्यत्वासम्भवात्। तथा च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वानङ्गीकारे हेतूच्छेदोऽपि विपक्षबाधकस्तर्कः'। इस प्रकार से विपक्षबाधक अनेक तर्कों का आगे निरूपण किया जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि अनुमानप्रमाण के द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण का बाधा हो जाता है ऐसा मानोगे तो पूर्वमीमांसादर्शन उन्मथित हो जायेगा। इसको तीन दृष्टान्तों के माध्यम से पूर्वपक्षी स्पष्ट कर रहा है। प्रथम दृष्टान्त यह है कि पूर्वमीमांसादर्शन का सूत्र है– 'विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (१.३.३)। जहाँ श्रुति और स्मृति का परस्पर विरोध हो वहाँ स्मृति अनादरणीय है, अर्थात् अप्रमाण है। यदि स्मृति का श्रुति के साथ कहीं कोई विरोध नहीं है तो स्मृति के प्रामाण्य के लिए स्मृति में श्रुतिमूलकत्व का अनुमान कर लिया जाता है। इस सूत्र में उदाहरण यह है– सोमयाग में एक 'सदः' नामक मण्डप होता है। इस मण्डप में उदुम्बर (गूलर) की एक शाखा खोद कर स्थापित की जाती है। उस शाखा को औदुम्बरी कहते है। इस शाखा को उद्देश्य करके श्रुति में कहा है कि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्'। गूलर की शाखा को स्पर्श कर के उद्गाता सामगान करें और स्मृति में लिखा है कि 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या'– गूलर की शाखा को कपडे से पूरा लपेट देना चाहिए। यहाँ संशय होता है कि क्या यह स्मृतिवाक्य प्रमाण है? अथवा नहीं? पूर्वपक्ष की तरफ से कहा गया कि प्रमाण है, क्योंकि स्मृति–अधिकरण में कहा गया है कि स्मृतियाँ भी स्वमूलभूतश्रुत्यनुमापकत्वेन प्रमाण हैं। अतः यह स्मृति भी स्वमूलभूत– श्रुति की अनुमापिका होने से प्रमाण है। सिद्धान्तपक्ष से यह कहा गया कि स्पर्शन और वेष्टन ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं अतः उन दोनों की कर्तव्यता बतलानेवाले प्रमाण भी औष्ण्यशैत्यवत् परस्पर विरुद्ध है। इस लिए जैसे वह्नि में औष्ण्य के प्रत्यक्ष से शैत्यानुमान का बाध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध जो स्पर्शनश्रुति है, उस श्रुति से सर्ववेष्टनश्रुति के अनुमान का बाध हो जाने से मूलश्रुति का अभाव है। अतः स्मृति इस विषय में अप्रमाण है। यहाँ पर जिस श्रुत्यनुमान का प्रत्यक्षसिद्ध स्पर्शनश्रुति से बाध हुआ है उसका आकार यह होगा– 'औदुम्बरीसर्ववेष्टनस्मृतिः तादृशश्रुतिमूलिका, बाधकाभावे सति शिष्टगृहीतस्मृतित्वात्'। इस अनुमान की व्याप्ति का आकार इस प्रकार होगा– 'या बाधकाभावे सति यदर्थकशिष्टगृहीतस्मृतिः सा तदर्थकश्रुतिमूलिका यथा प्रत्यक्षश्रुतिमूलकस्मृतिः'। अतः अनुमान के द्वारा

''औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या'' इति स्मृतिरूपेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेन 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इति मन्त्रसामर्थ्यलक्षणेनेन्द्रशेषत्वश्रुत्यनुमानेन चोदनालिङ्गरूपेण कुशश्रुत्यनुमानेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

उसके हविस् का सेवन करते हो।'' इत्याकारक मन्त्रगत इन्द्रादि पदों के इन्द्रादि अर्थ प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्ग से इन्द्रशेषत्व के अनुमान से और विधिवाक्यसादृश्यरूप कुशश्रुति के अनुमान से

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष का बाध मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से विराध होगा। संक्षेप से कहने का तात्पर्य यह है कि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' यह श्रुतिवाक्य वेद में प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' इस स्मृतिवाक्य से एक श्रुतिवाक्य का अनुमान किया जाता है कि वेद में ऐसी कोई श्रुति रहीं होगी जिसमें यह लिखा रहा होगा कि सम्पूर्ण वेष्टन गूलर की शाखा का करना चाहिए। किन्तु जब वेद में प्रत्यक्षरूप से श्रुतिवाक्य प्राप्त है तो उसके लिए स्मृतिवाक्य के द्वारा अनुमान करना व्यर्थ है। लेकिन यदि सिद्धान्ती के कथन के अनुसार अनुमान प्रबल होता है, तब तो प्रत्यक्षश्रुतिवाक्य को बाधित कर के अनुमान होना चाहिए। ऐसा मानोगे तो पूर्वमीमांसादर्शन से विराध होगा। द्वितीय दृष्टान्त यह है कि 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र! सश्चसि दाशुषे', इस मन्त्र का यह अर्थ है इन्द्र—हे इन्द्र (तुम), कदाचन= कभी भी, स्तरीः= हिंसक, न असि—नहीं हो। दाशुषे (यहाँ चतुर्थीविभक्ति षष्ठी अर्थ में है) = हविष् जिसने दिया है उसके हविष् का, सश्चसि=सेवन करते हो। इस मन्त्र का 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि के उपस्थान (अभिमन्त्रित करने) में विनियोग किया जाता है। जबकि इसके विपरीत ऐन्द्री—ऋचा के बोधन सामर्थ्यरूपलिङ्गप्रमाण के द्वारा ऐन्द्री—ऋचा में इन्द्रोपस्थान की अङ्गता का अनुमान प्रस्तुत किया जाता है। अनुमान का आकार यह होगा— 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुष इति मन्त्रः इन्द्रशेषत्वप्रतिपादकश्रुतियुक्तः, बाधकाभावे सति इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्योपेतत्वात्'। इस अनुमान की व्याप्ति का आकार यह होगा— 'यद् यत्प्रकाशनसमर्थं तत्तस्य शेषत्वप्रतिपादकश्रुतियुक्तं यथा सम्मतम्'। किन्तु इस अनुमान का उक्त प्रत्यक्षश्रुतिप्रमाण से बाध हो जाता है। अतः अनुमान को प्रत्यक्ष से प्रबल मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से यहाँ पर विरोध होगा। तृतीय दृष्टान्त यह है कि पूर्वमीमांसा के दशम अध्याय के चतुर्थपाद में विचार किया गया है—दर्शपूर्णमास की विकृतिभूत 'सोमारौद्र' नाम की इष्टि का विधान— 'सोमारौद्रचरुं निर्वपेत् कृष्णानां ब्रीहीणाम्' इस वाक्य से किया गया है। वहीं पर इस इष्टि को उद्देश्य कर कहा है 'शरमयं बर्हिर्भवति'। इस इष्टि में स्तरणकर्तृद्रव्य शरमय होता है। अर्थात् यहाँ पर स्तरणरूप बर्हिस् का जो कार्य है, उसे उद्देश्य कर शरों का विधान है। इस प्रकार यह प्रत्यक्षवाक्य वेदी में शर (सरकंडा या सरपत) बिछाने का विधान कर रहा है और इसके विरुद्ध 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेशवाक्य की सहायता से प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास याग में विहित कुशा की प्राप्ति अनुमान के बल से हो रही है। अनुमान का आकार यह होगा— 'सोमारौद्रचरुयागः श्रुतिबोधितबर्हिरङ्गकः, तादृशपौर्णमासविधिसदृशविधिकत्वात्'। इस अनुमान की व्याप्ति का आकार यह होगा— 'यत् श्रुतिबोधितयदङ्गकयदीयविधिसदृशविधिकं तत् श्रुतिबोधिततदङ्गकं यथा सम्मतम्'। इस अनुमान के लिए लघुचन्द्रिका में इस प्रकार से दृष्टान्त दिया गया है—यथा '' एतद्ब्राह्मणानि पंचहवींसि यद् ब्राह्मणानीतराणि'' इति प्रत्यक्षवचनातिदिष्टश्रुतिबोधितांगकमिति। इसका तात्पर्य यह है कि चातुर्मास्य नामक याग में वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और मुनासीरीय नामक चार पर्व है। इनमें से वैश्वदेव पर्व में आग्नेयाष्टकपाल, सौम्यचरु, सावित्रद्वादशकपाल, सारस्वतचरु, पौष्णचरु, मारुतसप्तकपाल, वैश्वदेवी अमीक्षा और द्यावापृथिव्य एक कपाल—ये अष्ट हवि द्रव्य विहित हैं। जबकि वरुणप्रघास नामक द्वितीय पर्व में पूर्वोक्त अष्ट हवि द्रव्यों में से प्रथम पांच हवि द्रव्यों का अतिदेश द्वारा विधान करते हुए कहा

च बाध्यत इति सर्वमीमांसोन्मृदिता स्यादिति चेत्; ॥ १॥

न, वैषम्यात्, तथा हि किमिदमापाद्यते, श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षमनुमानैर्बाध्येतेति वा,

---

कैलासविद्याप्रकाशिका

बाधित होगा। इस प्रकार से सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र खण्डित हो जायेगा।१॥

समाधान– नहीं, क्योंकि वैषम्य है। जैसे यहां पर पूर्वपक्षी क्या प्रतिपादन करना चाहता है? श्रुतित्रय का ग्राहक जो प्रत्यक्ष है, वह अनुमानों से बाधित हो जाएगा—यह आपादन करना चाहता है? अथवा प्रत्यक्ष का विषयीभूत जो श्रुतित्रय वह अनुमानों से बाधित होगा—यह आपादन करना चाहता है? प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, क्योंकि श्रुतित्रय ग्राहिप्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों में विरोध के न

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया—''एतद्ब्राह्मणानि एव पंचहवींसि, यद् ब्राह्मणानीतराणि'' अर्थात् वरुणप्रघास पर्व में इन ब्राह्मण वाक्यों से विहित आग्नेय अष्टकपालादि पांच ही हवि द्रव्यों का अतिदेश करना चाहिए और ''वार्त्रघ्नानि वा एतानि हवींसि'' इस अर्थवादरूप ब्राह्मण वाक्य और ''नवप्रयाजा इज्यन्ते नवानुयाजा'' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को भी यहां पर अतिदेश से लाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष वचन से अतिदिष्ट श्रुतिबोधित अङ्गता वाला उक्त हवि विधि है। इस प्रकार से दृष्टान्त में व्यापकत्व का समन्वय हो गया। यदंगकयदीयविधिसदृशविधिकत्व भी होने से दृष्टान्त में व्याप्यत्व का भी समन्वय हो गया। यहां पर सादृश निर्वपत्यादिपदद्विदेवतात्वादिक है। इस पर विशेष विचार पूर्वमीमांसा के सप्तमाध्याय के प्रथमपाद के तृतीय अधिकरण में किया गया है। इस अनुमान का उक्त प्रत्यक्षवाक्य (शरमयं बर्हिः) से बाध हो जाता है। इस लिए अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से यहाँ पर विरोध होगा। इस प्रकार पूवपक्षी ने उक्त तीन दृष्टान्तों के द्वारा यह दिखाया कि यदि प्रत्यक्ष से अनुमान को प्रबल मानकर अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानोगे तो पूर्वमीमांसाशास्त्र ही अव्यवस्थित हो जायेगा।१॥

इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं हैं, क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में जो बाध्यबाधकभाव दिखाया जा रहा है, उससे भिन्न प्रकार का बाध्यबाधकभाव पूर्वमीमांसादर्शन में दिखाया गया है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि पूर्वपक्षी के द्वारा यहाँ क्या आपादन किया जाता है?— श्रुतित्रय ('औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' 'शरमयं बर्हिः') ग्राहि जो प्रत्यक्ष है, वह उक्त अनुमानों से बाधित हो जायेगा? अथवा उक्त श्रुतित्रय के प्रत्यक्ष की विषयीभूत जो श्रुतित्रय है, वह उक्त अनुमानों से बाधित हो जायेंगी? प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्ष और स्मृत्यादिहेतुक अनुमानों में परस्पर विरोध ही नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय श्रुतित्रय और अनुमान का विषय स्मृति आदि है। इस लिए दोनों का विषय परस्पर विरुद्ध न होने के कारण दोनों का परस्पर विरोध ही नहीं है। अतः पूर्वमीमांसादर्शन के उक्त प्रसङ्गो में प्रत्यक्ष और अनुमान के बाध्य—बाधकभाव का विचार ही नहीं है। यहाँ तो विरोध उक्त अनुमानों और उक्त श्रुतियों में है और उन्हीं में बाध्य—बाधकभाव का विचार किया गया है। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करे कि पूर्वमीमांसादर्शन में अनुमानों और श्रुतियों में बाध्य—बाधकभाव होने के कारण, उक्त बाध्य—बाधकभाव प्रत्यक्ष और अनुमान में पूर्वमीमांसादर्शन के अनुसार न होने पर भी सिद्धान्ती के अनुसार उक्त प्रत्यक्ष और उक्त अनुमान में बाध्य—बाधकभाव होना चाहिए। अर्थात् उक्त अनुमानों के द्वारा उक्त श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्ष का बाध हो जाना चाहिए। क्योंकि सिद्धान्ती अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानते है। इस शङ्का का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विरुद्धविषयकप्रत्यक्ष का ही हम सत्तर्कसचिवानुमान से बाध मानते है, न कि अविरुद्धविषयकप्रत्यक्ष का अनुमान से बाध मानते है। प्रकृत में प्रत्यक्ष और अनुमान

प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयमिति वा। नाद्यः, विरोधाभावेन तद्बाध्यबाधकभावस्य शास्त्रार्थत्वाभावात्, अस्माभिरनभ्युपगमाच्च, अनुक्तोपालम्भमात्रत्वेन निरनुयोज्यानुयोगापत्तेः। अत एव न द्वितीयः; प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयस्य लिङ्गबाधकत्वपरेऽपि शास्त्रे प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे विरोधाभावात्, न हि शब्दप्रत्यक्षयोरैक्यमस्ति; शब्दस्य च सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वमवोचाम। तस्मान्मौढ्यमात्रमेतन्मीमांसाविरोधोद्भावनम्।। २।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

होने से उक्त श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्ष तथा अनुमान में परस्पर बाध्यबाधकभाव है—ऐसा शास्त्र का अर्थ नहीं किया जा सकता है। अनुमानाविरुद्ध प्रत्यक्ष को अनुमान के द्वारा बाधित सिद्धान्तमत में भी नहीं माना जाता है। इस प्रकार अनुक्तोपालम्भमात्र होने के कारण पूर्वपक्षी के ऊपर निरानुयोज्यानुयोग की आपत्ति आयेगी। अतएव= विरोध का अभाव होने से ही, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष का विषयीभूत जो श्रुतित्रय अनुमानबाधकत्वपरक शास्त्र होने पर भी प्रत्यक्ष के अनुमानबाध्यत्व में विरोध नहीं है, क्योंकि शब्द तथा प्रत्यक्ष इन दोनों का अभेद नहीं है और सभी प्रमाणों की अपेक्षा शब्द प्रमाण के बलवत्त्व का निरूपण पहले ही किया जा चुका है। इसलिए यहां मीमांसा के विरोध का उद्भावन उद्भावनकर्ता की मूर्खता को दर्शाता है।।२।।—।।३।।—।।४।।—।।५।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविरुद्धविषयक होने से उनमें बाध्य—बाधकभाव माना नही जा सकता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धान्ती के ऊपर अनुक्त को उद्देश्य करके जो दोषोद्भावन किया गया, उसके द्वारा पूर्वपक्षी के ऊपर 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत होने की आपत्ति होगी। न्यायदर्शन में न्यायसूत्रकार ने निग्रह स्थानों को बाइस भागों में विभक्त किया है— 'प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि' (न्या.सू.५/२/१) न्यायसूत्रकार ने निरनुयोज्यानुयोग की व्याख्या करते हुए कहा है—''अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः (न्या.सू. ५—२—२३), अर्थात् जो निग्रहस्थान नहीं है, उसको निग्रहस्थान के रूप में उपस्थापन करना निरनुयोज्यानुयोगनामक निग्रहस्थान होता है। इस प्रकार प्रथम पक्ष का खण्डन हो जाने पर द्वितीय पक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि उक्त श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्ष और अनुमानों में विरोध न होने से जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान में बाध्यबाधकभाव नहीं दिखाया जा सका, ठीक उसी प्रकार द्वितीय पक्ष के अनुसार भी प्रत्यक्ष और अनुमान में बाध्य—बाधकभाव नहीं दिखाया जा सकता है। अतः द्वितीय विकल्प भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष का विषयीभूत जो श्रुतित्रय है, उस श्रुतित्रयरूप—आगमप्रमाण के द्वारा लिङ्गप्रमाण (उक्त तीनों अनुमान) का बाध पूर्वमीमांसादर्शन में बतलाया गया है, न कि प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान का बाध बतलाया गया है। अनुमानप्रमाण के द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण का बाध मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से कोई विराध नहीं है। श्रुतिरूपशब्दप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण में अभेद होता नहीं है। यदि अभेद होता तो अनुमान से प्रत्यक्ष का बाध होने पर प्रत्यक्ष से अभिन्न श्रुतिरूपशब्दप्रमाण के बाध होने की आपत्ति होती किन्तु ऐसा नहीं है, अपितु श्रुतिरूपशब्दप्रमाण सभी प्रमाणों से बलवान है यह पीछे कहा गया है— 'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्'। इस लिए प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान के द्वारा 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के बाध के अवसर पर पूर्वमीमांसादर्शन से विरोध का उद्भावन, उद्भावनकर्ता की मूर्खता का परिचय देता है न कि कोई और फल देता है ।।२।।

ननु प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे वह्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षं शैत्यानुमानस्यात्मस्थायित्वप्रत्यभिज्ञानञ्च क्षणिकत्वानुमानस्य बाधकं न स्यात्, प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यादिति चेत् ।।३।।

न, अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात्। अपरीक्षितप्रत्यक्षं हि परीक्षितानुमानापेक्षया दुर्बलम्, ''नीलं नभः'' इति प्रत्यक्षमिव नभोनीरूपत्वानुमानापेक्षया, अतो न सामान्यतो दृष्टमात्रेण सर्वसङ्करापत्तिः। नन्वेवं पशुत्वेन शृङ्गानुमानमपि स्यात्, लाघवात् पशुत्वमेव शृङ्गवत्त्वे तन्त्रम्, न तु तद्विशेषगोत्वादिकम्; अननुगतत्वेन गौरवादित्येतत्तर्कसध्रीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्राबल्यात्, अनुकूलतर्कसाचिव्यमेव ह्यनुमाने बलम्; एवञ्च येन केनचित् सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किञ्चिदनुमेयम्। लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी पुनः प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान का बाध होता है, इसे सिद्ध करने के लिए शङ्का कर रहा है— यदि प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के द्वारा 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष का बाध मानोगे तो वह्निगत औष्ण्यप्रत्यक्ष के द्वारा अनौष्ण्यानुमान का और आत्मगत—स्थायित्व—प्रत्यभिज्ञारूपप्रत्यक्ष के द्वारा क्षणिकत्वानुमान का बाध नहीं हो पायेगा। अर्थात् 'वह्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्, जलवत्' यह शैत्यानुमान है। इस का औष्ण्य—प्रत्यक्ष से बाध होता है। 'आत्मा क्षणिकः, सत्त्वात्, दीपशिखावत्' यह क्षणिकत्वानुमान है। इसका 'योऽहं बाल्ये पितरौ अन्वभूवं सोऽहं स्थविरे नप्तॄन् अनुभवामि' इस प्रत्यक्षात्मकप्रत्यभिज्ञा से बाध होता है। किन्तु यदि सिद्धान्ती की बात मान लिया जाय तो उक्त दोनों अनुमानों के द्वारा उक्त दोनों प्रत्यक्षों का ही बाध हो जायेगा। अतः 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध सिद्धान्ती को मानना चाहिए।।३।।

सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि परीक्षितप्रत्यक्ष को अनुमान से प्रबल और अपरीक्षितप्रत्यक्ष को अनुमान से दुर्बल माना जाता है। वह्निगत औष्ण्यप्रत्यक्ष दाह—पाकादिरूप अर्थक्रिया का संवाद (सफलप्रवृत्ति) रूप परीक्षा के द्वारा परीक्षित है। इसी प्रकार आत्मा में स्थायित्व को बतलानेवाला प्रत्यभिज्ञारूपप्रत्यक्ष का समर्थन, आत्मा के नित्यत्वबोधक श्रुतियों के द्वारा होने से उक्त प्रत्यभिज्ञारूपप्रत्यक्ष भी परीक्षित है। अतः उक्त दोनों परीक्षितप्रत्यक्ष प्रबल है। इस लिए उनके द्वारा उक्त दोनों अनुमानों का बाध हो जाता है। किन्तु जहाँ अपरीक्षितप्रत्यक्ष और परीक्षित—अनुमान (विपक्षबाधकतर्कसहकृतानुमान) होता है, वहाँ पर अपरीक्षितप्रत्यक्ष दुर्बल होता है। उस अपरीक्षितप्रत्यक्ष का परीक्षित—अनुमान के द्वारा बाध हो जाता है। जैसे 'नीलं नभः' (नीलरूपावाला आकाश) इस अपरीक्षित प्रत्यक्ष का आकाशगत नीरूपता के परीक्षित—अनुमान ('नभः नीरूपः, स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, कालादिवत्') के द्वारा बाध हो जाता है। इसलिए सामान्यतो दृष्ट—अनुमान के बल पर एक जैसा ही नियम का आपादन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् एक स्थल पर यदि कोई भी प्रमाण बाधित हो गया तो उसका सर्वत्र ही बाध होगा, ऐसा आपादन नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि विपक्षबाधकतर्क के द्वारा परीक्षित—अनुमान को प्रत्यक्ष का बाधक मानने पर अनेक स्थलों पर दृष्टविरुद्ध सिद्ध हो जायेगा। जैसे 'अश्वगर्दभादयः शृङ्गवन्तः, पशुत्वात्, गोमहिषादिवत्'। वानरादि पक्षकुक्षि में निक्षिप्त होने से उसमें व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। यहाँ पर शृङ्ग का व्याप्य पशुत्व को मानने में लाघव है और तत्तद् गोत्व, महिषत्व, अजात्व आदि विशेष को व्याप्य मानने में लाघव नहीं है, क्योंकि गोत्वमहिषत्वादि अननुगतधर्मों को शृङ्ग का व्याप्य मानने में गौरव है। इस प्रकार लाघवमूलक—तर्क की सहायता से शृङ्गवाला अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा से प्रबल हो जायेगा, क्योंकि अनुकूलतर्क से युक्त अनुमान को आप प्रबल मानते हैं। अतः उक्त अनुमान के द्वारा अश्वादि में निःशृङ्गत्वग्रा प्रत्यक्ष का बाध हो जायेगा, जो कि अनुभव

तावतैव प्रत्यक्षबाधकत्वादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्, न ह्यत्र प्रत्यक्षबाधादन्यो दोषोऽस्तीति चेत्? ।। ४।।

न, अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासम्भवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्केष्वाभासत्वस्य त्वयाऽपि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमाधेयत्वात्, न हि तर्काभाससध्रीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाप्यभ्युपेयते; अत उपपन्नं सत्तर्कसचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य बाधकमिति ।। ५।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धिः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

विरुद्ध है। इसी प्रकार जिस किसी धर्म को हेतु बनाकर उसमें लाघवादि तर्क देकर जिस किसी का भी अनुमान होने लगेगा। इस प्रकार लाघवादि तर्क से युक्त अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानने पर व्यावहारिक व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी। क्योंकि उक्त अनुमानों में प्रत्यक्ष बाध के बिना अन्य कोई दोष नहीं है।। ४।।

सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी तर्क को सत्तर्क नहीं कहा जा सकता है। कुछ तर्क सत्तर्क होते है कुछ तर्काभास होते है। जहाँ पर सत्तर्क से युक्त अनुमान होता है वहाँ पर अनुमान प्रबल होता है और जहाँ पर तर्काभास से युक्त अनुमान होता है, वहाँ पर अन्य दोषों के न रहने पर भी उसे अनुमानाभास माना जाता है। वह किसी प्रमाण से बाध के बिना भी अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। प्रकृत में जो तर्क दिया गया है वह तर्काभासमात्र है। अतः उक्त तर्काभास से युक्त अनुमान प्रमाणाभास होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित न होने पर भी अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। इसलिए पूर्वपक्षी का यह कथन भी खण्डित हो गया कि यदि उक्त अनुमान का प्रत्यक्षप्रमाण से बाध नहीं मानोगे तो उक्त अनुमान के द्वारा अपने साध्य की सिद्धि हो जाने से व्यावहारिक व्यवस्था भङ्ग हो जायेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पशुत्व हेतुवाला जो शृङ्ग का अनुमान है, उसमें पूर्वपक्षी ने केवल प्रत्यक्षबाधदोष दिखाया, तर्काभासरूपदोष नहीं दिखाया, किन्तु उक्त स्थल पर तर्काभासरूपदोष को भी मानना चाहिए, क्योंकि यदि पशुत्व हेतु के द्वारा गर्दभादि में प्रत्यक्षायोग्य शृङ्ग का अनुमान किया जाय— 'अश्वगर्दभादयः लौकिकप्रत्यक्षायोग्यशृङ्गवन्तः, पशुत्वात्, देवगोमहिषादिवत्'। यहाँ पर पूर्वपक्षी भी प्रत्यक्षबाधदोष दे नहीं सकता है। अतः पूर्वपक्षी को भी व्याप्तिग्राहकलाघवादितर्कों में तर्काभासता ही मानना पडेगा। यदि पूवपक्षी तर्काभास से युक्त इस अनुमान को दुष्ट नहीं मानेगा, तब तो पूर्वपक्षी को भी अश्वादि में लौकिकप्रत्यक्ष के अयोग्य शृङ्ग मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर पूर्वपक्षी के मत में भी व्यावहारिक व्यवस्था के भङ्ग होने की आपत्ति आयेगी। व्यावहारिक—व्यवस्था बनाये रखना जैसे हमारा कर्तव्य है, ठीक उसी प्रकार पूर्वपक्षी का भी है। तर्काभास सहित अनुमान को कोई भी प्रमाण नहीं मानता है। अतः पशुत्व हेतु के द्वारा अश्वगर्दभादि में शृङ्ग का अनुमान भी तर्काभास से युक्त होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि ही नहीं कर सकता है। अतः प्रत्यक्ष उक्त मिथ्यात्वानुमान का बाधक है, ऐसा कहना व्यर्थ है। इसलिए सिद्धान्ती का यह कथन उचित ही है कि विपक्षबाधक—सत्तर्कयुक्त अनुमानप्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है।। ५।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धिः —

२१: प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वविचारः

किञ्च परीक्षितप्रमाणभावशब्दबाध्यमपि प्रत्यक्षम्। ननु प्रत्यक्षं यदि शब्दबाध्यं स्यात्तदा जैमिनिना ''तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः'' इत्याद्यर्थवादस्य ''अदितिर्द्यौः'' इत्यादिमन्त्रस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

सिद्धान्तमत के समर्थन में यह भी कहना है कि परीक्षित प्रामाण्यक शब्द से बाध्य भी प्रत्यक्ष है।

शङ्का— यदि शब्द से बाध्य प्रत्यक्ष होता तब तो महर्षि जैमिनी के द्वारा ''दिन में अग्नि का धूम ही दिखायी देता है, ज्वाला नहीं।'' इस अर्थवाद के सम्बन्ध में ''गुणवादस्तु'' इस सूत्र से गौणार्थता

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती का कथन है कि जैसे सत्तर्कयुक्त—अनुमान से 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार परीक्षितप्रामाण्यक शब्द से भी 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है। जो शब्द षड्विधतात्पर्यनिर्णायकलिङ्गों से युक्त होता है उस शब्द को परीक्षितप्रामाण्यक कहते है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि यदि शब्दप्रमाण के द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण का बाध मानोगे तो महर्षि जैमिनि द्वारा प्रणीत पूर्वमीमांसादर्शन से विरोध होगा। जैसे 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातर्जुहोति', 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' इस विधिवाक्य के अर्थवाद के रूप में यह वाक्य पढ़ा गया है—'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः'। इसका विचार पूर्वमीमांसा के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के अर्थवादाधिकरण में किया गया है। इस अधिकरण मे सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप में 'शास्त्रदृष्टवि–रोधाच्च' (जै.सू. १–२–२) इस सूत्र को उद्घृत किया है। इसका अर्थ है, प्रत्यक्ष के साथ शास्त्र का विरोध होने पर शास्त्र (अर्थवादवाक्य) अप्रमाण है। उक्त अर्थवादवाक्य का प्रत्यक्ष से विरोध इसलिए है कि अर्थवादवाक्य में कहा गया कि दिन में अग्नि का धूम ही देखा जाता है, ज्वाला नहीं। परन्तु प्रत्यक्षतः दिन में दोनों देखे जाते है। अतः यह अर्थवादवाक्य अप्रमाण है। ऐसी आशङ्का कर के समाधानसूत्र लिखा है—'गुणवादस्तु' (जै.सू. १–२–१०)—गौणार्थक शब्द है, अतः विरोध नहीं है। गौणता के निमित्त को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' इस वाक्य में 'अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे' इस पूर्वतर वाक्य से 'दूरात्' इतने की अनुवृत्ति आती है। यह अनुवृत्त 'दूरात्' पद दूरभूयस्त्व में गौण है। इसे 'दूरभूयस्त्वात्' (जै.सू. १.२.१२) सूत्र में स्पष्ट किया गया है। अर्थात् गौणीवृत्ति से दूर पद दूरभूयस्त्व का बोध करता है। अतः अर्थवाद—वाक्य का स्वरूप ऐसा बनेगा—'अतिदूराद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' इसलिए अर्थवादवाक्य का अर्थ यह हुआ कि दिन मे अतिदूर से अग्नि का धूम ही दिखायी पड़ता है ज्वाला नहीं। इस प्रकार का अर्थ प्रत्यक्ष से विरुद्ध नहीं है। अतः प्रत्यक्ष से विरोध के कारण अर्थवादवाक्य में अप्रामाण्य का उद्भावन करना ठीक नहीं है। इस प्रकार पूर्वमीमांसा में दिखाया गया है कि प्रत्यक्षप्रमाण से विरूद्ध अर्थ यदि शब्दप्रमाण से कहा जा रहा हो तो उसको अप्रमाण माना जाता है अथवा उसे गौणार्थक माना जाता है। यदि अद्वैतवादी की बात मानी जाय तब तो शब्दप्रमाण बलवान होने से वह प्रत्यक्ष का ही बाध कर देगा। ऐसी अवस्था में गौणार्थकादि मानना व्यर्थ हो जायेगा। इसी प्रकार पूर्वमीमांसादर्शन के साथ विरोध का द्वितीय उदाहरण पूर्वपक्षी दिखला रहा है—पूर्वमीमांसादर्शन के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के मन्त्राधिकरण में वेद के मन्त्रभाग को अप्रमाण सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में नव सूत्र उद्घृत किए गये है। उनमें से एक सूत्र यह भी है—'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै.सू.१.२.३६)। इस सूत्र में 'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः' इस मन्त्र पर विचार किया गया है। इस मन्त्र का अर्थ प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योंकि एक ही अदिति द्यु, अन्तरिक्ष, माता, पिता सभी नहीं हो सकती

च दृष्टविरोधेनाप्रामाण्ये प्राप्ते ''गुणवादस्तु'' ''गुणादविप्रतिषेधःस्यात्'' इत्यादिना गौणार्थता नोच्येत। ''तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात्'' इति तत्सिद्धिपेटिकायां ''यजमानः

कैलासविद्याप्रकाशिका

नहीं कही जाती। इसी प्रकार ''अदिति द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है।'' इत्यादि मन्त्र का दृष्ट विरोध से अप्रामाण्य प्राप्त होने पर ''गुणादप्रतिषेधः स्यात्'' इस सूत्र से—गौण प्रयोग होने से विरोध नहीं है—ऐसा नहीं कहा जाता और '' तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात्''— इस तत्सिद्धिपेटिकाधिकरण में ''यजमान प्रस्तर है।'' इत्यादि की गौणार्थता नहीं कही जाती। सिद्धान्तमत

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। प्रत्यक्षविरुद्ध होने के कारण यह मन्त्रवाक्य अप्रमाण है। इस प्रकार के पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए महर्षि जैमिनि ने सिद्धान्तपक्ष का सूत्र लिखा— 'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै.सू. १.२.४७)। द्यु, अन्तरिक्षादि को गौणरूप से अदिति कहा गया है, मुख्यरूप से नहीं। अतः प्रत्यक्षविरोध नहीं है। अर्थात् द्यु तथा अन्तरिक्षादि के जैसे सुखकर होने से अदिति में द्युशब्दादि का गौण प्रयोग है, मुख्यप्रयोग नहीं है। अतः प्रत्यक्ष के साथ विरोध न होने के कारण उक्त मन्त्रों में प्रमाण है। यदि अद्वैतवादी के अनुसार शब्दप्रमाण से प्रत्यक्षप्रमाण का बाध होता तो प्रत्यक्षप्रमाण के अनुरोधानुसार, महर्षि जैमिनि, प्रत्यक्षविरुद्धार्थक उक्त वाक्यों की गौणार्थता नहीं कहते, किन्तु उन्होंने गौणार्थता कही है, अतः शब्दप्रमाण से प्रत्यक्षप्रमाण का बाध मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से विरोध होगा। अद्वैतवादी की बात मानने पर पूर्वमीमांसादर्शन से विरोध होगा—इसमें पूर्वपक्षी तृतीय स्थल को उद्घृत कर रहा है—पूर्वमीमांसा के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में नामधेय का विचार किया गया है। इसी नामधेयप्रकरण में 'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात्' (जै.सू. १.४.२३) यह सूत्र पढ़ा गया है। 'तत्सिद्धि' पद से घटित होने के कारण और पेटिका के जैसे सम्पूर्ण अभिमतगौणार्थों का प्राप्तिस्थान होने के कारण इस सूत्र को तत्सिद्धिपेटिका नाम से कहा जाता है। इस सूत्र में जो प्रत्यक्ष के विरोध होने पर 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्यों की गौणार्थता का प्रतिपादन किया गया है, वह शब्दप्रमाण को प्रबल और प्रत्यक्षप्रमाण को दुर्बल या बाधित मानने पर व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि प्रबल शब्दप्रमाण दुर्बल प्रत्यक्षप्रमाण का बाध करके स्वाभिमत की सिद्धि कर लेगा। उसके लिए गौणार्थ मानना व्यर्थ होगा। तत्सिद्धिपेटिका में गौणीवृत्ति के छः निमित्तों का इस प्रकार से सङ्कलन किया है। प्रथम—तत्सिद्धि अर्थात् यजमानादि के कार्य की सिद्धि जिस कुशमुष्टि से होती है, उस कुशमुष्टि में भी गौणरूप से यजमान शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य में प्रस्तर (एक मु ीभर कुशा) को गौणरूप से यजमान इसलिए कह दिया गया है कि यजमान शब्द की प्रस्तर में जो प्रवृत्ति है, उसका निमित्तभूतगुण=तत्सिद्धि= तस्य यजमानकार्यस्य प्रस्तरादपि सिद्धिः। अर्थात् यजमानकार्यकारित्व प्रस्तर में भी है, क्योंकि दोनों यज्ञरूप एक कार्य के साधन है। अतः एककार्यकारित्वरूपगुण के निमित्त से यजमान शब्द की प्रस्तर में प्रवृत्ति है। द्वितीय—जाति अर्थात् जिन दो का एक ही स्थान से उत्पत्ति हो तो ऐसे स्थल पर भी गौण प्रयोग होता है। जैसे— 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' इस वाक्य में ब्राह्मण में आग्नेय (अग्निसम्बन्धी) शब्द की प्रवृत्ति में जाति=जन्मगुण है, अर्थात् एकप्रभवत्व गुण है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' इन श्रुतियों के आधार पर ब्राह्मण और अग्नि दोनों मे मुखजत्व गुण के विद्यमान रहने से ब्राह्मण में अग्निशब्द का प्रयोग किया गया है। तृतीय—सारूप्य अर्थात् सादृश में भी गौण प्रयोग होता है। जैसे—'आदित्यो यूपः' इस वाक्य के यूप में आदित्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त

प्रस्तरः'' इत्यादेर्गौणार्थता च नोच्येत। त्वयापि प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नोच्येत। श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैवाप्रामाण्यसम्भवात्।। १ ।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

से भी प्रत्यक्ष से अविरोध के लिए तत् और त्वम् इन दोनों पदों में लक्षणा नहीं कही जाती, क्योंकि श्रुति के साथ प्रत्यक्ष का विरोध होने पर प्रत्यक्ष का ही अप्रामाण्य सम्भव होने से।।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

आज्याभ्यञ्जन प्रयुक्त चाकचिक्य—अपरपर्याय—औज्ज्वल्य गुण है, अर्थात् यूप में घृत का प्रलेप करने पर औज्ज्वल्य आता है, इस प्रकार से यूप और आदित्य दोनों में औज्ज्वल्यगुण की समानता के कारण यूप में आदित्यशब्द का प्रयोग किया गया। चतुर्थ—प्रशंसा अर्थात् अन्य की अपेक्षा से किसी की अधिक प्रशंसा करनी हो तो ऐसे स्थल पर भी गौण प्रयोग होता है। जैसे—'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वाः', यहाँ पर अपशुशब्द की अजादि में जो प्रवृत्ति है, उसका निमित्त गवादि की प्रशंसा है। अर्थात् यहाँ पर पशु शब्द से गवाश्वगत उपकारातिशयप्रयुक्त प्राशस्त्य लक्षित होता है और तादृश प्राशस्त्याभाव 'नञ्' से अजादि में बोधित होता है। इसलिए उक्त वाक्य का अर्थ यह होगा— 'गवाश्ववृत्तिप्रशस्तत्वाभाववन्तोऽजादय गवाश्वेभ्योऽन्ये' यहाँ पर प्रशंसारूप गुण के कारण गौ और अश्व से भिन्न अजादि पशुओं को अपशु कह दिया गया है। पञ्चम—भूमा अर्थात् जहां किसी का बाहुल्य होता है, वहां भी शब्दों का गौण प्रयोग होता है। जैसे—'सृष्टिरुपदधाति' इस वाक्य में कहा गया कि जिन इष्टिकाओं के चयन में सृजिपदघटित मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है उन मन्त्रों को सृष्टि कहते है। यद्यपि सभी मन्त्र वाक्यों में सृजिपद नहीं है, तथापि भूम (बहुत) मन्त्रवाक्यों में सृजि का प्रयोगरूप निमित्त (गुण) के कारण, पूरे मन्त्रसमूह को सृष्टि कह दिया गया है। षष्ठ—'प्राणभृत उपदधाति' इस मंत्र का अर्थ है कि प्राणशब्दयुक्त मंत्रों से इष्टिकाओं का उपधान करें। यहां पर प्रथम प्रस्ताव में पचास मंत्र है। इसी प्रकार द्वितीय प्रस्ताव में पांच मंत्र और तृतीय प्रस्ताव में दस मन्त्र हैं। यहां पर विशेष बात यह है कि प्रत्येक प्रस्ताव के प्रथम मंत्र में प्राण शब्द आया है। उस प्राण शब्द को व्यापक मानकर प्रथम मंत्र सहित मंत्र समुदाय को गौण वृत्ति से प्राणभृत शब्द से कहा गया है। अर्थात् जैसे—यहाँ 'अयं पुरो भुवः तस्य प्राणो भौवायनः' इस प्रथम मन्त्र में प्राणपद का प्रयोगरूप निमित्त (गुण) के कारण सम्पूर्णमन्त्रों को 'प्राणभृत्' कह दिया गया है। लिंग समवाय अर्थात् किसी एक लिंग (ज्ञापक) के समवाय (सामीप्य) होने से उस ज्ञापक के द्वारा समीपस्थ समुदाय स्वसहित जाना जाय तो ''छत्रिणो यान्ति'' के जैसे उस शब्द का समुदायार्थ में गौण प्रयोग होता है। ऐसे स्थल को ''तत्सिद्धि....'' इस सूत्र में लिंग समवाय शब्द से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार उक्त छः निमित्तों के कारण उक्त स्थलों पर गौणप्रयोग माना गया है। उपरोक्त सभी स्थलों में प्रत्यक्ष के साथ अविरोध के लिए महर्षि जैमिनि ने यजमानादि शब्दों की गौणार्थता कही है। यदि शब्द से प्रत्यक्ष का बाध होता तो यथाश्रुतार्थ ही ठीक होता, क्योंकि शब्द से प्रत्यक्ष का बाध हो जाता। अतः यह मानना पड़ेगा कि शब्द से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता है। सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट का अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट के साथ अभेद का प्रत्यक्ष से विरोध है। अतः प्रत्यक्ष के साथ अविरोध करने के लिए अद्वैतवेदान्त में 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों में भागत्यागलक्षणा का जो प्रतिपादन है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रबल शब्दप्रमाण से विरोध होने पर प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य आ जाता। अप्रामाण्यभूतप्रत्यक्ष से विरोध के लिए लक्षणा मानना व्यर्थ है।। १ ।।

न च तात्पर्यलिङ्गानामुपक्रमादीनामत्र सत्त्वान्नाद्वैतश्रुतीनाममुख्यार्थत्वमिति वाच्यम्। ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादावपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गस्य तात्पर्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात्। एकैकलिङ्गस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वे लिङ्गान्तरमनुवादकमेव, त्वन्मते प्रत्यक्षसिद्धे भेदे श्रुतिरिव, किम्बाहुल्येन इति चेत्।।२।।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अत्र=प्रत्यक्ष की बाधक जो अद्वैतश्रुति है, उस अद्वैतश्रुति में, तात्पर्यनिर्णायक उपक्रमादि लिङ्गों का सद्भाव होने से अद्वैतश्रुतियों का अमुख्यार्थत्व नहीं है (जबकि ''यजमान प्रस्तर है।'' इत्यादि में उपक्रमादि नहीं है। इसलिए उनमें अमुख्यार्थता मानी ही जा सकती है।)—ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''यजमान प्रस्तर है।'' इत्यादि में यजमान और प्रस्तर में अभेदादि का मानान्तर से अज्ञातत्व रूप अपूर्वत्वादि एक—एक तात्पर्यग्राहक लिङ्ग वर्तमान है। एक—एक लिङ्ग का तात्पर्यनिर्णायकत्व होने पर लिङ्गान्तर अनुवादक ही है। जैसे सिद्धान्ती के मत में प्रत्यक्ष से सिद्धभेद की प्रतिपादिका श्रुति अनुवादिका होती है। कथन बाहुल्य से क्या लाभ?।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस पर यदि कोई कहे कि 'यजमानः प्रस्तरः' यहाँ पर उपक्रमादिषड्विधतात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग नहीं है। अतः यहाँ पर मुख्यार्थता मानना सम्भव न होने के कारण ही गौणार्थता मानी गयी है। अद्वैतश्रुति में उपक्रमादिषड्विधतात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग है, इसलिए अद्वैत में मुख्यतात्पर्य है। उस मुख्यतात्पर्य की अन्यथाऽनुपपत्ति के कारण लक्षणा मानी गयी है, प्रत्यक्ष अविरोध के लिए लक्षणा नहीं मानी गयी है। अतः अद्वैत में मुख्यतात्पर्यवाली श्रुति सभी प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होने के कारण अद्वैतश्रुति इतर प्रमाणों का बाध कर देगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जहाँ पर तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग होता है वहाँ मुख्यार्थता मानी जाती है, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि इस नियम का व्यभिचार 'यजमानः प्रस्तरः' में है। क्योंकि 'यजमानः प्रस्तरः' मे तात्पर्यग्राहक सभी षड्लिङ्गों के न रहने पर भी अपूर्वत्व नामक (मानान्तरागम्यतारूप) तात्पर्यग्राहक एक लिङ्ग तो विद्यमान है, किन्तु 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य को पूर्वमीमांसा में मुख्यार्थक नहीं माना गया है। इस पर यदि कोई शङ्का करें कि 'यजमानः प्रस्तरः' यहाँ पर केवल एक अपूर्वतारूप ही तात्पर्यग्राहकलिङ्ग है, अन्य लिङ्ग नहीं है। इसलिए 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य को मुख्यार्थक नहीं माना जाता है। अद्वैतश्रुति में तात्पर्यग्राहकषड्लिङ्ग है। इसलिए अद्वैतश्रुति को मुख्यार्थक माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सर्वत्र तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग एक ही होता है। वहाँ शेष जो तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग दिखायी पड़ते है, वे तो इस एक तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग के अनुवादकमात्र होते है। जैसे अद्वैतवेदान्ती के मत मे जीवेशादि का भेद प्रत्यक्षसिद्ध है, उस प्रत्यक्षसिद्धभेद को कहने वाली श्रुतियाँ अपूवार्थप्रकाशिका न होने से केवल अनुवादिकामात्र मानी जाती है, इसलिए जब एक ही तात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग से तात्पर्य का निर्णय हो जाता है, तब अनेक तात्पर्यलिङ्गों को मानना अनपेक्षित है। अतः सिद्धान्ती को मानना पड़ेगा कि अद्वैतश्रुति के मुख्यतात्पर्य की अन्यथाऽनुपपत्ति के कारण 'तत्' और 'त्वम्' में लक्षणा नहीं मानी गयी है, अपितु प्रत्यक्ष से अविरोध के लिए ही 'तत्' और 'त्वम्' पद में लक्षणा मानी गयी है। ऐसा स्वीकार करने पर प्रत्यक्षप्रमाण प्रबल सिद्ध हो जायेगा उसका दुर्बलशब्दप्रमाण से बाध सिद्ध नहीं हो पायेगा।।२।।

पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वाक्यशेष, प्रमाणान्तरसंवाद, अर्थक्रियारूपपरीक्षा से परीक्षितप्रत्यक्ष में व्यावहारिकप्रामाण्य आ जाने से व्यवहारदशा में

न, वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिपरीक्षापरीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहारदशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिणो ''धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे'', ''अदितिर्द्यौः'' ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादेस्तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽप्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षादेर्हि परीक्षया व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रं सिद्धम्; तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते। बाध्यते तु तात्त्विकं प्रामाण्यम्, तत्तु परीक्षया न सिद्धमेव, अतो न विरोधः। ''धूम एवाग्नेः'' इत्यादेस्तु

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में विधिवाक्यरूप वाक्यशेष, प्रमाणान्तर का संवाद, अर्थक्रियाकारित्वादि परीक्षा से परीक्षित प्रत्यक्ष प्रबल होने से व्यवहार दशा में ही इस प्रत्यक्ष से विरुद्धार्थग्राही ''धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे'' ''अदितिर्द्यौः'' ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि वाक्यों का उक्त परीक्षित प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से अमुख्यार्थत्व होने पर भी अद्वैतागम के परीक्षित प्रमाण से विराध न होने से अद्वैतागम में मुख्यार्थत्व की उपपत्ति हो जायेगी। प्रत्यक्षादि का परीक्षा से व्यावहारिक प्रामाण्य मात्र सिद्ध होता है और वह व्यावहारिक प्रामाण्य अद्वैतागम से बाधित नहीं होता है किन्तु उसका तात्त्विक (पारमार्थिक) प्रामाण्य बाधित होता है। प्रत्यक्षगत वह तात्त्विक प्रामाण्य परीक्षा से सिद्ध नहीं है। इसलिए अद्वैतागम से प्रत्यक्ष का विरोध नहीं है। ''धूम एव अग्नेः........'' इत्यादि का मुख्यार्थत्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

परीक्षितप्रत्यक्ष प्रबल माना जाता है। अर्थात् प्रमाणान्तरसंवाद— 'अयं घटः यह ज्ञान हुआ फिर जाकर द्वितीय बार जब घट को देखा तब भी 'अयं घटः ' ऐसा ही ज्ञान हुआ। इस प्रकार दोनों ज्ञानों का संवाद (समानविषय) घट होने से यहाँ प्रमाणान्तरसंवादरूप परीक्षा है। अर्थक्रियापरीक्षा— घटज्ञान के पश्चात् घट से जो जलाहरण आदि क्रिया होती है, उसके होने से अर्थक्रियारूप परीक्षा है। ये दोनों परीक्षा सुगम होने से मूल में उनका विवेचन न कर के वाक्यशेषरूप—परीक्षा का विवेचन किया जा रहा है। यहाँ पर वाक्यशेष का तात्पर्य है कि विधिवाक्यरूप जो वाक्यशेष है उस वाक्यशेष से स्वापेक्षित स्तुति, निन्दारूप, अर्थ समर्पकत्वेन अन्यपरत्वेन निश्चित जो अर्थवाद है वे अर्थवाद प्रत्यक्ष का बाध नहीं कर सकते। अर्थात् विधिवाक्य के वाक्यशेष भी प्रत्यक्षविरुद्धार्थग्राही अर्थवादों की अन्यार्थपरता को बोधित करता हुआ प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का रक्षक है। अतः वाक्यशेष को भी प्रत्यक्ष की परीक्षा में मिला दिया गया है। इस प्रकार की परीक्षा से प्रत्यक्षादि में व्यावहारिकप्रामाण्यमात्र सिद्ध होता है। इस प्रकार उक्त परीक्षाओं से परीक्षित व्यावहारिकप्रामाण्यवाले प्रबल प्रत्यक्ष से विरुद्ध जब अर्थवादवाक्य ('तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' 'यजमानः प्रस्तरः') बोधन करता है, तब उसे गौणार्थक मानना पड़ता है, अर्थात् प्रकृत में हम जो शब्द से प्रत्यक्ष का बाध मानते हैं, वह तो स्वार्थपरक—वाक्यरूप शब्द से मानते हैं और तुमने जो उदाहरण दिया था— 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' 'यजमानः प्रस्तरः, ये वाक्य स्वार्थपर नहीं हैं। अतः स्वार्थपरक न होने से व्यवहारदशा में अर्थवादवाक्यार्थ का प्रत्यक्ष के द्वारा बाध हमें इष्ट है। अतः पूर्वमीमांसादर्शन से विरोध नहीं है। परीक्षा के द्वारा प्रत्यक्ष में जो व्यावहारिकप्रामाण्य आया है, उस व्यावहारिकप्रामाण्यवाले प्रत्यक्ष से अद्वैतश्रुति का विरोध न होने से अद्वैतागम को मुख्यार्थक माना ही जा सकता है, क्योंकि परीक्षा के द्वारा प्रत्याक्षादि में व्यावहारिकप्रामाण्यमात्र सिद्ध होता है। उसका अद्वैतश्रुतियों के द्वारा बाध नहीं किया जाता है; किन्तु प्रत्यक्षनिष्ठतात्त्विकप्रामाण्य का अद्वैतागम के द्वारा बाध किया जाता है। अतः अद्वैतागम का परीक्षितप्रत्यक्ष के साथ विरोध ही नहीं है। 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः' इत्यादि अर्थवादवाक्यों को मुख्यार्थक मानने पर प्रत्यक्षादि का व्यावहारिकप्रामाण्य व्याहत होगा। अतः उक्त परीक्षा से परीक्षितप्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से उक्त अर्थवादादि वाक्य अमुख्यार्थक है। यही

मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं व्याहन्येत। अतो विरोधात्तत्रामुख्यार्थत्वमिति विवेकः। यत्तु प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नाश्रीयेतेति तन्न; षड्विधलिङ्गैर्गतिसामान्येन चाखण्ड एवावधार्यमाणस्य तात्पर्यस्यानुपपत्तेर्जीवेशगतसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादीनामैक्यान्वयानुपपत्तेश्च तात्पर्य विषयीभूताखण्डप्रतीतिनिर्वाहाय लक्षणाङ्गीकरणस्यैवोचिततत्वात्, तात्पर्यविषयीभूता— न्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्।। ३।।

न चैवं सत्यमुख्यार्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; तद्धि प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरपरत्वं वा

कैलासविद्याप्रकाशिका

स्वीकार करने पर तो प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य व्याहत होगा। इसलिए उक्त परीक्षा से परीक्षित प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से ''धूम एव अग्नेः.......'' इत्यादि में अमुख्यार्थत्व है। यही मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व का भेद है। यह जो कहा था कि प्रत्यक्ष के साथ अविरोध के लिए लक्षणा का आश्रय नहीं किया जाता— वह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि तात्पर्यग्राहक षड्लिङ्गों से और गति सामान्य से अखण्ड में ही अवधार्यमाण जो तत्त्वमस्यादि वाक्यों का तात्पर्य है, उस तात्पर्य की अनुपपत्ति से और जीवेशगत जो सर्वज्ञत्व और किञ्चिज्ज्ञत्वादि धर्म है, उनके ऐक्यबोध की अनुपपत्ति से तत्त्वमस्यादि वाक्यों के तात्पर्यविषयीभूत अखण्डार्थ की प्रतीति के निर्वाह के लिए लक्षणा को अङ्गीकार करना उचित ही है, क्योंकि तात्पर्यविषयीभूतार्थ के बोध के निर्वाह के लिए लक्षणा का आश्रय लेना सर्वत्र देखने में आता है।।३।।

शङ्का— उक्त प्रकार से लक्षणा का आश्रय लेने पर तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अमुख्यार्थत्व होगा।

समाधान— ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वह अमुख्यार्थत्व क्या प्रतीयमान अर्थ का

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थवादवाक्यों और अद्वैतागमों में अन्तर है। पूर्वपक्षी ने पीछे जो यह कहा था कि यदि प्रत्यक्षप्रमाण दुर्बल है तो प्रत्यक्ष के अविरोध के लिए 'तत्' और 'त्वम्' पदों में लक्षणा नहीं करनी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षविरोध के भय के कारण 'तत्' और 'त्वम्' पदों में लक्षणा नहीं की जाती है, किन्तु उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन तात्पर्यनिर्णायकषड्लिङ्गों से और 'गतिसामान्यात्' (ब्र.सू. १.१.१०), यहाँ पर गति का अर्थ ज्ञान है वह भी प्रसङ्गानुसार सर्ववेदान्तजन्यज्ञान लेना है। सामान्य का अर्थ है समानविषयकत्व अर्थात् सर्ववेदान्तजन्यज्ञानों का जो जीवब्रह्मैक्यरूप समानविषयकत्व है उससे (षड्विद्यलिङ्ग से और गतिसामान्य से) एक अखण्डचिन्मात्र में जो तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य निर्णीत होता है उसकी अन्यथाऽनुपत्ति (लक्षणां विना तात्पर्यमनुपपन्नम्) के कारण और जीवेशगत जो सर्वज्ञत्व और किञ्चिज्ज्ञत्व आदि धर्म है, उन धर्मो के ऐक्यबोध की अनुपपत्ति के कारण 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों के तात्पर्यविषयीभूत—अखण्डार्थप्रतीति के निर्वाह के लिए लक्षणा का आश्रय लिया गया है। तात्पर्यविषयीभूतवाक्यार्थबोध के निर्वाह के लिए सर्वत्र लक्षणा मानी जाती है, क्योंकि सर्वत्र तात्पर्याऽनुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना गया है।।३।।

वेदान्तवाक्यों में लक्षणा स्वीकार करने पर उनमें अमुख्यार्थत्व की प्रसक्ति होगी, ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि वह अमुख्यार्थत्व, क्या प्रतीयमान अर्थ (वाच्यार्थ) के परित्याग से अर्थान्तरपरत्व रूप होगा? अथवा अवाच्यार्थत्वरूप होगा? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य से प्रतीयमान यजमान और प्रस्तर का अभेद का परित्याग कर के यजमानकार्यकारीप्रस्तर ऐसा गौण अर्थ लिया जाता है। ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में प्रतीयमान 'तत्' और 'त्वम्' का सामानाधिकरण्य (कार्यकारणभावविनि— र्मुक्तद्रव्यमात्रतात्पर्यकसमानविभक्तिकनानानामत्वरूपसामानाधिकरण्य।

अशक्यार्थत्वं वा? नाद्यः; सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानस्यैक्यस्यात्यागात्। नान्त्यः, जहदजलहल्लक्षणाश्रयणेन शक्यैकदेशपरित्यागेऽपि ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशस्यान्वयाभ्युपगमात्, विशेषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्।

कैलासविद्याप्रकाशिका

परित्याग करके अर्थान्तरपरत्वरूप है? अथवा अशक्यार्थत्व रूप है? (शब्दनिष्ठ अभिधाशक्ति से बोधित अर्थ को शक्यार्थ कहते है, उससे विपरीत अशक्यार्थ होता है।) प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सामानाधिकरण्य से प्रतीयमान शुद्ध व्यक्तिमात्ररूप ऐक्य का परित्याग नहीं हुआ है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भागत्यागलक्षणा का आश्रय लेकर शक्यार्थ के एकदेश (विशेषणांश) का परित्याग होने पर भी जैसे ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादि वाक्य में शक्य के एक देश (विशेष्यांश) का

सत्यानन्दप्रबोधिका

नाना नाम से तत् और त्वम् इन भिन्न–भिन्न पदों को लेना है और तादृश पदत्व जो तत् और त्वम् दोनों पदों में रहता है, यही तत् और त्वम् का सामानाधिकरण्य है)। से प्रतीयमान ऐक्य का परित्याग नहीं किया जाता है। यहाँ पर ऐक्य से शुद्धव्यक्तिमात्र अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् विवरणाचार्य के मत में अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय शुद्धचैतन्य माना जाता है। इसलिए 'तत्' पद और 'त्वम्' पद में लक्षणावृत्ति की सहायता से जो शुद्धचैतन्य की प्रतीति होती है, वाक्यार्थबोध में उसका परित्याग नहीं किया जाता है। इस लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों में लक्षणा मानने पर भी अमुख्यार्थता की आपत्ति नहीं होगी। अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' में 'यजमानः' पद के वाच्यार्थ को पूर्णरूपेण त्याग कर यजमानकार्यकारित्वरूप गौण अर्थ मानकर अमुख्यार्थ स्वीकार किया गया है, ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्यों में अमुख्यार्थ नहीं स्वीकार किया जाता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में भागत्यागलक्षणा को अद्वैतसम्प्रदाय में स्वीकार किया गया है। जहाँ भागत्यागलक्षणा की जाती है, वहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ का परित्याग नहीं किया जाता है। अपितु शक्य के एकदेश का, अर्थात् केवल विरोधी विशेषणभाग का ही परित्याग किया जाता है। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस स्थल पर 'तत्' और 'इदम्' पद में भागत्यागलक्षणा के द्वारा 'तत्ता' और 'इदन्ता' रूप विशेषण अंश का परित्याग होने पर भी देवदत्तरूप विशेष्य अंश का परित्याग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों में भागत्यागलक्षणा के द्वारा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि विशेषण अंश का परित्याग होने पर भी शुद्धचैतन्यरूप विशेष्य अंश का परित्याग नहीं किया जाता है। अतः अवाच्यार्थता के कारण वेदान्तवाक्यों में अमुख्यार्थता नहीं आ सकती है। इस प्रकार द्वितीयकल्प का भी खण्डन हो गया। यहाँ पर प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती जब 'तत्' और 'त्वम्' पदों में शक्यार्थबोधकता को स्वीकार कर रहे हैं तब 'तत्' और 'त्वम्' पदों में भागत्यागलक्षणा क्यों कर रहे हैं? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अशक्यार्थबोधकता के लिए भागत्यागलक्षणा नहीं की जाती है, अपितु शक्य के विशेषण अंशमात्र के परित्याग और विशेष्यमात्र के बोध के लिए ही भागत्यागलक्षणा की जाती है। पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये दोषों के परिहार को दृढ़ करने के लिए उसमें आचार्य श्री वाचस्पतिमिश्र की सम्मति दिखला रहे हैं– 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्य विधि के लिए अपेक्षित निन्दा और स्तुति के बोधक होने के कारण स्वार्थबोधक न होने से अमुख्यार्थक है। अद्वैतवाक्य तो तात्पर्य का विषयीभूत जो वाक्यार्थ है, उसके प्रतिपादक होने से मुख्यार्थक है। अर्थात् 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्य के अमुख्यार्थक होने का कारण लक्षणा नहीं है अपितु अन्यशेषत्व है और अद्वैतवाक्य तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण अनन्यशेष, अतः मुख्यार्थक है। पूर्वमीमांसादर्शन के शाबरभाष्य में श्री शबरस्वामी ने भी कहा है कि

तथा चोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यन्त्वनन्यशेष—त्वान्मुख्यार्थमेव'। उक्तं हि शाबरभाष्ये 'न विधौ परः शब्दार्थ इति' इति। यथा चापूर्वत्वाद्येकैकतात्पर्यलिङ्गेन 'यजमानः प्रस्तरः' इत्याद्यर्थवादवाक्यानां न स्वार्थपरत्वं तथा वक्ष्यामः।। ४।।

नन्वन्यशेषत्वानन्यशेषत्वे नामुख्यार्थत्वमुख्यार्थत्वयोः प्रयोजके, किन्तु मानान्तरविरोधाविरोधौ।

कैलासविद्याप्रकाशिका

बोध होता है, ठीक वैसे ही तत् और त्वम् पद में शक्य का एकदेश (विशेष्यरूप चेतनांश) का बोध स्वीकार किया जाता है। विशेषण के बाध से विशेष्य मात्र के बोध को ही यहां पर लक्षणा शब्द से कहा गया है। जैसे कि आचार्यप्रवर श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा है—''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि अर्थवाद वाक्य अन्य (विधि) के अङ्ग होने से अमुख्यार्थक है किन्तु अद्वैतवाक्य किसी अन्य का अङ्ग न होने से मुख्यार्थक है। इसी प्रकार शाबर भाष्य में भी कहा गया है—विधिवाक्य में प्रतीयमान से भिन्न शब्दार्थ नहीं होता है और जिस प्रकार से अपूर्वत्वादि एक—एक तात्पर्यलिङ्ग से ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि अर्थवाक्यों का स्वार्थपरत्व नहीं है, उस प्रकार को आगे के प्रकरण में कहेंगे।।४।।

शङ्का— अन्यशेषत्व अमुख्यार्थत्व का और अनन्यशेषत्व मुख्यार्थत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रमाणान्तर का विरोध अमुख्यार्थत्व का और प्रमाणान्तर का अविरोध मुख्यार्थत्व का

सत्यानन्दप्रबोधिका

'न विधौ परः शब्दार्थः'। विधौ= अज्ञातज्ञापकविधिवाक्य में, परः = प्रतीयमान (स्वार्थ) से अन्य, शब्दार्थः= तात्पर्यविषयीभूत अर्थ, न= नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ है कि उपक्रमोपसंहार आदि सभी छः लिङ्गों की सहायता से ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का निर्णय होता है; एक—एक लिङ्ग के द्वारा नहीं होता है। इस लिए अपूर्वत्वादिरूप एक—एक तात्पर्यलिङ्ग के बल पर 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि अर्थवाक्यों को स्वार्थपरक (मुख्यार्थक) नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इस पर विशेषरूप से विचार 'आगमबाधोद्धार' प्रकरण में— 'अद्वैतश्रुतिर्हि षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेता। तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिङ्गं प्रामाण्यशरीरघटकमर्थनिष्ठमज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्वञ्च। त्रिविधं तु शब्दनिष्ठमतिप्रसङ्गवारकमु—पक्रमोपसंहारयोरैक्यरूप्यमभ्या— सोऽर्थवादश्चेति' इत्यादि से किया जायेगा। अर्थात् अर्थवादवाक्यों में तात्पर्यबोधकषड्लिङ्गों में से अपूर्वत्वादि के रहने पर भी उपपत्ति आदि के न रहने से अर्थवादवाक्य स्वार्थ के बोधक नहीं होते हैं, ऐसा उपपादन किया जायेगा।।४।।

आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र के द्वारा यह जो कहा गया कि जो अन्य का शेष होता है, वह अमुख्यार्थक होता है और जो अनन्यशेष होता है, वह मुख्यार्थक होता है। उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अन्यशेषत्व अमुख्यार्थकत्व का और अनन्यशेषत्व मुख्यार्थकत्व का प्रयोजक नहीं होता है। अर्थात् सिद्धान्ती की व्याप्ति है— 'यत्र यत्र अन्यशेषत्वं तत्र तत्र अमुख्यार्थत्वम्,' 'यत्र यत्र अनन्यशेषत्वं तत्र तत्र मुख्यार्थत्वम्'। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित व्याप्ति ठीक नहीं है, किन्तु वास्तविक व्याप्ति यह होनी चाहिए— 'यत्र यत्र मानान्तरविरोधित्वं तत्र तत्र अमुख्यार्थत्वम्', 'यत्र यत्र मानान्तराविरोधित्वं तत्र तत्र मुख्यार्थत्वम्'। सिद्धान्ती के द्वारा कथित व्याप्ति क्यों ठीक नहीं है? इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि 'यत्र यत्र अन्यशेषत्व तत्र तत्र अमुख्यार्थत्वम्' इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष है। क्योंकि अन्यशेषत्व होने पर भी प्रत्यक्ष से विरोध न होने के कारण लोक और वेद में मुख्यार्थत्व देखा गया है। सर्वप्रथम लोक में दिखा रहे हैं— 'इयं गौः क्रय्या' (यह गौ खरीदने लायक है अथवा इस गौ का खरीदना इष्ट का साधन है) यह विधिवाक्य है। इस विधिवाक्य का शेषभूत (अङ्गभूत)

अन्यशेषेऽपि मानान्तराविरोधे 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा' इत्यादौ लोके 'सोऽरोदीत्' इत्यादौ च वेदे प्रस्तरादिवाक्यवदमुख्यवृत्तेरनाश्रयणात्, अनन्यशेषेऽपि 'सोमेन यजेत' इत्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय च सोमवता

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रयोजक माना जाता है क्योंकि अन्यशेष होने पर भी प्रमाणान्तर का अविरोध होने पर ''इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा'' इत्यादि लौकिक वाक्य में तथा ''सोऽरोदीत्'' इत्यादि वैदिक वाक्य में ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादि वाक्य के जैसे अमुख्यवृत्ति का आश्रय नहीं लिया गया है। इसी प्रकार अनन्यशेष होने पर भी ''सोमेन यजेत'' इत्यादि विधि में वैयधिकरण्य से सोम और याग का अन्वय करने पर विरुद्धत्रिकद्वयदोष की आपत्ति होने से और सामानाधिकरण्येन अन्वय करने पर प्रत्यक्ष विरोध है। इसलिए विरुद्धत्रिकद्वय की आपत्ति से तथा प्रत्यक्ष के साथ अविरोध के लिए ''सोमवता यागेन'' इस प्रकार मतुप् प्रत्यय के अर्थ

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाक्य है– 'बहुक्षीरास्त्र्यपत्त्या समांसमीना इत्यादि' (बहुत दूध देने वाली है, बछड़ियों को उत्पन्न करने वाली है, एवं इसकी प्रजा निर्दोष है')। यह वाक्य अर्थवाद है। यह अर्थवादरूप वाक्य क्रयणविधि के लिए अपेक्षित प्रशंसार्थक होने से अन्यशेष है। किन्तु अन्यशेष होने पर भी मानान्तराविरोधप्रयुक्त–यथाश्रुतार्थक होने से अमुख्यार्थक नहीं है। इस प्रकार उक्त व्याप्ति का लोक में व्यभिचार दिखाकर वेद में व्यभिचार अब दिखा रहे हैं– 'बर्हिषि रजतं न देयं तस्य हिरण्यं दक्षिणा' (बर्हिष् याग में रजत नहीं देना चाहिए, इसमें सुवर्ण दक्षिणा है)। इस विधिवाक्य से सुवर्णदक्षिणा का विधान है। इस विधिवाक्य का अर्थवादवाक्य है– 'सोऽरोदित् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रु अश्रीयत तद् रजतमभवत् तस्माद् रजतमदक्षिण्यमश्रुजम्'। (वह रोया और रोने से उसको रुद्र नाम से कहा गया और रुद्र के अश्रुओं से रजत पैदा हुआ है, अतः अश्रुज होने से रजत को दक्षिणा में नहीं दिया जाता है)। इस अर्थवाद का यथाश्रुतार्थ रजतनिन्दा है। इस अर्थवाद वाक्य का अर्थभूत रजतनिन्दा जब तदवस्थ (मुख्यार्थ) रहती है तभी हिरण्यदक्षिणा की प्रशंसा सिद्ध होती है। इस प्रकार यह अर्थवादवाक्य अन्यशेष होने पर भी अमुख्यार्थक नहीं है, किन्तु प्रमाणान्तरविरोध न होने से मुख्यार्थक है। इस अर्थवादवाक्य पर विशेष विचार पूर्वमीमांसा के प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद के आदि में ही शाबरभाष्य में किया गया है। इस प्रकार वेद में उक्त व्याप्ति का व्यभिचार दिखाया गया। मूल में 'प्रस्तरादिवाक्यवत्' यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है। अर्थात् 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य को जैसे अमुख्यार्थक माना जाता है, वैसे ही 'सोऽरोदीत्' इस वाक्य को अमुख्यार्थक नहीं माना जाता है, अपितु मुख्यार्थक ही माना जाता है। सिद्धान्ती ने यह जो व्याप्ति बनायी थी– 'यत्र यत्र अनन्यशेषत्वं तत्र तत्र मुख्यार्थत्वम्' इसमें भी पूर्वपक्षी व्यभिचार दिखा रहा है। 'सोमेन यजेत' इत्यादि अनन्यशेषभूतवाक्य भी प्रमाणान्तर से विरोध हो जाने के कारण वाच्यार्थ से भिन्न लाक्षणिक–अर्थ के बोधक (अमुख्यार्थक) माने जाते हैं। अर्थात् 'सोमेन यागं भावयेत्', 'यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार याग का करणत्व और कर्मत्वात्मक वैयधिकरण्य रूप से भावना में अन्वय करने पर याग में विरुद्ध दो त्रिकधर्म प्राप्त होते हैं। जैसे 'सोमेन यागं भावयेत्' इस प्रकार से अन्वय करने पर सोम में साधनता बोधित होती है और याग में साध्यता। जो साधन होता है, उसमें गुणत्व, विधेयत्व और उपादेयत्वरूप एक त्रिक रहता है। अतः सोम साधन होने से सोम में गुणत्वादिरूप त्रिक रह गया। इसी प्रकार याग के साध्य होने से उसमें प्रधानत्व, अनुवाद्यत्व, उद्देश्यत्वरूप त्रिक रह गया। इसके पश्चात् जब 'यागेन इष्टं भावयेत्' ऐसा अन्वय किया जाता है, तब याग साधन और इष्ट साध्य होता है। अतः याग के साधन होने से उसमें गुणत्वादि–त्रिक रह गया और इष्ट के साध्य होने से उसमें प्रधानत्वादि–त्रिक रह गया। अर्थात् 'सोमेन यागं भावयेत्' इस वाक्य

यागेनेति मत्वर्थलक्षणाया आश्रयणात्। एवं विचारविधायके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'इति सूत्रे ''तद्विजिज्ञासस्व'' इति श्रुतौ च मानान्तराविरोधेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणाया:

कैलासविद्याप्रकाशिका

में लक्षणा का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मविचारविधायक ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' इस सूत्र में और ''तद्विजिज्ञासस्व'' इस श्रुति में मानान्तर के अविरोध से विध्यन्वय के लिए जिज्ञासा पद की विचारार्थ में लक्षणा मानी गयी है। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुति में भी अमुख्यार्थत्व माना गया है। सर्व वेदान्त वाक्यों की अवाच्य ब्रह्म में लक्षणा ही इष्ट होने से अमुख्यार्थत्व का निषेध अयुक्त भी है। अन्वयानुपपत्ति

सत्यानन्दप्रबोधिका

में 'यागेन इष्टं भावयेत्' इस वाक्य के याग का अनुवाद किये जाने से यहाँ याग हो गया अनुवाद्य, क्योंकि 'यागेन इष्टं भावयेत्' से याग का विधान किया गया है और उस याग का अनुवाद करके 'सोमेन यागं भावयेत्' इस वाक्य से सोम का विधान किया गया है। इस प्रकार याग में अनुवाद्यत्व आया और सोम है शेष और याग है शेषी। इसलिए याग के शेषी होने से याग में प्रधानत्व आया। याग के उद्देश्य से सोम का विधान होने के कारण याग में उद्देश्यत्व आया। इस प्रकार याग में एक त्रिक (अनुवाद्यत्व, प्रधानत्व, उद्देश्यत्व) आया। द्वितीय त्रिक– 'यागेन इष्टं भावयेत्', यहाँ इष्ट के उद्देश्य से याग का विधान होने से याग में विधेयत्व आ गया। इष्ट शेषी (प्रधान) है और याग शेष है। अत: याग में गौणत्व (गुणत्व) आ गया। इष्ट के उद्देश्य से याग का उपादान होने से याग में उपादेयत्व आ गया। इस प्रकार एक ही याग में विरुद्धत्रिकद्वय की आपत्ति होगी। दोनों त्रिकों में विरोध इसलिए है कि साधन में गुणत्वादिरूप त्रिक रहता है और साध्य में प्रधानत्वादि त्रिक रहता है। एककालावच्छेदेन जो साध्य है वही साधन नहीं होता है और जो साधन है वही साध्य नहीं होता है। क्योंकि वर्तमानसत्ताक साधन होता है और भाविसत्ताक साध्य होता है। इसलिए जैसे साध्यत्व और साधनत्व इन दोनों धर्मों का एककालावच्छेदेन एकपदार्थ में समावेश नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार साध्यत्व समनियत प्रधानत्वादिरूप त्रिक का और साधनत्व समनियत गुणत्वादिरूप त्रिक का भी एककालावच्छेदेन एकत्र समावेश नहीं होता है। अत: विरुद्धत्रिकद्वय के एकत्र समावेश की आपत्ति के कारण वैयधिकरणरूप से अन्वय न होने पर 'सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्' ऐसा सामानाधिकरण्य से अन्वय करने पर प्रत्यक्षविरोध होता है। क्योंकि सोम शब्द लताविशेष मे रूढ़ है और याग शब्द क्रिया का वाचक है। अत: दोनों शब्दों का भिन्न–भिन्न अर्थ होने के कारण 'सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार अभेदेन अन्वय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि समानविभक्तिक पदों के द्वारा अभिन्न अर्थ का ही प्रतिपादन होता है, भिन्न–भिन्न अर्थों का नहीं। इस प्रत्यक्षविरोध से बचने के लिए सोमपद की सोमवान् में लक्षणा कर के 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार अभेदेन अन्वय किया गया है। अत: 'सोमेन यजेत' यह अनन्यशेष होने पर भी मुख्यार्थक न रहने के कारण मुख्यार्थकत्व का प्रयोजक अनन्यशेषत्व नहीं माना जा सकता है, किन्तु मानान्तर–अविरोध ही मुख्यार्थकत्व का प्रयोजक है। इसी प्रकार ब्रह्मविचारविधायक 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा '(ब्र.सू.१.१.१) इस सूत्र में और ''तद् विजिज्ञासस्व'' (तै. उ.३.१) इस श्रुति में प्रमाणान्तर से विरोध न हो, इसलिए विधि में अन्वय के लिए जिज्ञासा शब्द की विचार में लक्षणा की जाती है। अर्थात् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में 'कर्तव्य' पद का अध्याहार किया जाता है। तब सूत्र का अर्थ यह होगा– ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। किन्तु यह अर्थ बाधित है, क्योंकि जिज्ञासा शब्द के प्रकृतिभूत 'ज्ञा' धातु का अर्थ जो ज्ञान वह जैसे पुरुषप्रयत्न से जन्य नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानकारणक इच्छा भी पुरुषप्रयत्न से जन्य नहीं होती है। अर्थात् जैसे इच्छा के बिना और प्रयत्न के बिना ही प्रमाणप्रमेय के सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार प्रयत्न बिना ही अनुकूलतादि ज्ञान से

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादौ चामुख्यार्थतायाः स्वीकृतत्वात्, सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधायोगाच्च, अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारणत्वाच्च। शाबरन्तु वचनमर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवम्परम्, तस्मान्न

कैलासविद्याप्रकाशिका

या तात्पर्यानुपपत्ति रूप लक्षणा का जो बीज है, वह बीज तो विधि और अविधि में साधारण होने से भी अद्वैत वाक्यों में अमुख्यार्थत्व का निषेध नहीं हो सकता है। ''न विधौ परः शब्दार्थः'' यह शाबरवचन तो अर्थवाद को मुख्य सिद्ध करने के लिए विधि में लक्षणा नहीं होती है—एतदर्थपरक है। इसलिए फलितार्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष शब्द से बाध्य नहीं है।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इच्छा उत्पन्न हो जाती है। विधि का सम्ब–न्ध कृतिसाध्यत्वव्याप्य है। अर्थात् जहाँ कृतिसाध्यत्व रहता है, वहीं पर विधि का सम्बन्ध भी रहता है। इच्छा में कृतिसा–ध्यत्व के नहीं रहने से अध्याहृत 'कर्तव्य' पद से लभ्य प्रवर्तनारूप विधि का अन्वय अनुभवात्मकप्रत्यक्षप्रमाण से बाधित हैं। अतः प्रत्यक्षात्मक अनुभव के साथ विरोध से बचने के लिए जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा की जाती है। इसी प्रकार प्रमाणान्तरविरोध से बचने के लिए श्रुति में भी जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा की गयी है। इस प्रकार उक्त सूत्र और श्रुतिवाक्य, दोनों ही अनन्यशेष है, किन्तु लक्षणा से गौणार्थ (अमुख्यार्थ) लिया गया। अतः अनन्यशेष को मुख्यार्थ का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा.उ. ३–१४–१) इस अनन्यशेषभूत श्रुतिवाक्य से घटादि सम्पूर्णप्रपञ्च की ब्रह्मरूपता प्रतीत हो रही है। वह अनुभव से बाधित है। अतः लक्षणावृत्ति के द्वारा 'प्रपञ्च ब्रह्म है' इसका अर्थ ब्रह्मतादात्म्यापन्नप्रपञ्च ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यक है, ऐसा अर्थ करने पर अमुख्यार्थक ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार जब सभी वेदान्तवाक्यों का लक्षणा के द्वारा अमुख्यार्थ (गौणार्थ) ही अर्थ किया गया तब वेदान्तवाक्य अमुख्यार्थक नहीं है ऐसा अद्वैतवादी कह नहीं सकता है। मूल में जहाँ वाक्य में लक्षणा कही गयी है वह मीमांसकमत के अनुसार कही गयी है। अन्यों के मतानुसार 'वाक्यस्य' का 'वाक्यस्थपदस्य' ऐसा व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने पूर्वोक्त स्थलों पर यह दिखाया कि उक्त सभी स्थलों पर अनन्यशेषत्व है, किन्तु प्रमाणान्तर से विरोध होने के कारण लक्षणा कर के अमुख्यार्थ ही लिया गया है। अतः प्रमाणान्तरविरोध ही अमुख्यार्थत्व का प्रयोजक है। अनन्यशेषत्व मुख्यार्थत्व का प्रयोजक नहीं है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि अद्वैतवाक्य विधिवाक्य के तुल्य है, अतः उसमें लक्षणा नहीं की जाती है। क्योंकि विधिवाक्य में लक्षणा का निषेध 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस वाक्य से शाबरभाष्य में श्री शबरस्वामी ने कहा है। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि लक्षणा का कारण अन्वयानुपत्ति मानो अथवा तात्पर्यानुपपत्ति मानो। उक्त दोनों ही कारण विधिवाक्य और अविधिवाक्य (अर्थवादवाक्य) दोनों में रहते हैं। अतः जब उसमें लक्षणा का कारण है, तब लक्षणारूप कार्य तो हो ही सकता है। अतः अद्वैतवाक्यों में भी लक्षणा मानने से कोई आपत्ति नहीं है। शाबरभाष्य के उक्त वचन का तात्पर्य यह है कि यदि विधिवाक्य और अर्थवादवाक्यों में परस्पर विरोध हो तब किसी न किसी एक के अर्थ में लक्षणा के द्वारा विरोध परिहार के लिए परिवर्तन करना होगा। उक्त स्थल पर अर्थवादवाक्य में लक्षणा न कर के, अर्थात् अर्थवादवाक्य के अर्थ को मुख्य रख कर के लक्षणा के द्वारा विधिवाक्य के अर्थ को गौण नहीं बनाया जा सकता है, न कि विधिवाक्य में सर्वथा लक्षणा का निषेध किया गया है। अर्थात् अनन्यपरक विधिवाक्यों में भी लक्षणा के द्वारा गौणार्थ शबरस्वामी के मत से भी लिया जा सकता है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध के कारण अद्वैतवाक्यों में लक्षणा मानी गयी है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण प्रबल है। क्योंकि दुर्बलप्रमाण से प्रबलप्रमाण का विरोध होता नहीं

प्रत्यक्षं शब्दबाध्यमिति चेत् ।। ५।।

न, भावानवबोधात्। तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम्, न शक्यार्थ-मात्रबाधकत्वमन्यार्थतात्पर्यकत्वञ्चामुख्यार्थत्वम्; न लाक्षणिकत्वमात्रम्। तथा चाद्वैतागमस्य स्वतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणेऽपि मुख्यार्थत्वमुपपन्नमित्यवोचाम। एवञ्च 'सोमेन यजेत' इत्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्याभावान्मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच्च

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी सिद्धान्तमत के अभिप्राय को नहीं समझ सका। स्वकीय तात्पर्य विषयीभूत जो अर्थ है, तादृश अर्थबोधकत्व ही मुख्यार्थत्व है, शक्यार्थमात्रबोधकत्वरूप मुख्यार्थत्व नहीं। इसी प्रकार अन्यार्थतात्पर्यकत्व (स्वकीय मुख्यतात्पर्य का अविषयीभूत जो वाक्यार्थ तादृश वाक्यार्थबोधकत्व) ही अमुख्यार्थत्व है, लाक्षणिकत्व मात्र नहीं। तथा च = स्वकीय मुख्यतात्पर्य का विषयीभूत वाक्यार्थ बोध के निर्वाह के लिए लक्षणा का आश्रय लेने पर भी, अद्वैतागम का मुख्यार्थत्व उपपन्न है— ऐसा हमनें कहा है। इसी प्रकार ''सोमेन यजेत'' इत्यादि विशिष्ट विधि का विशेषण में तात्पर्याभाव होने से मत्वर्थलक्षणा होने पर भी स्वार्थ का परित्याग न होने से अमुख्यार्थत्व नहीं है। जिज्ञासा पद में तो ज्ञा धातु की इष्यमाण ज्ञान लक्षित होता है— इस अर्थ

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इसलिए प्रबल प्रत्यक्षप्रमाण का शब्दप्रमाण के द्वारा बाध नहीं किया जा सकता है।। ५।।

पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व के रहस्य को न समझने के कारण ही पूर्वपक्षी ने बेशिरपैर का पूर्वपक्ष खड़ा किया है। सर्वप्रथम मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि स्वकीयमुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ के बोधकवाक्यों को मुख्यार्थक कहते हैं, केवल वाच्यार्थ के बोधकवाक्यों को मुख्यार्थक नहीं कहा जाता है। स्वकीयमुख्यतात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ के प्रतिपादकवाक्य को अमुख्यार्थक कहते है। केवल लाक्षणिक अर्थ के बोधकवाक्यों को अमुख्यार्थक नहीं कहा जाता है। अर्थात् कोई पद या वाक्य लाक्षणिक हो जाने मात्र से वह अमुख्यार्थक नहीं हो जाता, अपितु स्वकीयपरमतात्पर्य का अविषयीभूत जो वाक्यार्थ है, तादृशवाक्यार्थबोधकत्वेन वह अमुख्यार्थक कहा जाता है। अर्थवादवाक्यों में जो स्वकीयमुख्यतात्पर्यार्थ (प्रशंसा आदि) है, वह वाक्यार्थ नहीं है। जो वाक्यार्थ (प्रशंसा आदि का द्वारीभूत अर्थ) है, वह तात्पर्यार्थक नहीं है। अतः स्वकीयमुख्यतात्पर्यार्थ का प्रतिपादक न होने से अर्थवादवाक्य में अमुख्यार्थकत्व है। इस लिए स्वकीयमुख्यतात्पर्य का विषयीभूत जो वाक्यार्थ है, उस वाक्यार्थबोध का निर्वाह के लिए लक्षणा का आश्रय लेने पर भी अद्वैतागम का मुख्यार्थत्व उपपन्न है, ऐसा हम लोगों का आशय है। जैसे पूर्वपक्षी ने मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व को समझा है वैसा आशय हमारे कहने का नहीं है। अतः 'सोमेन यजेत' इस स्थल पर सोमलता से विशिष्ट याग में विधि मानी जाती है। अर्थात् इस वाक्य का मुख्य तात्पर्य सोमलताविशिष्ट याग में है। विशेषणीभूत सोमलता में तात्पर्य नहीं है। अतः 'सोम' का 'सोमवत्' में लक्षणा करने पर भी मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ (सोमलताविशिष्टयाग) का परित्याग न होने से 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में अमुख्यार्थत्व नहीं है, अतः अमुख्यार्थत्व को मानकर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था, उसका खण्डन हो गया। 'ज्ञा' धातु से सन् प्रत्यय कर के जिज्ञासा शब्द बना है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा 'तद् विजिज्ञासस्व' इस श्रुति का अर्थ प्रतिपादन किया गया है। किन्तु यहाँ शङ्का होती है कि श्रुति में लोट्लकार होने के कारण श्रुतिवाक्य विधायकवाक्य है। किन्तु सूत्र में विधि का वाचक कोई पद नहीं है। इस लिए यह सूत्र उक्त

नामुख्यार्थत्वम्। जिज्ञासापदे तु ज्ञाधातुनेष्यमाणज्ञानलक्षणाङ्गीकारानङ्गीकारमतभेदेऽपि सन्प्रत्ययस्य विचारे जहल्लक्षणाभ्युपगमस्योभयत्र तुल्यत्वात्। शक्यार्थपरित्यागेऽपिविधितात्पर्यनिर्वाहाद् नामुख्यार्थत्वम्। न हि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या पदमात्रे लक्षणायामपि वाक्यस्यामुख्यार्थत्वम्;

कैलासविद्याप्रकाशिका

का अङ्गीकार और अनङ्गीकार रूप मत से भेद होने पर भी, सन् प्रत्यय की विचार में लक्षणा का अभ्युपगम दोनों पक्षों में समान होने से सन् प्रत्यय के इच्छारूप शक्यार्थ का परित्याग होने पर भी विधि के तात्पर्य का निर्वाह होने से अमुख्यार्थत्व नहीं है। वाक्यार्थ प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से पद मात्र में लक्षणा होने पर वाक्य का अमुख्यार्थत्व नहीं होता है, क्योंकि उससे प्रतीत अर्थ अन्य का शेष न होने से मुख्य ही होता है। किन्तु जहां पर प्रतीत वाक्यार्थ ही अन्यशेषत्वरूप से कल्पित होता

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रुति के अर्थ का सङ्ग्राहक कैसे हो सकता है? इसके समाधान के लिए सिद्धान्त में 'कर्तव्य' पद का अध्याहार किया गया है। पुनः शङ्का होती है कि 'सन्' प्रत्यय का वाच्यार्थ इच्छा है, जो कि वस्तुतन्त्र होने के कारण विधेय नहीं हो सकती है। अतः कर्तव्यविधि के साथ इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं हो पायेगा। इसके समाधान के लिए सिद्धान्त में 'सन्' प्रत्यय का विचार में लक्षणा किया गया। यहाँ तक के प्रसङ्ग को श्रीनृसिंह आचार्य एवं अन्य आचार्य दोनों मानते हैं। किन्तु आगे श्रीनृसिंह आचार्य का कहना है कि ज्ञानपद का वाच्यार्थ सिद्धज्ञान (ब्रह्म) है। साध्य के लिए साधन का आकांक्षा होती है, जब कि ज्ञानस्वरूपब्रह्म साध्य नहीं है। अतः उसके लिए साधन की कोई आकांक्षा नहीं होती है। अतः विचार करना रूप साधन का सिद्धरूपज्ञान (ब्रह्म) के साथ अन्वय ही नहीं हो सकता है। अर्थात् सिद्ध तो पहले से ही प्राप्त है, उसके लिए विचाररूप साधन का अनुष्ठान निरर्थक है। इस प्रकार वाक्यार्थ की अनुपपत्ति होने के कारण 'ज्ञा' धातु से इष्यमाणज्ञान में लक्षणा कर के साध्यज्ञान (अखण्डाकारचित्तवृत्त्यात्मकज्ञान) ऐसा अर्थ लिया गया। अतः साध्यज्ञान के लिए विचार कर्तव्य है, इस प्रकार अन्वय (वाक्यार्थ) की उपपत्ति हो जायेगी। अन्य आचार्यों का मत है कि विचाररूप साधन के द्वारा स्वरूपभूतज्ञान (सिद्धज्ञान) यद्यपि मुख्यरूपेण प्राप्त नहीं हो सकती है, फिर भी प्राप्तज्ञान ही भ्रम के कारण अप्राप्त हो कर गौणरूप से प्राप्तव्य हो ही सकता है। जैसे कि गले का हार प्राप्त होने पर भी भ्रम से अप्राप्त होकर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए देखा गया है। अतः अन्य आचार्यों के मत में 'ज्ञा' धातु से इष्यमाणज्ञान में लक्षणा नहीं की गयी है। पूर्वोक्त रीति से 'ज्ञा' धातु से इष्यमाणज्ञान में लक्षणा मानी जाय अथवा नहीं मानी जाय, इस प्रकार से मतभेद होने पर भी 'सन्' प्रत्यय का विचार में जहतीलक्षणा मानने में दोनों पक्षों (ज्ञान में लक्षणा मानने वाले और लक्षणा न मानने वाले) में मतभेद नहीं है। लक्षणा पक्ष में शक्यार्थ का परित्याग हो जाने पर भी विचारगतकर्तव्यतारूपतात्पर्यार्थ का निर्वाह हो जाने के कारण अमुख्यार्थत्व की आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि वाक्यार्थप्रतीति की अन्यथाऽनुपपत्ति से एक पद में लक्षणा कर लेने मात्र से, अर्थात् एक पद के अमुख्यार्थक होने पर भी सम्पूर्ण वाक्य अमुख्यार्थक नहीं हो जाता है, अपितु एक पद में लक्षणा होने के अनन्तर प्रतीत जो वाक्यार्थ अन्यशेष न होने के कारण मुख्य ही होती है। जहाँ पर (अर्थवाद आदि स्थल पर) प्रतीयमानवाक्यार्थ (प्राशस्त्यादि) की कल्पना किसी अन्य (विधि) के शेषरूप से की जाती है, वहीं पर वाक्य को अमुख्यार्थक माना जाता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी शङ्का करें कि एक पद में भी लक्षणा मानने से उस पद का स्वार्थ में तात्पर्य न रह जाने के कारण पूरे वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रह पायेगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यदि पद का तात्पर्य और वाक्य का तात्पर्य अभिन्न होता है तो पद के तात्पर्य का त्याग होने पर वाक्य के तात्पर्य का त्याग हो जाता,

प्रतीतस्यार्थस्यानन्यशेषत्वेन मुख्यत्वात्। यत्र पुनः प्रतीत एव वाक्यार्थोऽन्यशेषत्वेन कल्प्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव। अन्यद्धि पदतात्पर्यमन्यच्च वाक्यतात्पर्यम्; 'सैन्धवमानय' 'गङ्गायां वसन्ति' इत्यादौ वाक्यतात्पर्यैक्येऽपि पदतात्पर्यभेदात्, 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादौ पदतात्पर्याभेदेऽपि वाक्यतात्पर्यभेदात्। अत एव ''इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा'' इत्यादिवाक्यार्थस्यावश्यं क्रेतव्येति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सोऽरोदीत्' इत्यादिवाक्यार्थस्य च 'वर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणा' इति विधिशेषत्वेन रजतनिन्दाद्वारा तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात् ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म

कैलासविद्याप्रकाशिका

है, वहां पर वाक्य अमुख्यार्थक ही माना जाता है। पद का तात्पर्य पृथक होता है और वाक्य का तात्पर्य पृथक् होता है, क्योंकि ''सैन्धवमानय'' ''गङ्गायां वसन्ति'' इत्यादि में वाक्य के तात्पर्य का ऐक्य होने पर भी पद तात्पर्य में भेद है। ''विषं भुड्.क्ष्व'' इत्यादि में पद तात्पर्य में अभेद होने पर भी वाक्यतात्पर्य में भेद है। अतएव = अन्यशेषत्व के अमुख्यार्थत्व में प्रयोजक होने से ही, ''इयं गौः .... '' इत्यादि वाक्य का ''क्रेतव्या'' इस विधि के अङ्गरूप से गौ के प्राशस्त्य का लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व ही है। इसी प्रकार '' सोऽरोदीत्'' इत्यादि वाक्य का भी'' बर्हिषि रजतं न देयं........'' इस विधि के अङ्ग रूप से रजत निन्दा द्वारा हिरण्य प्राशस्त्य का लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व ही है। ''सर्वं खल्विदं .... '' इस वाक्य का ''शान्त उपासीत'' इस शम विधि के अङ्ग रूप से अनायाससिद्धत्व (आयासो दुःखं स्वल्मपि न भवति यथा, तथा सिद्धत्वेत्यर्थः। बलवदनिष्टाजनकत्वेनेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

तब पूरे वाक्य को मुख्यार्थक नहीं माना जाता, किन्तु पद का तात्पर्य और वाक्य का तात्पर्य भिन्न–भिन्न होने के कारण पद के तात्पर्य का त्याग होने पर भी वाक्य के तात्पर्य का त्याग न होने से पद में लक्षणा करने पर भी वाक्य मुख्यार्थक ही माना जाता है। दृष्टान्त देकर सर्वप्रथम यह दिखा रहे हैं कि पद का तात्पर्य भिन्न है और वाक्य का तात्पर्य भिन्न है। जैसे 'सैन्धवमानय' 'गङ्गायां वसन्ति' इत्यादि स्थल पर प्रथमवाक्य में 'सैन्धव' पद का लवण में और अश्व में तात्पर्य भिन्न–भिन्न तो हो सकता है, किन्तु 'सैन्धव' पद का तात्पर्य चाहे लवण में हो, चाहे अश्व में हो, उभय दशा में 'आनय' के साथ सम्बन्धरूप वाक्य का तात्पर्य तो अभिन्न ही है। ऐसे ही दूसरे वाक्य में गङ्गा का शक्तिवृत्ति से अर्थ लेने पर प्रवाह में तात्पर्य होगा और लक्षणा वृत्ति से अर्थ लेने पर तट में तात्पर्य होगा। इस प्रकार गङ्गा पद का तात्पर्य चाहे प्रवाह हो या तट, किन्तु 'वसन्ति' के साथ सम्बन्धरूप वाक्य का तात्पर्य अभिन्न ही है। इस प्रकार अब तक दिखाया गया कि वाक्य का तात्पर्य एक होने पर भी पद का तात्पर्य भिन्न–भिन्न हो सकता है। अब दिखा रहे हैं कि पद का तात्पर्य एक होने पर भी वाक्य का तात्पर्य भिन्न–भिन्न हो सकता है। जैसे वक्ता के द्वारा यदि अपने मित्र के प्रति 'विषं भुङ्क्ष्व' इस प्रकार वाक्य का प्रयोग किया जाता है तो वहाँ वाक्य का तात्पर्य लक्षणावृत्ति के द्वारा शत्रुगृह में भोजन निवृत्ति में है। यदि वक्ता उक्त वाक्य अपने शत्रु के प्रति प्रयोग करता है तो वहाँ वाक्य का तात्पर्य शक्तिवृत्ति के द्वारा 'जहर खाओ' इसमें होगा। इस प्रकार वाक्य के तात्पर्य में भेद होने पर भी उभय दशा में 'विष' पद का तात्पर्य जहर में और भुङ्क्ष्व पद का तात्पर्य खाने में है। इस प्रकार पदतात्पर्य और वाक्यतात्पर्य भिन्न–भिन्न है। अतः पद में लक्षणा करने से वाक्य के तात्पर्य पर कोई असर नहीं पड़ेगा और वाक्य का तात्पर्य मुख्य ही माना जायेगा। अन्यशेषत्व ही अमुख्यार्थत्व का प्रयोजक होने के कारण 'इयं गौः क्रय्या' इस विधि के अङ्गभूत 'बहुक्षीरा स्त्र्यपत्या समांसमीना' इत्यादि अर्थवादवाक्य लक्षणा के द्वारा अपने स्वार्थ को त्यागकर क्रयविधि के अङ्गभूत गौ के प्राशस्त्य के बोधक होने के कारण अमुख्यार्थक ही है। इसी प्रकार 'बर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणा'

तज्जलान्'' इति वाक्यार्थस्य 'शान्त उपासीत' इति शमविधिशेषत्वेनात्यनायाससिद्धत्व— रूपतत्प्राशस्त्यलक्षकत्वादमुख्यत्वमेव।।६।।

अत एव मानान्तरविरोध एव लक्षणेत्यपास्तम्। 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरा' इत्यादिना प्राशस्त्यलक्षणायां व्यभिचारात्। किन्तु परमतात्पर्यविषयीभूतार्थप्रतीतिनिर्वाहायैव सर्वार्थवादेषु लक्षणा। एतावांस्तु विशेषः विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्रागयदर्थवादवाक्यार्थज्ञानम्, तस्य प्रमाणान्तरविरोधे बाध एव; यथा 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' इत्यादौ। अत एव तत्र

कैलासविद्याप्रकाशिका

यावत्) रूप शम प्राशस्त्य का लक्षकत्व होने से अमुख्यत्व ही है।।६।।—।।७।।—।।८।।—।।९।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम्

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस विधि के शेषभूत 'सोऽरोदीत्....' इत्यादि अर्थवादवाक्य लक्षणा के द्वारा अपने स्वार्थ को त्यागकर हिरण्यदक्षिणा विधि के शेषभूत हिरण्यप्राशस्त्य के बोधक होने के कारण अमुख्यार्थक ही है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि' इत्यादि वाक्य भी 'शान्त उपासीत' इस विधिवाक्य से विहित शमविधि के अङ्ग के रूप में अप्रयत्नसुलभत्वरूप शम के प्राशस्त्य का लक्षणा के द्वारा बोधक होने के कारण अमुख्यार्थक ही है।।६।।

अनन्यशेषत्व मुख्यार्थत्व का और अन्यशेषत्व अमुख्यार्थत्व का प्रयोजक है। इसका प्रतिपादन करने के पश्चात पूर्वपक्षी के द्वारा कहे गये मानान्तराविरोधित्व मुख्यार्थत्व का और मानान्तरविरोधित्व अमुख्यार्थत्व का प्रयोजक हैं, इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्तपक्ष में बतलाए गये अन्यशेषत्व और अन्यशेषत्व ही मुख्यार्थत्व और अमुख्यार्थत्व के प्रयोजक प्रामाणिक होने से पूर्वपक्षी द्वारा कहा गया मानान्तरविरोध ही लक्षणा (अमुख्यार्थत्व) का प्रयोजक है, इसका खण्डन हो गया है। क्योंकि इसमें व्यतिरेकव्यभिचार है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि 'इयं गौः क्रय्या' इस विधिवाक्य का शेषभूत अर्थवादवाक्य है— 'बहुक्षीरा स्त्र्यपत्या समांसमीना', इस अर्थवादवाक्य में मानान्तरविरोध नहीं है, यह बात पूर्वपक्षी ने स्वयं कहा था। किन्तु यहाँ पर लक्षणा के द्वारा प्राशस्त्यरूप अर्थ किया गया है। अतः 'कारणाभावे कार्यसत्वम्' इस के अनुसार व्यतिरेकव्यभिचार आ गया। प्रश्न होता है कि मानान्तरविरोध यदि लक्षणा का प्रयोजक नहीं है तो लक्षणा का प्रयोजक क्या है? जिसके कारण सभी अर्थवादवाक्यों में लक्षणा की जाती है। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उपक्रम आदि के द्वारा निर्णीत परमतात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतीति की अनुपपत्ति ही लक्षणा का प्रयोजक है। उसी परमतात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतीति के निर्वाह के लिए सभी अर्थवादवाक्यों में लक्षणा की जाती है। भिन्न—भिन्न अर्थवादवाक्यों में सर्वत्र अन्यशेषत्वेन अमुख्यार्थत्व समान होने पर भी अर्थवादवाक्यों में अवान्तरभेद है, वह अवान्तरभेद अर्थवादवाक्यों के अवान्तरवाक्यार्थ को लेकर होता है। जैसे प्रत्येक अर्थवादवाक्य प्रशंसा अथवा निंदा के द्वारा विधि का प्राशस्त्य बतलाता है। लक्षणा करने से पहले अर्थवादवाक्य अपने स्वार्थ (अवान्तर वाक्यार्थ) का बोधन कराता है। उस अर्थवाद के अवान्तरवाक्यार्थ के ज्ञान के साथ यदि प्रमाणान्तर से विराध होता है, तब अर्थवाद के अवान्तरवाक्यार्थ का बाध हो जाता है। तब अर्थवाद के अवान्तरवाक्यार्थ को गौण मानना पड़ता है। ऐसे अर्थवाद को गुणवाद कहते हैं। जैसे 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्' (प्रजापति ने अपनी चर्बी उखाड़ कर आहुती दे डाली)। यहाँ पर प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध होने के कारण इस अर्थवाद का अवान्तर अर्थ बाधित है। इसलिए इस अर्थवाद को गुणवाद कहा गया। विधिप्राशस्त्यादि में लक्षणा करने से पहले जो अर्थवाद के अवान्तरवाक्यार्थ का ज्ञान होता है, यदि उसका प्रमाणान्तर से समर्थन होता है तब उस अर्थवाद को अनुवाद कहा जाता है। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (अग्नि शीतनिवारक होती है)।

गुणवादमात्रम्, प्रमाणान्तरप्राप्तौ त्वनुवादमात्रम्, 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादौ। अत एव तदुभयत्राबाधिताज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यानिर्वाहादप्रामाण्यम्। यत्र पुनः प्रमाणन्तरप्राप्तिविरोधौ न स्तस्तत्र प्रामाण्यशरीरनिर्वाहाद् भूतार्थवादत्वम्। यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादौ, अयमेव देवताधिकरणन्यायः॥७॥

ननु तर्हि ''आदित्यो यूपः'' इत्यादौ वाक्यार्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाङ्गीकारादमुख्यार्थत्वं न स्यात्, न स्याद्यद्यादित्यसदृशो यूप इति वाक्यार्थपर्यवसानं स्यात्, किन्तु गुणवृत्त्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य 'यूपे पशुं बध्नाति' इति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमस्त्येव, तेनैवामुख्यत्वं न त्वादित्यपदगौणतयेति तत्सिद्धिपेटिकायां सर्वोदाहरणेष्ववान्तरवाक्यार्थप्रतीतये

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस वाक्यार्थ का प्रत्यक्षप्रमाण से समर्थन होने के कारण इस अर्थवाद को अनुवाद कहा जाता है। प्रमाणान्तरविरोध स्थल पर अर्थवाद वाक्य के अवान्तरवाक्यार्थ के बाधित होने से और प्रमाणान्तर समर्थन स्थल पर अर्थवाद के अवान्तरवाक्यार्थ के प्रमाणान्तर से ज्ञात होने से ही गुणवाद और अनुवाद, इन दोनों स्थलों पर अबाधितत्व और अनधिगतत्व से घटित प्रामाण्य का लक्षण न जाने से अर्थवादवाक्य के अवान्तरवाक्यार्थ में अप्रामाण्य माना जाता है। जहाँ पर न तो प्रमाणान्तर से विरोध होता है और नहीं प्रमाणान्तर से समर्थन होता है, वहाँ पर प्रामाण्य का लक्षण (अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्) समन्वय हो जाने से अर्थवाद को भूतार्थवाद कहा जाता है और भूतार्थवादरूप अर्थवादवाक्य के अवान्तरवाक्यार्थ में प्रामाण्य माना जाता है। इस प्रकार तीन प्रकार के अर्थवादवाक्यों में से दो प्रकार के अर्थवादवाक्यों के अवान्तरवाक्यार्थों में प्रामाण्य नहीं होता है। तृतीय प्रकार के अर्थवादवाक्यों के अवान्तरवाक्यार्थों में प्रामाण्य होता है। जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र उठाया)। जैसे कि कहा है—

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः'।

जहाँ पर प्रमाणान्तर से विरोध या समर्थन नहीं होता है, ऐसा अर्थवादवाक्य में यथार्थवादत्व (प्रामाणिकत्व) माना जाता है। यही देवताधिकरणन्याय है। इसके बल पर देवताओं का शरीर सिद्ध किया जाता है। इस पर विशेष विचार वेदान्तदर्शन के प्रथमाध्याय के तृतीयपाद के अष्टम अधिकरण में किया गया है॥७॥

पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि यदि वाक्यार्थबोध के लिए जिन वाक्यों में लक्षणा मानी जाती है। उन वाक्यों को अमुख्यार्थक नहीं माना जाय तो 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों में वाक्यार्थ ('आदित्यसदृशो यूपः') बोध की उपपत्ति के लिए लक्षणा को स्वीकार करने पर भी उक्त वाक्यों को अमुख्यार्थक नहीं मानना चाहिए। जबकि सभी अर्थवादवाक्यों को अमुख्यार्थक इसलिए माना जाता है, क्योंकि उसमें लक्षणा की जाती है। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों को अवश्य ही मुख्यार्थक माना जाता यदि उक्त वाक्य का 'आदित्यसदृशो यूपः' (आदित्य के सदृश चमकदार यूप होता है) इतना ही अर्थबोधन में पर्यावसान माना जाता, किन्तु वैसा नहीं है, अपितु गौणीवृत्ति से प्रतीयमान अवान्तरवाक्यार्थ (आदित्यसदृशो यूपः) 'यूपे पशुं बध्नाति' इस विधि का शेष होने से, उक्त विध्यर्थ के प्राशस्त्य का ही लक्षक है। अतः उक्त अर्थवादवाक्य में प्राशस्त्यलक्षकत्वेन ही अमुख्यार्थत्व है, न कि आदित्य पद में लक्षणा करने से उक्त अर्थवादवाक्य में अमुख्यार्थत्व माना गया है। अर्थवाद का दो प्रकार के अर्थ होते हैं। एक तो अवान्तरवाक्यार्थ और दूसरा परमतात्पर्यविषयीभूत (प्रशंसा या निन्दारूप) अर्थ। प्रशंसा आदि अर्थ को बोधन करने से पहले अर्थवादवाक्य अपने अर्थ का भी बोध कराता है। इसी को अर्थवादवाक्य का अवान्तर अर्थ भी कहते हैं। यह अवान्तर अर्थ कहीं कहीं पर लक्षणा से बोधित होता है। जैसे 'अदित्यो यूपः' इस स्थल पर लक्षणा

गुणवृत्तिप्रकाराः प्रदर्शिता इति द्रष्टव्यम्। कर्मप्राशस्त्यलक्षणा च सर्वार्थवादसाधारणी तत्रास्त्येवेति नामुख्यार्थत्वानुपपत्तिः। अत उपपन्नं प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यमद्वैतवाक्यस्य।। ८।।

यच्चोक्तमर्थवादमुख्यार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरं शबरस्वामिवचनमिति, तन्न, अश्वप्रतिग्रहेष्टौ 'प्रतिगृह्णीयात्'इति विधौ प्रतिग्राहयेदिति व्यवधारणकल्पनयाऽर्थवादानुसारेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

से 'आदित्यसदृशो यूपः' अर्थ किया जाता है। 'बहुक्षीरा स्त्रपत्या समांसमीना' इत्यादि स्थल पर बिना लक्षणा के ही अर्थवादवाक्य का अवान्तर अर्थ बोधित हो जाता है। तत्सिद्धिपेटिका के सभी उदाहरणों में अवान्तरवाक्यार्थ के बोधन में लक्षणा की गयी है, न कि परमतात्पर्यविषयीभूत अर्थ के लिए लक्षणा की गयी है। कर्मगतप्राशस्त्यलक्षणा भी उन अर्थवादवाक्यों में है ही, जो कि सभी अर्थवादवाक्यों में समानरूप से पायी जाती है। इसलिए विधि का शेष होने से उनमें अमुख्यार्थत्व की अनुपपत्ति नहीं है। अतः प्रस्तरादि वाक्य अन्यशेष होने के कारण अमुख्यार्थक है और अद्वैतवाक्य अनन्यशेष होने के कारण मुख्यार्थक है। इस प्रकार प्रस्तरादि अर्थवादवाक्यों में और अद्वैतबोधकवाक्यों में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी उनमें समानता मानकर दोष देने का अर्थ यही होता है कि पूर्वपक्षी मीमांसादर्शन के भावों को न समझ सका।। ८।।

पहले पूर्वपक्षी ने कहा था कि विधिवाक्यों और अर्थवादवाक्यों में परस्पर विरोध होने पर अर्थवादवाक्यों के मुख्यत्व के लिए विधिवाक्यों में लक्षणा नहीं की जाती है। अर्थात् अर्थवादवाक्य मुख्य हो जाय और विधिवाक्य गौण हो जाय, इस कारण से विधिवाक्यों में लक्षणा नहीं की जाती है। इस आशय से ही शाबरभाष्य में श्री शबरस्वामी ने कहा है— 'न विधौ परः शब्दार्थः'। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अश्वप्रतिग्रह इष्टि में 'प्रतिगृह्णीयात्' इस विधिवाक्यस्थ पद की अर्थवादवाक्य के अनुसार व्यवधारणकल्पना ('यत्रान्यथाऽर्थः प्रतिभातः पौर्वापर्यालोचनेन व्यवधार्य अन्यथा कल्प्यते सा व्यवधारणकल्पना, तद् यथा— प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतं प्रतिग्राहयेदिति कल्पयिष्यते' (जै०सू० २.१.३३ के तन्त्रवार्तिक से) के द्वारा प्रतिग्राहयेत् ' इस प्रकार से दान लेने वाले ब्राह्मण को प्रेरित करने वाले दाता यजमान में लक्षणा की गयी है। अर्थात् उपक्रम में स्थित अर्थवादवाक्य के अनुसार उपसंहार में स्थित विधिवाक्य में व्यवधारणकल्पना के द्वारा लक्षणा को पूर्वमीमांसादर्शन में स्वीकार किया है। प्रबल अर्थवादवाक्य के विरुद्धार्थक विधिवाक्य में भी लक्षणा पूर्वमीमांसादर्शन में मानी गयी है। प्रश्न होता है कि विधिवाक्य प्रबल होता है और अर्थवादवाक्य दुर्बल होता है, ऐसी अवस्था में आप अर्थवादवाक्य को कैसे प्रबल कह रहे हैं? इसका समाधान यह है कि प्रकृत में जो अर्थवादवाक्य है, वह उपक्रम में होने के कारण असञ्जातविरोधी है, अतः प्रबल है और विधिवाक्य उपसंहार में स्थित होने के कारण सञ्जातविरोधी है, इस लिए दुर्बल है। अर्थात् उपक्रम का सहारा लेकर अर्थवादवाक्य स्वभावतः प्रबल विधिवाक्य से भी प्रबल हो गया है। जैसे एक सामान्यव्यक्ति, राजा का आश्रय पाकर अपने से प्रबल मन्त्री का भी बाध कर देता है। जैसा कहा गया है—

'अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः। दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः।।

प्रकृत में विधिवाक्य है— 'वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' (वरुण देवता जलोदर रोग के रूप में उसको पकड़ता है जो अश्व का प्रतिग्रह करता है। इसलिए जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे उतने कपालों में पुरोडाश को संस्कृत कर के वरुणदेवता के उद्देश्य से याग करें)। यहाँ पर अर्थवादवाक्य यह है— 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वं देवतामार्च्छत् स पर्यदीरयत् स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत् स निरवपत् ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत'

प्रयोजकव्यापारलक्षणयाऽङ्गीकरणात् तस्माद्विधौ तात्पर्यवति वाक्ये प्रतीयमानवाक्यार्थातिरिक्तोऽन्यः शेषी नास्तीत्येवंपरमेव तद्वचनम्। अतः सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वमिति शिवम्।।९।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम् —

सत्यानन्दप्रबोधिका

(प्रजापति ने वरुणदेव को दक्षिणा के रूप में अश्वदान दिया। इसके फलस्वरूप प्रजापति को उसके देवता वरुण ने जलोदर का रूप धारण कर पकड़ लिया। प्रजापति ने जब चतुष्कपालसंस्कृतपुरोडाश से प्रतिग्रह इष्टि की, तब वह जलोदर की पीडा से मुक्त हो गया।) इस प्रकार विधिवाक्य में प्रतिगृह्णीयात् इस पद के अनुसार यह अर्थ निकला रहा है कि जिसने अश्व लिया उसे इष्टि करनी चाहिए और अर्थवादवाक्य के अनुसार अर्थ निकल रहा है कि जिसने अश्व दिया उसे इष्टि करनी चाहिए। यहाँ पर अर्थवादवाक्य को मुख्र्याथक बनाने के लिए विधिवाक्य में लक्षणा की गयी है। इस पर विशेष विचार पूर्वमीमांसादर्शन के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के पञ्चदश अधिकरण में किया गया है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त कथन खण्डित हो गया। प्रश्न होता है कि शाबरभाष्य में आये हुए उक्त वाक्य का क्या अर्थ है? उसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस शाबरवचन का अर्थ यह है कि विधितात्पर्यवाला जो वाक्य है उस वाक्य में, प्रतीयमानवाक्यार्थ से अतिरिक्त और शेषी नहीं है। अर्थात् जैसे अर्थवादवाक्यों में विधिवाक्यरूप शेषी की कल्पना होती है। ठीक उसी प्रकार विधिवाक्यों में अन्यार्थता की कल्पना नहीं की जाती है। इस प्रकार अद्वैतवाक्यों में लक्षणा स्वीकार करने पर भी अन्यार्थता न होने के कारण उसमें मुख्यार्थत्व अक्षुण्ण बना रहता है। इसलिए मुख्यार्थक होने के कारण प्रबल अद्वैतागम के द्वारा 'सन् घटः' इस प्रत्यक्ष का बाध कर दिया जाता है।। ९।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम् —

२२: अपच्छेदन्यायवैषम्यविचार:

किञ्चापच्छेदन्यायेनाप्यागमस्य प्राबल्यम्। यथा हि ''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' इत्यधिकरण उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन परेण प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

किञ्च अपच्छेदन्याय से भी आगम का प्रत्यक्ष से प्राबल्य है। जैसे कि ''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' इस अधिकरण में उद्गाता के अपच्छेद निमित्तक पश्चाद्भावी अदक्षिणयाग से प्रतिहर्ता के अपच्छेद निमित्तक पूर्वसिद्ध सर्वस्वदक्षिण याग का बाध है—ऐसा स्थित है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में स्वत: सम्भावित दोषवत्त्वेन पूर्ववृत्ति प्रत्यक्ष का भी अनाप्त—अप्रणीतत्वेन गृहीत व्याप्तिक उत्तरवृत्ति

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्मसिद्धि में आचार्य श्रीमण्डनमिश्र ने अपच्छेदन्याय से आगम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध कहा है। उसी का अनुसरण करते हुए आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मसूत्र में अध्यासभाष्य का व्याख्यान के अवसर पर—'तथा च पारमर्षं सूत्रं ''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' इति। तथा पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्। अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्' इस प्रकार से भामती में अपच्छेदन्याय से पश्चाद्भावी आगम के द्वारा पूर्वभावी प्रत्यक्ष के बाध का निरूपण किया है। उसी की पुष्टि करते हुए आचार्य प्रवर कह रहें है कि अपच्छेदन्याय के आधार पर भी पश्चाद्भावी आगम का पूर्वभावी प्रत्यक्ष से प्राबल्य सिद्ध होता है। जैसा कि दिखाया गया है—'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' (जै.सू. ६—५—५४) इस सूत्र में 'पौर्वापर्ये' अर्थात् परस्पर निरपेक्ष तथा अपच्छेदनिमित्तक विरुद्ध प्रायश्चित्त की कर्तव्यता के बाधक दो प्रमाण है, उन दोनों प्रमाणों के पूर्वापरीभूतत्वेन उपस्थित होने पर, 'पूर्वदौर्बल्यम्' अर्थात् पूर्व-पूर्व में उपस्थित प्रमाण का दौर्बल्य है, अर्थात् पूर्व-पूर्व प्रमाण का उत्तरोत्तर प्रमाण के द्वारा बाध हो जाता है। 'प्रकृतिवत्' अर्थात् जैसे 'प्रकृतिवद्विकृति: कर्तव्या' इस न्याय के द्वारा प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास में पठित पञ्च प्रयाजकर्मों की प्राप्ति होने पर विकृतिकर्म में 'नव प्रयाजा इज्यन्ते' इस वाक्य से विहित प्रयाजगत—नवत्व संख्या के द्वारा पूर्व—उपस्थित पञ्चत्वसंख्या का बाध हो जाता है। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त यह भी है—ज्योतिष्टोमरूप जो प्रकृतियाग है, उसकी श्येनयागादिरूप विकृतियाँ है। उनमें 'प्रकृतिवद्विकृति: कर्तव्या' इस अतिदेशवाक्य के आधार पर कुशाद्रव्य प्रथमत: प्राप्त होता है। इसके पश्चात् उस विकृति में 'शरमयं बर्हिर्भवति' इस वाक्य से विहित शरद्रव्य है। इस पश्चाद्भावी शरद्रव्य से पूर्वभावी कुशा का बाध हो जाता है। ज्योतिष्टोमयाग मे हविर्धानप्रदेश से बहिष्पवमानस्तोत्र के गान करने के लिए बहिष्पवमानदेश को जाते हुए ऋत्विग्गण एक विशेष पंक्ति में आबद्ध होकर चलते हैं; ऐसा ज्योतिष्टोमप्रकरण में सुना गया है—'अध्वर्युं विनिष्क्रामन्तं प्रस्तोता सन्तनुयात्तं प्रतिहर्ता तमुद्गाता तं ब्रह्मा तं यजमान:'। यहाँ 'सन्तनुयात्' पद का अर्थ है—कच्छ पकड कर पीछे चलना। अर्थात् हविर्धानप्रदेश से बहिष्पवमानदेश में जाते समय सबसे आगे अध्वर्यु चलता है। उसके पीछे उसकी कच्छ पकड के प्रस्तोता चलता है। प्रस्तोता की कच्छ पकड कर उसके पीछे प्रतिहर्ता चलता है। इसी प्रकार प्रतिहर्ता के पीछे उद्गाता, उद्गाता के पीछे ब्रह्मा और ब्रह्मा के पीछे यजमान और यजमान के पीछे प्रशास्ता आगे आगे के कच्छ पकड़ कर चलते है। इन लोगों के सञ्चरण की उपमा पिपीलिकासञ्चरण से की गयी है। उस सञ्चरण के समय मार्ग में ही यदि किसी के हाथ से कच्छ छूट जाय तो उस छूट जाने को अपच्छेद कहते है और जिसके हाथ से कच्छ का अपच्छेद होता है, उसी का वह अपच्छेद कहा जाता है। जैसे यदि अध्वर्यु का कच्छ प्रस्तोता छोड़ देता है तो वह प्रस्तोता का अपच्छेद कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य के विषय में भी समझना चाहिए। इसी अपच्छेद को उद्देश्य कर के प्रायश्चित्त का विधान सुना गया है— 'यदि प्रस्तोता

पूर्वसिद्धनिमित्तकस्य बाध इति स्थितम्, तथेहाप्युदीच्यागमेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधः।। १ ।।

ननु प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे, युगपदपच्छेदे, क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पाश्चात्ये चावकाश इति युक्त उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

आगम से बाध हो जाता है।।१ ।।

शङ्का– प्रतिहर्ता के अपच्छेदरूप निमित्त से प्राप्त जो सर्वस्वदक्षिण याग है, उस याग को प्रतिहर्ता मात्र से होने वाले अपच्छेद में अवकाश है और जिस प्रयोग में एक काल में ही उद्गाता और प्रतिहर्ता का अपच्छेद हुआ है, उस प्रयोग में अवकाश है और क्रम से भी अपच्छेद होने पर भी प्रतिहर्ता का अपच्छेद जहां पश्चात् हुआ है वहां पर भी अवकाश है। इसलिए उद्गाता के अपच्छेद

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपच्छिन्द्यात् ब्रह्मणे वरं दद्यात्, यदि प्रतिहर्ता सर्ववेदसं दद्यात्, यद्युद्गाता अदक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद्दद्यात् यत् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्'। अर्थात् यदि प्रस्तोता के हाथ से अध्वर्यु का कच्छ छूट जाय तो ब्रह्मा को वर देना, यदि प्रतिहर्ता का अपच्छेद हो तो (सर्ववेदसं–सर्वस्वम्) सर्वस्व दे देना, यदि उद्गाता का अपच्छेद होता है तो आरब्ध यज्ञ को बिना दक्षिणा के द्वारा कर के फिर वही यज्ञ करना और इस द्वितीय यज्ञ में वही दक्षिणा देनी चाहिए जो कि प्रथम यज्ञ में देने को थी। इस प्रसङ्ग में यहाँ पर विचार किया गया है कि जहाँ पर सर्वप्रथम प्रतिहर्ता का अपच्छेद हुआ है और तत्पश्चात् उद्गाता का अपच्छेद हुआ, वहाँ पर संशय होता है कि पूर्वनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणारूप प्रायश्चित्त करना चाहिए अथवा उत्तरनिमित्तक अदक्षिणावाला यागरूप प्रायश्चित्त करना चाहिए। पूर्वपक्ष में कहा गया कि पूर्वनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणारूप प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि वह असञ्जातविरोधी होने के कारण प्रबल है। सिद्धान्ती ने 'नानुपमृद्य पूर्वं तद् विरोध्युत्तरमुत्पत्तुमर्हति' इस न्याय से कहा कि पूर्वनिमित्तकज्ञान से उत्तरज्ञान की उत्पत्ति का विरोध नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वविरोधी पूर्वज्ञान को बाध करता हुआ ही उत्तरज्ञान उत्पन्न होता है। अतः उत्तरज्ञान से पूर्वज्ञान बाधित हो जाने से उसके द्वारा सर्वस्वदक्षिणारूप प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया जा सकता है। उत्तरज्ञान का कोई बाधक नहीं है। अतः उसके द्वारा ही दक्षिणारहितयाग का विधान स्वीकार किया जाता है। अर्थात् पूर्वभावी प्रतिहर्ता–अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणारूप प्रायश्चित्त का पश्चाद्भावी उद्गाता के अपच्छेदनिमित्तक दक्षिणारहितयाग का अनुष्ठान के द्वारा निषेध कर दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार पश्चाद्भावी–आगम के द्वारा पूर्वभावी प्रत्यक्षप्रमाण का बाध हो जाता है। प्रत्यक्ष को पूर्वभावी और आगम को पश्चाद्भावी क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि पहले शब्द का श्रोत्रजप्रत्यक्ष होता है, उसके पश्चात् शब्दज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष पूर्वभावी है और आगम पश्चाद्भावी है।। १ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त में सावकाश होने के कारण सर्वस्वदक्षिणारूप कर्म का बाध हुआ है और दार्ष्टान्त प्रत्यक्ष में सावकाशत्व नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष निरवकाश होने के कारण आगम के द्वारा उसका बाध नहीं किया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि पश्चाद्भावी उद्गाता के अपच्छेदनिमित्तक दक्षिणारहित याग के द्वारा पूर्वभावी प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणा वाला कर्म का बाध इस लिए होता है, क्योंकि वह सावकाश है। प्रश्न होता है कि वह किस किस स्थल पर सावकाश है? इसका समाधान देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जहाँ पर केवल प्रतिहर्ता का अपच्छेद होता है वहाँ पर सर्वस्वदक्षिणावाला कर्म करना पड़ता है। अतः उक्त स्थल पर सावकाश है। इसी प्रकार जहाँ पर एक साथ प्रतिहर्ता और उद्गाता दोनों का अपच्छेद हुआ है वहाँ पर भी विकल्प से सर्वस्वदक्षिणावाला कर्म किया जा सकता है। अतः विकल्प–

बाध:, अन्यथा 'यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्यात्' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यात्। अत एव 'विप्रतिषेधाद्विकल्प: स्यात्' इत्यधिकरणे द्वयोर्युगपदपच्छेदे विकल्प उक्त:। किञ्च 'यद्युद्गाता जघन्य: स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन्' इत्यधिकरण उद्गात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदात् परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तं पूर्वं प्रयोगं दक्षिणाहीनं सम्पाद्य कर्तव्यज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे 'तद् दद्याद्यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्' इति श्रुत्युक्ता या दक्षिणा सा पूर्वभाविप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्त–

कैलासविद्याप्रकाशिका

निमित्तक अदक्षिणयाग से सर्वस्वदक्षिणयाग का बाध होना उचित ही है। अन्यथा = यदि प्रतिहर्तृ–अपच्छेद निमित्तक सर्वस्वदक्षिणयाग को अवकाश न देकर उसमें बाध्यत्व स्वीकार करने पर तो ''यदि प्रतिहर्ता ....'' यह शास्त्र अप्रमाण हो जायेगा। अतएव = किञ्चित् अवकाश न देकर शास्त्र का बाध मानना अशक्य होने से ही ''विप्रतिषेधात्..........'' इस अधिकरण में दोनों का युगपद् अपच्छेद होने पर विकल्प कहा गया है। किञ्च ''यद्युद्गाता जघन्य: स्यात् ....'' इस अधिकरण में उद्गाता द्वारा कृत अपच्छेद का प्रतिहर्ता द्वारा कृत अपच्छेद से पश्चाद्भावित्व होने पर उद्गाता से कृत अपच्छेद निमित्तक पूर्वयाग दक्षिणाहीन समाप्त कर के पुन: कर्त्तव्य ज्योतिष्टोम के द्वितीय याग में ''तद्

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्थल पर भी सावकाश है। एवं जहाँ पर पहले उद्गाता का अपच्छेद हुआ और बाद में प्रतिहर्ता का अपच्छेद हुआ, वहाँ पर भी सर्वस्वदक्षिणारूप कर्म किया जाता है। अत: ऐसे स्थल पर भी वह सावकाश है। यदि प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणावाला कर्म को अवकाश न देकर उसका बाध मान लिया जाय तब तो 'यदि प्रतिहर्ता अपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्यात्' यह शास्त्र ही निरवकाश हो जायेगा, अर्थात् इस शास्त्र की प्रवृत्ति कहीं भी न होने के कारण उक्त शास्त्र ही अप्रमाण हो जायेगा। अत: शास्त्र को किञ्चिद् अवकाश दिए बिना उसका बाध करना अशक्य होने से ही ''विप्रतिषेधात् विकल्प: स्यात्'' (जै. सू.६–५–५१) इस सूत्र के द्वारा महर्षि जैमिनी ने दोनों का युगपद् अपच्छेद होने पर विकल्प कहा है। अर्थात् उक्त स्थल पर पाक्षिक अवकाश प्रदान किया गया है। अत: यह सिद्ध हुआ कि दृष्टान्त में सावकाश होने के कारण पश्चाद्भावी अपच्छेदनिमित्तक कर्म के द्वारा पूर्वभावी अपच्छेदनिमित्तक कर्म का बाध होता है। अब तक पूर्वपक्षी ने यह दिखाया कि पश्चाद्भावी उद्गाता के अपच्छेद के निमित्त होने वाला दक्षिणारहितयाग के द्वारा पूर्वभावी प्रतिहर्ता के अपच्छेद के निमित्त से होने वाले सर्वस्वदक्षिणायाग का बाध इसलिए हो जाता है, क्योंकि वह सावकाश है। अब पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि सर्वस्वदक्षिणायाग का सावकाश होने के कारण बाध नहीं होता है, किन्तु द्वितीयप्रयोग (जो ज्योतिष्टोमयाग चल रहा है उसे कर के दूसरे ज्योतिष्टोमयाग) में उसे करने को कहा है। अत: सर्वस्वदक्षिणायाग का बाध नहीं होता है। अत: आगम के द्वारा प्रत्यक्ष के बाध में इस अपच्छेदन्याय को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि 'यद्युद्गाता जघन्य: स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन्' (जै.सू.६.५.५५) इस सूत्र का यह अर्थ है– यदि उद्गाता जघन्य:– प्रतिहर्त्रपच्छेद से पश्चात् उद्गाता अपच्छेद, स्यात्– हुआ हो तो, पुनर्यज्ञे–अदक्षिणाप्रयोग से उत्तर मे अनुष्ठीयमान जो प्रयोग (याग का अनुष्ठान) है उस प्रयोग में, सर्ववेदसं दद्यात्–सर्वस्वदक्षिणा देना, यथेतरस्मिन्–प्रतिहर्तामात्र का अपच्छेद जिस ज्योतिष्टोमयाग में होता है उस याग में जैसे सर्वस्वदक्षिणा दी जाती है। इस प्रकार इस अधिकरण में स्पष्ट कहा गया है कि उद्गाता का अपच्छेद प्रतिहर्ता के अपच्छेदक के बाद में होने पर उद्गाता के अपच्छेद के कारण होने वाला दक्षिणारहितयाग जो चल रहा है उसका सम्पादन करके ज्योतिष्टोम के द्वितीययाग में, अर्थात् जो याग चल रहा है उस याग के पश्चात् अनुष्ठीयमान द्वितीय याग में 'तद् दद्यात्

कपूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वदित्साया अबाधेन सर्वस्वरूपैव, न तु या ज्योतिष्टोमे नित्या द्वादशशतरूपा। तस्मान्न प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः, किन्तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम्। उक्तं हि टुप्टीकायां 'तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपः' इति। अपि च क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः सम्भवेन विरोध एव नास्ति; यथा बदरीफले क्रमिकनिमित्तवतोः श्यामरक्तरूपयोः। उक्तं ह्यपच्छेदाधिकरणे नैमित्तिकशास्त्रस्य ह्ययमर्थः, 'निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तव्योऽपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

दद्यात् ....'' इस श्रुति के द्वारा जो दक्षिणा कही गयी है वह दक्षिणा सर्वस्वरूपा है, क्योंकि प्रतिहर्ता के पूर्वभावी अपच्छेद को निमित्त बनाकर होने वाले पूर्वप्रयोग में विहित सर्वस्वदक्षिणा की इच्छा का उससे बाध नहीं होता है और ज्योतिष्टोम में विहित द्वादशशतरूपा नियत दक्षिणा है, वह भी नहीं, क्योंकि वह नैमित्तिक सर्वस्वदक्षिणा से बाधित होती है। इस प्रकार उक्त अधिकरण में प्रतिहर्ता द्वारा कृत अपच्छेद निमित्तक पूर्व प्रयोगाङ्ग सर्वस्वदक्षिणा का सर्वथा बाध नहीं होता है किन्तु प्रयोगान्तर में निक्षेप है—यह कहा गया है। टुप्टीका में कहा गया है—प्रतिहर्तृकृतापच्छेदनिमित्तक पूर्वप्रयोगाङ्ग सर्वस्वदक्षिणा का द्वितीय प्रयोग में निक्षेप है। (पूर्व मीमांसा के अध्याय ६ के पञ्चम पाद में यह अधिकरण है।) दूसरी बात यह भी है कि क्रम से प्राप्त जो निमित्त द्वय उसके कारण क्रम से अदक्षिण और सर्वस्वदक्षिण प्रयोग सम्भव होने से विरोध ही नहीं है। जैसे वदरी के फल में क्रमिक निमित्त वाले

सत्यानन्दप्रबोधिका

यत्पूर्वस्मिन् स्यात्' इस श्रुति में कही गयी जो दक्षिणा, वह दक्षिणा पूर्व में होनेवाला जो प्रतिहर्ता का अपच्छेद तादृश अपच्छेदनिमित्तक पूर्वप्रयोग (प्रथमयाग) में जो 'सर्वस्वदित्सा'—सर्वस्वदक्षिणा देने की इच्छा, उसका बाध न होने से सर्वस्वदक्षिणारूप ही मानी गयी है, न कि ज्योतिष्टोम में नियत द्वादशशत गौएँ ही है। अतः पूर्वभावी प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणायाग का बाध होता ही नहीं है, किन्तु ज्योतिष्टोम के प्रथमप्रयोग में उसको न करके द्वितीयप्रयोग में किया जाता है। इसको टुप्टीका में भी कहा गया है कि प्रतिहर्ता के अपच्छेदनिमित्तक पूर्वप्रयोगाङ्ग सर्वस्वदक्षिणा का बाध नहीं होता है, किन्तु प्रयोगान्तर में निक्षेप होता है, अर्थात् पूर्वप्रयोगकाल में अनुष्ठान का निषेध होता है, परन्तु इसका बाध नहीं होता है। (पूर्वमीमांसादर्शन पर आचार्य श्रीकुमारिल भट्ट ने पहले श्लोकवार्तिक लिखा है। उसके आगे गद्य में लिखा है उसको तन्त्रवार्तिक कहा जाता है और अन्त में कहीं कहीं पर थोडी—थोडी टीका लिखा है, उसी को टुप्टीका कहते है)। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह दिखाया कि अपच्छेदस्थल पर बाध्यबाधकभाव होता ही नहीं है। अतः अपच्छेदन्याय को दृष्टान्त बनाकर आगम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध कहना युक्तियुक्त नहीं है। अब आगे पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि अपच्छेदस्थल पर विरोध ही नहीं है। अतःबाध्यबाधकभाव होता ही नहीं है। उसी को दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहा है। जहाँ पर क्रम से प्रथम प्रतिहर्ता का अपच्छेद हुआ और पश्चात् उद्‌गाता का अपच्छेद हुआ हो, वहाँ पर उक्त निमित्तद्वय के क्रम से अदक्षिणा और सर्वदक्षिणा प्रयोगों का सम्भव होने से विरोध ही नहीं है। यहाँ पर निमित्त (कारण) अपच्छेद है, नैमित्तिक (कार्य) प्रायश्चित्त है। अर्थात् जहाँ प्रतिहर्ता के अपच्छेद के पश्चात् उद्‌गाता का अपच्छेद होता है, वहाँ पर यद्यपि सर्वस्वदक्षिणायाग को निषेध कर अदक्षिणायाग प्राप्त होता है, परन्तु सर्वस्वदक्षिणायाग का सर्वथा निषेध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर ऐसा नियम है कि प्रथमयाग को दक्षिणारहित सम्पादन करके ज्योतिष्टोम के द्वितीय प्रयोग में सर्वस्वदक्षिणा देनी पडती है। अतः क्रमशः दो प्रयोगों में अदक्षिणा और सर्वस्वदक्षिणा का विधान होने के कारण विरोध ही नहीं है। अतः विरोध न होने से बाध्यबाधकभाव बन ही नहीं सकता है। जैसे बेर के फल में प्रथमनिमित्त (कच्ची अवस्था) के उपस्थित होने पर श्यामरूप आता है और

क्रतुर्निमित्ते सत्येवं कर्तव्य:' इति। तस्मादपच्छेदन्याय: सावकाशविषय:, अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्तीति चेत्।। २।।

न, उद्गात्रपच्छेदाभावे, युगपदुभयापच्छेदे, प्रतिहर्त्रपच्छेदस्योद्गात्रपच्छेद: पाश्चात्ये च ज्योतिष्टोमद्वितीयप्रयोगे प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तसर्वस्वदक्षिणयागप्रतिपादकशास्त्रस्य सावकाशत्ववद् व्यावहारिकप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि सावकाशत्वात्, तत्रैकप्रयोगे विरोधवदत्रापि तात्त्विकत्वांशे

कैलासविद्याप्रकाशिका

श्यामरूप और रक्तरूप में परस्पर विरोध ही नहीं होता है। शास्त्रदीपिकाकार ने अपच्छेदाधिकरण में कहा है—नैमित्तिक शास्त्र का यह अर्थ है—अपच्छेदरूप निमित्त की उत्पत्ति से पूर्व अन्य प्रकार से याग कर्त्तव्य होता हुआ भी अपच्छेदरूप निमित्त के प्राप्त होने पर अदक्षिण या सर्वस्वदक्षिणादि रूप से कर्त्तव्य है। तस्मात् = इसलिए उक्त अधिकरण सावकाशता का ज्ञापक है। अत: अपच्छेदन्याय सावकाशविषयक है और अद्वैतागम से प्रत्यक्ष का बाध मानने पर तो प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को अवकाश ही नहीं है।।२।।

समाधान— नहीं, क्योंकि उद्गाता का अपच्छेद न होने पर, युगपद् उभय का अपच्छेद होने पर और प्रतिहर्तृकर्तृक अपच्छेद का उद्गातृ कर्तृक अपच्छेद से पश्चात् होने पर ज्योतिष्टोम के द्वितीय प्रयोग में प्रतिहर्तृकर्तृक अपच्छेद निमित्तक सर्वस्वदक्षिणयाग के प्रतिपादक शास्त्र को जैसे सावकाशता है, ठीक उसी प्रकार व्यावहारिक प्रामाण्य में प्रत्यक्ष को भी सावकाशता है। तत्र = उस सर्वस्वदक्षिणत्व में, एकप्रयोगे = अदक्षिणप्रयोगकालानुष्ठनांश में, जैसे विरोध है, वैसे ही अद्वैतागम बाध्यप्रत्यक्ष में भी

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वितीयनिमित्त (पक्की अवस्था) के उपस्थित होने पर रक्तरूप आता है। वहाँ पर विरोध न होने के कारण रक्तरूप के द्वारा श्यामरूप का बाध नहीं माना जाता है। पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि में शास्त्रदीपिकाकार के वचन को उद्घृत करते हुए कह रहा है कि अपच्छेदाधिकरण में शास्त्रदीपिकाकार ने भी कहा है कि अपच्छेदादि निमित्त के उपस्थित होने से पहले जो ज्योतिष्टोमादि कर्म जिस प्रकार से किये जाते थे, वे ही कर्म अपच्छेदादि निमित्त के उपस्थित होने पर अन्यप्रकार से करना चाहिए। अर्थात् उसका सर्वथा त्याग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार से बाध का विधान उक्त अधिकरण में नहीं बतलाया गया है। अत: यह सिद्ध हुआ कि अपच्छेदन्याय सावकाशस्थल पर ही लगता है, अद्वैतागम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानने पर प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को कहीं पर अवकाश ही नहीं मिलेगा। अत: अपच्छेदन्याय के बल पर अद्वैतागम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं माना जा सकता है।।२।।

पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ उद्गाता का अपच्छेद न हुआ हो, अर्थात् केवल प्रतिहर्ता का अपच्छेद हुआ हो, तो वहाँ पर सर्वस्वदक्षिणायाग को अवकाश है। अथवा एकसाथ प्रतिहर्ता और उद्गाता का अपच्छेद जहाँ हुआ हो, वहाँ पर विकल्प से सर्वस्वदक्षिणायाग का अवकाश है। अथवा उद्गाता-अपच्छेद के पश्चात् प्रतिहर्ता का अपच्छेद जहाँ हुआ हो, वहाँ पर सर्वस्वदक्षिणायाग का अवकाश है, अथवा पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त कथनानुसार ज्योतिष्टोम के द्वितीयप्रयोग में सर्वस्वदक्षिणा का सावकाशत्व होता है, वैसे ही प्रत्यक्षप्रमाण का भी व्यावहारिकप्रामाण्य में सावकाशत्व है। अत: सावकाश का बाध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी के नियम को मान भी लिया जाय तब भी प्रत्यक्ष सावकाश है और उसका बाध निरवकाश अद्वैतागम से मान लेने पर भी अपच्छेदन्याय से वैषम्य नहीं होगा। पीछे पूर्वपक्षी ने बदरफल के श्यामरूप और रक्तरूप को दृष्टान्त देकर जो विरोधाभाव सिद्ध किया था उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि दृष्टान्त में जहाँ प्रथम प्रतिहर्ता का अपच्छेद है और पश्चात् उद्गाता का अपच्छेद है, वहाँ ज्योतिष्टोम के प्रथमप्रयोग में प्रतिहर्ता—अपच्छेदनिमित्तक सर्वस्वदक्षिणायाग भी प्राप्त है और

विरोधात्। अत एव सगुणसप्रपञ्चश्रुत्योर्निर्गुणनिष्प्रपञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्ठूक्तम्। तदुक्तमानन्दबोधाचार्यैः—

तत्परत्वात् परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्याप्तवाक्यवत् ।। इति।।३।।

ननु मानान्तरविरोधे श्रुतेस्तत्परत्वमसिद्धम्, परत्वन्तु प्रमाऽनन्तरभ्रमे व्यभिचारि, दृश्यते च 'न क्त्वा सेट्' इति परं प्रति 'मृडमृदगुधकुशक्लिशवदवसः क्त्वा' इति पूर्वमपि बाधकम्। निर्दोषत्वं त्वर्थान्तरप्रामाण्येनान्यथासिद्धम्। तदुक्तम्ः— तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः।

कैलासविद्याप्रकाशिका

तात्त्विकांश में विरोध है। अतएव = उक्त प्रकार से अनधिगताबाधितार्थक अद्वैतागम के प्राबल्य से ही सगुण और सप्रपञ्च की प्रतिपादिका श्रुतियों का क्रम से निर्गुण और निष्प्रपञ्च की प्रतिपादक श्रुतियों के द्वारा अपच्छेदन्याय से बाध होता है—ऐसा कथन समुचित ही है। इसको न्यायमकरन्द ग्रन्थ में श्री आनन्दबोधाचार्य ने इस प्रकार से कहा है—अद्वैतपरक होने से, पश्चाद्भावित्व होने से और निर्दोष होने से अद्वैतप्रतिपादकवेदवाक्य पूर्व प्रवृत्त प्रत्यक्ष आदि का बाधक है। जैसे ''नायं सर्पः'' इत्यादि वाक्य पूर्वप्रवृत्त'' अयं सर्पः'' इत्यादि प्रत्यक्ष का बाधक होता है।।३।।—।।४।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायामपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उद्गाता—अपच्छेदनिमित्तक अदक्षिणायाग भी। अतः प्रथमप्रयोग में विरोध है और उस प्रथमप्रयोग में प्रथमप्राप्त सर्वस्वदक्षिणायाग का अननुष्ठानरूप सर्वथा बाध है। भले ही उसको द्वितीयप्रयोग में अवकाश मिलें। इस प्रकार सिद्धान्ती ने यह दिखाया कि जिस प्रकार पूर्वभावी सर्वस्वदक्षिणाकर्म का पश्चाद्भावी दक्षिणारहितकर्म से विरोध होने के कारण बाध होता है, ठीक इसी प्रकार दार्ष्टान्त में प्रत्यक्ष के पारमार्थिकप्रामाण्य— अंश में विरोध है, क्योंकि पूर्व (प्रथम—ज्येष्ठ) प्रत्यक्ष, जगत् को तात्त्विक कहता है और पश्चाद्भावी आगमप्रमाण जगत् को मिथ्या कहता है। अतः पूर्वभावी प्रत्यक्ष का पश्चाद्भावी आगम से विरोध होने के कारण पूर्वभावी प्रत्यक्ष का पश्चाद्भावी आगम के द्वारा बाध हो जाता है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार जहाँ पर आगम के द्वारा प्रत्यक्ष के बाध का विचार है वहाँ पर अपच्छेदन्याय पूरी तरह से लागू होता है। इस लिए सगुणप्रतिपादकश्रुतियों का निर्गुणप्रतिपादकश्रुतिवाक्यों के द्वारा और सप्रपञ्चप्रतिपादकश्रुतियों का निष्प्रपञ्चप्रतिपादकश्रुतियों के द्वारा अपच्छेदन्याय से बाध करना अत्यन्त उचित ही है। श्री आनन्दबोधाचार्य ने न्यायमकरन्दग्रन्थ में इस विषय में ठीक ही कहा है—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य तत्परक, अर्थात् परमतात्पर्यविषयीभूत अर्थ के बोधक होने के कारण मुख्यार्थक है, पश्चाद्भावी अपच्छेद के समान प्रत्यक्षप्रमाण से परभावी है। अपौरुषेय होने के कारण करणादिगतदोषों से रहित है, इसलिए वह अपने पूर्वभाविप्रत्यक्ष का वैसे ही बाधक है जैसे सर्पभ्रम का 'नायं सर्पः' इस प्रकार का आप्तवाक्य बाधक होता है। यहाँ पर अनुमान का आकार यह होगा—'आगमः पूर्वस्य बाधकः, तत्परत्वात्, परत्वात्, निर्दोषत्वात्, नायं सर्पः, इत्याप्तवाक्यवत्'।।३।।

सिद्धान्ती के इस अनुमान मे कहे गये तीनों हेतुओं (तत्परत्व, परत्व और निर्दोषत्व) में से प्रथम हेतु 'तत्परत्व' में पूर्वपक्षी दोष देते हुए कह रहा है कि द्वैतसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणान्तरों से विरोध होने के कारण 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों का अद्वैत में तात्पर्य नहीं माना जा सकता है। अतः 'तत्परत्व' हेतु स्वरूपासिद्धिदोष से ग्रस्त है। दूसरा 'परत्व' हेतु प्रमा के अनन्तर होने वाले भ्रम में

निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः प्राबल्यं नैव साधयेत्।। इति चेन्न, प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, श्रुतेस्तु तात्त्विकमिति विरोधाभावेन तत्परत्वसिद्धेः। परशब्देन च मानान्तराबाधितपरत्वं विवक्षितम्, तेन प्रमाऽनन्तरभ्रमे न व्यभिचारः। तस्य तदुत्तरभाविमानबाधितत्वात्। 'न क्त्वा सेट्'इत्यस्य तु पाठतः परत्वेऽपि स्वभावसिद्धकित्त्वस्यानेनापाकरणं विना पुनस्तत्प्रतिप्रसवार्थं 'मृडमृद...'

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यभिचारी है। क्योंकि प्रमा के पश्चात् होने वाले भ्रम में परत्व हेतु है, किन्तु वह भ्रम अपने पूर्वभावी प्रमा का बाधक नहीं होता है। अतः उसमें साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष है। इसी प्रकार 'न क्त्वा सेट्' (पा.सू. १.२.१८) इस सूत्र में 'मृडमृदगुधकुशक्लिशवदवसः क्त्वा' (पा.सू. १/२/७) इस सूत्र की अपेक्षा से परत्व होने के कारण 'न क्त्वा सेट्' इस सूत्र में परत्व हेतु है, किन्तु इस सूत्र का बाध पूर्वसूत्र से ही हो जाता है। अतः 'न क्त्वा सेट्' इस सूत्र में हेतु के रहने पर भी साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष है। 'निर्दोषत्व' हेतु भी ठीक नहीं है। अद्वैतश्रुतिगतनिर्दोषता प्रत्यक्ष के बाध करने में हेतु नहीं है, किन्तु उपासनादि के प्रति हेतु है। अतः अद्वैतश्रुतिगतनिर्दोषता प्रत्यक्ष के बाध करने में हेतु न होने के कारण प्रत्यक्ष के बाध के प्रति अन्यथासिद्ध है। अर्थात् द्वैतग्राहिप्रत्यक्ष के साथ विरोध होने के कारण अद्वैतश्रुति का अद्वैत मे तात्पर्य न होने पर भी दूसरे अर्थ में (उपासनादि में) प्रामाण्य माने जाने के कारण उस (अद्वैतश्रुति) में सर्वथा अप्रामाण्य न होने पर भी (निर्दोषत्व होने पर भी) उसका निर्दोषत्व प्रत्यक्ष का बाधक होने में अन्यथासिद्ध है। अतः उक्त तीनों हेतुओं से अद्वैतागम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार श्री आनन्दबोधाचार्य के उक्त कथन का अपवाद करता हुआ पूर्वपक्षी कहता है, तत्परत्व हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष होने के कारण, परत्व हेतु में व्यभिचारदोष के कारण और निर्दोषत्व हेतु अन्यथासिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष की अपेक्षा आगम में बाधकत्व की सिद्धि उक्त तीनों हेतुओं से नहीं की जा सकती है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वोक्त पूर्वपक्षी की शङ्काए उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त पक्ष से यह कहा जा चुका है कि प्रत्यक्षादि का व्यावहारिकप्रामाण्य है और अद्वैतश्रुति का तात्त्विकप्रामाण्य है। अतः दोनों में विरोध नहीं है। इसलिए अद्वैतश्रुति की अद्वैतबोधकता निर्विरोध सिद्ध हो जाने से उक्त अनुमान के 'तत्परत्व' हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष नहीं दिया जा सकता है। उक्त अनुमान में द्वितीय हेतु 'परत्व' है, उसका अर्थ है—'मानान्तराबाधितत्वे सति परत्वम्' अर्थात् श्री आनन्दबोधाचार्य को परत्व शब्द से ''मानान्तराबाधितत्त्वे सति परत्वम्'' ऐसा विवक्षित है। अब प्रमा के अनन्तर होनेवाले भ्रम में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि प्रमा के अनन्तर होनेवाले भ्रम का बाध भ्रम के अनन्तर होने वाले प्रमा के द्वारा होता है। अतः प्रमानन्तर भ्रम में हेतु और साध्य दोनों के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य की अपेक्षा 'यवागूं पचति' यह वाक्य पाठतः पर है। किन्तु पूर्वमीमांसादर्शन में अर्थक्रम के आधार पर इसे पूर्वभावी माना गया है, क्योंकि पक्व यवागू ही अग्निहोत्र कर्म की हवि मानी गयी है। इसलिए कर्म के पश्चात् यवागूपाक व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'न क्त्वा सेट्' यह सूत्र पाठतः पर होने पर भी स्वभावसिद्ध 'कित्त्व' का ' न क्त्वा सेट्' इस सूत्र से निषेध किए बिना पुनः 'कित्त्व' की प्राप्ति के लिए 'मृडमृद.......' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः 'मृडमृद......' इस सूत्र की अपेक्षा से 'न क्त्वा सेट्' यह सूत्र होने के कारण अपवादसूत्र है। इस का भी निषेध करनेवाला अपवाद सूत्र है। जब कि यह नियम है कि अपवाद का अपवाद करने पर उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) की प्राप्ति होती है। अतः स्वभावसिद्ध 'कित्त्व' का अपवाद (न क्त्वा सेट् का अपवाद) 'मृडमृद.....' से किया गया। इस प्रकार 'न क्त्वा सेट्' अर्थतः पूर्व में होने के कारण

इत्यादेरप्रवृत्तेस्तदपेक्षयाऽर्थतः पूर्वत्वमेव। अपवादापवादे उत्सर्गस्यैव स्थिरत्वादतो निर्दोषत्वमपि नान्यथासिद्धम्; तात्पर्यविषय एव प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वात्, इत्यबोधमात्रविजृम्भितमपच्छेदन्यायवैषम्याभिधानमिति।। ४।।

— इत्यद्वैतसिद्धावपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसमें व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। अद्वैतश्रुति का निर्दोषत्व अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि श्रुति में जब तत्परत्व सिद्ध हो गया और परत्व के कारण पूर्वभावी प्रत्यक्षप्रमाण का बाधकत्व भी सिद्ध हो गया एवं यह भी नियम है कि जो यदर्थपरक है, तदर्थ में उसका प्रामाण्य माना जाता है। अतः अद्वैतपरक होने से अद्वैतश्रुति का जब अद्वैत में प्रामाण्य निश्चित हो गया तब अर्थान्तर में प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः पूर्वपक्षी का अपच्छेदन्यायवैषम्य का कथन ब्रह्मवादिओं के सिद्धान्तरहस्य के अज्ञान मात्र का ही कार्य है।। ४।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः —

२३: मिथ्यात्वानुमानस्याभाससाम्यविचारः

ननु यदि प्रत्यक्षबाधितमप्यनुमानं साधयेत्तदा वह्न्यनौष्ण्यमपि साधयेत्, तथा च कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रोच्छिद्येत। न चौष्ण्यप्रतियोगिकाभावे साध्ये पक्ष एव प्रतियोगिप्रसिद्धिरिति तत्र बाधः सावकाशः, प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धम्, तदविरुद्धञ्च मिथ्यात्वम्; तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधित्वादतो न व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यत इति वाच्यम्।

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का– यदि प्रत्यक्ष से बाधित अर्थ की भी सिद्धि अनुमान के द्वारा हो सकती है तब तो प्रत्यक्ष से बाधित वह्नि के अनुष्णत्व की सिद्धि अनुमान के द्वारा हो जानी चाहिए। ऐसा होने पर बाधकथा सर्वत्र उच्छिन्न हो जायेगी। इस पर यदि कहा जाय कि उष्णत्वप्रतियोगिकाभाव को साध्य करने पर वह्निरूप पक्ष में ही प्रतियोगी की प्रसिद्धि है। इसलिए पक्ष में बाध सावकाश है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस वह्नि में प्रतियोगी की प्रसिद्धि है, उस वह्नि से भिन्न वह्नि में अनुष्णत्व का अनुमान या शैत्यानुमान करने पर पक्षीभूत वह्नि में प्रतियोगी की प्रसिद्धि का अभाव है। पक्षातिरिक्त प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थल उक्त अनुमान में है। जहां प्रत्यक्ष प्रबल है वहीं अनुमान का बाध करता है किन्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यक्ष से बाधितविषयक–अनुमिति की समानता प्रपञ्चमिथ्यात्व–अनुमिति में होने के कारण प्रपञ्चमिथ्यात्व–अनुमिति अनुमित्याभासरूप है। जैसे प्रत्यक्ष से बाधितविषयक वह्निशैत्य की अनुमिति अनुमित्याभासरूप होती है, उसी प्रकार प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वविषयक–अनुमिति बाधित होने के कारण अनुमित्याभासरूप है। अतः उससे प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है। यदि द्वैतसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाधित प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान भी यदि प्रपञ्चरूप पक्ष में मिथ्यात्वरूप साध्य की सिद्धि कर सकता है तब तो वह्निगत–औष्ण्यग्राहिप्रत्यक्ष के द्वारा बाधित वह्निगतशैत्य का अनुमान भी वह्नि में शैत्यरूप साध्य की सिद्धि कर सकता है, क्योंकि उक्त दोनों अनुमानों (प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान और वह्निशैत्यानुमान) में प्रत्यक्षबाध समानरूप से है। उक्त दोनों अनुमानों से साध य की सिद्धि मानने पर हेत्वाभास के अन्तर्गत बाध को हेत्वाभास के रूप में गणना नहीं करना चाहिए। क्योंकि सिद्धान्ती बाधितविषयकानुमान को भी सदनुमान मान रहे हैं। इस पर यदि कोई कहता है कि प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में और वह्नि–अनुष्णानुमान में वैलक्षण्य है। अतः 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इस स्थल पर बाध के रहने से बाध हेत्वाभास का अत्यन्त उच्छेद नहीं होगा। क्योंकि अनौष्ण्य– रूप साध्य का अर्थ है औष्ण्य का अभाव, अर्थात् औष्ण्यप्रतियोगिकाभाव है। इस अभाव के प्रतियोगी की कहीं पर प्रसिद्धि दिखानी पड़ेगी, क्योंकि अभाव की सिद्धि प्रतियोगी की सिद्धि के द्वारा ही होती है। अतः यहाँ पर प्रतियोगी औष्ण्य की सिद्धि प्रत्यक्षप्रमाण से पक्ष (वह्नि) में है। प्रत्यक्ष से सिद्ध जो पक्ष (वह्नि) निष्ठ–औष्ण्य है, वह औष्ण्य 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इस अनुमान के साध्य जो पक्षनिष्ठ–औष्ण्याभाव है, उस का विरोध ी है। अतः उक्त प्रत्यक्ष उक्त अनुमिति का प्रतिबन्धक है। क्योंकि तद्वत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है। अतः यहाँ पर बाध सावकाश है। प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में बाधदोष नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्यत्व की सिद्धि होती है। अतः वह प्रपञ्चमिथ्यात्व का विरोधी नहीं है। मिथ्यात्व परमार्थिकसत्त्व का विरोधी होता है, न कि व्यावहारिकसत्यत्व का। इसलिए व्यावहारिकसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान अविरुद्धविषयक है। विरोध होने पर ही बाध्य–बाधकभाव होता है। इस शङ्का का

वह्निविशेषे औष्ण्याभावानुमाने शैत्यानुमाने वा तदभावात्। पक्षातिरिक्तस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थलस्य तत्र सत्त्वात्। न च यत्र प्रत्यक्षं प्रबलं तत्र बाधव्यवस्था, न चात्र तथेति न बाध इति वाच्यम्, प्रकृतेऽप्यौष्ण्यप्रत्यक्षसमकक्षस्य प्राबल्यप्रयोजकस्य विद्यमानत्वात्, अनौष्ण्यानुमितेर्मिथ्यात्वानुमितेश्च समानयोगक्षेमत्वात् ॥ १॥

न च मिथ्यात्ववादिनां प्रतिपन्नोपाधावौष्ण्यनिषेधग्राह्यनुमानेन मिथ्यात्वानुमितेः समत्वमिष्टमेवेति वाच्यम्; औष्ण्यानौष्ण्ययोर्भावाभावरूपतया तदनुमितिसाम्येऽपि

कैलासविद्याप्रकाशिका

मिथ्यात्वानुमान स्थल पर प्रत्यक्ष प्रबल नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष से बाध नहीं होता है—ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत में भी औष्ण्यप्रत्यक्ष के समकक्ष प्राबल्य का प्रयोजक विद्यमान है। इसलिए औष्ण्यानुमिति और मिथ्यात्वानुमिति में समानयोगक्षेमता है।।१ ।।

यदि कहो कि मिथ्यात्ववादि को औष्ण्याधिकरण में औष्ण्याभावग्राही अनुमान के साथ मिथ्यात्वानुमिति का साम्य इष्ट ही है। किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है, क्योंकि औष्ण्य और अनौष्ण्य इनको भावाभाव रूप होने से उक्त अनुमान का मिथ्यात्वानुमिति के साथ साम्य होने पर भी शैत्यानुमिति के साथ मिथ्यात्वानुमिति का साम्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शैत्य औष्ण्याभाव

सत्यानन्दप्रबोधिका

निराकरण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि आप ने जो यह कहा था कि साध्य औष्ण्याभाव का प्रतियोगी औष्ण्य की प्रसिद्धि पक्ष में है और उसी पक्ष में औष्ण्य का अभाव नहीं रह सकता है। तो हम ऐसा स्थल लेंगे जहाँ पर पक्ष तद्व्यक्ति वह्नि है। अनुष्ण को साध्य बनायेगें। प्रतियोगी (औष्ण्य) की प्रसिद्धि पक्ष को छोड़कर अन्यत्र दिखायेंगे। अब पक्ष में प्रत्यक्ष से उष्णता की प्रसिद्धि न होने से यहाँ पर बाध सावकाश नहीं होगा, अर्थात् यदि पक्ष में प्रत्यक्ष से उष्णता की प्रसिद्धि होती तो अनुमान का बाध होता। अथवा शैत्य को साध्य बनायेंगे। जिसमें प्रतियोगी की प्रसिद्धि नहीं करनी पड़ेगी। अतः यहाँ पर शैत्य का अनुमान ('वह्निः शीतः कृतकत्वात् जलवत्') बाधित ही नहीं होगा। इस पर यदि कोई कहता है कि अनुमान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष निर्दोष होने के कारण प्रबल है, अतः निर्दोष प्रत्यक्ष के द्वारा विरोधी अनुमान का बाध हो जाता है। प्रकृत में प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान से प्रत्यक्ष प्रबल नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष सम्भावितदोषों से जन्य है। अतः प्रत्यक्ष से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होता है। इस शङ्का का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्राबल्य का जिस परीक्षितत्वरूप प्रयोजक के रहने के कारण औष्ण्यप्रत्यक्ष औष्ण्याभावानुमान की अपेक्षा प्रबल होता है, प्राबल्य का वही परीक्षितत्वरूप प्रयोजक प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष में भी विद्यमान है। इसलिए वह्निगतानौष्ण्य की अनुमिति हो अथवा प्रपञ्चगतमिथ्यात्व की अनुमिति हो, दोनों में समानरूप से अपने अपने विरोधी प्रत्यक्षप्रमाणों की बाध्यता विद्यमान होने से सामान—योगक्षेमता है। अर्थात् सिद्धान्ती यह नहीं कह सकते है कि एक स्थल पर परीक्षितप्रत्यक्षप्रमाण अनुमान का बाधक होता है और दूसरे स्थल पर परीक्षितप्रत्यक्षप्रमाण अनुमान का बाधक नहीं होता है। क्योंकि सिद्धान्ती के पास ऐसा कहने के लिए कोई हेतु नहीं है।। १ ।।

यदि सिद्धान्ती कहते है कि अनौष्ण्यानुमान से जो सिद्ध होता वही हमारे मिथ्यात्व के द्वितीयलक्षण से भी सिद्ध होता है। जैसे प्रतिपन्नोपाधि वह्नि में औष्ण्याभाव है, उसका प्रतियोगी औष्ण्य है। अतः औष्ण्य में मिथ्यात्व का लक्षण गया। अर्थात् जैसे मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रपञ्चरूपभाव के ब्रह्मरूप आधार में प्रपञ्चाभाव की सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार अनौष्ण्यानुमान के द्वारा औष्ण्यरूपभाव के वह्निरूप आधार में औष्ण्याभाव की सिद्धि की जा रही है। अतः अनौष्ण्यवाले अनुमान से औष्ण्य में

शैत्यानुमितिसाम्यस्यानभ्युपगमात्, शैत्यस्यौष्ण्याभावरूपत्वाभावात्। तस्माद् बाधस्य दोषता वा त्याज्या, औष्ण्यप्रत्यक्षायजमानत्वप्रत्यक्षादेः सत्त्वप्रत्यक्षापेक्षया विशेषो वा वक्तव्यः। न चौष्ण्यप्रत्यक्षं परीक्षितोभयवादिसिद्धप्रामाण्यं सत्त्वप्रत्यक्षं तु न तथेति विशेष इति वाच्यम्; सत्त्वप्रत्यक्षेऽपि प्रामाण्यासम्मतौ हेत्वभावात्, परीक्षायास्तुल्यत्वादिति चेत् ॥ २॥

मैवम्, विरुद्धार्थग्राहित्वेन विशेषात्, प्रत्यक्षसिद्धायजमानत्वौष्ण्यादिवच्छब्दलिङ्गग्राह्ययजमान–

कैलासविद्याप्रकाशिका

रूप नहीं है। इसलिए सिद्धान्ती को या तो बाध की दोषता का त्याग करना पड़ेगा अथवा अनौष्ण्यसाधक अनुमान के बाधक औष्ण्यप्रत्यक्ष और ''यजमानः प्रस्तरः'' इस श्रुति के बाधक अयजमानत्वप्रत्यक्षादि का ''घटः सन्'' इस प्रकार के घटसत्त्व प्रत्यक्ष की अपेक्षा से विशेष कहना होगा। इसके उत्तर में यदि सिद्धान्ती कहते है कि औष्ण्यप्रत्यक्ष उभयवादिसिद्ध परीक्षितप्रामाण्यक है और सत्त्वप्रत्यक्ष वैसा नहीं है। यही उन दोनों में विशेष है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य की असम्मति में हेतु का अभाव है, क्योंकि औष्ण्यप्रत्यक्ष तथा सत्त्वप्रत्यक्ष दोनों में ही परीक्षा समान रूप से है।।२।।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि विरुद्धार्थग्राहित्वेन विशेष है। प्रत्यक्ष सिद्ध अयजमानत्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्यात्व ही सिद्ध हुआ और मिथ्यात्वानुमान से भी औष्ण्य में मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। इसलिए औष्ण्याभावग्राही अनुमिति के साथ मिथ्यात्वानुमिति का साम्य इष्ट ही है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि औष्ण्य और औष्ण्याभाव ये दोनों परस्पर भाव और अभावरूप होने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यात्वानुमिति और अनौष्ण्यानुमिति में भले ही साम्य हो, परन्तु शैत्यानुमिति और मिथ्यात्वानुमिति में साम्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शैत्य को औष्ण्याभावरूप नहीं माना जाता है, अपितु शैत्य एक प्रकार का स्पर्शविशेष और भावपदार्थ माना जाता है। अतः सिद्धान्ती को या तो बाधदोष नहीं मानना चाहिए अथवा वह्निगत—औष्ण्यप्रत्यक्ष और प्रस्तरगत—अयजमानत्व के प्रत्यक्ष में प्रपञ्चसत्यत्वावग्राहिप्रत्यक्ष की अपेक्षा कुछ भिन्नता बतलानी चाहिए। अर्थात् वह्निगत औष्ण्यप्रत्यक्ष में क्या विशेषता है कि वह अनौष्ण्यानुमान का बाध कर देता है? और इसी प्रकार प्रस्तरगत—अयजमानत्व का प्रत्यक्ष प्रस्तरगत—यजमानत्व को बतलानेवाले आगम को बाध कर देता है, किन्तु प्रपञ्चगतसत्त्व का प्रत्यक्ष प्रपञ्चगतमिथ्यात्व बतलाने वाले अनुमान का बाध नहीं कर सकता है? इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि वह्निगत—औष्ण्यप्रत्यक्ष उभयवादी (पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती) सिद्ध परीक्षितप्रामाण्यवाला है और प्रपञ्चसत्यत्वप्रत्यक्ष उभयवादिसिद्ध परीक्षितप्रामाण्यवाला नहीं है। इस प्रकार उक्त दोनों प्रत्यक्षों में उक्त प्रकार की विशेषता होने के कारण औष्ण्यप्रत्यक्ष अनौष्ण्य—अनुमान का बाधक होता है और प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का बाधक नहीं होता। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती प्रपञ्चसत्यत्वप्रत्यक्ष में प्रामाण्य नहीं है, इसमें कोई हेतु नहीं दे सकते हैं। जिस प्रकार से औष्ण्यप्रत्यक्ष में परीक्षितप्रामाण्य है उसी प्रकार प्रपञ्चसत्यत्वप्रत्यक्ष में भी परीक्षितप्रामाण्य है। अतः उक्त दोनों प्रत्यक्षों में परीक्षितप्रामाण्य सिद्धान्ती को भी मानना चाहिए। ऐसा मानने पर मिथ्यात्वानुमान प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाधित होने से वह्निशैत्यानुमान के समान अनुमानाभास सिद्ध हो जायेगा।।२।।

पूर्वपक्षी की उक्त शङ्काओं का निराकरण करते हुए आर्चायप्रवर कह रहे हैं कि उक्त दोनों प्रत्यक्षों में विशेषता है और वह विशेषता यह है कि औष्ण्यप्रत्यक्ष विरुद्धार्थग्राही है। अर्थात् चाहे साध्य अनौष्ण्य हो या शैत्य हो दोनों का विरोधी औष्ण्य है और उक्त साध्य के समानसत्तावाला औष्ण्य का ग्राही

त्वानौष्ण्याद्यपि व्यावहारिकमिति समत्वात् प्रत्यक्षेण बाध्यते। प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धं तद्विरुद्धं च न मिथ्यात्वम्; तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधित्वात्। अतो न तद्व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यते।।३।।

ननु एवं वदतस्तव को वाऽभिप्रायः? किं तात्त्विकविषयत्वाद् बाधकतैव मिथ्यात्वानुमानादेर्न बाध्यता? उत सत्यमिथ्यात्वग्राहिणोर्व्यावहारिकतात्त्विकविषययोः परस्परविरुद्धविषयत्वाभावान्न बाध्यबाधकभावः? अन्त्येऽपि किमध्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वमगृहीत्वैव तदसिद्धस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

और औष्ण्यादि के समान शब्द और लिङ्ग से ग्राह्य यजमानत्व और अनौष्ण्य भी व्यावहारिक है। इसलिए समानसत्तावाला होने के कारण प्रत्यक्ष से बाध्य होते हैं। प्रकृत में व्यावहारिकसत्त्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है, उस सत्त्वग्राहीप्रत्यक्ष से अनुमानसाध्य मिथ्यात्व विरुद्ध नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का पारमार्थिकसत्त्व से विरोध है। इसलिए व्यावहारिक सत्त्वग्राहकप्रत्यक्ष से मिथ्यात्व बाधित नहीं होता है।।३।।—।।४।।—।।५।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां मिथ्यात्वानुमानस्य शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः

सत्यानन्दप्रबोधिका

औष्ण्यप्रत्यक्ष है। जब कि व्यावहारिकप्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का विरोधी नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व के साथ व्यावहारिकसत्त्व का कोई विरोध नहीं है। प्रस्तरगत—अयजमानत्व का प्रत्यक्ष 'यजमानः प्रस्तरः' इस आगम से बोधित प्रस्तरगत—यजमानत्व का और वह्निगत औष्ण्य का प्रत्यक्ष 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्' इस अनुमान से ग्राह्य अनौष्ण्य का बाध इसलिए कर देता है, क्योंकि वे सभी व्यावहारिकसत्तावाले है। अतः समसत्तावाले होने से उक्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध ग्रहण करने से उक्त आगम और अनुमान का उक्त प्रत्यक्ष से बाध हो जाता है। प्रकृत में प्रपञ्चसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्ष प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्यत्व का बोध कराता है। इस प्रपञ्चगतव्यावहारिकसत्यत्व का विरोधी मिथ्यात्व नहीं है। अपितु मिथ्यात्व प्रपञ्चगतपारमार्थिकसत्यत्व का विरोधी होता है। अतः व्यावहारिकसत्त्वग्राहकप्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रतियोगिसमानाधिकरण और प्रतियोगी से अन्यूनसत्ताक जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाववत्ता का ज्ञान प्रतियोगिमत्त्वज्ञान का विरोधी होता है। अतः मिथ्यात्व से न्यूनसत्ताक व्यावहारिकसत्त्व का ज्ञान तात्त्विकमिथ्यात्ववत्ता ज्ञान का बाधक नहीं होता है। मिथ्यात्वनिष्ठतात्त्विकत्व, तात्त्विकाधिकरणीभूतचिदात्मका— भावघटितत्वरूप है, अर्थात् मिथ्यात्व का अर्थ प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है। मिथ्यात्व का घटकीभूत उक्त अभाव अधिकरणीभूतब्रह्मस्वरूप ही है। अतः तात्त्विकब्रह्मस्वरूप अभाव से घटित होने के कारण मिथ्यात्व भी तात्त्विक है।।३।।

सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये समाधान पर पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती के उक्त समाधान का क्या अभिप्राय है? क्या मिथ्यात्वानुमान का विषय मिथ्यात्व पारमार्थिक है? अतः पारमार्थिकविषयक— मिथ्यात्वानुमान होने के कारण उसका किसी से बाध नहीं होता है, अपितु दूसरें (अपने विरोधी प्रमाणों) को बाध कर देता है? अथवा सत्त्वग्राहिप्रत्यक्ष और मिथ्यात्वग्राही अनुमान है, इनमें प्रत्यक्ष का विषय व्यावहारिक और अनुमान का विषय तात्त्विक है? अतः आपस में विरोध न होने के कारण बाध्यबाधकभाव नहीं बनता है? इस द्वितीय पक्ष में भी विकल्प कर के पूर्वपक्षी कह रहा है कि क्या मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतागम ये दोनों प्रत्यक्ष का विषय जो प्रपञ्चनिष्ठव्यावहारिकसत्त्व है? उसको विषय न करते हुए प्रत्यक्ष के अविषयीभूतप्रपञ्च- निष्ठतात्त्विकसत्त्व के अभाव का बोध कराते हैं? अथवा

तात्त्विकसत्त्वस्यैवाभावं गृह्णात्यनुमानादि उत? प्रत्यक्षविषयीकृतस्यैव तात्त्विकसत्त्वस्याभावम्? नान्त्यः; प्रत्यक्षविषयाभावग्राहिणि तदबाधकत्वोक्त्ययोगात्। न द्वितीयः प्रत्यक्षागृहीतप्रतिषेधकत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः, प्रत्यक्षविषयस्य तात्त्विकत्वापत्तेश्च। न प्रथमः; उपजीव्यप्रत्यक्षविरोधेनानुमित्यादिविषयस्य तात्त्विकत्वासिद्धेरिति चेन्न, प्रथमे द्वितीये च पक्षेऽनुपपत्त्यभावात्। तथा हि प्रथमे पक्षे न तात्त्विकत्त्वासिद्धिः यस्मात् 'इदं रजतम्' इत्यनेन 'नेदं रजतम्' इत्यस्य बाधादर्शनात् परीक्षितमेव बाधकमभ्युपेयम्। परीक्षा च प्रवृत्तिसंवादादिरूपा व्यवहारदशायामबा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतागम प्रत्यक्ष का विषयभूत जो व्यावहारिकसत्त्व है उसके पारमार्थिक अभाव का बोधन कराते है? द्वितीयविकल्प के दो विकल्पों में से अन्तिम विकल्प का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा हैं कि प्रत्यक्षसिद्धवह्निनिष्ठ जो उष्णता है, उसके अभाव का बोध करानेवाले अनौष्ण्यानुमान का बाध जैसे प्रत्यक्ष कर देता है, वैसे ही प्रत्यक्षप्रमाण प्रत्यक्षसिद्ध प्रपञ्चनिष्ठसत्त्व के अभाव को बोध करानेवाले मिथ्यात्वानुमान का भी बाध कर देगा। अतः मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रत्यक्ष में बाधकता का कथन ठीक नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प का प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्वानुमानादि में प्रत्यक्ष से अग्रहीत प्रपञ्चनिष्ठतात्त्विकसत्त्व की निषेधकता मानने पर अप्रसक्तप्रतिषेधकता की आपत्ति होगी और यह भी दोष होगा कि प्रत्यक्ष का विषयीभूतसत्त्व का निषेध अनुमानादि के द्वारा न होने के कारण प्रत्यक्ष के विषय में तात्त्विकत्व की आपत्ति होगी। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपजीव्यभूतप्रत्यक्ष से विराध होने के कारण मिथ्यात्वानुमान के विषय का बाध हो जाने से उसे (मिथ्यात्वानुमान के विषय को) तात्त्विक नहीं कहा जा सकता है। सिद्धान्ती का कथन है कि प्रथम और द्वितीयपक्ष (द्वितीयविकल्प का प्रथम पक्ष) को मानने से काई दोष नहीं है। जैसे कि प्रथमपक्ष में पूर्वपक्षी ने दोष दिया था कि उपजीव्यप्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण मिथ्यात्वानुमान का विषय बाधित होने से वह तात्त्विक सिद्ध नहीं हो सकता। यह पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में उपजीव्यता मात्र आ जाने से प्रत्यक्ष में पश्चाद्भाविमिथ्यात्वानुमान की बाधकता नहीं मानी जा सकती है, जैसे 'इदं रजतम्' इस भ्रमात्मकज्ञान में प्रतियोगिसमर्पकत्वेन उपजीव्यता रहने पर भी 'नेदं रजतम्' इस प्रमाज्ञान का बाधक 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान नहीं माना जाता है। अतः परीक्षितज्ञान ही अपरीक्षितज्ञान का बाधक होता है, ऐसा मानना चाहिए। परीक्षा प्रवृत्तिसंवादिरूप होती है, उसका निरूपण 'प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविचारः' के अवसर पर किया जा चुका है। वह परीक्षा व्यवहारदशा में अबाध्यत्व के बिना अनुपपन्न है। अतः परीक्षा से व्यवहारदशा में अबाध्यत्व सिद्ध होता है, न कि सर्वथा अबाध्यत्व, क्योंकि परीक्षा स्वयं व्यवहारदशा में ही अबाध्य होती है। अतः उसके द्वारा परीक्षणीयवस्तु ही व्यवहारदशा में अबाध्य सिद्ध होगी। अतः परीक्षितप्रत्यक्ष व्यवहारदशा में बाधग्राही अनुष्णत्वानुमानादिप्रमाणों का ही बाध करता है, व्यवहारदशा में जो बाधग्राही नहीं है, ऐसे अद्वैतश्रुति एवं मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं करता है। अतः प्रत्यक्ष से मिथ्यात्वानुमान और अद्वैतश्रुति के विषय का बाध न होने से अद्वैतश्रुति और मिथ्यात्वानुमान का विषय तात्त्विक सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार प्रथमपक्ष का खण्डन हो गया। द्वितीय कल्प में पूर्वपक्षी ने जो अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तिदोष दिया था वह उचित नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं है, तथापि पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रतिपादित अनुमानाभासादि के द्वारा परोक्षतः प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व की प्रसक्ति सम्भव है। प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले अनुमानाभास का निरूपण 'मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः' के अवसर पर पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया है। कुछ लोगों का यह जो कथन है कि आत्मा में तात्त्विकसत्त्व की प्रसिद्धि के द्वारा तात्त्विकत्व की प्रसक्ति का उपपादन

ध्यत्वं विनाऽनुपपन्ना तद्दशाबाधग्राहिणं बाधते, नाद्वैतश्रुत्यनुमानादिकमित्युक्तमेव। द्वितीयेऽपि पक्षे नाप्रसक्तप्रतिषेधः, परोक्षप्रसक्तेः सम्भवात्। यत्तु केचिदात्मनि तात्त्विकसत्त्वप्रसिद्ध्या प्रसक्तिमुपपादयन्ति। तन्न; न हि प्रतियोगिज्ञानमात्रं प्रसक्तिः, किं तर्हि निषेधाधिकरणकप्रतियोगिज्ञानम्। न चात्मा निषेधाधिकरणम्; तस्मात् परोक्षप्रसक्तिरेव दर्शनीया। अथवा मा भूत् प्रसक्तिः; अभावप्रत्यक्षे हि संसर्गारोपत्वेन सोपयुज्यते, शब्दानुमानयोस्तु तस्याः क्वोपयोगः। न चाप्रसक्तौ निषेधवैयर्थ्यम्; अनर्थनिवृत्तिरूपस्य प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात्। न च प्रत्यक्षविषयतात्त्विकत्वापत्तिः; तद्विषयाधिकरणकस्यैव पारमार्थिकत्वव्यतिरेकस्य बोधनात्। तथा च न काप्यनुपपत्तिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—''पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कर के उसका निराकरण प्रपञ्च में किया जाता है। इस प्रकार का कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी (तात्त्विकसत्त्व) के ज्ञान मात्र को प्रसक्ति नहीं कहा जाता है, किन्तु निषेध (तात्त्विकसत्ताभाव) का अधिकरण (प्रपञ्च) में होने वाले प्रतियोगी (तात्त्विकसत्त्व) के ज्ञान को प्रसक्ति कहते है। आत्मा तात्त्विकसत्त्व के निषध का अधिकरण नहीं है, किन्तु अधिकरण प्रपञ्च है। अतः प्रपञ्च में तात्त्विकसत्त्व की प्रसक्ति अनुमानाभासादि के द्वारा ही दिखलानी चाहिए। अथवा प्रकृतप्रसङ्ग में प्रतियोगी की प्रसक्ति न होने पर भी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि जहाँ घटाभाव का प्रत्यक्ष करना है वहाँ योग्य—अनुपलब्धि से ही घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् प्रतियोगी के संसर्ग के आरोप से प्रतियोगी की उपलब्धि का आरोप करना पड़ता है। जैसे 'यदि भूतले घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'। यहाँ पर भूतल में प्रतियोगी (घट) के संसर्ग के आरोप ('यदि भूतले घटः स्यात्') के द्वारा प्रतियोगी की उपलब्धि ('तर्हि घट उपलभ्येत') का आरोप करना पडता है। (अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप होता है, न कि अधिकरण या प्रतियोगी का)। अर्थात् अभावप्रत्यक्ष में प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप करने के लिए प्रतियोगी की प्रसक्ति आवश्यक होती है। लेकिन अनुमान और आगम के द्वारा जब अभाव का ज्ञान होता है, तब यह सब दिखलाने की आवश्यकता ही नहीं होती है। अर्थात् प्रसक्ति दिखाने की जरूरत नहीं होती है। यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि प्रपञ्च में जब पारमार्थिकसत्त्व की प्रसक्ति ही नहीं है, तब उसका निषेध करना व्यर्थ है, क्योंकि जन्ममरणादि अनेक अनर्थो की निवृत्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि प्रपञ्चनिष्ठतात्त्विकता के निषेध पर निर्भर करती है। अतः प्रसक्ति के विना भी प्रपञ्चनिष्ठतात्त्विकता का निषेध करना व्यर्थ नहीं है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रपञ्चनिष्ठव्यावहारिकसत्त्व का निषेध तो अद्वैतवादी ने किया नहीं, केवल प्रपञ्चनिष्ठतात्त्विकसत्त्व का ही निषेध किया है। अतः व्यावहारिकसत्त्वरूप प्रत्यक्ष के विषय का निषेध न होने से उसको तात्त्विक मानना चाहिए। यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह है कि यदि प्रपञ्चनिष्ठव्यावहारिकसत्त्व को तात्त्विक सिद्ध कर दिया जाय तब तो उस व्यावहारिकसत्त्व का आश्रयीभूतप्रपञ्च भी तात्त्विक सिद्ध हो जायेगा। प्रपञ्च के तात्त्विक सिद्ध हो जाने से मिथ्यात्वानुमान एवं अद्वैतश्रुति का अर्थ बाधित हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष का विषयीभूत जो व्यावहारिकसत्त्व है, उस सत्त्व के अधिकरण (प्रपञ्च) में ही अद्वैतश्रुति और मिथ्यात्वानुमान के द्वारा तात्त्विकसत्वाभाव सिद्ध कर दिया गया, तब प्रपञ्चनिष्ठव्यावहारिकसत्त्व को तात्त्विक कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् जब प्रत्यक्ष के विषयीभूत व्यावहारिकसत्त्व का अधिकरण प्रपञ्च ही तात्त्विक नहीं है, तब उस अतात्त्विक प्रपञ्च में रहनेवाला व्यावहारिकसत्त्व तात्त्विक कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार से पूर्वोक्त शङ्काओं का समाधान हो जाने से किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इन्हीं भावों को खण्डनकार ने स्वशब्दो में इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है— सुदृढ़ पारमार्थिक अद्वैततत्त्व का आश्रय कर के अद्वैतश्रुति, व्यावहारिकसत्त्व का

विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन''।। इति।

नन्वेवमप्यनौष्ण्यं तात्त्विकमिति तदनुमितिरपि न बाध्येत व्यावहारिकौष्ण्यग्राहिणाध्यक्षेण। एवं च ''आदित्यो यूपः'' इत्यादावपि—

''तात्त्विकादित्यतां यूपस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः।विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन''।।

इत्याद्यपि स्यादिति चेन्न; अनौष्ण्यं तात्त्विकं स्यादिति कोऽर्थः? यदि तत्त्वत औष्ण्यं नास्तीत्यर्थः, तदाऽद्वैते पर्यवसानादिष्टापत्तिः। यदि व्यवहारतोऽपि नास्तीति, तदा व्यवहाराविसंवादादिरूपपरीक्षित—त्वविशिष्टमौष्ण्यप्रत्यक्षं बाधकमिति नानौष्ण्यस्य तात्त्विकत्वसिद्धिः। एतेन शैत्यानुमानं व्याख्यातम्। एवमादित्ययूपभेदस्य तत्त्वतो व्यवहारतो वा निषेधे योज्यम्।। ४।।

श्रुतेरन्यशेषतयाऽऽदित्ययूपाभेदपरत्वाभावेन परीक्षितप्रत्यक्षविरोधेन गौणार्थतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

आश्रय कर के स्थित जो उपजीव्यरूपप्रत्यक्ष, उस उपजीव्यरूपप्रत्यक्ष से विरोध होने पर भी यत्किञ्चित् भी भयभीत न होकर प्रपञ्चसत्यत्व का पूर्णतया निराकरण कर देती है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि अद्वैतश्रुति का विषय तात्त्विक होने के कारण अद्वैतश्रुति उपजीव्यभूतप्रत्यक्ष से बाधित नहीं होती है, तब हम भी वह्निगत अनौष्ण्य को तात्त्विक मानकर यह कह सकते है कि तात्त्विक—अनौष्ण्यविषयकानुमिति व्यावहारिक—औष्ण्यग्राहिप्रत्यक्ष से बाधित नहीं होती है, अर्थात् वह्नि व्यावहारिकरूप से उष्ण होने पर भी पारमार्थिकरूप से अनुष्ण है, यह अनुमान से सिद्ध हो जाना चाहिए। इसी प्रकार 'आदित्यो यूपः' इत्यादि स्थल पर भी श्रुति, यूप और आदित्य के तात्त्विक अभेद की शरण का आश्रय कर के उपजीव्यभूत जो आदित्य और यूप का व्यावहारिकभेद है, उस भेद का ग्राही प्रत्यक्ष से विरोध होने पर भी कभी भयभीत नहीं होती है। अर्थात् आदित्य और यूप के तात्त्विक—अभेद का प्रतिपादन श्रुति करती है। इस प्रकार के अर्थ की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहें है कि पूर्वपक्षी ने वह्निगत—अनौष्ण्य को जो तात्त्विक कहा उसका क्या अर्थ है? यदि पूर्वपक्षी यह कहना चाहता है कि पारमार्थिकदृष्टि से वह्नि में औष्ण्य नहीं रहता है, तब तो इष्टापत्ति है, क्योंकि इससे अद्वैतवाद की प्राप्ति होगी। क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में द्वैतमात्र का, उसके आश्रय में तत्त्वतः निषेध किया जाता है। यदि पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य यह है कि वह्नि में व्यावहारिकदृष्टि से भी औष्ण्य नहीं है, तब तो व्यवहारकाल में सफलप्रवृत्त्यादिरूप परीक्षा से परीक्षित औष्ण्यप्रत्यक्ष ही अनौष्ण्यानुमिति का बाधक बन जायेगा। अतः अनौष्ण्य को तात्त्विक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार शैत्यानुमान के विषय में भी समझना चाहिए। यदि शैत्य तत्त्वतः नहीं है तो अद्वैत में पर्यवसान होने से इष्टापत्ति है और यदि वह्नि में व्यावहारिकदृष्टि से शैत्य मानते हो तो उसका व्यवहारकाल में सफलप्रवृत्त्यादिरूप परीक्षा से परीक्षित वह्निगत—औष्ण्यप्रत्यक्ष से बाध हो जायेगा। इसी प्रकार आदित्य और यूप में भेद तत्त्वतः नहीं है तो अद्वैत में पर्यवसान होने से इष्टापत्ति है। यदि व्यवहारकाल में आदित्य और यूप के भेद का निषेध करते हो तो, व्यवहारकालाबाध्य आदित्य और यूप के भेद का ग्राही परीक्षितप्रत्यक्ष के द्वारा उसका बाध हो जायेगा।।४।।

'यूपे पशुं बध्नाति' इस विधि का शेषरूप से सुना गया है— 'आदित्यो यूपः'। इस अर्थवादवाक्य का तात्पर्य विधि की प्रशंसा में है, न कि आदित्य और यूप का अभेद बतलाने में। अतः श्रुति के अतात्पर्यविषयीभूत जो आदित्य और यूप का अभेदरूप अर्थ है, उसमें परीक्षितप्रत्यक्षप्रमाण से विरोध होने के कारण श्रुति का गौणीवृत्ति से विधि की प्रशंसा में तात्पर्य माना जाता है। इस प्रकार 'आदित्यो यूपः' यह श्रुतिवाक्य अन्य का शेष होने के कारण इस श्रुतिवाक्य के साथ अद्वैत बोधकश्रुतिवाक्यों के साम्य का प्रदर्शन भी खण्डित हो गया। अर्थात् 'आदित्यो यूपः' यह श्रुतिवाक्य अन्य का शेष होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रखता है और अद्वैतश्रुति अनन्यशेष होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य रखती है। अतः सतात्पर्यक और निस्तात्पर्यकश्रुतियों में साम्य का आपादन करना अपनी अज्ञानता का प्रर्दशनमात्र है। सिद्धान्ती के द्वारा जब यह कहा गया कि अद्वैतश्रुति का तात्पर्य स्वार्थ में है तो उसको न सहन करता

स्तावकत्वोपपत्तेश्च। अत एव ''तात्त्विकादित्यतां यूपस्य'' इत्यादिनाऽद्वैतश्रुतेः 'आदित्यो यूपः' इत्यादिश्रुतिसाम्यापादनमपास्तम्। न चानुमितिसिद्धमिथ्यात्वग्राहकत्वे सत्यद्वैतश्रुतिरनुवादिका स्यात्, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिश्रुतिःप्रमाणान्तरगृहीतहिमनिवारणशक्त्यनुवादिकेति वाच्यम्; स्वस्वचमत्कारानुसारिणोऽनुमानस्य सकलसाधारण्याभावेन तस्य श्रुत्यनुवादकत्वाप्रयोजकत्वात्। तदुक्तं 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इत्यत्र वाचस्पतिमिश्रैः—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।। इति।

दृष्टान्तीकृतश्रुतौ तु हिमनिवृत्तिकारणताया वह्नौ सर्वसाधारणप्रत्यक्षार्थापत्तिभ्यामवसेयत्वाद् वैषम्यम्। तस्मान्मिथ्यात्वानुमानस्य न वह्निशैत्यानुमितिसाम्यम् ।। ५।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ मिथ्यात्वानुमानस्य शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः —

सत्यानन्दप्रबोधिका

हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि मिथ्यात्वसाधक—अनुमान के द्वारा सिद्ध जो मिथ्यात्व की अनुमिति, उस अनुमिति के द्वारा अधिगत जो मिथ्यात्व, उसका ग्राहक अद्वैतश्रुति के होने के कारण अद्वैतश्रुति को अनुवादिका मानना चाहिए। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यह श्रुतिवाक्य प्रत्यक्षप्रमाण से गृहीत वह्निनिष्ठहिमनिवारकता का अनुवादकमात्र है। यहाँ पर अनुमान का आकार इस प्रकार है— 'अद्वैतश्रुतिः अनुवादिका, प्रमाणान्तरसिद्धार्थग्राहकत्वात्, अग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिश्रुतिवाक्यवत्'। ऐसा होने पर अद्वैतश्रुति का स्वार्थ (अद्वैत) मे तात्पर्य न होकर अन्य में (भेद में) तात्पर्य स्वीकार करने पर अर्थवादवाक्यों से वैलक्षण्य अद्वैतश्रुति में सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि दोनों का ही स्वार्थ में तात्पर्य नहीं माना गया। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निर्विवादसिद्ध अर्थ के बोधक शब्द को अनुवादक कहा जाता है। अनुमान के द्वारा सिद्ध विषयों को सर्वमान्य—सिद्धविषय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान तो प्रयोक्ता के बुद्धि—प्रतिभा आदि का चमत्कार मात्र होता है। कोई भी एक अनुमान सर्वमान्य नहीं होता है। जैसे इसी मिथ्यात्वानुमान में ही दोष दिखाता हुआ द्वैतवादी उसको स्वीकार नहीं करता है। अतः अनुमितिसिद्ध—मिथ्यात्वग्राहकत्व को अद्वैतश्रुति में अनुवादकत्व का साधक नहीं माना जा सकता है। इन्हीं भावों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है— 'तर्काप्रतिष्ठानात्...' (ब्र.सू. २/१/११)। अर्थात् तर्क या अनुमान को सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता है। इसी रहस्य को आचार्यवाचस्पतिमिश्र ने भामती में वाक्यप्रदीपकार श्री भर्तृहरि के वचनों से सुस्पष्ट किया है— किसी प्रखरप्रबुद्धतार्किक के द्वारा अतियत्न से तर्कितपदार्थ को उससे अधिक प्रवीणप्रज्ञावाला तार्किक के द्वारा पूर्वोक्तपदार्थ से भिन्न प्रकार का ही तर्कितपदार्थ सिद्ध कर दिया जाता है। भगवान् भाष्यकार ने भी 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस सूत्र के भाष्य में कहा है— 'कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्तैरन्यैराभाष्यमाणा दृश्यन्ते तैरपि उत्प्रेक्षिताः सन्तः ततोऽन्यैराभाष्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्'। अतः केवल एक मिथ्यात्वानुमान के विषय की ग्राहिका अद्वैतश्रुति सर्वमत से अनुवादिका नहीं कही जा सकती है। अन्यथा नैयायिक के ईश्वरानुमान का अनुवादक 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १/१/२) यह सूत्र और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै.उ. ३/१) इत्यादि श्रुतिवाक्यों को भी मानना पडेगा। पूर्वपक्षी ने दृष्टान्त के रूप में 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इस श्रुतिवाक्य को जो उद्घृत किया है, यह श्रुतिवाक्य अवश्य ही अनुवादक है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अर्थापत्तिप्रमाण ('वह्नौ यदि हिमनिवारकशक्तिर्न स्यात् तर्हि वह्नौ सर्वमान्यौष्ण्यानुभवो न स्यात्') के द्वारा निर्णीत वह्नि में शीतनिवारकता सर्वसम्मत है। अतः अद्वैतश्रुति अनुवादिका न होने से और दृष्टान्तवाली श्रुति अनुवादिका होने से दृष्टान्त—दार्ष्टान्त में वैषम्य है। अतः प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का वह्निशैत्यानुमान से साम्यता का आपादन नहीं किया जा सकता है।।५।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां मिथ्यात्वानुमानस्य शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः —

२४: प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वविचारः

किञ्च परीक्षितत्वेनैव प्राबल्यम्, नोपजीव्यत्वादिना; अनुमानशब्दबाध्यत्वस्य प्रत्यक्षेऽपि दर्शनात्। तथा हि 'इदं रजतम्' इति प्रत्यक्षस्यानुमानाप्तवचनाभ्याम्, नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन, 'गौरोऽहम्' इत्यस्य 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इत्यस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य चानुमानागमाभ्यां 'पीतः शङ्खस्तिक्तो गुडः' इत्यादेश्चानुमानाप्तवचनाभ्यां बाधो दृश्यते ॥ १॥

कैलासविद्याप्रकाशिका

किञ्च परीक्षितत्व रूप से ही प्रमाणों का प्राबल्य होता है, उपजीव्यत्व ज्येष्ठत्वादि द्वारा नहीं, क्योंकि अनुमान और शब्द से प्रत्यक्ष का भी बाध्यत्व देखने में आता है। जैसे ''इदं रजतम्'' इत्याकारक प्रत्यक्ष का अनुमान और आप्तवचन से बाध देखा जाता है। नभ की नीलता के प्रत्यक्ष का आकाशधर्मिकनिरूपत्वग्राहक अनुमान से बाध देखा जाता है इसी प्रकार ''गौरोऽहम्'' इत्याकारक प्रत्यक्ष का, ''अहमिहैव............'' इत्याकारक प्रत्यक्ष का और चन्द्रप्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष का अनुमान और आगम से बाध होता है। ''पीतः शंङ्खः'' ''तिक्तो गुडः'' इत्यात्मक प्रत्यक्षों का भी अनुमान और आप्तप्रवचन से बाध देखा जाता है।।१।।—।।२।।—।।३।।—।।४।।—।।५।।—।।६।।—।।७।।—।।८।।—।।९।।—।।१०।।—।।११।।—।।१२।।—।।१३।।

इति कैलासविद्याप्रकाशिकायां प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती का कथन है कि कोई भी प्रमाण किसी अन्य प्रमाण से प्रबल तभी होता है, जब उसमें परीक्षितत्व रहता है, न कि उपजीव्यत्वादि के रहने से कोई प्रमाण अन्य प्रमाण की अपेक्षा प्रबल होता है। अर्थात् सिद्धान्ती के कथनानुसार व्याप्ति यह है– 'यत्र यत्र परीक्षितत्वं तत्र तत्र प्रमाणान्तरापेक्षया प्राबल्यम्'। पूर्वपक्षी के मतानुसार व्याप्ति का आकार यह है– 'यत्र यत्र उपजीव्यत्वादि तत्र तत्र प्रमाणान्तरापेक्षया प्राबल्यम्'। अतः उपजीव्यप्रत्यक्ष उपजीवक मिथ्यात्वानुमान की अपेक्षा से प्रबल होने के कारण उसके द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति में व्यभिचारदोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उपजीवकानुमान और शब्दप्रमाण के द्वारा भी तो कहीं कहीं पर उपजीव्यप्रत्यक्ष का बाध होता है। अतः पूर्वपक्षी की व्याप्ति व्यभिचारदोष से ग्रस्त है। जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रकार के उपजीव्यप्रत्यक्ष का उपजीवकानुमान ('इदं रजतमिति ज्ञानं, भ्रमात्मकं, विफलप्रवृत्तिजनकत्वात्') और 'नेदं रजतम्' इस उपजीवक–आप्तवाक्य के द्वारा बाध होता है। इसी प्रकार गगनगत नीलिमा के उपजीव्य–प्रत्यक्ष का रूपाभावग्राहक उपजीवकानुमान ('नभो रूपात्यन्ताभाववत्, चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायि–रूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वात्, रूपवत्') के द्वारा बाध होता है। एवं 'अहं गौरः' इस उपजीव्यप्रत्यक्ष का उपजीवकानुमान (अहं गौर इति ज्ञानं भ्रमः, बाध्यत्वात्, इदं रजतमितिज्ञानवत्) और उपजीवक–आगम ('तत्त्वमसि' इत्यादि) के द्वारा बाध होता है। 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इस प्रकार के उपजीव्यप्रत्यक्ष (परिच्छिन्नत्व के भ्रमरूपप्रत्यक्ष) का उपजीवकानुमान ('इदं ज्ञानं भ्रमः, बाध्यत्वात्, इदं रजतमिति ज्ञानवत्') और उपजीवक–आगम ('तत्त्वमसि' इत्यादि) के द्वारा बाध हो जाता है। 'प्रदेशमात्रे चन्द्रः' इस प्रकार के उपजीव्यप्रत्यक्ष का उपजीवकानुमान ('चन्द्रप्रादेशिकज्ञानं भ्रमः, दूरदोषनिबन्धनत्वात्, शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिवत्') और उपजीवक ज्योतिश्शास्त्र के द्वारा बाध होता है। 'पीतः शङ्खः' इस उपजीव्यप्रत्यक्ष का उपजीवकानुमान (अयं शङ्खो न पीतः, शङ्खत्वात्, स्मर्यमाणशङ्खवत्) और उपजीवक आप्तवाक्य (शङ्खो न पीतः) के द्वारा बाध होता है। 'तिक्तो गुडः' इस उपजीव्यप्रत्यक्ष का उपजीवकानुमान (अयं गुडो न तिक्तः, गुडत्वात्, स्मर्यमाणगुडवत्) और उपजीवक आप्तवचन (गुडो न तिक्तः) के द्वारा बाध होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्थलों पर उपजीव्यत्व के रहने पर भी उनमें प्रबलता न होने से पूर्वपक्षी की व्याप्ति में व्यभिचारदोष है।। १।।

ननु साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेषदर्शनमेव विरोधीत्यभ्युपेयम्; अन्यथा परोक्षप्रमाया अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वोपपतौ वेदान्तवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वव्युत्पादनप्रयासो व्यर्थः स्यादिति चेत् ।। २।।

न; 'नायं सर्पः' इत्यादिवाक्यादिना सविलासाज्ञाननिवृत्त्यभावेऽपि भ्रमगताप्रमाणत्वज्ञापनेन भ्रमप्रमाणत्वबुद्धेस्तद्विषयसत्यताबुद्धेश्च निवर्तनात्, तावता च भ्रमनिवर्तकत्वव्यपदेशात्,भ्रमे

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती ने प्रत्यक्षभ्रम का परीक्षित अनुमान और आगम के द्वारा बाध कहा। इसको सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है— प्रत्यक्षभ्रम का बाधक विशेषदर्शनरूपप्रत्यक्ष को ही मानना चाहिए, न कि अनुमान और आगम को। यदि अनुमान और आगम (परोक्षप्रमा) के द्वारा प्रत्यक्षभ्रम का बाध मानेंगे तो परोक्षप्रमा के द्वारा ही अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति की उपपत्ति हो जाने पर वेदान्तवाक्यों में अपरोक्षज्ञान की जनकता का प्रतिपादन करना व्यर्थ है। अर्थात् वाक्य तो स्वभावतः परोक्षज्ञान के जनक होते ही है। फिर भी सिद्धान्ती के द्वारा—वेदान्तमहावाक्यों से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है— ऐसा जो समर्थन किया जाता है वह व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती ने परोक्षप्रमा के द्वारा अपरोक्षभ्रमनिवृत्ति स्वीकार कर लिया। अर्थात् जीवब्रह्मभेद की भ्रान्ति प्रत्यक्षरूपा है। उस भ्रान्ति की निवृत्ति परोक्षप्रमा से हो नहीं सकती है। इसलिए सिद्धान्ती के द्वारा वेदान्तमहावाक्यों में अपरोक्षज्ञान की जनकता मानी जाती है। परोक्षप्रमा से उक्तभ्रान्ति की निवृत्ति सम्भव हो जाने पर परोक्षज्ञान की जनकतारूप शब्द का जो स्वभाव है उसको छोडकर शब्द में अपरोक्षज्ञान की जनकता का निरूपण करना व्यर्थ है। यहाँ पर दो पक्ष है। उसमें से प्रथमपक्ष यह है कि सिद्धान्ती अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति अपरोक्षप्रमा से मानते है और द्वितीयपक्ष यह है कि परोक्षभ्रम की निवृत्ति परोक्षप्रमा और अपरोक्षप्रमा दोनों से मानते है। पूर्वपक्षी ने प्रथमपक्ष (अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति अपरोक्षप्रमा से होती है) को ध्यान मे रखकर शङ्का की है।।२।।

सिद्धान्ती का कथन है कि अपरोक्षप्रमा से अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति होती है, किन्तु जहाँ पर परोक्षप्रमा के द्वारा अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति कही गयी है, वहाँ गौणरूप से कही गयी है। गौणरूप से क्यों कही गयी? इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि 'नायं सर्पः' इत्यादि आप्तवाक्यों से जनित परोक्षप्रमा के द्वारा सर्पाध्यास सहित रज्जु—विषयक—अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी परोक्षप्रमा के द्वारा भ्रम में रहनेवाला अप्रमात्व के बोधन के माध्यम से भ्रम में परोक्षप्रमा से पहले जो प्रमात्वबुद्धि थी, उस बुद्धि की और भ्रम के विषय में परोक्षप्रमा से पहले जो सत्यत्वबुद्धि थी, उस बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार परोक्षप्रमा के द्वारा भ्रम में प्रमात्वबुद्धि और भ्रम के विषय में सत्यता बुद्धि की निवृत्ति हो जाने पर गौणरूप से परोक्षप्रमा में अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्व का कथन किया जाता है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि अप्रमाभूत भ्रम में प्रमात्व का जो भ्रम है वह अपरोक्ष है या परोक्ष? यदि अपरोक्ष है तो परोक्षप्रमा से निवृत्त नहीं हो सकता है। भ्रमगतप्रमात्व के ज्ञान को परोक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जब भ्रम अपरोक्ष है, तब उसमें होने वाला प्रमात्व का भ्रम ज्ञान का भी अपरोक्ष होना चाहिए। इस शङ्का का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भ्रमगतप्रमात्वभ्रम तथा भ्रम के सर्पादिविषयगतसत्यत्वभ्रम को अपरोक्षभ्रम नहीं माना जाता है। अपितु परोक्षभ्रम ही माना जाता है। क्योंकि भ्रमगतप्रमात्व का भ्रमज्ञान अनुमान ('मदीयं ज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्') से होता है और भ्रम के विषय में सत्यत्व का भ्रमज्ञान भी अनुमान (मदीयं ज्ञानं यथार्थविषयकं, अबाधितविषयकत्वात्) से होता है। अतः भ्रमगतप्रमात्वभ्रम और सर्पादिविषयगतसत्यत्वभ्रम परोक्ष होने के कारण उसको बाध करने के लिए अपरोक्षज्ञान की आवश्यकता नहीं पडती है। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का थी कि भ्रम जब अपरोक्ष है तो उसमें होने वाला प्रमात्वभ्रम

प्रामाण्यविभ्रमस्य तद्विषये सत्यताविभ्रमस्य च परोक्षत्वेनापरोक्षबाधानपेक्षत्वात्। नहि दुष्टकरणाजन्यत्वमबाधितविषयत्वं वा प्रामाण्यं कस्यचित् प्रत्यक्षम्। न वा सर्वदेशसर्वकाल—सर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपं विषयसत्यत्वम्। अतस्तयोः परोक्षप्रमाबाध्यत्वमुचितमेव। तयोश्च बाधितयोः रजतादिभ्रमः स्वरूपेण सन्नपि स्वकार्याक्षमत्वादसन्निवेति बाधित इत्युच्यत इत्यनवद्यम्।। ३ ।।

ननु 'इदं रजतम्' इत्यत्र सयुक्तिकं प्रत्यक्षं बाधकं न तु युक्तिमात्रम्, 'गौरोऽहम्' इत्यत्रापि मम शरीरमिति बलवत् प्रत्यक्षमेव बाधकम् 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' इति तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

तथा सर्पादिविषयगतसत्यत्वभ्रम को भी अपरोक्ष मानना चाहिए, इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दुष्टकरण— अजन्यत्वरूप—प्रमात्व अथवा अबाधितविषयत्वरूपप्रमात्व का किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि दुष्टकरणाजन्यत्वरूपप्रमात्व का घटक करण (इन्द्रिय) का ही जब प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब तद्घटितप्रमात्व का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अबाधितविषयत्वरूपप्रमात्व के लक्षण में यद्यपि विषय का प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु विषय में रहने वाला भाविकालाबाधितत्व, अर्थात् भाविकाल में विषय का बाध नहीं होगा, इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो वर्तमानमात्रग्राही होता है। अतः अबाधितविषयत्वरूपप्रमात्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सर्वदेशकालसर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपविषयसत्यत्व का भी किसी पुरुष के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सर्वदेशकालादि का किसी को प्रत्यक्ष होता ही नहीं है। अतः सर्वदेशादि से घटित सत्यत्व का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः भ्रमगतप्रमात्वबुद्धि और भ्रम के सर्पादिविषयगतसत्यत्वबुद्धि का परोक्षप्रमा के द्वारा बाध करना उचित ही है। भ्रमगतप्रमात्वबुद्धि एवं उसके विषयगतसत्यत्वबुद्धि के बाधित हो जाने पर रजतादिभ्रम स्वरूप से रहने पर भी भ्रम के कारण होने वाली प्रवृत्ति—आदि व्यवहार का सम्पादन नहीं कर सकता है। अतः वह रजतभ्रम न रहने के बराबर होने के कारण गौणरूप से बाधित कहा जाता है। अतः प्रत्यक्षभ्रम का परोक्षप्रमा से बाध मानने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।।३।।

पूर्वपक्षी का कहना है कि 'इदं रजतम्' इत्यादि प्रत्यक्षभ्रम का बाध युक्ति (अनुमान) के सहित प्रत्यक्षप्रमाण से ही होता है, केवल युक्ति (अनुमान) से नहीं होता है। क्योंकि युक्ति से परोक्षज्ञान ही होता है। परोक्षज्ञान से अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति होती नहीं है। 'गौरोऽहम्' इत्यादि अपरोक्षभ्रम का 'मम शरीरम्' इस प्रकार आत्मा और शरीर के भेद को बतलानेवाले सबलप्रत्यक्ष के द्वारा ही बाध होता है, न कि अनुमान ('अहं गौरः' इति ज्ञानं भ्रमः, बाध्यत्वात्, इदं रजतमितिज्ञानवत्) के द्वारा बाध होता है। 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' यह ज्ञान तो प्रमात्मक है, क्योंकि जीव अणुपरिमाण वाला होता ही है। उसमें परिच्छिन्नत्व का भान होना यथार्थ ही है। अतः उक्त ज्ञान अनुमानादि से बाधित नहीं होता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत के अभेद का भ्रमात्मकप्रत्यक्ष और आत्मा में शरीर के अभेद का भ्रमात्मकप्रत्यक्ष जब विद्यमान हो तब यदि युक्ति के द्वारा शुक्ति आदि और रजतादि के भेदज्ञान के प्रतिबन्धकीभूत उक्त अभेदभ्रमप्रत्यक्ष को अक्षम नहीं बनाया जाता, अर्थात् युक्ति जब तक उक्त अभेदभ्रमात्मकप्रत्यक्ष को हटाती नहीं, तब तक शुक्ति और रजत के भेदग्राहिप्रत्यक्ष और आत्मा एवं शरीर के भेदग्राहिप्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः उक्त भ्रमात्मकप्रत्यक्ष के उत्तरजायमान और उक्त भेदग्राहिप्रत्यक्ष से पूर्ववृत्ति युक्ति को ही उक्त भ्रम का बाधक मानना चाहिए। पूर्वपक्षी ने अभी पूर्व में 'गौरोऽहम्' इस प्रतीति को भ्रमात्मक मानकर 'मम शरीरम्' इस भेदग्राहिप्रत्यक्ष के द्वारा बाधित माना था। अब इस प्रतीति को गौणात्मक मान कर कह रहा है कि 'गौरोऽहम्' यह प्रतीति भ्रमात्मक नहीं है, किन्तु गौणात्मक है। जैसे परम्परासम्बन्ध से कर्दम (कीचड) से युक्त वस्त्र में 'नीलं वस्त्रम्' ऐसी गौणात्मक

प्रमाणमेव जीवस्याणुत्वादिति चेन्न; रजताभेदशरीराभेदप्रत्यक्षयोर्जाग्रतोः युक्त्या प्रतिबन्धाक्षमत्वे तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेरेवानवकाशात्। न च तत्र परम्परासम्बन्धेन कर्दमलिप्ते वस्त्रे 'नीलं वस्त्रम्' इतिवत् 'गौरोऽहम्' इति गौणम्; कर्दमवस्त्रयोरिव शरीरात्मनोर्भेदानध्यवसायेन दृष्टान्तदार्ष्टान्ति—कयोर्वैषम्यात्। तथा चात्रैक्याध्यास एवोचितः।। ४।।

एवञ्च 'उष्णं जलम्' इत्यत्रापि यदि कर्दमवस्त्रयोरिव तोयतेजसोर्भेदग्रहः, तदा गौणतैव। यदि च शरीरात्मवद् भेदानध्यवसायस्तदाऽध्यास एव; तथा च युक्तिबाध्यमेवेति तदप्युदाहरणम्। यत्त्वहमिहैवेति प्रमाणमित्युक्तं तन्न; आत्मन 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इति सर्वगतत्वेन इहैवेति व्यवच्छेदस्याप्रामाणिकत्वात्। न च जीवोऽणुः, युगपदेव पादशिरोऽवच्छेदेन सुखदुःखानुभवात्। न ह्येकोऽणुरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छिन्नो भवति। न च युगपत्प्रतीतिर्भ्रमः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतीति होती है, उसी प्रकार परम्परासम्बन्ध से गौरवर्ण से सम्बद्ध आत्मा में 'गौरोऽहम्' ऐसी गौणप्रतीति होती है। दृष्टान्त में परम्परासम्बन्ध स्वाश्रयसंयोगित्वसम्बन्ध होगा (स्व—नीलिमा, उसका आश्रय—कर्दम, उसका संयोगित्व वस्त्र में है)। दार्ष्टान्त में परम्परासम्बन्ध स्वाश्रयतादात्म्यसम्ब—न्धित्वसम्बन्ध होगा। (स्व—गौरवर्ण, उसका आश्रय देह, उसका तादात्म्यसम्बन्धित्व आत्मा में है)। इस प्रकार 'गौरोऽहम्' यह प्रतीति गौण होने के कारण इसका अनुमानादि से बाध नहीं कहा जा सकता है। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ पहले से भेदज्ञान रहता है वहीं पर गौणप्रयोग होता है, दृष्टान्त में नील जो कर्दम उसके साथ वस्त्र का भेदज्ञान रहता है। अतः 'नीलं वस्त्रम्' ऐसा गौणप्रयोग हो जाता है। किन्तु दार्ष्टान्त में 'गौरोऽहम्' इस प्रकार के व्यवहार के समय शरीर और आत्मा के भेद का निश्चय नहीं रहता है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य होने के कारण 'गौरोऽहम्' इस प्रतीति को गौणात्मक न मानकर भ्रमात्मक ही मानना उचित है। उस भ्रम का बाध अनुमानादि के द्वारा होता है। इसका निरूपण पीछे किया जा चुका है।।४।।

इसी प्रकार 'उष्णं जलम्' इस स्थल पर भी यदि कर्दम और वस्त्र के भेद के समान उष्ण जो तेज है उसके साथ जल का यदि भेदज्ञान रहता है तब तो 'उष्णं जलम्' इस प्रतीति को गौणात्मकप्रतीति कहा जायेगा। यदि शरीर और आत्मा के भेद के अनिश्चय के समान तेज और जल के भेद का अनिश्चय हो, तब 'उष्णं जलम्' इस प्रतीति को भ्रमात्मक ही मानना चाहिए। इस भ्रमात्मकप्रतीति का बाध अनुमान ('जलं शीतस्पर्शवत्, जलत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा तेजः') के द्वारा ही होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का अनुमान से बाध मानने में 'उष्णं जलम्' इसको भी दृष्टान्त बनाया जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन था कि आत्मा अणुपरिमाणवाला होने के कारण 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' यह प्रतीति प्रमात्मक है, वह उचित नहीं है, क्योंकि 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा का विभुत्व जब प्रामाणिक है, तब उसे अणुपरिमाणवाला नहीं माना जा सकता है। इसलिए सर्वगत—आत्मा में 'अहमिहैव...' इस प्रकार से जो परिच्छिन्नता की प्रतीति होती है, उसको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी ने जो जीव को अणु कहा था वह ठीक नहीं है, क्योंकि पैरों से लेकर शिर तक एक ही काल में सुख—दुःख का अनुभव होता है। अणुपदार्थ एक ही काल में दो व्यवहितदेशों (पैर और शिर) में नहीं रह सकता है। इस पर पूर्वपक्षी यदि कहता है कि जैसे दीपशिखा में क्रमिकशिखा होने पर भी उसमें यौगपद्य की प्रतीति भ्रमात्मक होती है, ठीक उसी प्रकार पाद और शिर में सुखादि की अनुभूति वास्तव में क्रम से होती है, किन्तु उसमें जो यौगपद्य का भान है, वह भ्रममात्र है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रतीति में निर्विवादपूर्वक सर्वजनसिद्ध जो प्रमात्व है उसके परित्याग का कोई कारण

उत्सर्गसिद्धप्रामाण्यपरित्यागे बीजाभावात्। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः।। ५।।

ननु नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन न बाधः लिङ्गाभावात्, न च परममहत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वादेर्लिङ्गत्वम्; त्वन्मतेऽसिद्धेः। निःस्पर्शत्वन्तु तमसि व्यभिचारि। पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादि चाप्रयोजकम्। तथा च नीरूपत्वग्राहकसाक्षिप्रत्यक्षमेव तद्बाधकं वाच्यम्। न च रूपग्रहणासमर्थस्य साक्षिणः कथं नीरूपत्वग्राहकत्वमिति वाच्यम्, पिशाचाग्राहकस्यापि चक्षुषस्तदभावग्राहकत्ववदुपपत्तेः, परेणापि साक्षिणोऽपि रूपवत्तमोग्राहक—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी नहीं बतला सकता है। जीव का परिमाण अणु नहीं होता है, इस पर विस्तार से चर्चा द्वितीयपरिच्छेद के अन्तिमप्रकरण (जीवाणुत्वखण्डन) में की जायेगी।। ५।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि आकाशगत नीलिमा के प्रत्यक्ष का बाधक रूपात्यन्ताभावावगाहि—चाक्षुषप्रत्यक्ष ही होता है। रूपात्यन्ताभावावगाही अनुमान के द्वारा गगनगतनीलिमा के प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता है, क्योंकि गगन में रूप के अत्यन्ताभाव को सिद्ध करने वाला कोई हेतु ही नहीं है। 'नभो रूपात्यन्ताभाववत्, परममहत्परिमाणवत्त्वात्, द्रव्यानारम्भकत्वात्, निःस्पर्शत्वाद् वा, आत्मवत्' इस प्रकार आकाश में रूप के अत्यन्ताभाव को सिद्ध करने वाले परममहत्परिमाणवत्त्वादि को हेतु नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में ब्रह्म को छोडकर कोई भी पदार्थ परमहत्परिमाणवाला नहीं होता है। अतः प्रथम हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष है। इसी प्रकार द्वितीय हेतु द्रव्यानारम्भकत्व भी स्वरूपासिद्धिदोष से ग्रस्त है, क्योंकि आकाश से वायु की उत्पत्ति मानी जाती है। अतः पक्ष में हेतु न जानें से स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इसी प्रकार अन्त्यावयवी घटादि में हेतु के रहने पर भी साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष भी होगा। तृतीय निःस्पर्शत्व हेतु भी सिद्धान्ती के द्वारा मान्य अन्धकार द्रव्य में व्यभिचारी है। क्योंकि वहाँ पर हेतु है, किन्तु साध्य (रूपात्यन्ताभाव) को तम में स्वयं सिद्धान्ती नहीं स्वीकार करते है। आकाश में रूपात्यन्ताभाव की सिद्धि के लिए 'पृथिव्यादिद्रव्यत्रयभिन्नत्वे सति भूतत्वम्' को हेतु नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि यह हेतु व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्क से शून्य है। अर्थात् 'गगनं रूपात्यन्ताभाववत्, पृथिव्यादिद्रव्यत्रयभिन्नत्वे सति भूतत्वात्, वायुवत्' इस अनुमान में यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि— 'पृथिव्यादिद्रव्यत्रयभिन्नत्वे सति भूतत्वं स्याद् नीरूपत्वं न स्यात्', तो इस प्रकार की व्यभिचारशङ्का का निवर्तक कोई तर्क नहीं है। अतः गगन में रूपात्यन्ताभाव का ग्राहक साक्षिप्रत्यक्ष को ही 'नीलं नभः' इस भ्रम का बाधक मानना चाहिए। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि— 'येनेन्द्रियेण प्रतियोगी गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तदभावोऽपि गृह्यते' ऐसा नियम होने के कारण गगनगतनीलरूपात्यन्ताभाव का प्रतियोगी नीलरूप बाह्यपदार्थ होने के कारण साक्षी के द्वारा उसका ग्रहण न होने से, साक्षी के द्वारा उसके अभाव का भी ग्रहण नहीं हो सकता है। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्षस्थल पर तार्किकसम्मत यह नियम है कि अधिकरण को प्रत्यक्ष के योग्य होना चाहिए, न कि प्रतियोगी को प्रत्यक्ष के योग्य होना चाहिए। जैसे प्रतियोगी पिशाच का चाक्षुषप्रत्यक्ष न होने पर भी भेद का अधिकरणीभूत स्तम्भ का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने से 'स्तम्भः पिशाचो न' इस प्रकार से भेदज्ञान चक्षु से होता है, इसी प्रकार प्रकृत में प्रतियोगी नीलरूप का साक्षी से ग्रहण न होने पर भी अभाव के अधिकरणीभूत गगन का साक्षी से ग्रहण होता है। सिद्धान्ती गगन का साक्षिप्रत्यक्ष मानते है। जैसे कि लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है— 'चक्षुःसंयोगविशिष्टालोकावच्छिन्ननभः साक्षिवेद्यम्, अतादृशे (आलोकानवच्छिन्ने) नभसि आवरणस्वीकारात्'। अतः गगन में नीलरूप के अत्यन्ताभाव का ग्रहण साक्षी से हो जायेगा। दूसरी बात यह भी है कि अद्वैतवेदान्ती साक्षी को रूपग्रहण के अयोग्य नहीं मानते है, क्योंकि रूपवाले अन्धकार द्रव्य का ग्राहक

त्वाभ्युपगमाच्च, अचाक्षुषेऽपि नभसि वायाविव चक्षुषैव रूपाभावग्रहणसम्भवेन चाक्षुषप्रत्यक्ष–बाधादिति चेन्न।। ६।।

'नीलं नभः' इति प्रत्यक्षे जाग्रति रूपाभावग्रहणस्य चक्षुषा साक्षिणा चासम्भवात्। तथा च बलवती युक्तिरेव तद्बाधिका। न च लिङ्गाभावः, चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधा–यिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वाद् रूपवदिति लिङ्गसम्भवात्। न चाप्रयोजकत्वम्; नभो यदि

सत्यानन्दप्रबोधिका

साक्षी को मानते है। अतः साक्षी रूपग्रहण में असमर्थ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि नभ का चक्षु से प्रत्यक्ष न होने पर भी नभ में रूपाभाव का प्रत्यक्ष चक्षु के द्वारा ही होता है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि रूपात्यन्ताभाव का अतीन्द्रिय नभ में चक्षु के द्वारा कैसे प्रत्यक्ष होगा? उसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे अचाक्षुषवायु में रूपाभाव का ग्रहण चक्षु के द्वारा होता है, उसी प्रकार अचाक्षुषनभ में भी रूपाभाव का ग्रहण चक्षु के द्वारा हो जायेगा। अतः 'नीलं नभः' इस भ्रम का बाध चाक्षुषप्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है, न कि अनुमानादि के द्वारा। इस प्रकार की पूर्वपक्षी की शङ्का उचित नहीं है।।६।।

सिद्धान्ती का कथन है कि तद्वत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है। अतः जब तक चक्षुरूपप्रत्यक्षप्रमाण से गगन में नीलिमा का प्रत्यक्ष हो रहा है तब तक उसी गगन में नीलिमा के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष न तो चक्षुरूपप्रत्यक्षप्रमाण से हो सकता है और न साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा ही हो सकता है। वायु में रूप के अत्यन्ताभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष इस लिए हो जाता है कि वायु में रूपात्यन्ताभाव का विरोधी रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से नहीं हो रहा है। गगन में नीलरूप का प्रत्यक्ष हो रहा है। अतः रूपाभावप्रत्यक्ष का विरोधी रूपप्रत्यक्ष के रहने के कारण गगन में रूपात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष चक्षु या साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता है। अतः 'नीलं नभः' इस प्रत्यक्ष की बाधिका बलवती युक्ति को ही मानना चाहिए। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि गगन में रूपात्यन्ताभाव का साधक कोई हेतु ही नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन असङ्गत है। क्योंकि 'नभो रूपात्यन्ताभाववत्, चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषय–त्वात्, रूपवत्' इस प्रकार से अनुमान किया जा सकता है। पक्ष में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा—चक्षु के रहने पर समीपस्थ आलोकावच्छिन्न नभ में रूपाभाव की प्रतीति होती है और चक्षु के न रहने पर समीपस्थ आलोकावच्छिन्न नभ में रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती है। ऐसी जो चक्षु के साथ अन्वयव्यतिरेकानुविधायी जो 'नभो नीरूपम्' इस प्रकार की प्रतीति, उस प्रतीति का रूपरहित पदार्थ (नभ) विषय है। अतः विषय नभ होने से विषयत्व नभ (पक्ष) में गया। यहाँ पर प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती गगन में रूप के अत्यन्ताभाव का अनुविधान चक्षु से कैसे मान रहे है? जबकि सिद्धान्त में अरूपिपदार्थ नभ का साक्षिप्रत्यक्ष माना जाता है। इसका उत्तर यह है कि हमको जो दस फूट दूर से स्थित दीवाल दिखायी पडती है, वह नहीं दिखायी पडती यदि मध्य में कोई रूपवद् द्रव्य रहता। अतः मध्य में स्थित आकाश में रूपाभाव की प्रतीति चक्षु की सहायता से ही होती है। यहाँ पर विशेष बात यह है कि अरूपिपदार्थ नभ का ज्ञान साक्षी से होता है, किन्तु चक्षु की सहायता से होता है। इसलिए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है—'चक्षुःसंयोगविशिष्टालोकावच्छिन्नं नभः साक्षिवेद्यम्' अर्थात् चक्षुसंयोग से विशिष्ट जो आलोक उससे अवच्छिन्न नभ को साक्षिवेद्य माना जाता है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा— चक्षु के रहने पर रूप की प्रतीति होती है और चक्षु के न रहने से रूप की प्रतीति नहीं होती है। चक्षु के साथ इस अन्वयव्यतिरेक का अनुविधायी जो प्रतीति उस प्रतीति का विषय रूपरहितपदार्थ रूप है। अतः विषयत्व रूप में गया। दृष्टान्त में साध्य रूपाभाव है, क्योंकि गुण में गुण न मानने के कारण रूप में रूप नहीं रहता

सरूपं स्यात् तदा चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतीतौ रूपासम्बन्धितया विषयो न स्यादिति तर्कोपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः; सविधे रूपासम्बन्धितया नभसः सिद्धेः सर्वजनसम्मतत्वात्। नभसः साक्षिवेद्यतायामपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधानमवर्जनीयमेव। अन्यथाऽन्धस्यापि तद्ग्रहणं स्यात् ॥ ७॥

न च पञ्चीकरणाद्रूपवदारब्धत्वेन नभसो नीरूपत्वं बाधितमिति वाच्यम्; त्रिवृत्करणपक्षेऽस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इस प्रकार उक्त अनुमान के द्वारा ही नभ में रूपात्यन्ताभाव की सिद्धि होती है, न कि चाक्षुषप्रत्यक्ष अथवा साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा। उक्त अनुमान का हेतु बाधकतर्क से शून्य नहीं है, क्योंकि यदि आकाश रूपवान् होता तब चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतीति में आकाश रूप से असम्बन्धित होकर प्रतीत न होता हुआ रूपवत्त्वेन प्रतीत होता। इस प्रकार अनुकूलतर्क से युक्त होकर हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में पूर्णरूप से सक्षम है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि 'यदि सरूपं स्यात् ..' इत्याकारक तर्करूपापत्ति आप ने जो उपस्थित किया वह हमें इष्ट ही है। अर्थात् हमारे मत में जब भी आकाश की प्रतीति होती है, तब 'नीलरूपवन्नभः' इस प्रकार से रूप से विशेषित होकर ही होती है, कभी भी रूप से रहित आकाश की प्रतीति नहीं होती है। तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि दूर–दूर गगन में नीलरूपवत्ता का भ्रम होने पर भी समीप गगन में रूपवत्ता की प्रतीति नहीं होती है। चक्षुःसंयोगविशिष्टालोकावच्छिन्ननभ ही साक्षिवेद्य है, चक्षुःसंयोगविशिष्टालोक से अनवच्छिन्न नभ साक्षिवेद्य नहीं है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान आकाश को साक्षिवेद्य मानने पर भी आवश्यक है। यदि चक्षु के उक्त अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान न मानकर केवल साक्षिवेद्य ही आकाश को मानोगे तो अन्धे को भी आकाश के भान होने की आपत्ति होगी।।७।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि पञ्चीकरण के अनुसार रूपवाले अपञ्चीकृत पृथ्वी, जल, तेज के भाग भी पञ्चीकृत आकाश में है। अर्थात् पहले सभी पञ्चभूत अपञ्चीकृत अवस्था मे थे। बाद में सभी के दो–दो भाग हुए। उसमें से आधाभाग अपने–अपने पास रहा और शेष आधा भाग को चार–चार भाग कर के अपने से भिन्न चार भूतों में मिलाया गया, इस प्रकार प्रत्येक में आधा भाग स्वयं का रहा और शेष आधाभाग अन्य चार महाभूतों का रहा। अतः आकाश में भी पृथ्वी–जल–तेज–वायु का अंश है। अतः पञ्चीकृत आकाश के प्रति अपञ्चीकृत पृथ्वी, जल, तेज, वायु भी कारण है। कारण के गुण अपने समान जातिवाले गुण को कार्य में उत्पन्न करते है। अतः अपञ्चीकृतपृथ्वी, जल, तेज, वायु का कार्य पञ्चीकृत–आकाश होने के कारण, आकाश में भी पृथिवी, जल और तेज के रूप के रहने से, सिद्धान्ती के द्वारा किया गया, आकाश में रूपात्यन्ताभाव को सिद्ध करनेवाला अनुमान और आकाश में रूपात्यन्ताभाव को विषय करनेवाला साक्षिप्रत्यक्ष का बाध हो जायेगा। इस शङ्का का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि छान्दोग्यश्रुति ('तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' (छा.उ. ६/३/३) के अनुसार जो त्रिवृत्करण पक्ष है, उस पक्ष में आकाशगतरूपात्यन्ताभाव का साधक अनुमान और आकाशगतरूपात्यन्ताभाव का ग्राही साक्षिप्रत्यक्ष का बाध नहीं होगा, क्योंकि त्रिवृत्करण पक्ष में आकाश और वायु का ग्रहण किया नहीं जाता है। अतः आकाश में पृथ्वी, जल, तेज का रूप न जाने से आकाश में रूप के होने की आपत्ति नहीं आती है। आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र ने त्रिवृत्करणपक्ष का ही समर्थन किया है। इस मत की प्रशंसा करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है–

सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितम्। तथापि युक्तियुक्तत्वाद् वाचस्पतिमतं शुभम्।।

इस पर यदि कोई शङ्का करता है कि त्रिवृत्करणपक्ष में गगनगतरूपात्यन्ताभाव के साधक अनुमानादि का बाध भले ही न होता हो किन्तु पञ्चीकरण पक्ष में तो उक्त अनुमानादि का बाध पूर्वोक्त प्रकार

दूषणस्यानवकाशात्। पञ्चीकरणपक्षेऽप्यपञ्चीकरणदशायां यस्मिन् भूते यो गुणः स पञ्चीकरणाद् व्यवहारयोग्यो भवतीत्येतावन्मात्राभ्युपगमान्नाकाशे रूपारम्भप्रसङ्गः।। ८।।

न च 'नायं सर्पः' इत्युक्तेऽपि किमेवं वदसि परम्? अपि पुनः परामृश्य पश्यसि? इति प्रतिवचनदर्शनान्न शब्दमात्रं रज्जुसर्पादिभ्रमनिवर्तकम्; किन्तु प्रत्यक्षमेवेति वाच्यम्; प्रतिवचनस्थले भ्रमप्रमादादिशङ्काक्रान्तत्वेन 'नायं सर्पः' इत्यादेर्दुर्बलतया न भ्रमनिवर्तकत्वम्। यत्र तु तादृक्शङ्कानाक्रान्तत्वम्, तत्र भ्रमनिवर्तकतैव। अत एव तादृक्शङ्कानाक्रान्तपित्रादिवचसि नेदृक्प्रतिवचनम्, किन्तु सिद्धवत्प्रवृत्त्यादिकमेव। ज्वालैक्यप्रत्यक्षमप्येवमेव युक्तिबाध्यम्। न च निर्वापितारोपितस्थले स्पष्टतरभेदप्रत्यक्षबाधितमित्यन्यत्रापि दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षमेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

से होगा ही। इस शङ्का को निराकरण करने की दृष्टि से सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पञ्चीकरण पक्ष में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि अपञ्चीकृत—अवस्था में जिस महाभूत में जो गुण विद्यमान है, वही गुण पञ्चीकरण के द्वारा व्यवहार के योग्य हो जाता है। ऐसा स्वीकार किये जाने से आकाश में रूप के उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। अर्थात् अपञ्चीकृतावस्था में आकाश में व्यवहार के अयोग्य जो शब्दगुण था वह पञ्चीकृत—अवस्था में व्यवहार के योग्य हो जाता है। अन्यथा पूर्वपक्षी की बात मानने पर वायु में भी रूप की उपलब्धि माननी पडेगी। इसी प्रकार आकाशादि में गन्ध—रसादि की भी उपलब्धि माननी पडेगी।। ८।।

पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि 'नायं सर्पः' इस आप्तवाक्य के द्वारा 'अयं सर्पः' इस चाक्षुषभ्रम का बाध हो जाता है। इसको स्वीकार न करता हुआ पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि जहाँ पर 'अयं सर्पः' इत्याकारक चाक्षुषभ्रम होता है, वहाँ पर 'नायं सर्पः' इस प्रकार आप्तवाक्य के प्रयोग के पश्चात् भी भ्रान्तपुरुष कहता है कि 'क्या आप ऐसे ही (विना अच्छी तरह से देखें) कह रहे हो? आप पुनः अच्छी प्रकार से देखिये' इस प्रकार के प्रतिवचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आप्तपुरुष के वाक्य से (परोक्षज्ञान से) प्रत्यक्षभ्रम का बाध नहीं होता है। अपितु प्रत्यक्षप्रमाण से ही उक्त भ्रम का बाध होता है। अर्थात् जब भ्रान्तपुरुष आप्तपुरुष के साथ जाकर अथवा स्वयं जाकर प्रत्यक्ष देख लेता है कि यह सर्प नहीं है, किन्तु रस्सी है, तभी उसका भ्रम निवृत्त होता है। अतः सिद्धान्ती का यह कथन खण्डित हो गया कि परोक्षज्ञान से प्रत्यक्षभ्रम की निवृत्ति होती है। पूर्वपक्षी की यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ पर 'नायं सर्पः' यह कहने वाले व्यक्ति पर भ्रान्तपुरुष को शङ्का हो जाती है कि यह कहने वाले का कथन भ्रम या प्रमाद से प्रयुक्त है, वहाँ पर 'नायं सर्पः' इस शब्द से होने वाला परोक्षज्ञान 'अयं सर्पः' चाक्षुषभ्रम को बाध नहीं कर पाता है, क्योंकि उक्त प्रमादादि की शङ्का से ग्रस्त होने के कारण शब्दप्रमाण दुर्बल हो जाता है। जहाँ पर भ्रम—प्रमादादि की शङ्का नहीं होती है वहाँ पर आप्तवाक्य से जन्य परोक्षज्ञान के द्वारा चाक्षुषभ्रम की निवृत्ति होती हुई देखी जाती है। भ्रम—प्रमादादि शङ्का से अनाक्रान्त 'नायं सर्पः' इत्यादि आप्तवाक्य से जन्य परोक्षज्ञान चाक्षुषभ्रम का निवर्तक होने के कारण ही भ्रम—प्रमादादि की शङ्का से अनाक्रान्त पिता, गुरु आदि के वचन श्रवण के अनन्तर पूर्वोक्त प्रकार का प्रतिवचन ('किमेवं वदसि परम्? अपि पुनः परामृश्य पश्यसि?') सुनने को नहीं मिलता है, किन्तु ज्ञात—अर्थ में जैसे प्रवृत्ति आदि होती है, उसी प्रकार भ्रमरहित होकर भ्रान्तपुरुष की प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। इसी प्रकार 'सेयं दीपशिखा' इत्याकारक ज्वालागत—ऐक्य के भ्रमात्मकप्रत्यक्ष का बाध भी अनुमान (युक्ति) से होता है। निरन्तरप्रवृत्तज्वालाओं में भेद का प्रत्यक्ष असम्भव होने से प्रत्यक्षप्रमाण से ज्वाला—ऐक्यप्रत्यक्षभ्रम का बाध नहीं होता है। ज्वाला—ऐक्यभ्रमबाधकानुमान का आकार यह होगा—'ज्वालैक्यज्ञानं भ्रमः, दोषजन्यत्वात्, रजतभ्रमवत्'। यहाँ पर दोष यह है कि निरन्तर अव्यवहितरूप से ज्वालाओं का निस्सरण। इसी दोष के कारण ज्वालाओं

तद्बाधकमिति वाच्यम्; निर्वापितारोपितातिरिक्तस्थले तावदयं विचारः, तत्र दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षं वक्तुमशक्यम्, यैव ह्रस्वा सैवेदानीं दीर्घेति ह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदस्य साक्षात्क्रियमाणत्वात्। तथा च ज्वालाप्रत्यभिज्ञा युक्तिबाध्यैव। सर्वदा पित्तदूषितनेत्रस्य 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे च परोक्षातिरिक्तस्य बाधकस्य शङ्कितुमप्यशक्य-त्वात्, युक्त्यादिबाध्यतैव वक्तव्या।। ९।।

ननु सर्वत्रैवात्र प्रकारान्तरेणाऽसत्कल्पे प्रत्यक्षे मानान्तरप्रवृत्तिः। तथा हि द्विविधं ज्ञानम्, द्विकोटिकमेककोटिकञ्च। अन्त्यमपि द्विविधमप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं तदकलङ्कितञ्च। तत्राद्यौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

में ऐक्य का भ्रम होता है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जहाँ पर दीपक को बुझा देने से ज्वाला शान्त हो गयी है, वहाँ पर पुनः दीपक को जलाने पर दिखायी देने वाली ज्वाला, पूर्वज्वाला से भिन्न है, इस प्रकार से प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा ही ज्वालाओं में भेद का निश्चय होता है। इस प्रकार से ज्वालाओं के भेद प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्वालैक्यचाक्षुषभ्रम का बाध होता है, अनुमान या आप्तवाक्य के द्वारा बाध नहीं होता है। इसी प्रकार निर्वापित—आरोपित से भिन्न स्थल पर, अर्थात् जहाँ पर दीपक बुझा कर पुनः जलाया गया हो उससे भिन्न स्थल पर भी दीर्घज्वाला है, ह्रस्व नहीं इत्याकारक ज्वालाओं के भेद का प्रत्यक्ष ही ज्वालैक्यभ्रम का बाधक होता है, अनुमान—आप्तवाक्य बाधक नहीं होते हैं। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जहाँ पर दीपक बुझा कर पुनः जलाया गया है, वहाँ पर ज्वालाओं के भेद का प्रत्यक्ष ज्वालैक्यभ्रम का बाधक सम्भव होने पर भी, उससे अतिरिक्त स्थल पर, अर्थात् जहाँ दीपक जलाकर पुनः बुझाया नहीं गया है, उस स्थल की दृष्टि से ही यहाँ पर विचार चल रहा है कि ज्वालैक्यभ्रम का बाध प्रत्यक्ष से होता है अथवा युक्ति आदि से होता है? ऐसे स्थल पर युक्ति (अनुमान— 'ज्वालैक्यज्ञानं भ्रमः, दोषजन्यत्वात्, रजतभ्रमवत्') से ही ज्वालैक्यचाक्षुषभ्रम का बाध होता है, क्योंकि सतत ज्वालाओं में भेद का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि यह दीर्घ ज्वाला है, ह्रस्व नहीं है इस प्रकार से ज्वालाओं में भेद का प्रत्यक्ष होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर ऐसा होता है कि जो ज्वाला पहले ह्रस्व थी वहीं ज्वाला इस समय दीर्घ है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष के द्वारा ह्रस्वत्व—दीर्घत्वरूप से उपस्थित दो ज्वालाओं में अभेद (ऐक्य) का ही साक्षात्कार होता है, न कि दो ज्वालाओं में भेद का प्रत्यक्ष होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि ज्वालैक्यभ्रम का बाध युक्ति से ही होता है। इसी प्रकार जिसके नेत्रों में जन्म से ही दुर्भाग्यवश असाध्य पीलिया रोग सदा के लिए बस गया है उसे कभी भी 'शुक्लः शङ्खः' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसे पुरुष को 'पीतः शङ्खः' इत्याकार चाक्षुषभ्रम का बाध युक्ति से ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षभ्रम का बाध भी प्रत्यक्ष से कदापि सम्भव न होने के कारण युक्ति से ही बाध मानना पड़ेगा। अतः प्रत्यक्षभ्रम का परोक्षप्रमा से भी बाध मानने में कोई आपत्ति नहीं है।। ९।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जहाँ—जहाँ युक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध दिखाया है, वहाँ युक्ति से भिन्न प्रकार से प्रत्यक्ष को दुर्बल कर दिए जाने पर, अर्थात् प्रत्यक्ष का बाध कर दिए जाने पर आगम और अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है, न कि आगम और अनुमानादि के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए ज्ञान को दो कोटियों में विभक्त करता हुआ पूर्वपक्षी कह रहा हैं कि ज्ञान दो प्रकार का होता है— द्विकोटिक और एककोटिक। जैसे 'अयं पुरुषः' यह ज्ञान पुरुषत्वरूप एककोटिक (प्रकारक) है और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह ज्ञान स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप द्विकोटिक है। एककोटिकज्ञान भी दो प्रकार का होता है। प्रथम— अप्रामाण्य की शङ्का से कलङ्कित। द्वितीय— अप्रामाण्य की शङ्का से

सर्वप्रमाणावकाशदौ; अर्थापरिच्छेदकत्वादप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वाच्च। अप्रामाण्यधीकलङ्कितत्वञ्च द्वेधा भवति, दुष्टकरणकत्वनिश्चयादर्थाभावनिश्चयाच्च। तथा च शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिर्दूरदोषनिबन्धना दृष्टेति दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययो दोषनिबन्धन एवेति निर्णीयते। एवमाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्चयाद् दूरे रूपवत्त्वधीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्चीयते। 'पीतः शङ्खः' इत्यादि प्रत्यक्षं तु प्राथमिकपरीक्षितप्रत्यक्षेण 'शङ्खो न पीतः' इत्यर्थाभावनिश्चयादप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितमेवोत्पद्यते। एवं सवितृसुषिरादिप्रत्यक्षमपि। तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

अकलङ्कित। इनमें से द्विकोटिकज्ञान और अप्रामाण्यशङ्का से कलङ्कितज्ञान अपने विषय में सभी प्रमाणों को प्रवृत्त होने में अवसर प्रदान करते हैं। इसका कारण यह है कि द्विकोटिकज्ञान संशयरूप होने के कारण अर्थ का निश्चायक नहीं होता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य की शङ्का से कलङ्कित होने के कारण ज्ञान में अप्रामाण्य का संशय होने से उसके विषय में भी संशय हो जाता है। अतः द्विकोटिकज्ञान और अप्रामाण्यशङ्का से कलङ्कितज्ञान अन्य प्रमाणों के अवरो–धक नहीं होते हैं। यहाँ अनुमान का आकार इस प्रकार से होगा– 'द्विकोटिकं ज्ञानं सर्वप्रमाणावकाशदम्, अर्थापरिच्छेदकत्वात् (अर्थानिश्चायकत्वात्)'। 'अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं ज्ञानं सर्वप्रमाणावकाशदम्, अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्वात्'। ज्ञान में अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितत्व दो कारण से होता है। प्रथम– दुष्टकरणजन्यत्व के निश्चय से, द्वितीय–अर्थाभाव के निश्चय से। जैसे– 'दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययः अप्रामाण्यधीकलङ्कितः, दुष्टकरणकत्वनिश्चयात्, (दुष्टकरणजन्यत्वात्) शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिवत्'। इसी प्रकार दूसरे अनुमान का आकार यह होगा– 'पीतः शङ्खः' इत्यादिप्रत्यक्षमप्रामाण्यधीकलङ्कितम्, अर्थाभावनिश्चयत्वात्, इदं रजतमिति ज्ञानवत्'। प्रथम अनुमान के दृष्टान्त शैलशिखरस्थवृक्षावलि में प्रादेशिकत्व की प्रतीति दूरतारूपदोष के कारण होने से दृष्टान्त में हेतु गया और उक्त प्रतीति में साध्य अप्रामाण्यधीकलङ्कितत्व भी है। इस प्रकार दृष्टान्त में व्याप्ति का निश्चय हो जाने से और पक्ष में हेतु का निश्चय हो जाने से यह मानना पड़ेगा कि सुदूर आकाश में विद्यमान चन्द्रमा में प्रादेशिकत्व की प्रतीति दुष्टकरणक होने के कारण ही अप्रामाण्यधी से कलङ्कित है। अर्थात् चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष का युक्ति आदि की प्रवृत्ति होने से पहले ही प्रत्यक्ष से ही उसमें दूरदोषजन्यत्व का निश्चय हो जाने से उसमें अप्रामाण्यग्रह हो जाता है। उसके पश्चात् युक्ति आदि की प्रवृत्ति हो जाती है। यदि उसमें प्रत्यक्ष से दोषजन्यत्व का निश्चय न हो तो बाधकयुक्ति आदि की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्ष के द्वारा दोषजन्यत्व का निश्चय होने से ही उक्त प्रत्यक्षभ्रम का बाध हो जाने पर युक्ति आदि की प्रवृत्ति होती है। अतः फलितार्थ यह हुआ कि उक्त भ्रम का बाध दूरदोषजन्यत्वरूप प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, न कि युक्ति आदि के द्वारा। इसी प्रकार समीपवर्ति गगन में रूप के अत्यन्ताभाव का निश्चय होने के कारण दूरगगन में नीलिमा की प्रतीति दूरतारूपदोष से जन्य है, ऐसा निश्चय अनुमान से पहले ही प्रत्यक्ष से हो जाता है। अर्थात् गगन में नीलिमा के प्रत्यक्ष का युक्ति आदि के द्वारा बाध होने से पहले ही प्रत्यक्ष से ही उसमें दूरदोषजन्यत्व का निश्चय हो जाने के कारण उसमें अप्रामाण्यग्रह हो जाने से 'नीलं नभः' इस प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है और उसके पश्चात् युक्ति आदि की प्रवृत्ति होती है। इससे यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता है कि गगनगत नीलिमा की प्रतीति का बाध युक्ति आदि से होता हैं, अर्थात् उसका बाध प्रत्यक्ष से ही होता है, यह पूर्वपक्षी का आशय है। इसी प्रकार 'पीतः शङ्खः' इत्यादि प्रत्यक्ष का पीलियारोग होने से पहले होने वाला जो परीक्षितप्रत्यक्ष, उस प्रत्यक्ष से 'शङ्ख पीला नहीं है' इत्याकारक अर्थाभाव के निश्चय से, अर्थात् शङ्खनिष्ठपीतत्व के अभाव के निश्चय से अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित होकर ही उत्पन्न होता है। इसलिए बाद में अनुमान आदि की प्रवृत्ति

चन्द्रादिप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं दूरादिदोषनिश्चयात् 'पीतः शङ्खः' इत्यादिप्रत्यक्षं प्राथमिकार्थाभावनिश्चयादेव बाधितमिति पश्चादनुमानागमादिप्रसर इति न ताभ्यां तद्बाधः। येन हि यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते, तत्तस्य बाधकमित्युच्यते। न च चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते, भ्रमत्वज्ञानोत्तरकालमेव तत्प्रवृत्तेः ॥१०॥

अप्रामाण्यज्ञानाकलङ्कितन्तु स्वार्थपरिच्छेदकं निःशङ्कप्रवृत्तिजननयोग्यम्। यथा 'वह्निरुष्ण एव', 'प्रस्तरो यजमानभिन्न एव', 'घटः सन्नेव' इत्यादि। तन्नान्यस्यावकाशदं नान्येन बाध्यम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होती है। इसी प्रकार सूर्यगत छिद्रादि का चाक्षुषभ्रम भी परीक्षितप्रत्यक्ष के द्वारा अर्थाभाव के निश्चय से, अर्थात् सूर्यगतछिद्रादि के अभाव के निश्चय से अप्रामाण्य की शङ्का से कलङ्कित होकर ही उत्पन्न होता है। अतः बाद में अनुमान की प्रवृत्ति होती है। अतः चन्द्रगतप्रादेशिकत्व का प्रत्यक्षभ्रम दूरादिदोष के निश्चय के कारण और 'पीतः शङ्खः' इत्याकारक चाक्षुषभ्रम पीलियारोग होने से पहले होनेवाला शङ्खनिष्ठपीतत्वाभाव के निश्चय से बाधित हो जाता है और उसके पश्चात् अनुमान–आगमादि की प्रवृत्ति होती है। अतः अनुमान और आगम इन दोनों से उक्त भ्रमज्ञानों का बाध नहीं होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि उक्त भ्रमज्ञानों का पहले परीक्षितप्रत्यक्ष के द्वारा अर्थाभावादिनिश्चय से बाध हुआ, पश्चात् अनुमानादि के द्वारा भी बाध हुआ, तो उन दोनों (परीक्षितप्रत्यक्ष और अनुमानादि दोनों) में से किसको उक्त भ्रमों का बाधक माना जाय? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी बाधक का लक्षण बतला रहा है– 'येन ही यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते तत्तस्य बाधकम्'। अर्थात् जिस प्रमाण के द्वारा जिस ज्ञान में भ्रमत्व का निश्चय होता है, उस प्रमाण को उस ज्ञान का बाधक कहा जाता है। प्रकृत में परीक्षितप्रत्यक्ष के द्वारा दोषजन्यत्व और अर्थाभावनिश्चय के कारण चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष और 'पीतः शङ्खः' इत्याकारक प्रत्यक्ष में भ्रमत्व का निश्चय होता है, न कि अनुमान–आगमादि के द्वारा, क्योंकि उक्त हेतुद्वय (दुष्टकरणकत्वनिश्चय और अर्थाभावनिश्चय) के द्वारा उक्त ज्ञानद्वय (चन्द्रप्रादेशिकत्व और पीतः शङ्ख) में भ्रमत्व का बोध होने के पश्चात् ही अनुमान–आगम की प्रवृत्ति होती है। अतः बाधक का लक्षण प्रत्यक्ष में ही जाने से, प्रत्यक्ष को ही उक्त भ्रमज्ञानों का बाधक कहना चाहिए।॥१०॥

अप्रामाण्यज्ञान से अकलङ्कितज्ञान स्वविषय का निश्चायक होता है और उसमें निःशङ्कप्रवृत्ति के उत्पादन की योग्यता होती है। जैसे अग्नि उष्ण ही होता है, प्रस्तर यजमान से भिन्न ही होता है, घट सद्रूप ही होता है, इत्यादि ज्ञान। ऐसे अप्रामाण्य से अकलङ्कितज्ञान अपने विषय में अन्य प्रमाणों को अवकाश नहीं देते हैं, न अन्यप्रमाणों से उनका बाध ही होता है, क्योंकि जैसे द्विकोटिकज्ञान (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) में कोट्यन्तरावलम्बित्वरूपदोष होता है, अर्थात् 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में प्रथमकोटि पुरुषत्व और कोट्यन्तर स्थाणुत्व होता है और एककोटिकज्ञान चन्द्रप्रादेशिकत्व और 'पीतः शङ्खः' इन दोनों में क्रमशः दुष्टकरणकत्व का निश्चय और अर्थाभाव का निश्चय होता है, वैसा दुष्टकरणकत्व का निश्चय, अर्थाभाव का निश्चय और कोट्यन्तरावलम्बित्व आदि दोष, 'वह्निरुष्ण एव' इत्यादि ज्ञानों में नहीं है। यदि 'वह्निरुष्ण एव' इत्यादि ज्ञान में कोट्यन्तरावलम्बित्व होता है तो उसका आकार ऐसा होता–'वह्निरुष्णो न वा, प्रस्तरो यजमानभिन्नो न वा, घटः सन् न वा'। ऐसा होने पर ये ज्ञान स्वार्थनिश्चायक और निःशङ्कप्रवृत्ति के जनक नहीं होते। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ अनुमान और आगम के द्वारा किसी प्रत्यक्ष का बाध होता है, वहाँ प्रबलतरप्रत्यक्ष की सहायता प्राप्त करके ही अनुमानादि के द्वारा दुर्बलप्रत्यक्ष का बाध माना जाय तो भी प्रत्यक्षभ्रम का प्रत्यक्ष के द्वारा बाध होता है, इस नियम में कोई दोष नहीं होगा। जैसे जैमिनिदर्शन के 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै.सू.३.३.१४) इस सूत्र के अनुसार लिङ्गादि प्रबल है और प्रकरणादि दुर्बल है, किन्तु बलवत्तरश्रुति का आश्रय करके श्रुत्यनुसारी

नह्यत्र प्रागिव दूरादिदोषधीर्वा, अर्थाभावनिश्चयो वा कोट्यन्तरालम्बित्वं वास्ति। किञ्च क्वचित् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षान्तरगौरवाद्युक्तिबाध्यं भवतु। क्वचिच्च लिङ्गादिकं श्रुतिगौरवाच्छ्रुत्य-नुसारिप्रकरणादिबाध्यं भवतु। राजामात्य इव राजगौरवेण राजभृत्यबाध्यः, तथापि न युक्तिमात्रस्य प्रकरणमात्रस्य वा प्रत्यक्षलिङ्गादिबाधकत्वम्,; प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्य सर्वत्राभावात्। न हि प्रधानभूताचमनादिपदार्थविषयया 'आचामेदुपवीती दक्षिणाचारः' इत्यादिस्मृत्या पदार्थधर्मभूतक्रमादिविषया 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति श्रुतिर्वेदकरणानन्तरं क्षुतनिमित्तकाचमनोप-

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकरणादि से लिङ्गादि का बाध हो जाता है। जैसे लोकव्यवहार में बलवान् राजा का आश्रय पाकर सामान्यराजभृत्य राजामात्य (मन्त्री) को भी झुका देता है। जैसे कि वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्ट ने कहा है—

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः॥

दूसरी बात यह है कि कहीं पर प्रत्यक्ष प्रत्याक्षान्तर के बल से युक्तिबाध्य हो और कहीं पर लिङ्गादि श्रुति के बल से श्रुत्यनुसारिप्रकरणादि से बाध्य हो, राजकीय गौरव से भृत्यबाध्य अमात्यवत् फिर भी न तो अनुमानमात्र से प्रत्यक्ष का बाध होता है और न ही प्रकरणादि प्रमाणमात्र से लिङ्गादि प्रमाणों का बाध होता है, क्योंकि सर्वत्र बलवत्तरप्रत्यक्ष सहायकरूप से अनुमान को नहीं मिलता है। इसी प्रकार सर्वत्र बलवत्तर श्रुति सहायकरूप से प्रकरणादि को नहीं मिलती है। किसी के द्वारा कोई एक स्थल पर बाधित हो गया तो उसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि सर्वत्र उसी के द्वारा वह बाधित होता रहेगा। इसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैमिनीय मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीयपाद के चतुर्थ अधिकरण के सूत्र पाँच और छः में विचार किया गया है कि 'आचान्तेन भवितव्यमुपवीतिना भवितव्यं दक्षिणाचारेण भवितव्यम्' इस स्मृतिवाक्य का अर्थ यह है कि जो वैदिककर्म करना चाहिए वह आचमन कर के और उपवीत धारण कर के, दक्षिणहाथ से करना चाहिए। श्रुतिवाक्य में कहा गया 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'। यज्ञीय पात्रों के सम्मार्जन का साधनीभूत—दर्भमुष्टिविशेष का नाम है वेद। गार्हपत्य और आहवनीय, इन दोनों के मध्य में चतुरङ्गुल परिमित खोदी हुई भूमि के भाग को वेदि कहते हैं। इस श्रुति में कहा गया कि वेद का निमार्ण करने के अव्यवहित उत्तर काल में वेदि निर्माण करना चाहिए। उक्त स्मृति के अनुसार वेद करने के पश्चात् आचमनादि प्राप्त होते हैं, उसके पश्चात् वेदि का निर्माण प्राप्त होता है, क्योंकि वेदि का निर्माण एक वैदिक कर्म है। उससे पहले आचमनादि करना चाहिए। जब कि श्रुति के अनुसार वेद करने के पश्चात् वेदि का निर्माण प्राप्त होता है। अतः संशय होता है कि वेद के निर्माण करने के पश्चात् श्रुत्यनुसार वेदि का निर्माण करें अथवा स्मृत्यनुसार आचमनादि करना चाहिए? इसी प्रकार इस प्रसङ्ग मे एक और स्मृति है 'क्षुत आचामेत' अर्थात् छींक आ जाय तो आचमन करना चाहिए। यदि वेद करने के बाद छींक आ जाय तो 'क्षुत आचामेत्' इस स्मृति से कहा गया आचमन प्राप्त होता है और उक्त श्रुति से वेदि का निर्माण प्राप्त होता है। यहाँ पर भी संशय होता है कि श्रुति से स्मृति का बाध माना जाय? अथवा स्मृति से श्रुति का बाध? अर्थात् श्रुति से प्राप्तक्रम से स्मृति से प्राप्त आचमन का बाध मानना चाहिए अथवा स्मृति से प्राप्त आचमन से श्रुति से प्राप्तक्रम का बाध मानना चाहिए। यहाँ पर पूर्वपक्ष की तरफ से कहा गया कि श्रुति स्मृति से प्रबल होती है। इसका विचार— 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै.सू.१.३.३) में किया गया है। अतः श्रौतक्रम से स्मार्त आचमन का बाध मानना चाहिए, अर्थात् वेद बनाने के पश्चात् आचमन किए बिना ही वेदि का निर्माण करना चाहिए। सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि पदार्थ और क्रम इन दोनों में से पदार्थ बलवान होता है, क्योंकि वह अङ्गी (धर्मी) होता है और

निपाते बाध्यत इत्यन्यत्रापि तथा भवितव्यमिति चेत्।। ११ ।।

मैवम्, यतो युक्तिरेवैषा। यद् यद् दूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानं तत्तद् दूरदोषनिबन्धनमप्रमा, शैलाग्रस्थविटप्यल्पपरिमाणज्ञानवदिदमपि तथेति। तथा चैवंरूपया युक्त्यैव चन्द्रप्रादेशिक—त्वादिप्रत्यक्षस्य बाधं वदन् युक्त्या न प्रत्यक्षस्य बाध इत्यनेनाजैषीः परं मन्दबुद्धे मन्दाक्षं न तु परम्। एवं 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षेऽपि प्राचीनार्थाभावप्रत्यक्षं न बाधकम्, तस्येदानीमभावात्। न च तत्स्मृतिर्बाधिका, तस्या अनुभवाद् दुर्बलत्वात्। केवलं युक्त्युत्पादन एव सोपयुज्यते। तेन युक्त्यागमाभ्यामेवोदाहृतस्थलेषु बाधः ।। १२ ।।

यत्तु क्वचिद् युक्त्यादेर्बाधकत्वदर्शनमात्रेण सर्वत्र न बाधकत्वं वक्तुं शक्यम्, युक्त्यादिबाधकताया अनुस्रियमाणप्रत्यक्षगौरवनिबन्धनत्वादित्युक्तम्। एतदनुक्तोपालम्भनम्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्रम अप्रधान होता है, क्योंकि वह (अङ्ग) धर्म होता है। अतः स्मृति का प्रमेय प्रबल और श्रुति का प्रमेय दुर्बल है। इसलिए प्रबल प्रमेय का बल पाकर स्मृति श्रुति का बाध करती है। इससे यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता है कि स्मृतिवाक्यों से सर्वत्र श्रुतिवाक्यों का बाध हो जाता है। अतः कहीं पर भ्रमात्मकप्रत्यक्ष का अनुमान—आगम के द्वारा बाध हो भी जाय, तो भी 'सन् घटः' इस प्रमात्मकप्रत्यक्ष का अनुमान और आगम के द्वारा बाध नहीं हो सकता है। यही पूर्वपक्षी का आशय है।। ११ ।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो कुछ कहा वह स्वयं अनुमान ही है। जिस जिस दूरस्थधर्मी में अल्पपरिमाणवाला ज्ञान होता है वह दूरदोष के कारण होने से अप्रमा होता है। जैसे शैल के अग्र में स्थित वृक्षों मे अल्पपरिमाण का ज्ञान है। यहाँ पर अनुमान का आकार यह होगा— 'दूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानमप्रमा, दूरदोषनिबन्धनत्वात्, शैलाग्रस्थविटप्यल्पपरिमाणज्ञानवत्'। चन्द्रप्रादेशिकत्व का ज्ञान भी वैसा ही है, क्योंकि दूरदोष के कारण ही उसमें अप्रमात्व आता है। अतः युक्ति के द्वारा चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष के बाध को 'युक्ति से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता है' ऐसे विरुद्ध अभिधान करनेवाला मन्दबुद्धि पूर्वपक्षी! तुमने तो लज्जा को जीत लिया है, युक्तिवादी (सिद्धान्ती) को नहीं। इसी प्रकार 'पीतः शङ्खः' इत्याकारक चाक्षुषभ्रम का भी पीलिया रोग से पहले होनेवाला 'शङ्खो न पीतः' इत्याकारक शङ्खनिष्ठपीतत्व के अभाव का प्रत्यक्ष से बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वकालिकप्रत्यक्ष (प्राचीन—अर्थाभावप्रत्यक्ष) का भ्रमकाल में अभाव है। प्राचीनार्थाभाव की स्मृति ('शङ्खो न पीतः' इत्याकारक स्मृति) भी 'पीतः शङ्खः' इस चाक्षुषभ्रम का बाध नहीं कर सकती है, क्योंकि स्मृति अनुभव से दुर्बल होती है। दुर्बल के द्वारा प्रबल का बाध माना नहीं जाता है। उक्त स्मृति का उपयोग एतद्भ्रमबाधक जो युक्ति है, उस युक्ति के सम्पादन में हो सकता है। जैसे— 'अयं शङ्खो न पीतः, शङ्खत्वात्, स्मर्यमाणशङ्खवत्'। अतः पूर्वोक्त उदाहृत भ्रमस्थलों में युक्ति और आगम के द्वारा ही बाध होता है यही सिद्धान्तपक्ष के कथन का तात्पर्य है।। १२ ।।

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि किसी एक स्थल पर अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष के बाध को देखकर सभी जगह यह नियम नहीं बनाया जा सकता है कि अनुमान के द्वारा सर्वत्र प्रत्यक्ष का बाध होता है। जहाँ पर अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध होता है, वहाँ पर अनुमाननिष्ठबाधकता का प्रयोजक अनुस्रियमाणप्रत्यक्षगौरव होता है। अर्थात् बलवत्तर प्रत्यक्ष का अनुसरण करने के कारण ही अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन अनुक्तोपालम्भमात्र है। अर्थात् ऐसा सिद्धान्तपक्ष से कहा ही नहीं गया है, फिर भी तुमने ऐसा दोष सिद्धान्ती के ऊपर दिया। ऐसा कहने से तुम स्वयं 'निरनुयोज्यानुयोगः' नामक निग्रहस्थान को प्राप्त हो गये। सिद्धान्त पक्ष से कही पर नहीं कहा गया कि—

हि मया क्वचिद्दर्शनमात्रेण युक्तेर्बाधकता सर्वत्रोच्यते। अपितु चन्द्रप्रादेशिकत्वशङ्खपीतत्वप्रत्यक्षादौ यावदागमादेर्बाधकताप्रयोजकं दृष्टं तावत्सत्त्वेन। न च तत्रानुस्रियमाणं प्रत्यक्षमस्ति; यद्गौरवेण बाधकतायामन्यथासिद्धिं ब्रूयाः। तस्माच्चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्षस्य च तुल्यवदेव बाध्यता, युक्त्यागमयोश्च तुल्यवदेव बाधकतेति। नहि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षेऽपि प्रागेव दुष्टकरणकत्वनिश्चयः; नैकट्यस्यापि क्वचिद्दोषत्वेन सर्वत्र परिमाणज्ञानाविश्वासप्रसङ्गात्, किन्त्वागमादिना बाधानन्तरमेव; तद्वत् प्रकृतेऽपि मिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरमेवाविद्यारूपदोषनिश्चयः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

किसी एक स्थल पर युक्ति में बाधकता देखकर सर्वत्र युक्ति में बाधकता माननी चाहिए। अपितु चन्द्रगतप्रादेशिकत्व और शङ्खगत पीतत्व के प्रत्यक्ष का बाधक अनुमानादि है। उसमें रहनेवाली जो बाधकता है उसका प्रयोजक जो परीक्षितत्व है, वह परीक्षितत्वरूप बाधकता का प्रयोजक जहाँ रहेगा वहीं बाधक होगा, यही सिद्धान्तपक्ष के कथन का तात्पर्य है। पूर्वपक्षी के अनुसार अनुमानादिनिष्ठबाधकता का प्रयोजक अनुस्त्रियमाणप्रत्यक्ष का गौरव (बल) और सिद्धान्ती के अनुसार सर्वत्र बाधकता का प्रयोजक परीक्षितत्व है। अतः सिद्धान्ती के पक्ष में लाघव है। चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष और शङ्खगतपीतत्व के प्रत्यक्षस्थल पर अनुस्त्रियमाणप्रत्यक्ष नहीं है। अतः अनुस्त्रियमाणप्रत्यक्ष के गौरव के कारण अनुमान, आगमादिनिष्ठबाधकता को अन्यथासिद्ध नहीं कह सकते हो। अर्थात् चन्द्रमा पर जाकर के चन्द्रप्रादेशिकत्व को प्रत्यक्षरूप से देखा होता तो बलवत्तरप्रत्यक्ष कह सकते थे, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। ऐसे ही जो जन्म से ही पीलिया का रोगी है, उसे भी 'शुक्लः शङ्खः' ऐसा बलवत्तरप्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि ऐसा बलवत्तरप्रत्यक्ष होता और उसकी सहायता प्राप्त कर के अनुमान—आगमादि ने चन्द्रगतप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षादि का बाध किया होता, तब तो अनुमानादिनिष्ठ—बाधकता को अन्यथासिद्ध कह सकते थे। क्योंकि जिस बलवत्तरप्रत्यक्ष की सहायता प्राप्त करके अनुमानादि ने बाध किया था उस बलवत्तरप्रत्यक्ष को ही बाधक माना जाता है, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः उक्तस्थल पर प्रत्यक्ष में बाधकता नहीं है, किन्तु अनुमानादि में ही बाधकता है। जिसमें बाधकता रहती है, उसी में परीक्षितत्व रहता है और जिसमें बाधकता नहीं रहती है (अर्थात् जिसमें बाध्यता रहती है) उसमें परीक्षितत्व का अभाव रहता है। जैसे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष में परीक्षितत्वाभाव है, क्योंकि दूर से चन्द्र के प्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष करने के पश्चात् चन्द्रमा के पास जाकर किसी ने चन्द्रमा के प्रादेशिकत्व का प्रत्यक्ष नहीं किया है। अतः चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष में बाध्यता है। इसी प्रकार प्रपञ्च के सत्त्वप्रत्यक्ष में भी परीक्षितत्व का अभाव है, क्योंकि सत्त्व का अर्थ है— त्रैकालिकाबाध्यत्व। पहले तो किसी के द्वारा तीनों कालों में किसी का प्रत्यक्ष ही सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मज्ञान होने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च का बाध हो जाता है। अतः चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष के समान ही प्रपञ्चसत्यत्वप्रत्यक्ष में भी बाध्यता है और चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष का जिस आगम से बाध होता है, उसमें जैसे परीक्षितत्व है, उसी प्रकार मिथ्यात्वानुमान में भी परीक्षितत्व तुल्यरूप से है। अतः अनुमान और आगम में एक जैसी बाधकता मानी जायेगी। पीछे पूर्वपक्षी ने 'दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययः अप्रामाण्यधी— कलङ्कितः दुष्टकरणकत्वनिश्चयात्' इस अनुमान के अवसर पर यह जो कहा था कि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष का आगम और अनुमान से बाध होने से पहले ही दुष्टकरणकत्वरूप हेतु के निश्चय से ही चन्द्रप्रादेशिकत्व भ्रम है यह सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् मैं दूर से देख रहा हूँ, इसलिए मैं गलत देख रहा हूँ। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष का आगम और अनुमान से जब तक बाध नहीं होता है, तब तक प्रत्यक्ष दुष्टकरण से जन्य है, यह निश्चय नहीं हो पाने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अनुमान नहीं किया जा सकता है। अर्थात् उसमें स्वरूपासिद्धिदोष है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो आगम और अनुमान से उक्त

तथा च सर्वात्मना साम्यम्। यत्तु दृष्टस्य वस्तुनो बलवद्दृष्टं विनाऽन्यद् बाधकं नास्तीत्युक्तम्, तत् दुर्बलशब्दलिङ्गादिविषयम्। यदप्युक्तं विवरणे 'यत्राविचारपुरस्सरमेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितमुच्छिन्नव्यवहारं भवति तत्र तथा भवतु। यत्र पुनर्विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञानयोर्बलाबलचिन्तया बाधनिश्चयस्तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्धि:, इति, तदपि गृहीतप्रामाण्यकशब्दतदुपजीव्यानुमानातिरिक्तयुक्तिविषयम्। एकत्र प्रामाण्यनिश्चये बलाबलचिन्ताया एवानवकाशात् ।। १३।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् —

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष के बाध होने से पूर्व ही, मैं दूर से देख रहा हूँ इसलिए गलत देख रहा हूँ, ऐसा निश्चय कर लेने पर जहाँ पर निकट से वस्तु को देखा जाता है, वहाँ पर भी, मैं निकट से देख रहा हूँ इसलिए गलत देख रहा हूँ, ऐसा निश्चय भी हो सकता है, क्योंकि कहीं—कहीं पर जैसे दूरत्व को दोष माना जाता है, वैसे ही कहीं—कहीं पर नैकट्य को भी दोष माना जाता है। अत: दूरदोष के कारण भी परिमाणज्ञान पर विश्वास नहीं रहा और निकटदोष के कारण भी परिमाणज्ञान पर विश्वास न होने से सर्वत्र परिमाणज्ञान पर विश्वास होगा ही नहीं। अत: आगमादि के द्वारा बाध के अनन्तर जैसे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष में दूरतादोष का निश्चय होता है, उसी प्रकार आगमादि के द्वारा मिथ्यात्वसिद्धि के अनन्तर ही 'घट: सन्' इत्यादि प्रतीतियों में अविद्यारूपदोष का निश्चय होता है। अत: चन्द्रगतप्रादेशिकत्वप्रत्यक्ष तथा प्रपञ्चगतसत्यत्व के प्रत्यक्षों में समानरूप से बाध्यता है और उक्त आगमों तथा उक्त अनुमानों में समानरूप से बाधकता है। इस प्रकार से सर्वात्मना साम्य है। यह जो कहा गया कि प्रत्यक्षत: ज्ञातवस्तु का बलवत् प्रत्यक्ष के बिना अन्य कोई बाधक नहीं होता है, इस कथन से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि दुर्बलशब्द और दुर्बलयुक्ति से प्रत्यक्षत: ज्ञातवस्तु का बाध नहीं होता है, किन्तु प्रबलशब्द और प्रबलयुक्ति से तो प्रत्यक्षत: ज्ञातवस्तु का बाध होता ही है। विवरणाचार्य ने यह जो कहा है कि जहाँ पर अविचारपूर्वक ही प्रत्यक्षभ्रम, अनुमानादि के द्वारा सहसा बाधित होकर व्यवहारत: उच्छिन्न हो जाता है, वहाँ वैसा हो, किन्तु जहाँ विचारपदवी के ऊपर उपारूढ जो दो ज्ञान, उन ज्ञानों की बलाबल चिन्ता से बाध्यबाधकभाव का निश्चय किया जाता है, वहाँ पर अनुमानादि से प्रत्यक्ष के बाध की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार से जो विवरण में कहा गया है उसका भाव यह है कि गृहीत है प्रामाण्य जिसका, एवम्भूत जो शब्द और तादृशशब्दानुसारी जो अनुमान, इन दोनों से अतिरिक्त अप्रामाण्याऽऽशङ्काकलङ्कित अनुमानादि के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता है। क्योंकि दोनों ज्ञानों में से किसी भी एक ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हो जाने से बलाबल के विचार के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है, क्योंकि उभयत्र प्रामाण्य का निश्चय होने पर ही बलाबलविचार को अवकाश मिलता है। अत: अप्रामाण्याऽऽशङ्का से कलङ्कित अनुमान और प्रत्यक्ष में बाध्यबाधकरूप बलाबल का विचार नहीं करना चाहिए। यही उक्त कथन का आशय है। हमारा तो कथन यह है कि निश्चितप्रामाण्यवाला आगम और तदनुसारी अनुमान प्रत्यक्ष के बाधक हैं। अत: हमारे कथन के साथ उक्त विवरणवाक्य का कोई विरोध नहीं है।। १३।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम् —

२५: प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः

एवञ्च 'भाविबाधनिश्चयाच्च' इति यदुक्तं तदप्युपपन्नमेव; प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेकिशकत्वप्रत्यक्षस्य यथाऽऽगमेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वबोधकागमेन बाध इति निर्णयात्। एवञ्च भाविबाधशङ्कामादाय यत्परैर्दूषणमुक्तं तदनुक्तोपालम्भनतयाऽपास्तम्। वस्तुतस्तु बाधशङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

एवञ्च = उक्तार्थ के सुस्थिर होने पर, ''भाविबाध का निश्चय होने से'' ऐसा जो कहा गया था, वह भी उपपन्न ही है, क्योंकि प्रकारान्तर से अबाधित जो चन्द्रप्रादेशिकत्व का प्रत्यक्ष है, उस प्रत्यक्ष का जैसे आगम से बाध होता है, ठीक वैसे ही प्रकारान्तर (व्यावहारिकत्वरूप) से अबाधित ''सन् घटः'' इत्यादि प्रत्यक्ष का मिथ्यात्वबोधक—अनुमान से बाध होता है—ऐसा निर्णय है। एवञ्च = उक्तप्रकार से निर्णय होने पर, भाविबाध की शङ्का को लेकर जो दूसरों ने दूषण दिया है, वह अनुक्तोपालम्भनत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

'प्रत्यक्षस्य न्यायैः प्राबल्यविचारः' के प्रारम्भ में कहा गया था— 'न चात्र प्रामाण्यं निश्चितं आगमविरोधात्, अनुमानविरोधात्, भाविबाधाभावानिर्णयाच्च।' अर्थात् 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य निश्चित नहीं है। इसमें तीन हेतु दिए गये— आगम से विरोध होने से, मिथ्यात्वानुमान से विरोध होने से, भाविबाध का निश्चय होने से, अर्थात् भाविबाधकमान (अद्वैतागम) से बाध का निश्चय होने से। अनुमान का आकार यह होगा— 'सन् घटः इत्यादिप्रत्यक्षं न निश्चितप्रामाण्यवत्, भाविबाधनिश्चयात्, चन्द्रप्रादेशिकप्रत्यक्षवत्। सिद्धान्ती का कथन है कि भाविबाध का निश्चयरूप हेतु इस अनुमान में जो दिया गया है वह भी युक्तियुक्त है। जैसे चन्द्रगतप्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षान्तर के द्वारा बाध न होकर आगम (ज्योतिश्शास्त्र) के द्वारा बाध होता है, उसी प्रकार 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षान्तर के द्वारा बाध न होकर 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि आगम के द्वारा बाध होता है। ऐसा निश्चय होने से आगम के द्वारा प्रत्यक्ष के भाविबाध (भविष्य में होने वाला ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाध) की उपपत्ति हो जायेगी। अतः 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष में प्रामाण्य निश्चित न होने से, इस के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं हो सकता है, यह सिद्ध हो गया। इस प्रकार आगम के द्वारा भाविबाध का निश्चय ही 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के अनिश्चिय का हेतु होता है, न कि भाविबाध की शङ्का हेतु होता है। ऐसा सिद्धान्ती का कथन होने से ही पूर्वपक्षी ने भाविबाधशङ्का को हेतु बनाकर जो दोष दिया था, वह अनुक्त—उपालम्भमात्र है। अर्थात् सिद्धान्ती ने हेतु दिया— भाविबाध के निश्चय को और पूर्वपक्षी ने खण्डन किया भाविबाधशङ्कारूप हेतु का, अर्थात् सिद्धान्ती ने जो कहा नहीं, उसका खण्डन पूर्वपक्षी ने किया है। वस्तुतः पूर्वपक्षी के द्वारा 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षनिष्ठ जो आगम—अनुमानादि की बाधकता कही जा रही है, उसका उद्धार भाविकाल की शङ्का को लेकर भी किया जाना उचित ही है। अर्थात् भाविबाध की शङ्का के कारण प्रत्यक्ष, आगमादि का बाधक नहीं बन सकता है ऐसा कहना भी उचित ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम इन दोनों के परस्पर बलाबलविचार से पहले यह शङ्का होती है कि, क्या यह शब्द ('नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अद्वैतबाधकशब्द) लक्षणा या गौणीवृत्ति के द्वारा स्वार्थ के प्रतिपादक है? अथवा प्रत्यक्ष ही अप्रमाण है? ऐसी स्थिति में शब्द और प्रत्यक्ष दोनों में दोष (एक में गौणता और दूसरे में अप्रमाणता) की शङ्का होने के कारण एक दूसरा दूसरे को बाध नहीं कर सकता है। किन्तु तब तात्पर्यग्राहकषड्विधतात्पर्यलिङ्गों की सहायता से श्रूयमाणार्थबोधकतया, अर्थात् प्रपञ्चमिथ्यात्वरूप स्वार्थ का बोधन कराता हुआ आगम की

बाधकतोद्धारः समीचीन एव; प्रत्यक्षशब्दयोर्बलाबलविचारात् प्राक् किमयं शब्द उपचरितार्थः? आहोस्वित् प्रत्यक्षमप्रमाणम्? इति शङ्कायामुभयोरबाधकत्वप्राप्तौ तात्पर्यलिङ्गैः श्रूयमाणार्थपरतया निश्चितस्यागमस्योपचरितार्थत्वशङ्काव्युदासेन लब्धावकाशत्वसम्भवात्।। १।।

न च शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षाबाधकतया प्रत्यक्षान्तरस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेनाबाधकतया च बाधकसामान्याभावे निश्चिते बाधशङ्का न युक्तेति वाच्यम्। शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षबाधकत्वस्य

कैलासविद्याप्रकाशिका

खण्डित हो गया। वस्तुतस्तु प्रत्यक्ष की भाविबाध शङ्का को लेकर भी प्रत्यक्ष की बाधकता का उद्धार समीचीन ही है। प्रत्यक्ष और शब्द के परस्पर बलाबल विचार से पहले—क्या यह शब्द गौणार्थक है? अथवा प्रत्यक्ष अप्रमाण है? ऐसी शङ्का होने पर दोनों में अबाधकत्व की प्राप्ति होने पर तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों से शब्द की श्रूयमाणार्थपरता होने से, निश्चित आगम के गौणार्थत्व की शङ्का के निवारण से शब्दनिष्ठ प्रत्यक्ष बाधकता की शङ्का को लब्धावकाशत्व सम्भव है।।१।।—।।२।।—।।३।।—।।४।।—।।५।।—।।६।।—।।७।।—।।८।।

इतिकैलासविद्याप्रकाशिकायां भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वार्थपरता का निश्चय होता है। तब आगम के औपचारिकार्थत्व की शङ्का दूर हो जाती है और प्रत्यक्ष को बाध करने का अवसर आगम को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जब श्रुति का स्वार्थ में तात्पर्य सिद्ध हो गया, तब श्रुति प्रत्यक्ष का बाध कर देगी, ऐसा निश्चय हो जाता है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि भले ही आगम के द्वारा आज इस समय चित्त की अशुद्धि के कारण हमको शब्द के बल पर मिथ्यात्व का अनुभव नहीं हो रहा है, किन्तु हो सकता है कि आगे चलकर मन के दोष हट जाने पर मिथ्यात्व का बोध हो जायेगा, ऐसी भाविबाध की शङ्का तो हो ही सकती है और उस शङ्का के द्वारा प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का बाध हो जायेगा। अतः चाहे भाविबाधनिश्चय को हेतु बनाया जाय या भाविबाधशङ्का को, दोनों ही पक्षों में कोई दोष नहीं है।। १।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि प्रत्यक्ष, जाति (प्रत्यक्षत्व) और उपजीव्यत्वादि हेतुओं के द्वारा आगम और अनुमान की अपेक्षा, प्रबल होने के कारण उनके (आगम और अनुमान के) द्वारा प्रत्यक्ष के बाध की शङ्का समाप्त हो जाती है। आप (सिद्धान्ती) के मत में प्रपञ्चप्रत्यक्ष जैसे अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित है, वैसे ही प्रपञ्च का प्रत्यक्षान्तर भी अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित है। अतः वह प्रत्यक्षान्तर भी प्रत्यक्ष का बाधक नहीं हो सकता है। अतः प्रपञ्चप्रत्यक्ष का बाधक आगम—अनुमान, प्रत्यक्षान्तर के न होने के कारण प्रपञ्चप्रत्यक्ष के बाधकसामान्याभाव का निश्चय हो जाने से प्रपञ्चप्रत्यक्ष के भाविबाध की शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि विशेषाभावकूट के निश्चय के द्वारा सामान्याभाव निश्चय होता है और उक्त प्रकार से यहाँ पर विशेषाभावकूट है। अतः सामान्याभाव अवश्यंभावी है। अर्थात् पूर्वोक्त अनुमान में भाविबाध की शङ्का को हेतु नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष जो पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष है, उसमें भावि—बाध की शङ्कारूप हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा। यही पूर्वपक्षी का आशय है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि प्रत्यक्षनिष्ठबाध्यतानिरूपितबाधकता शब्द और अनुमान में रहती है, उसका निरूपण 'प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वविचारः' और 'प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्य– त्वविचारः' के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। अतः शब्द और अनुमान, प्रत्यक्ष के बाधक नहीं हो सकते हैं— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असङ्गत है। कुछ विशेषप्रमाण (अनुमान, आगम और प्रत्यक्षान्तर) के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता है, ऐसा होने पर भी, इतने ही बाधक हैं, ऐसा निश्चय नहीं होगा, क्योंकि आगम अनेक हैं, ऐसे

व्यवस्थापितत्वात्प्रत्येकं विशेषाभावनिश्चयेऽपि विशेषाणामियत्तानवधारणदशायां संशयसम्भवात्। प्रत्यक्षस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेन शङ्काविरहोपपादनस्यासम्भवदुक्तिकत्वाच्च। अथैवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही अनुमान भी अनेक हैं– ये सभी बाधक नहीं हैं, ऐसा निश्चय किसी भी एक व्यक्ति को हो ही नहीं सकता है। अतः संशय हो ही सकता है कि इन विशेष आगम–अनुमानादि से भिन्न कोई अन्य आगम–अनुमानादि बाधक होगा। अतः भाविबाध की शङ्का हो ही सकती है। अभी पूर्वपक्षी ने स्वयं कहा था कि– 'प्रत्यक्षान्तरस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेन....' ऐसा कहकर फिर यह कहना कहाँ तक सङ्गत है कि 'बाधशङ्का न युक्ता'। अर्थात् यदि प्रत्यक्षान्तर अप्रमाणतया निश्चीयमान होता, तब तो उस प्रत्यक्षान्तर के द्वारा प्रत्यक्ष के बाध की शङ्का नहीं होती, किन्तु जब प्रत्यक्षान्तर अप्रमाणतया शङ्क्यमान है, तब प्रत्यक्षान्तर के द्वारा प्रपञ्चप्रत्यक्ष के भाविबाध की शङ्का युक्तियुक्त ही है, प्रपञ्च के प्रत्यक्षज्ञान में अप्रामाण्य मानने पर मिथ्यात्वानुमान के लिए शुक्तिरूप्यादि दृष्टान्त ही नहीं बन पायेगा, इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है। आगम और अनुमान के द्वारा प्रपञ्च के प्रत्यक्ष का बाध मानने पर जाग्रत्कालीन समस्त प्रत्यक्षज्ञान बाधित होने के कारण अप्रमा हो जायेंगे। अप्रमारूप जाग्रत्प्रत्यक्ष के द्वारा स्वाप्नज्ञान और शुक्तिरूप्यादि ज्ञान के बाध की सिद्धि न होने के कारण शुक्तिरूप्यादि में मिथ्यात्व का निश्चय न होने से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में शुक्तिरूप्यादि को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। अर्थात् प्रपञ्च का प्रत्यक्षज्ञान अप्रमा हो जाने पर 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान भी अप्रमा होगा। अप्रमारूप 'नेद रजतम्' इस ज्ञान के द्वारा 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का बाध नहीं होगा, क्योंकि भ्रम की निवृत्ति यथार्थविषयकज्ञान से ही होती है। अतः 'इदं रजतम्' का बाध न होने से 'इदं रजतम्' यह ज्ञान मिथ्या सिद्ध नहीं होगा। 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के मिथ्या सिद्ध न होने पर शुक्तिरजत मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। यही यहाँ पर पूर्वपक्षी का आशय है। सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि अद्वैतसिद्धान्त में प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक, ये तीन सत्ताएं मानी जाती हैं। इनमें पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सत्ता अधिक उत्कृष्ट मानी जाती हैं। इनमें से कार्याविद्यावच्छिन्नचित् प्रातिभासिकसत्ता है, जो कि 'सदिदं रजतम्' इत्यादि भ्रम में प्रतीत होती है। मूलाविद्यावच्छिन्नचित् व्यावहारिकसत्ता है, जो कि 'घटः सन्' इत्यादि ज्ञानों में भासित होती है। शुद्धचिद्रूप पारमार्थिकसत्ता है, जो कि 'सदहम्' इत्यादि ज्ञानों में प्रतीत होती है। अतः शुक्तिरूप्यादि प्रातिभसिकपदार्थों की अपेक्षा से अधिकसत्ता व्यावहारिकपदार्थों की है और व्यावहारिकसत्ता की अपेक्षा से अधिकसत्ता पारमार्थिकपदार्थ (ब्रह्म) की है। अतः अधिकसत्ताकविषयकज्ञान बाधक और न्यूनसत्ताकविषयकज्ञान बाध्य होने से जाग्रत्कालीनप्रत्यक्षज्ञान जिसकी व्यावहारिकसत्ता है उसके द्वारा न्यूनसत्ताक शुक्तिरूप्य का बाध हो जाने से शुक्तिरूप्य मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त बन सकता है। मूल में बाधक के दो प्रकार बतलाए गये हैं। प्रथम प्रकार यह है– 'आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकविषयत्वप्रयुक्तापेक्षिकप्रमाणत्वम्'। आरोप्य–रजत, उसकी सत्ता–प्रातिभासिक, उससे अधिकसत्ता–व्यावहारिकसत्ता, तादृशसत्तावाला–रजतनिषेध (नेदं रजतम्), तद्विषयकज्ञान–'नेद रजतम्' इत्याकारकज्ञान। इस प्रकार 'नेद रजतम्' ज्ञान में आरोप्यसत्ता धिकसत्ताकविषयत्व चला गया और 'इदं रजतम्' के विषय की सत्ता की अपेक्षा से 'नेदं रजतम्' के विषय की सत्ता अधिक होने के कारण 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान की अपेक्षा प्रमाणत्व भी है। अतः बाधक का लक्षण 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान में गया। प्रकृत में आरोप्य–प्रपञ्च, उसकी सत्ता–व्यावहारिकसत्ता, उससे अधिकसत्ता–पारमार्थिकसत्ता, तादृशसत्तावाला–जगदभाव (जगदभाव ब्रह्मरूप–अधिकरणस्वरूप है) तद्विषयकज्ञान–ब्रह्मज्ञान और प्रपञ्चज्ञान के विषय प्रपञ्च की सत्ता की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान के विषय ब्रह्म की सत्ता अधिक होने से ब्रह्मज्ञान में प्रपञ्चज्ञान की अपेक्षा प्रमाणत्व भी है। अतः बाधक का लक्षण ब्रह्मज्ञान में गया। प्रश्न होता है कि बाधक के इस प्रथम

जाग्रदादिज्ञानस्याप्रमात्वे स्वप्नदृष्टस्य शुक्तिरूप्यादेश्च बाधासिद्धौ कथं दृष्टान्तसिद्धि: स्यादिति चेन्न, आरोप्यसत्ताऽधिकसत्ताकविषयत्वेनापेक्षिकप्रमाणत्वेनाऽन्यूनसत्ताकविषयत्वेन वा बाधकत्वात्। अत एव यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके ''प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रद्बोधे मृषा भवेत्। स्वप्नादिदृष्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृत:।।'' इति तत्सङ्गच्छते।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

लक्षण में क्या अरुचि है, जिसके कारण बाधक का दूसरा लक्षण बतला रहे हैं? उसका उत्तर यह है कि सिद्धान्ती ने द्वितीयमिथ्यात्वलक्षण के निरूपण के अवसर पर यह स्वीकार किया है कि स्वाप्निक 'इदं रजतम्' और स्वाप्निक 'नेदं रजतम्' में बाध्य–बाधकभाव है स्वप्न में रजतादि के अभावज्ञान से रजतादि का बाध भी सिद्ध है, परन्तु उस स्वाप्निकबाधकज्ञान में आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकप्रयुक्तापेक्षिकप्रमाणत्व नहीं है, क्योंकि स्वाप्निक रजताभाव की सत्ता के समान ही स्वाप्निक रजतज्ञान के विषयीभूतरजत की सत्ता प्रातिभासिक है। अत: समानसत्ता होने के कारण स्वाप्निकबाधकज्ञान (नेदं रजतम्) में बाधक का प्रथम लक्षण नहीं जा सकता है। इस अरुचि के कारण बाधक का द्वितीय प्रकार दिखला रहे हैं। यहाँ पर प्रारम्भ में प्रथमलक्षण से आरोप्यसत्ता का अनुकरण करके लक्षण का आकार यह होगा– 'आरोप्यसत्ताऽन्यूनसत्ताकविषयत्वं बाधकत्वम्'। 'इदं रजतम्' इस जाग्रत्कालीनभ्रमस्थल पर आरोप्य–रजत, उसकी सत्ता प्रातिभासिक, उसकी अपेक्षा अन्यूनसत्ता 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान के विषय रजताभाव की है, तादृशसत्ताक–रजताभाव, उसको विषय करनेवाला ज्ञान– 'नेदं रजतम्'। इस प्रकार से 'नेदं रजतम्' में बाधकत्व का लक्षण जाने से 'इदं रजतम्' का उसके द्वारा बाध होगा और उसका बाध होने से 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का विषय मिथ्या सिद्ध होगा। अत: मिथ्यात्व–अनुमान के दृष्टान्त की उपपत्ति हो जायेगी। जहाँ स्वप्न में 'इदं रजतम्' का बाध 'नेदं रजतम्' से होता है वहाँ पर भी बाधक के इस लक्षण का समन्वय हो जायेगा। जैसे आरोप्य–रजत, उसकी सत्ता प्रातिभासिक, उसकी अपेक्षा से अन्यूनसत्ता 'नेदं रजतम्' के विषय रजताभाव की है, तद्विषयकज्ञान– नेदं रजतम्। अत: 'नेदं रजतम्' में बाधकत्व का लक्षण गया। आरोप्यसत्ताऽन्यूनसत्ताकविषयत्वरूपबा–धकत्व का निरूपण हो जाने से यह जो बौद्धों के प्रति वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्ट ने कहा है, वह भी अद्वैतसिद्धान्तानुसार ही सङ्गत होता है। 'प्रतियोगिनि–(स्वप्नगजादिज्ञान) विरोधिनि, जाग्रद्बोधे– जाग्रत्कालीनगजाद्यभावज्ञाने, दृष्टे–प्रमिते–प्रमात्वेन निश्चिते, स्वप्नादिदृष्टि:– स्वाप्नगजादिज्ञानं (आदिपदेन शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकस्य संग्रह:) अस्माकं (मते) मृषा भवेत्। तव– बौद्धमते (योगाचारशून्यवाद्यादि मते) भेद: (जाग्रद्बोधस्वाप्नबोधयो: विशेष:) किं कृत:। तव मते (बौद्धमते) बाध्यबाधकताव्यवस्थाप्रयोजनं नास्तीत्यभिप्राय:। अर्थात् त्रिविधसत्तावादी सिद्धान्ती के मत में सत्ता का न्यूनाधिकभाव का निरूपण हो जाने से आरोप्य की सत्ता से अधिकसत्ताकविषयकज्ञान में बाधकता की सिद्धि हो जायेगी। अथवा आरोप्य की सत्ता से अन्यूनसत्ताकविषयकज्ञान में बाधकता की सिद्धि हो जायेगी। बौद्ध और माध्व के मत में बाध्यबाधकभाव की व्यवस्था नहीं बन पायेगी, क्योंकि ज्ञानों की भिन्नता, विषयों की भिन्नता के द्वारा ही सिद्धि होती है। बौद्धमत में विषयों में भिन्नता नहीं मानी जाती है, क्योंकि विषय या तो ज्ञानस्वरूप है अथवा अलीक है। विषय को ज्ञानस्वरूप मानने पर दो ज्ञानों में भिन्नता की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि ज्ञान से पृथक् विषय को मानकर, विषय के भेद से ज्ञानों में भिन्नता की सिद्धि होती है। विषय को अलीक मानने पर भी अलीक सब एक जैसे ही होते हैं। अत: अलीकरूप विषय में भिन्नता न होने के कारण भी ज्ञानों में भिन्नता की सिद्धि नहीं होगी। दो ज्ञानों में भिन्नता न सिद्ध होने पर कौन ज्ञान बाधक है और कौन ज्ञान बाध्य है? इसकी व्यवस्था नहीं बन पायेगी। इसी प्रकार माध्वमत में भी सत्ता एक ही प्रकार की है। अत: आरोप्यसत्ता से भिन्न सत्ता मिलेगी ही नहीं। अत: माध्वमत में भी बाध्यबाधकभाव की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। माध्वमत में सभी की एक पारमार्थिकसत्ता ही होती हैं, क्योंकि 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थल पर रजत को अलीक मानते हैं। अर्थात् रजत

ननु भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयैव धीर्बाधिका दृष्टा, न च विश्वबाधिका धीस्तथेति चेन्न, अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, विश्वनिवर्तकब्रह्मज्ञानस्य तथात्वात्। न च सप्रकारिकैव धीर्भ्रमनिवर्तिका, इयन्तु निष्प्रकारिका कथं तथेति वाच्यम्, निवर्तकतायां सप्रकारकत्वस्य गौरवादप्रवेशात्।।३।।

नन्वावश्यकः सप्रकारकत्वनियमः व्यावृत्ताकारज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

की कोई सत्ता ही नहीं है। जैसे अलीक वन्ध्यासुत की कोई सत्ता ही नहीं होती है।। २।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भ्रमकालीन—आरोप्यज्ञान का विषय अधिष्ठान के सामान्यधर्म से तादात्म्यापन्न—अध्यस्तपदार्थ होता है। जैसे इदन्त्वतादात्म्यापन्नरजत 'इदं रजतम्' इस भ्रम का विषय है। इस भ्रम के प्रति कारण है, विशेष (शुक्तित्व) का अदर्शन। अतः विशेष (शुक्तित्व) के दर्शन से उक्त भ्रम का बाध हो जाता है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि भ्रम का विषय कोई विशेष (शुक्तित्वादि) नहीं होता हैं। अतः भ्रम का अविषय जो विशेष—शुक्तित्वादि है, उसको विषय करने वाला जो ज्ञान उसको बाधकज्ञान कहते हैं। अर्थात् भ्रमकालीन—अपरोक्षज्ञान का विषय (इदन्त्वतादात्म्यापन्न—अध्यस्त रजत आदि) को विषय न करनेवाला और विशेष (शुक्तित्वादि) को विषय करनेवाला 'इयं शुक्तिः' इत्यादि यह जो ज्ञान है, वही उक्त भ्रमों के बाधक होते हैं। प्रकृत में प्रपञ्च का बाधक ब्रह्मज्ञान उक्त प्रकार का नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान निर्विशेषज्ञान है। ब्रह्म में कोई भी विशेषधर्म सिद्धान्ती मानते नहीं हैं। इसलिए विशेष को विषय करनेवाला न होने के कारण और 'घटः सन्' इत्यादि भ्रमरूप अपरोक्षबोध का अविषय भी ब्रह्म नहीं है, किन्तु सद्रूपेण विषय ही है। इसलिए ब्रह्मज्ञान को प्रपञ्चभ्रम का बाधक नहीं माना जाा सकता है। बाधकज्ञान के अभाव के कारण प्रपञ्चज्ञान को भी भ्रमज्ञान नहीं कहा जा सकता है और जब प्रपञ्च का ज्ञान भ्रम नहीं है, तब प्रपञ्चज्ञान के विषयीभूतप्रपञ्च को मिथ्या कहना अत्यन्त असङ्गत है, ऐसा पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं है। भ्रम का निवर्तक अधिष्ठानतत्त्वज्ञान होता है। अर्थात् अधिष्ठान का सजातीय—विजातीय से व्यवच्छिन्न जो असाधारणस्वरूप है, तादृशस्वरूपविषयकत्वेन ज्ञान को भ्रम का निवर्तक कहा जाता है। प्रपञ्चविभ्रमनिवर्तक ब्रह्मज्ञान वैसा ही है। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि भ्रम का निवर्तकज्ञान हमेशा सप्रकारक ही होता है। जैसे 'इदं रजतम्' इस भ्रम का निवर्तक शुक्तित्वप्रकारकज्ञान ('इयं शुक्तिः') ही होता है। ब्रह्मज्ञान निष्प्रकारक होने के कारण भ्रम का निवर्तक नहीं हो सकता है। ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार सप्रकारकज्ञान को भ्रम का निवर्तक मानने पर 'इदं रजतम्' इस भ्रम के बाद पुनः 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रमज्ञान हुआ। यहाँ पर द्वितीय 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञान से प्रथम 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञान का बाध होना चाहिए, क्योंकि यह सप्रकारकज्ञान है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि 'सप्रकारत्वे सति अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वं बाधकत्वम्', तो इस में विशेषण सप्रकारकत्व प्रवेश करने से गौरव होगा और सप्रकारकत्व विशेषण व्यर्थ भी है। क्योंकि अधिष्ठानतत्त्वज्ञान को ही भ्रम का बाधक मान लेने से कोई दोष नहीं होता है।।३।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भ्रमनिवर्तकज्ञान में सप्रकारत्व का नियम आवश्यक है, क्योंकि व्यावर्तकधर्मप्रकारकज्ञान को ही भ्रमनिवर्तक कहा जाता है। जैसे 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञान में जो प्रकार (रजतत्वप्रकार) है, उससे भिन्न प्रकारक (शुक्तित्वप्रकारक) बाधकज्ञान ('इयं शुक्तिः') होता है। इसलिए प्रपञ्चविभ्रम का बाधकज्ञान सप्रकारक होना चाहिए, जबकि ब्रह्मज्ञान सप्रकारक नहीं है। बाधकज्ञान को भिन्न प्रकारक होना चाहिए, ऐसा न मानने पर समानप्रकारकज्ञान भी भ्रम का बाधक हो जायेगा। जैसे प्रथम बार 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के बाद प्रथमज्ञान का अनुकरण करनेवाला दूसरी बार भी 'इदं रजतम्' यह

अनुवृत्ताकार— ज्ञानादपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति चेत्? सत्यम्, व्यावृत्ताकारत्वेन ज्ञानस्य भ्रमनिवर्तकता, न तु तत्र विशेषप्रकारकत्वनियम:। तथा हि व्यावृत्ताकारता हि द्वेधा भवति। विशेषणादुपलक्षणाच्च। तत्राद्ये सप्रकारकत्वनियम:। द्वितीयेऽपि धर्मान्तरस्य यदुपलक्षणं तस्माद् व्यावृत्ताकारत्वे सप्रकारकतैव। यदि तु स्वरूपोपलक्षणाद् व्यावृत्ताकारता तदा निष्प्रकारतैव। उपलक्षणस्य तत्राप्रवेशात्, स्वस्य च स्वस्मिन्नप्रकारत्वात्। न च प्रमेयत्वादिवत् स्वस्यैव स्वस्मिन् प्रकारत्वमिति वाच्यम्। त्वयापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान होने पर उस द्वितीय बार होनेवाले 'इदं रजतम्' इस ज्ञान से प्रथम 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का बाध होना चाहिए। ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहता है तो एक प्रकार से ठीक ही कहता है कि व्यावृत्ताकारज्ञान ही भ्रम का बाधक होता है, किन्तु बाधकज्ञान का सप्रकारक होना अनिवार्य नहीं है। यहाँ पर सिद्धान्ती के कहने का तात्पर्य यह है कि भ्रमज्ञान का जो आकार है उससे भिन्न आकार ही भ्रमनिवर्तकज्ञान का होना चाहिए, न कि भ्रमनिवर्तकज्ञान को भिन्नप्रकारक होना चाहिए। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ज्ञानों में व्यावृत्ताकारता दो प्रकार से आती है— विशेषण से और उपलक्षण से। विशेक्षणपक्ष में ज्ञान में सप्रकारकत्व अवश्य रहता है। जैसे नीलकमल और पीतकमल इन दोनों ज्ञानों में भिन्न–भिन्न आकारता का कारण नीलरूप और पीतरूप विशेषण है। उपलक्षण के माध्यम से जहाँ ज्ञान में व्यावृत्ताकारता आती है, वहाँ ज्ञान सप्रकारक भी हो सकता है और निष्प्रकारक भी। ऐसा इसलिए है कि उपलक्षण दो प्रकार का होता है। एक तो धर्मान्तर का उपस्थापक और दूसरा स्वरूप का उपस्थापक। प्रथम का दृष्टान्त— काकोपलक्षित गृह है, यहाँ पर काक उपलक्षण किसी व्यावर्तकधर्म उत्तृणत्वादि जो दूसरे मकान से इस मकान को भिन्नत्वेन बोध कराता है, उस उत्तृणत्व का उपस्थापक है। अत: उत्तृणत्वधर्म का उपस्थापक होने के कारण यहाँ उत्तृणत्वप्रकारकगृहविशेष्यकज्ञान होने से सप्रकारकज्ञान होता है। जैसे घटत्व–धर्म का उपस्थापक 'अयं घट:' यह ज्ञान सप्रकारकज्ञान होता है। जहाँ उपलक्षण से स्वरूपमात्र का उपस्थापन होता है वहाँ निष्प्रकारकज्ञान होता है। जैसे जितने लक्षणवाक्य है, उन लक्षणवाक्यों से लक्ष्य का इतर लक्ष्यों से भिन्नत्वेन बोधन कराना होता है, न कि प्रकारविशिष्टत्वेन लक्ष्य का बोधन होता है— जैसे 'गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्' यहाँ 'गन्धवत्त्वम्' जो है वह पृथिवी (लक्ष्य) में रहनेवाले किसी धर्म का उपस्थापन नहीं करता, किन्तु पृथिवी के स्वरूपमात्र का उपस्थापन करता है, क्योंकि जितने भी लक्षणवाक्य है, उन सबको अखण्डार्थक–वाक्य माना जाता है। जैसे 'कश्चन्द्र:'? यहाँ पर केवल चन्द्रशब्द का जो अर्थ है उसके स्वरूपमात्र ही की जिज्ञासा प्रश्नकर्ता को है। मात्र इसलिए कहा कि स्वरूप में रहने वाले किसी धर्म की जिज्ञासा नहीं है। इसलिए उक्त प्रश्न के उत्तर में जो लक्षणवाक्य ('प्रकृष्टत्वे सति प्रकाशत्वम्') का प्रयोग किया जाता है। इस वाक्य से लक्ष्य जो चन्द्र उसके स्वरूपमात्र का ही बोधन होता है, न कि चन्द्रस्वरूपनिष्ठ किसी धर्म (प्रकाशत्वादि) का। यह मानना आवश्यक इसलिए कि लक्षणवाक्य के द्वारा स्वरूपनिष्ठ किसी धर्मान्तर का उपस्थापन यदि माना जाय तो प्रश्नकर्ता के आशय को बिना समझे ही उत्तरकर्ता ने उत्तर दिया है, ऐसा माना जायेगा। प्रकृत में यह आया कि लक्षणवाक्य के द्वारा जो स्वरूपज्ञान हुआ वह व्यावृत्ताकारक तो है, क्योंकि उससे नक्षत्रादि से भिन्नत्वेन चन्द्र के स्वरूप का बोध हुआ है, किन्तु सप्रकारक नहीं है, क्योंकि चन्द्रनिष्ठ किसी प्रकार का बोध नहीं हुआ है। इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा बाधकज्ञान को व्यावृताकार मानने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मस्वरूपमात्र का बोध होता है और ब्रह्मज्ञान में अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्व भी है। अत: बाधकज्ञान का लक्षण—'व्यावृत्ताकारत्वे सति अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वम्' ऐसा मानने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। प्रश्न होता है कि उपलक्षण को शाब्दबोध में प्रविष्ट क्यों नहीं माना जाता है? इसका समाधान यह है कि उपलक्षण कार्यानन्वयी होता है। अत: उपलक्षण का कार्य (शाब्दबोधरूपकार्य) में अन्वय

केवलान्वयिन्येवागत्या तथाङ्गीकारात्, न तु सर्वत्र। अथ आकारप्रकारयोरभेदाद् ब्रह्माकारतैव ब्रह्मबुद्धेस्तत्प्रकारतेति चेन्न, विशिष्टबुद्धेर्विशेष्याकारत्वेऽपि तदप्रकारकत्वात्, आकारप्रकारयोर्भेदात्। आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणव्यवहारहेतुरिति वक्ष्यते। तस्माद्यथाऽऽका-शपदाच्छब्दाश्रयत्वोपलक्षितधर्मिस्वरूपमात्रं ज्ञायते, तद्वदत्रापि द्वितीयाभावाद्युपलक्षितब्रह्मस्वरूपज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

(प्रवेश) नहीं होता है। जैसे 'गन्धवत्वं पृथिव्या लक्षणम्' में उपलक्षण (गन्धवत्त्वम्) कार्य (शाब्दबोध—पृथिवी का ज्ञान) में प्रविष्ट नहीं है। अर्थात् गन्धवत्त्वयुक्तपृथिवी का बोध वहाँ नहीं होता है, किन्तु केवल पृथिवी का ही बोध होता है। प्रकृत में कार्य—शाब्दबोध—द्वैताभावोपलाक्षित— ब्रह्मज्ञान में उपलक्षण (द्वैताभाव) प्रविष्ट नहीं है। यदि उपलक्षण शाब्दबोध में प्रविष्ट होता तो उपलक्षण को ही उस ज्ञान में प्रकार मानकर उस ज्ञान को सप्रकारकज्ञान कहा जा सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि कहें कि उपलक्षण के द्वारा उपलक्ष्य का जो स्वरूप भासता है, उसी को ही ज्ञान में प्रकार क्यों न माना जाये तो उत्तर दिया गया कि स्व, स्व में प्रकार नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रकार को प्रकारी से भिन्न होना चाहिए। सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि स्व, स्व में प्रकार नहीं हो सकता, उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे प्रमेयत्व केवलान्वयी होने के कारण प्रमेयत्व में रहता है। अतः प्रमेयत्व 'स्व' में भी प्रकार माना जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र रहने वाला ब्रह्म भी 'स्व' में भी रह जाने से स्व में स्व प्रकार हो जायेगा। अतः ब्रह्मज्ञान सप्रकारक कहा जा सकता है। ऐसा कथन पूर्वपक्षी का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्व को केवलान्वयी माननेवालों के मत में यदि प्रमेयत्व सर्वत्र रहता है, तब उसको केवलान्वयिधर्म कहा जा सकता है। अतः वे लोग बाध्य होकर (अगत्या) प्रमेयत्व को केवलान्वयी सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व को मानते हैं। अर्थात् स्व में स्व को प्रकार मान लेते हैं, किन्तु सर्वत्र वैसा नहीं मानते हैं। जैसे घट का सविकल्पकज्ञान होता है, उसमें प्रकार घटत्व होता है, किन्तु घटत्व का जो निर्विकल्पकज्ञान होता है, उसमें घटत्वप्रकारकज्ञान नहीं माना जाता है। यदि स्व में स्व प्रकार होता है तो घटत्व में घटत्व प्रकार माना जाता। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती जो ब्रह्माकारबुद्धि मानते हैं वही बुद्धि ब्रह्मप्रकारक है। अर्थात् ब्रह्मबुद्धिनिष्ठब्रह्माकारता ही ब्रह्मप्रकारता है, क्योंकि बुद्धि के आकार और प्रकार में भेद नहीं होता है। अतः ब्रह्मज्ञान निष्प्रकारक न होने से वह जगत् का बाधक सिद्ध नहीं होगा। सिद्वान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि आकार और प्रकार भिन्न—भिन्न होते हैं। जहाँ विशिष्टबुद्धि होती है वहाँ विशेष्य, विशेषण और सम्बन्ध भासित होते हैं। अतः विशिष्टबुद्धि विशेष्याकारक होने पर भी विशेष्यप्रकारक नहीं होती है। जैसे घटत्वप्रकारकघटविशेष्यक 'अयं घटः' यह ज्ञान है, इस ज्ञान में घटाकारता है, लेकिन घटप्रकारता नहीं है, क्योंकि प्रकारता घटत्व में है। अतः आकारता और प्रकारता में भेद होता है, अभेद नहीं। वृत्ति में रहने वाले धर्मविशेष को आकार कहा जाता है। अर्थात् एकमात्र बौद्ध को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में ज्ञान के आकार को नहीं माना गया है, अर्थात् ज्ञान को निराकार माना गया है। अतः सिद्धान्ती भी ज्ञान को ब्रह्मस्वरूप और निराकार मानते हैं। किन्तु ब्रह्माकार जो अन्तःकरण की वृत्ति होती है, उस वृत्ति को साकार मानते हैं। यह वृत्ति, ज्ञान की व्यञ्जिका (अवच्छेदिका) है। अर्थात् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य को ज्ञान कहते हैं। वृत्ति जड है और वृत्ति में ही साकारता है। अतः घटत्वविशिष्टघटवृत्ति के विशेष्यघट में रहनेवाले धर्म को प्रकार कहेंगे और वृत्तिनिष्ठधर्म को आकार कहेंगे। अर्थात् वृत्ति में रहनेवाले धर्म को आकार और वृत्ति के विशेष्य (घट) में रहनेवाले धर्म (घटत्व) को प्रकार कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वृत्ति में आकार होता है और ज्ञान में आकार नहीं होता है। यह वृत्तिनिष्ठ आकार अलग—अलग होता है और यह वृत्तिविशेष अन्यवृत्तिविशेष से भिन्न है, ऐसा व्यवहार होता है,

व्यावृत्ताकारं द्वैतनिवर्तकमपरोक्षम्। यथा च शब्दात्तादृग्ज्ञानसम्भवस्तथा वक्ष्यते।। ४ ।।

न च बाधकधियां भ्रमतद्धेत्वज्ञानदोषाध्यस्तद्रष्ट्रादीनामबाधकत्वं दृष्टमिति कथं ब्रह्मज्ञानस्य तद्बाधकत्वं घटतामिति वाच्यम्। यत्र हि स्वप्ने द्रष्टारं दुष्टकरणवन्तं कल्पयित्वा तस्य भ्रमं

सत्यानन्दप्रबोधिका

उस असाधारणव्यवहार के प्रति हेतु वृत्तिनिष्ठ आकार होता है। इस पर विस्तार से चर्चा प्रतिकर्मव्यवस्थाप्रकरण में की जायेगी। अतः जहाँ उपलक्षण स्वरूपमात्र का बोधक होता है, वहाँ पर निष्प्रकारकज्ञान ही होता है और आकार एवं प्रकार में भेद होने से आकाश पद से शब्दाश्रयत्व से उपलक्षित धर्मिस्वरू- पमात्र का ज्ञान होता है। अर्थात् शब्दाश्रयत्व को यदि विशेषण मानेंगे तो प्रलयकाल में शब्द के न रहने से शब्दाश्रयत्वरूप आकाश भी न रहेगा। अतः शब्दाश्रयत्व को उपलक्षण माना गया। उपलक्षण मानने पर भले ही प्रलयकाल में वस्तु (नभ) में शब्द उत्पन्न न हो रहा हो, किन्तु किसी समय जिस वस्तु में शब्द उत्पन्न होता है, उसी वस्तुमात्र को (न कि शब्दाश्रयत्व–धर्म से युक्त उस वस्तु को) आकाश कहते हैं, क्योंकि उपलक्षण (शब्दाश्रयत्व) कार्य (पद से होनेवाले पदार्थबोध) में अनन्वित होता है। इस प्रकार यह ज्ञान आकारवाला होने पर भी प्रकारवाला नहीं है, अर्थात् साकार होने पर भी निष्प्रकारक है। इसी प्रकार प्रकृत में भी द्वैताभाव से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूपज्ञान व्यावृत्ताकार होने पर भी निष्प्रकारक है और द्वैतनिवर्तक है तथा अपरोक्ष भी है। शब्द से अपरोक्षज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, इस पर विशेषविचार तृतीयपरिच्छेद के समाप्ति के अवसर पर किया जायेगा।। ४।।

पूर्वपक्षी कह रहा है कि 'नेदं रजतम्' इस बाधकज्ञान से चार का बाध नहीं होता है। प्रथम– 'इदं रजतम्' इस भ्रम का बाध नहीं होता है, क्योंकि यह स्वरूपतः सत्य है। इसके विषय का बाध होने से इसे भ्रमज्ञान कहा जाता है, न कि स्वरूप के बाध होने से। द्वितीय– भ्रम का हेतु जो अज्ञानादिदोष उसका बाध नहीं होता है, क्योंकि अज्ञानादि का बाध होने पर पुनः शुक्ति में रजत का भ्रम नहीं होगा। तृतीय– अध्यस्तरजत (हट्टस्थ रजत) और चतुर्थ– भ्रम को देखनेवाला द्रष्टा का बाध नहीं होता है। किन्तु सिद्धान्ती ब्रह्मज्ञान से प्रपञ्चभ्रम, उसका हेतुभूत मूलाज्ञानरूपदोष, अध्यस्तप्रपञ्च और भ्रमद्रष्टा, इन सब का बाध मानते हैं, जो कि अनुभवविरुद्ध है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में उक्त चारों विषयों का बाध जाग्रत् ज्ञान से होता है। जैसे स्वप्न में दुष्टकरणक–पुरुष को 'पीतः शङ्खः' ऐसा भ्रम हुआ, वहाँ पर जाग्रत् ज्ञान से–प्रथम–भ्रम (पीतशङ्ख) द्वितीय–भ्रम का अज्ञान, तृतीय–अध्यस्त पीतरूप, चतुर्थ–पीतरोग से ग्रस्त द्रष्टा का बाध हो जात है। जाग्रद्दशा में भी जब कोई पुरुष मानव की मूर्ति में चैतन्य का आरोप करता है, उसके सम्मुख दीवार में दर्पण की कल्पना करता है, तथा यह भी कल्पना करता है कि यह चेतनमानव अपना प्रतिबिम्ब सामने के दर्पण में देख रहा है। यहाँ पर उक्त चारों विषय मौजूद हैं। प्रथम– मूर्ति में जीवितद्रष्टा का भ्रम, द्वितीय– उस भ्रम का हेतुभूतदोष (जीवितव्यक्ति के द्वारा दीवार को दर्पण समझना आदि दोष)। तृतीय– उसके सभी पदार्थ अध्यस्त हैं। चतुर्थ– मूर्तिरूप में बैठे पुरुषरूपकल्पितद्रष्टा के द्वारा प्रतिबिम्ब देखना। इस समस्त भ्रमपरम्परा की निवृत्ति मूर्ति के पास जाने पर 'नायं चेतनः, न चायमादर्शः' – इस प्रकार की प्रमा से होती हुई देखी जाती है। इस लिए एक ही प्रमाज्ञान से भ्रम, भ्रमहेतु अज्ञानादिदोष, अध्यस्तपदार्थ एवं द्रष्टा के बाध की कल्पना अदृष्टचरी नहीं है। प्रश्न होता है कि 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार का अधिष्ठानज्ञान से केवल रजतभ्रम की ही निवृत्ति होती है, किन्तु रज्जुगतसर्पभ्रमादि की निवृत्ति नहीं होती है और नहीं भ्रमद्रष्टादि की निवृत्ति होती है, ऐसा क्यों? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अशेषभ्रम के अधिष्ठान का साक्षात्कार न होने के कारण द्रष्टादि की निवृत्ति नहीं होती है, ब्रह्मज्ञान आकाशादि–प्रपञ्चविभ्रम को निवृत्त करता हुआ द्रष्टा, दोषादि का भी निवर्तक क्यों

कल्पयति, तत्र जागरज्ञानेन सर्वेषां निवृत्तिदर्शनात्। जाग्रद्दशायामपि यदा मनुष्यप्रतिकृतौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तिन्यनादर्शे एवाऽऽदर्शत्वं कल्पयित्वा स्वप्रतिबिम्बमयं पश्यतीति कल्पयति, तदा ''नायं चेतनो न चायमादर्शः'' इति प्रमया सर्वनिवृत्तिदर्शनाच्च नेयमदृष्टचरी कल्पना। तथा चेयं शुक्तिरित्याद्यधिष्ठानज्ञानं रज्ज्वां सर्पभ्रममिव द्रष्ट्राद्यध्यासं मा निवीवृतत्, तत् कस्य हेतोः? तदधिष्ठानसाक्षात्कारत्वाभावात्, ब्रह्मज्ञानं त्वाकाशादिप्रपञ्चभ्रममिव द्रष्टृदोषादिभ्रममपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है? इसका कारण यह है कि वह अशेषभ्रम के अधिष्ठानभूतवस्तु का तत्त्वसाक्षात्काररूप है। अर्थात् अधिष्ठानसाक्षात्कार से अधिष्ठान में अध्यस्तपदार्थ निवृत्ति होती है और जो अधिष्ठान में अध्यस्त नहीं रहता है, उसकी अधिष्ठानसाक्षात्कार से निवृत्ति नहीं होती है। इस नियम के अनुसार ही 'इयं शुक्तिः' इस ज्ञान के अनन्तर रजतभ्रम की निवृत्ति होती है, किन्तु रज्जु में सर्पभ्रम की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि सर्पभ्रम के अधिष्ठानरज्जु का साक्षात्कार 'इयं शुक्तिः' इस ज्ञान से नहीं होता है। ब्रह्म में आकाशादिप्रपञ्च और दोषादिसम्पूर्णद्वैत ही अध्यस्त होता है। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार होने से सम्पूर्णद्वैतमात्र की निवृत्ति हो जाती है। अतः पूर्वपक्षी की यह जो व्याप्ति थी कि 'यत्र यत्र बाधबुद्धित्वं तत्र तत्र दोषाद्यबाधकत्वम्' यह व्याप्ति खण्डित हो गयी, क्योंकि ब्रह्मज्ञान में व्याप्य है किन्तु व्यापक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सभी का बाध होता है। प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती के अनुसार दोषादि के अबाधकत्व का प्रयोजक क्या है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि– 'यत्र यत्र तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारभिन्नत्वं तत्र तत्र दोषाद्यबाधकत्वम्'। अर्थात् जिस जिस ज्ञान में बाधकत्व रहता है, उस ज्ञान में दोषादि अबाधकत्व रहता है ऐसा नियम नहीं माना जाता है, किन्तु जिस ज्ञान में तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारभिन्नत्व रहता है। उसमें दोषादि–अबाधकत्व रहता है, तद्पद से दोषादि लेना है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती के द्वारा स्वप्न और जाग्रद्दशा में जो दो दृष्टान्त दिये गये, उसके सभी पदार्थ कल्पित है। अतः उनका बाध हो सकता है, किन्तु द्रष्टा, प्रपञ्चादि अनुभवसिद्ध जो अकल्पित पदार्थ है, उसका ब्रह्मज्ञान से कैसे बाध होगा? ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त में ब्रह्म से व्यतिरिक्त सम्पूर्णप्रपञ्च को कल्पित माना जाता है। अतः कल्पितवस्तु की ही निवृत्ति बाधज्ञान से होती है। आकाशादिप्रपञ्च अकल्पित होने से उन की निवृत्ति कैसे होगी? ऐसा प्रश्न अद्वैतवादी से करना सिद्धान्त—अनभिज्ञता को दर्शाता है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि साक्षिप्रत्यक्ष का अर्थ साक्षी होता है, न कि साक्षी से भिन्न अन्य कोई अर्थ होता है। अतः साक्षिप्रत्यक्ष का बाध नहीं होगा, क्योंकि साक्षी किसी दोष से जन्य नहीं होता है। अपितु श्रुतिजन्य–अद्वैतज्ञान ही तात्पर्यभ्रमरूपदोष से जन्य होने के कारण बाधित होता है। पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि 'इद रजतम्' यह ज्ञान साक्षिप्रत्यक्ष है, उसका विषय रजत है। यहाँ पर सिद्धान्ती रजत और रजतज्ञान दोनों का ही बाध मानते हैं। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि साक्षिप्रत्यक्ष का अर्थ साक्षिरूपज्ञान है जिसका कि बाध होगा नहीं, क्योंकि साक्षी (चैतन्य) दोष से जन्य नहीं है। सिद्धान्ती ने जो यह कहा था कि श्रुति का तात्पर्य अद्वैत में है, यह सिद्धान्ती का भ्रममात्र है। अतः तात्पर्यभ्रमरूपदोष से जन्य होने के कारण अद्वैतज्ञान ही बाधित है। इसपर सिद्धान्ती का कथन है कि चैतन्य स्वरूपतः दोष से अजन्य होने पर भी साक्षिचैतन्य की अवच्छेदिका जो अविद्यावृत्ति, वह दोष से जन्य होती है। उस अविद्यावृत्ति में प्रतिफलितचैतन्य को ही साक्षिपदार्थ माना जाता है। अतः दोष से अविद्यावृत्ति जन्य होने के कारण उसमें प्रतिफलितचैतन्य (साक्षिचैतन्य) भी दोष से जन्य माना जाता है। इसलिए उसका ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाता है। यहाँ पर मूलप्रसङ्ग के अनुसार यह भी समझना चाहिए कि घटादिविषयाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य घटादि विषय के प्रति साक्षी माना जाता है। सुखादि के आकार की भी वृत्ति मानी जाती है, क्योंकि वृत्ति के बिना संस्कार नहीं हो सकता है और

निवर्तयेदेव, तत्कस्य हेतोः? अशेषभ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वात्। एवञ्च बाधबुद्धित्वं न दोषाद्यबाधकत्वे प्रयोजकम्, अपितु तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारभिन्नत्वमिति द्रष्टव्यम्। ननु कल्पितत्वादुक्तदृष्टान्ते तद्बाध्यतामिह तु कथमिति चेत्? हन्त ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पितत्वमङ्गीकुर्वतामस्माकमिदमनिष्टं महदापादितं देवानां प्रियेण। ननु साक्षिप्रत्यक्षं न बाध्यम्, दोषाजन्यत्वात्, प्रत्युत श्रुतिजनिताद्वैतज्ञानमेव बाध्यम्, तात्पर्यभ्रमरूपदोषजन्यत्वादिति चेन्न,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

संस्कारों के बिना अतीत सुखादि की स्मृति नहीं हो पायेगी। अर्थात् जैसे भ्रमवस्तु का जो प्रत्यक्ष है, वह साक्षिप्रत्यक्ष माना जाता है, ऐसे ही सुख का जो प्रत्यक्ष है, उसको भी साक्षिप्रत्यक्ष माना जाय। तब तो यह नियम है कि वस्तु का ज्ञान जब तक जीवित रहता है तब तक उस वस्तु का संस्कार उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु वस्तु के ज्ञान के नाश के अनन्तर वस्तु का संस्कार उत्पन्न होता है। सुख के प्रत्यक्ष को साक्षिप्रत्यक्ष, अर्थात् साक्षिस्वरूप मानने पर, अर्थात् सुखाकारवृत्ति न मानने पर सुख की समाप्ति के बाद भी साक्षी का नाश तो होता नहीं। क्योंकि सुखाकारवृत्ति को न मानने पर वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य साक्षी तो होगा नहीं, केवल चैतन्य ही साक्षी होगा। अतः सुख का प्रत्यक्षरूप जो साक्षी, उसका नाश न होने से न सुख का संस्कार उत्पन्न होगा और न सुख की स्मृति ही उत्पन्न होगी। अतः सुख के संस्कार की उत्पत्ति जिससे हो उसके लिए सुखाकारवृत्ति माननी पड़ेगी। वृत्ति मानने पर सुखाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य ही सुख का साक्षी है। अतः वृत्ति के नाश होने पर वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य का नाश होगा और तब सुख का संस्कार और स्मृति की सिद्धि होगी, किन्तु जो लोग सुखाकारवृत्ति नहीं मानते हैं, उनके अनुसार सुख एक ऐसी मन की वृत्ति है, जैसा की श्रुति में कहा गया है– 'ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव', (बृ. १.५.३)। ऐसे में सुखरूपवृत्ति के आकार की एक और वृत्ति मानने पर अनवस्था होगी, इसलिए सुखरूपवृत्ति के लिए सुखाकार एक और वृत्ति नहीं माननी चाहिए। वृत्ति न मानने पर जो दोष दिया था कि सुख के संस्कार और स्मृति की सिद्धि नहीं हो पायेगी, वह दोष भी नहीं लगेगा, क्योंकि घटादि और सुखादि में अन्तर है। वह यह है कि घट स्वयं वृत्तिरूप नहीं है और सुख स्वयं वृत्तिरूप है। अतः घटज्ञान होने पर ज्ञान के नाश के पश्चात् भी घट रहता है। अतः यहाँ पर वृत्ति न मानने पर घटावच्छिनचैतन्य को ही ज्ञान मानना पड़ेगा और चैतन्य का नाश न होने से घट के संस्कार और घट की स्मृति की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः घटादिविषयकवृत्ति माननी पड़ती है, इस वृत्ति के नाश से घटाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य का भी नाश होता है। उसके नाश से घट का संस्कार और घट की स्मृति की सिद्धि हो जाती हैं। परन्तु सुखाकारवृत्ति न मानने पर उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि सुखज्ञान के न रहने पर सुख का नाश हो जाता है, क्योंकि सुख स्वयं वृत्तिरूप है। अतः सुखावच्छिन्नचैतन्य का नाश होने पर सुख का संस्कार और सुख की स्मृति दोनों की सिद्धि हो जायेगी (इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखे)। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अद्वैतज्ञान तात्पर्यभ्रमरूपदोष से जन्य होने के कारण बाधित है, वह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तात्पर्यनिर्णायक–उपक्रमादिषड्लिङ्गों के द्वारा अद्वैततत्त्व में श्रुति के तात्पर्य का ग्रहण होता है। वह तात्पर्यग्रह भ्रम नहीं है और व्यावहारिकप्रामाण्य से विशिष्टप्रत्यक्ष के साथ अद्वैततात्पर्यज्ञान का विरोध नहीं है। क्योंकि अद्वैततात्पर्यज्ञान प्रत्यक्षनिष्ठव्यावहारिकप्रामाण्य का विरोध नहीं करता है। अपितु प्रत्यक्षनिष्ठपारमार्थिकप्रामाण्य का विरोध करता है। अतः प्रत्यक्षादि से विरोध न होने के कारण अद्वैततात्पर्यज्ञान का बाध न होने से अद्वैततात्पर्यज्ञान प्रमारूप होने के कारण दोषजन्य नहीं है। अतः अद्वैततात्पर्यप्रमा से जन्य अद्वैतज्ञान का बाध भी नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि तात्पर्यभ्रमरूपदोष से जन्य अद्वैतज्ञान है, उसका खण्डन हो गया। पूर्वपक्षी ने विषयबाध का प्रयोजक जो

चैतन्यस्य स्वरूपतो दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, तत्प्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्, अद्वैततात्पर्यग्रहस्य च प्रत्यक्षाद्यविरोधेन प्रमारूपतया दोषत्वाभावान्न तज्जन्यमद्वैतज्ञानं बाध्यम्; भ्रमजन्यत्वस्य विषयबाधाप्रयोजकत्वाच्च। न च बाधकतुल्यमानताकद्वैतश्रुतिसंवादिद्वैतप्रत्यक्षं कथं बाध्यमिति वाच्यम्। द्वैतस्य प्रत्यक्षादिलौकिक–मानसिद्धत्वेन तद्बोधकश्रुतेरनुवादकतया फलवदज्ञातस्वार्थतात्पर्यकाद्वैतश्रुतिसाम्याभावात्। ननु बाधकधीबोध्यं न बाध्यम्, भेदश्च बाधकधीबोध्यः, तया स्वविषयस्य भिन्नत्वेनैव ग्रहान्नेदं रजतमितिवदभिन्नतयोदासीनतया वा ग्रहणे बाधकत्वायोगादिति चेन्न, बाधकधियो भेदविषयत्वान–

सत्यानन्दप्रबोधिका

भ्रमजन्यत्व को कहा था, अर्थात् 'यत्र यत्र विषये भ्रमजन्यत्वं तत्र तत्र विषये बाध्यत्वम्' इस व्याप्ति को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी के अनुमान का आकार था– 'अद्वैतज्ञानं बाध्यम्, तात्पर्यभ्रमरूपदोषजन्यत्वात्, शुक्तिरजतज्ञानवत्'। इस अनुमान का हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रमानन्तर तादृशधूम के ज्ञान के द्वारा जब 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति होती है, वहाँ पर कदाचित् पर्वत में वह्नि के प्राप्त होने पर उक्त अनुमिति का विषय वह्नि का बाध नहीं होता है। इस प्रकार के वह्नि की अनुमिति में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। अतः पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति और उसके आश्रित अनुमान का खण्डन हो गया। प्रश्न होता है कि विषयनिष्ठबाध्यत्व का प्रयोजक क्या है? इसका समाधान यह है कि विषयनिष्ठबाध्यत्व का प्रयोजक प्रमाणविरुद्धत्व है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि प्रत्यक्ष की बाधक जो अद्वैतश्रुति ('नेह नानास्ति किञ्चन') है, उस श्रुति के तुल्य है मानता जिसकी एवंभूत जो द्वैतश्रुति ('विश्वं सत्')। इस द्वैतश्रुति से संवादि (समर्थित) जो 'घटः सन्' इत्यादि द्वैतप्रत्यक्ष उस का बाध अद्वैतश्रुति के द्वारा नहीं हो सकता है। जैसे रजतज्ञान का बाधक 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान है, इस ज्ञान के मान के तुल्य है मान जिसका एवंभूत 'इयं शुक्तिः' इस आप्तवाक्यजन्यज्ञान का, इस ज्ञान का संवादि 'इयं शुक्तिः' इस प्रत्यक्ष का 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान के द्वारा बाध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि द्वैतश्रुति और अद्वैतश्रुति में तुल्यमानता ही नहीं है। क्योंकि द्वैतश्रुति के द्वारा बोध्य द्वैतप्रपञ्च प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाण से सिद्ध होने के कारण द्वैतबोधकश्रुति अनुवादिकामात्र है। द्वैतश्रुति द्वैत की अनुवादिकामात्र होने के कारण फलवत् नहीं है। अद्वैतश्रुति जो मोक्षरूप फलवाली है, क्योंकि अद्वैतश्रुति से जन्य अद्वैतज्ञान से मोक्षप्राप्तिरूपफल होता है। इसी प्रकार द्वैतश्रुति का बोध्य स्वार्थ जो द्वैतप्रपञ्च वह प्रमाणान्तर के द्वारा ज्ञात होने के कारण द्वैतश्रुति का अज्ञात स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, जब कि अद्वैतश्रुति का बोध्य जो स्वार्थ अद्वैत, वह प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने के कारण अद्वैतश्रुति का अज्ञातस्वार्थ में तात्पर्य माना जाता है। इस प्रकार दोनों श्रुतियों में सफलत्व एवं अफलत्व के द्वारा और ज्ञातस्वार्थतात्पर्यक एवं अज्ञातस्वार्थतात्पर्यक के द्वारा वैषम्य होने के कारण भी तुल्यमानता नहीं है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि बाधकबुद्धि के द्वारा जो भी बाध्य होता है, उसका बाध नहीं होता है, अपितु भ्रमबुद्धि के द्वारा बोध्यपदार्थ का ही बाध होता है। जैसे 'नेदं रजतम्' इस बाधकबुद्धि के द्वारा बोध्य रजत और शुक्ति के भेद का बाध नहीं होता है। बाधबुद्धि ('नेदं रजतम्' इत्याकारकबुद्धि) अधिष्ठान (शुक्ति) रूप अपने विषय को अध्यस्त जो विषय (रजत) उससे भिन्नत्वेन ही ग्रहण करती है। इसलिए उसको बाधक माना जाता है। यदि बाधबुद्धि ('नेदं रजतम्' इत्यादि) अधिष्ठान (शुक्ति आदि) के अध्यस्त रजतादि से अभिन्नरूप से ग्रहण करती, तब उसे बाधक ही नहीं माना जाता, क्योंकि भ्रमविषय के विरोधिविषय को विषय करनेवाला निश्चय ही बाधक कहा जाता है। इसी प्रकार यदि 'यह शुक्ति है' बस केवल इतना ही ज्ञान होता है, न कि रजतभिन्नत्वेन या अभिन्नत्वेन (उदासीनतया का अर्थ– रजत से भिन्नत्व या अभिन्नत्व से रहित ज्ञान का होना)। तब यद्यपि यह ज्ञान

भ्युपगमात्, इयं शुक्तिरित्येव बाधबुद्ध्युदयात्। तस्यास्तु नेदं रजतमिति भेदबुद्धिः फलम्। व्यावृत्ताकारतैव बाधधिय आवश्यकी, सा च स्वरूपोपलक्षणबलान्निष्प्रकारकब्रह्मज्ञानेऽप्यस्तीति न बाधकधीबोध्यत्वं भेदस्य ।। ५।।

ननु स्वप्नविलक्षणफलपर्यन्तपरीक्षायामपि चेच्छङ्का स्यात्, तदाऽद्वैतश्रुतिप्रत्यक्षतत्प्रामाण्यशङ्कायामद्वैतश्रुतिरपि न सिध्येत्। बाधेऽपि बाधशङ्कायामबाधितबाधप्रसिद्धिरपि न स्यात्। बाधितबाधशङ्कायाश्चाबाध्यत्वाविरोधित्वात्। भाविबाधोऽपि बाधशङ्कापातेन स्वक्रियाव्याघातश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

भ्रमज्ञान नहीं होगा, किन्तु बाधकज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस ज्ञान से अध्यस्त के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए प्रपञ्चविभ्रम के बाधक अद्वैतनिश्चय के द्वारा बोधित ब्रह्म और द्वैत के भेद का अद्वैतज्ञान के द्वारा बाध नहीं होना चाहिए। अन्यथा बाधितविषयक–अद्वैतज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि अद्वैतज्ञान के विषय (भेद) का बाध हो गया है। यदि अद्वैतज्ञान के द्वारा द्वैतभेद का बाध नहीं हुआ तब उसमें ब्रह्मभिन्नसम्पूर्णप्रपञ्च की बाधकता का सिद्धान्त असङ्गत हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सर्वत्र बाधकबुद्धि भेदविषयिणी ही हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में 'इयं शुक्तिः' इत्याकारक ही बाधबुद्धि का उदय होता है। उसका 'नेदं रजतम्' इत्याकारक भेदबुद्धि फल है। दार्ष्टान्त में 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्याकारक बाधबुद्धि का उदय होता है और उसका फल है 'नेह नानास्ति किञ्चन'। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि भ्रमविषय के विरोधिविषय को विषय करनेवाली यथार्थबुद्धि ही बाधकबुद्धि कहलाती है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु बाधकबुद्धि में व्यावृत्ताकारत्व और अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्व होना चाहिए। यह बात पीछे इसी प्रकारण में कही जा चुकी है। वह व्यावृत्ताकारता तो स्वरूपरूप उपलक्षण के बल से निष्प्रकारकब्रह्मज्ञान में भी है और ब्रह्मज्ञान में अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्व भी है। अतः बाधकधीबोध्यत्व भेद में सर्वत्र नहीं माना जा सकता है।। ५।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतवादी ने जो भाविबाध की शङ्का को माना है, वह उसके ही सिद्धान्त को नष्ट कर देगी। उसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है– जाग्रत्कालीन घट जो है, वह स्वप्न के पदार्थ से भिन्न है और जलानयनादि फलवाला भी है। इस प्रकार फलपर्यन्तपरीक्षा के द्वारा घटज्ञान के प्रमात्व में किसी प्रकार का सन्देह न होने पर भी यदि भाविबाध की आशङ्का से घटादिज्ञान में प्रमात्व का निश्चय नहीं माना जाता है, तब तो अद्वैतश्रुति एवं अद्वैतश्रुतिविषयक–श्रोत्रजप्रत्यक्ष और तादृशप्रत्यक्षनिष्ठप्रामाण्य, इसमें भी बाध की शङ्का होने पर अद्वैतश्रुति भी प्रमाणरूप से सिद्ध नहीं हो पायेगी। प्रमाणत्वेन अद्वैतश्रुति की सिद्धि न होने से उससे जन्य अद्वैतप्रमा की भी सिद्धि नहीं होगी। सर्वत्र भाविबाध की शङ्का करने पर अद्वैतागमादि के द्वारा होनेवाला प्रपञ्चादि का बाध भी भाविबाध की आशङ्का से ग्रस्त होने के कारण किसी भी अबाधितबाध की सिद्धि नहीं हो पायेगी। प्रपञ्च के बाध में भी बाध की शङ्का होने पर प्रपञ्च की अबाध्यता बनी रहेगी, क्योंकि अबाधितबाध ही अबाध्यता का विरोधी होता है। बाधितबाध अबाध्यता का विरोधी नहीं होता है। अतः भविष्य में होने वाले प्रपञ्च के भाविबाध पर भी बाध की आशङ्का हो जाने पर अद्वैतवेदान्तप्रक्रिया का ही व्याघात हो जायेगा। अर्थात् स्व से की गयी बाध की शङ्का स्व के ही सिद्धान्त की घातिनी सिद्ध हुई। शङ्काविषयकप्रत्यक्ष में भी शङ्का होने पर शङ्का की भी सिद्धि नहीं होगी। जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह शङ्का होती है, वैसे ही प्रकृत में 'घटः सन् वा असन् वा' ऐसी शङ्का हो तब विचार प्रारम्भ होता है। लेकिन यहाँ पर शङ्का की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि 'घटः सन् वा असन् वा' इस शङ्का के ऊपर पुनः शङ्का होने से प्रथम शङ्का की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस प्रकार प्रत्येक विषय में शङ्का का प्रसार हो जाने से सर्वत्र अव्यवस्था की आपत्ति होगी। अर्थात्

स्यात्। शङ्काप्रत्यक्षेऽपि शङ्कायां शङ्कापि न सिद्ध्येत्। एवं सर्वत्र शङ्काप्रसरात् सर्वविप्लवापत्तिरिति चेत्? मैवं मंस्थाः। यतः समत्वेन प्रमाणान्तर उपस्थित एव निश्चितेऽपि सत्त्वादौ शङ्का भवतीति ब्रूमः, न तु निश्चितमात्रे शङ्का भवतीति। तथा च यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके—

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते।
गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति।।

इति, तदपि न विरुध्यते। गृहीतमात्रबाधस्य तच्छङ्कायाश्चानुक्तेः ।। ६।।

ननु सत्त्वादिप्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावनिश्चये कथं शङ्कोदयः? न च क्लृप्तानामभाव— निश्चयेऽप्यक्लृप्तस्य शङ्का स्यात्, शब्दे क्लृप्तवक्तृनिबन्धनदोषस्य नित्यत्वेन वेदेऽभावेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतसिद्धान्ती का सिद्धान्त भी व्यवस्थित नहीं रह पायेगा। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि किसी प्रमाण के द्वारा निश्चित घट के सत्त्वादि का निश्चायकप्रमाण के समानबलवाले—प्रमाण के द्वारा विरुद्धार्थ की जब सिद्धि की जाती है, तब पूर्वप्रमाण से निश्चित घट के सत्त्वादि में शङ्का होती है। ऐसा हमारा कथन है, न कि प्रमाण से निश्चितवस्तुमात्र में शङ्का होती है। अतः शङ्का के कारण सर्वत्र अव्यवस्था की आपत्ति नहीं होगी। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित 'घटः सन्' इत्याकार घट के सत्त्व का निश्चय होने पर भी विरुद्धार्थसाधकसमानप्रमाणान्तर (श्रुति, अनुमान) के उपस्थित होने से पहले से प्रत्यक्ष के द्वारा घट के सत्त्व का निश्चय होने पर भी जब अनुमान और श्रुति आकर सत्त्व के अभाव को बतलाते हैं, तब घट के सत्त्व के विषय में शङ्का उत्पन्न होती है और तब विचार प्रारम्भ होता है, किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष के विषय के अभाव को ग्रहण करनेवाला प्रमाणान्तर उपस्थित नहीं होता है वहाँ पर प्रत्यक्ष पर शङ्का नहीं होती है। अतः पूर्वपक्षी का वह उपालम्भ भी सिद्धान्ती के ऊपर लागू नहीं होता है, जो कि सर्वत्र विरोधाशङ्की बौद्ध (शून्यवादी) के प्रति भट्टवर्तिका में कहा गया है।

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते। गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति।।

दुष्टकरणों से जन्य दुष्टज्ञान से गृहीत जो अर्थ है, उसका प्रतिषेध ही युक्तिसङ्गत होता है। यदि शून्यवादी दुष्टज्ञान और अदुष्टज्ञान के द्वारा गृहीतवस्तुमात्र का प्रतिषेध करता है, तब तो शून्यवादी का अपना पक्ष भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। इस भट्टवचन से हमारे सिद्धान्त में विरोध नहीं आता है, क्योंकि हम गृहीतमात्र का बाध नहीं करते हैं और गृहीतमात्र में बाध की शङ्का भी नहीं करते हैं। यदि गृहीतमात्र में बाध की शङ्का करते तब तो पूर्वपक्षी के द्वारा दी गयी पूर्वोक्त आपत्तियाँ आती, किन्तु गृहीतमात्र में हम शङ्का कर ही नहीं रहे हैं।। ६।।

घटादिप्रपञ्चगतसत्त्व के प्रत्यक्ष में क्लृप्तदोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी यदि बाध की आशङ्का मानी जाय, तब तो वेद में भी बाध की आशङ्का के होने की आपत्ति होगी। इस आशय से पुनः पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है। प्रपञ्चसत्त्वादिप्रत्यक्ष में क्लृप्त (प्रसिद्ध) जो दूरत्व, मन्दान्धकारत्व, अतिनैकट्य, काचकामलादिरोगादिदोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी भाविबाध की शङ्का कैसे हो सकती है? अर्थात् उक्त सत्त्वप्रत्यक्ष में भाविबाध की शङ्का नहीं हो सकती है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपञ्चसत्त्वादिप्रत्यक्ष में सर्वप्रसिद्ध जो दूरत्वादिदोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी सर्व-अप्रसिद्धदोषों (सभी अज्ञातदोषों) की शङ्का तो हो ही सकती है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शब्द में क्लृप्तवक्तृनिबन्धनरूप सर्वप्रसिद्ध दोषों का अपौरुषेयवेद में अभाव होने पर भी सर्व—अप्रसिद्धदोषों की आशङ्का का निरूपण सुगमतापूर्वक हो जायेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्नकाल में स्वाप्नप्रत्यक्ष में सर्वप्रसिद्ध दूरतादि दोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी स्वाप्नप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की शङ्का जैसे होती

दोषान्तरशङ्कायाः सुवचत्वात्। न च स्वाप्नप्रत्यक्षे तदा दूराद्यभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनेन तद्वदत्रापि शङ्केति वाच्यम्; शून्यमेव तत्त्वमिति स्वाप्नवेदेऽपि तदा भ्रान्त्यादिदोषाभाव–निश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनस्य वेदेऽपि समानत्वात्; स्वप्नवैषम्यानुभवस्तूभयत्रापि समान इति चेत् ।। ७।।

न, सत्त्वप्रत्यक्षाद्वैतागमयोः क्लृप्तदोषाभावनिश्चयस्य समानत्वेन प्रामाण्यशङ्कायामप्रति–बन्धकत्वात्। नहि सत्प्रतिपक्ष उभयत्र दोषाभावनिश्चयः किमत्र तत्त्वमिति जिज्ञासां प्रतिबध्नाति; विरुद्धविशेषादर्शनकालिकस्यैव विशेषदर्शनस्य शङ्काप्रतिबन्धकत्वात्, अवच्छेदकवृत्त्यनित्यत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, ठीक उसी प्रकार प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्ष में सर्वप्रसिद्धदूरतादिदोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी उक्त सत्त्वप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की शङ्का सम्भव हो जायेगी। ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि यदि सिद्धान्ती स्वाप्नप्रत्यक्ष के दृष्टान्त के द्वारा जाग्रत्प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की शङ्का सिद्ध करते हैं तो हम भी स्वाप्नदृष्टान्त के द्वारा जाग्रद्वेद में भी अप्रामाण्य की शङ्का कर ही सकते हैं। इसी को पूर्वपक्षी कह रहा है— स्वप्नकाल में किसी व्यक्ति को ज्ञान हुआ कि 'वेद शून्यतत्त्व का प्रतिपादक है'। उस समय स्वप्नकाल में भ्रान्ति आदि दोषों का अभाव निश्चय होने पर भी जाग्रदवस्था में 'वेद शून्यतत्त्व का प्रतिपादक है' इस स्वाप्नज्ञान में दोषान्तर (निद्रादि) के कारण अप्रामाण्य का निश्चय होता है, ठीक इसी प्रकार जाग्रत्कालीनवेद में क्लृप्तदोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी अक्लृप्तदोषों के कारण वेद में अप्रामाण्य की शङ्का हो ही सकती है। फलतः सिद्धान्ती के मत में वेद में प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वाप्नवेद के अप्रामाण्य के निश्चय को दृष्टान्त में रखकर जाग्रद्वेद में अप्रामाण्य की शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि जाग्रत्कालीनवेद के अनुभव में स्वाप्नवेद के अनुभव से वैषम्य तो है, ऐसा नहीं कह सकते हों, क्योंकि इस प्रकार से शङ्का का परिहार हम भी कर सकते हैं कि स्वाप्नप्रत्यक्ष के विषय के अप्रामाण्य के निश्चय को दृष्टान्त में रखकर सिद्धान्ती जाग्रत्प्रत्यक्ष के विषय में अप्रामाण्य की शङ्का नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यहाँ भी जाग्रदनुभव और स्वाप्नानुभव में वैषम्य दिखाया जा सकता है। अतः प्रामाण्य होगा तो सत्त्वादिप्रत्यक्ष और वेद इन दोनों का होगा, नहीं होगा तो किसी का भी नहीं होगा।। ७।।

पूर्वपक्षी का ऐसा कथन ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्ती का कथन है कि जाग्रत्कालीनघटादिप्रपञ्चगत सत्त्वप्रत्यक्ष और अद्वैतागम इन दोनों में निर्दोषत्व के निश्चय की समानता के द्वारा प्रपञ्चगतसत्त्वप्रत्यक्ष में प्रामाण्य की शङ्का को प्रतिबन्धित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'घटः सन्' इत्याकारक प्रत्यक्ष में क्लृप्तदूरत्वादिदोषों का अभाव है। अतः घट के सत्त्व के विषय में यह शङ्का ही नहीं बनेगी कि घट सत् है या असत्, जब शङ्का नहीं होगी तब उस पर विचार नहीं होगा और जब विचार नहीं होगा तब घटसत्त्व को मान लिया गया, ऐसा मानना पड़ेगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के कथनानुसार व्याप्ति यह बनी— 'यत्र यत्र क्लृप्तदोषाभावनिश्चयः तत्र तत्र प्रामाण्यशङ्काभावः'। किन्तु यह व्याप्ति ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे सत्प्रतिपक्ष (हेत्वाभास) है— 'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'। 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्'। यहाँ पर जब तक किसी भी पक्ष में दोष का निर्णय नहीं होता है तब तक दोनों पक्षों (नित्यत्व, अनित्यत्व) में दोषाभाव का निश्चय रहता हैं। इस प्रकार दोषाभाव का निश्चय होने पर भी उसमें कौन यथार्थ है, ऐसे प्रामाण्य की शङ्का बनी रहती है। इस प्रकार सत्प्रतिपक्षस्थल पर दोषाभाव का निश्चय प्रामाण्य की शङ्का का प्रतिबन्धक नहीं होता है। अर्थात् प्रामाण्य की शङ्का का अभाव नहीं है। अतः पूर्वपक्षी की व्याप्ति खण्डित हो गयी। प्रश्न होता है कि प्रामाण्य की शङ्का का प्रतिबन्धक कौन है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि स्थाणुगतविशेष (कोटरादि), उसके विरुद्ध पुरुषगतविशेष (हस्तपादादि) ऐसी जहाँ

च साक्षिप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वोक्तेः। अत एव यदुक्तं तार्किकैः ''तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा न भवन्ति''। उक्तञ्च भट्टवार्तिके बौद्धं प्रति—

इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपपद्यते।
योग्यवस्थागतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति।। इति।

तथा च प्रामाण्यस्योत्पतौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वादिह चोत्पत्तिस्वतस्त्वापवादस्य दोषस्य ज्ञाप्तिस्वतस्त्वापवादस्य बाधस्य चादर्शनात्, निर्मूलशङ्कायाश्च स्वक्रियाविरोधेनानुत्थानाभ्युपगमात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

विरुद्ध कोटियाँ हैं, यदि इन दोनों कोटियों में से एक का विशेषदर्शन न हो, अर्थात् स्थाणुगतकोटरादि दिखायी न दे और केवल दूसरीकोटि (पुरुष के हस्तपाद) दिखायी दे, तो वहाँ पर निश्चय हो जाने से कि 'यह पुरुष है', तब शङ्का का प्रतिबन्ध हो जाने से शङ्का का उदय नहीं होगा। इसलिए पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति का खण्डन हो जाने से भाविबाधशङ्का का अवरोध लौकिकसत्त्वप्रत्यक्ष में नहीं किया जा सकता है और साक्षिप्रत्यक्ष में तो भाविबाध की शङ्का हो ही सकती है, क्योंकि शुद्धचैतन्य को तो साक्षी नहीं माना जा सकता है, किन्तु विषयाकार—अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को साक्षी माना जाता है। अतः साक्षी की अवच्छेदिकावृत्ति के दोषजनित होने के कारण साक्षी भी दोषजन्य कहा जाता है। अतः दोषजन्यत्व की शङ्का के कारण साक्षिप्रत्यक्ष में भी अप्रमात्व का संशय बन ही सकता है। 'अत एव' का 'निरस्तम्' के साथ अन्वय है। श्री उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में जो कहा है कि— वही आशङ्क्यमान होता है, जिसके आशङ्क्यमान होने पर स्वप्रक्रिया में व्याघातादि दोष नहीं होता है। अर्थात् प्रपञ्चसत्त्वग्राहिप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की शङ्का करने पर स्वप्रक्रियाव्याघातादिदोष अद्वैतवादी के मत में होंगे, ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है। शून्यवादी बौद्धों के प्रति श्रीकुमारिलभट्ट ने कहा—

इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपपद्यते। योग्यवस्थागतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति।।

इस जन्म में तो किसी को भी सर्व (आत्मा, अनात्मा) का बाध होता नहीं है। योगावस्था को प्राप्त योगियों को क्या होगा, यह हम नहीं जानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्व का बाध असम्भव है। 'दोषशून्यतया ज्ञानसामाग्र्या प्रमैव जन्यते न भ्रमः' इसी को उत्पत्तिगतस्वतस्त्व कहते हैं। 'बाधधीशून्यया ज्ञानग्राहकसामाग्र्या प्रमात्वेनैव ज्ञानं गृह्यते' यही ज्ञप्तिगतस्वतस्त्व है। घटादि प्रत्यक्ष में उत्पत्तिगतस्वतस्त्व का अपवादक दोष के और ज्ञप्तिगतस्वतस्त्व के अपवादक बाध के उपलब्ध न होने से और बिना आधार की शङ्का उठाने से तो वेदान्तप्रक्रिया में ही विरोध होगा। अतः निराधार शङ्का का उत्थापन न होने से स्वभावसिद्ध घटादिप्रत्यक्षगतप्रामाण्य सुव्यवस्थित हो जाता है। ऐसा जो नैयायिक और भट्टवार्तिक का कथन है, वह भी इसलिए खण्डित हो जाता है कि हम गृहीतमात्र का बाध और गृहीतमात्र पर शङ्का नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार हम निराधारशङ्का को भी नहीं उठा रहे हैं। अपितु प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपादक 'एकमेवाद्वितीयम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि आगमों के आधार पर ही 'घटः सन्' इत्यादि सत्त्वावगाहिप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की शङ्का कर रहे हैं। 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष अद्वैतश्रुति के प्रतिकूल है। इस लिए इस पर शङ्का की जाती है, किन्तु 'नेंद रजतम्' यह अद्वैतश्रुति के अनुकूल है, क्योंकि जैसे अद्वैत में सबका निषेध होता है, वैसे ही यहाँ पर भी रजत का निषेध हो रहा है। अतः 'नेद रजतम्' इस बाधज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का नहीं की जा सकती है। 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान अप्रामाण्य की शङ्का से ग्रस्त न होने के कारण पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि सम्पूर्णप्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो ऐसी इच्छा करनेवाले अद्वैतसिद्धान्ती को मूल (दृष्टान्त) की भी हानि हो जायेगी। अर्थात् 'नेद रजतम्' में अप्रामाण्य की शङ्का होने पर उसके द्वारा 'इदं रजतम्' का भी बाध नहीं होगा। 'इदं रजतम्' का बाध न होने से वह

स्वस्थं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति तदपि निरस्तम्। आगमादिप्रमाणमूलकशङ्काया एव स्वीकारात्। रूप्यादिनिषेधस्य तु 'नेदं रजतम्' इत्यादेरद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वेन नाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दनम्। अतो न वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तिः। नापि 'सन् घटः' इत्यादेः 'नेदं रजतम्' इत्यनेन समानयोगक्षेमता, अद्वैतश्रुतिविरोधाविरोधाभ्यां विशेषात्। अत एव सौषुप्तिकानन्दानुभवस्याप्यप्रामाण्ये कथमात्मन आनन्दरूपता तात्त्विकी, आनन्दश्रुतेरनुभूतातात्त्विकानन्दानुवादकत्वोपपत्तेरित्यपास्तम्; आनन्दस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्या सिद्ध नहीं होगा और तब उसको मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त भी बनाया नहीं जा सकेगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी खण्डित हो गया। 'वृद्धिमिच्छतः' का प्रकृत में अर्थ है– सम्पूर्णप्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि की इच्छा करनेवाले अद्वैतवादी। 'मूल' का अर्थ है– मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जैसे 'नेदं रजतम्' इस प्रकार के प्रत्यक्ष में दोष के न होने से उत्पत्तिगतस्वतस्त्व है और बाध के न होने से ज्ञप्तिगतस्वतस्त्व है, ऐसा सिद्धान्ती स्वीकार करते हैं, ठीक उसी प्रकार 'घटः सन्' इस प्रत्यक्ष में भी दोष के न होने से उत्पत्तिगतस्वतस्त्व और बाध के न होने से ज्ञप्तिगतस्वतस्त्व स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार 'नेदं रजतम्' और 'सन् घटः' इन दोनों प्रत्यक्षों में समान योगक्षेमता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'घटः सन्' यह प्रत्यक्ष अद्वैतश्रुति का विरोधी है और 'नेदं रजतम्' यह प्रत्यक्ष अद्वैतश्रुति का अविरोधी है। अतः 'घटः सन्' और 'नेदं रजतम्' इन दोनों प्रत्यक्षों में समान योगक्षेमता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि यदि प्रत्येक प्रत्यक्ष में भाविबाध की शङ्का कर के अप्रामाण्य घोषित कर दिया जाय तब तो सौषुप्तिक–आनन्दानुभव भी भाविबाध की शङ्का से ग्रस्त होने के कारण उसमें अप्रामाण्य आ जायेगा और तब आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह किस अनुभव के आधार पर सिद्ध होगा। यदि सिद्धान्ती कहें कि 'आनन्दं ब्रह्म' इस श्रुति से आत्मा की आनन्दरूपता की सिद्धि हो जायेगी, इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि आनन्दबोधकश्रुति को सौषुप्तिक अप्रामाणिक–आनन्द का अनुवादक मान कर भी उक्त श्रुति की उपपत्ति हो जायेगी। अतः अप्रामाणिक–आनन्द का अनुवादक होने से उक्त श्रुति में प्रामाण्य न रहने के कारण उससे आत्मा में आनन्दरूपता की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः सर्वत्र भाविबाध की शङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार का पूर्वपक्षी का कथन इस लिए खण्डित हो जाता है, क्योंकि सुषुप्ति में अनुभूत जो आनन्द है, वह ब्रह्मस्वरूप है और उसके अद्वैतश्रुति से विरोध नहीं है। अतः अप्रामाण्यशङ्का का प्रयोजक जो अद्वैतश्रुति से विरोध वह सौषुप्तिक–आनन्दानुभव में न होने के कारण सौषुप्तिक–आनन्दानुभव अप्रामाण्य की शङ्का से कलङ्कित नहीं है। अप्रामाणिक–आनन्द का अनुवादक न होने से 'आनन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में अप्रामाण्य भी नहीं है। अर्थात् यदि सौषुप्तिक–आनन्द अप्रामाणिक होता, तब उसका अनुवादक होने के कारण आनन्दश्रुति में अप्रामाण्य आता, किन्तु वैसा है नहीं। अतः आनन्दश्रुति में अप्रामाण्य नहीं है। अपितु सौषुप्तिक–आनन्दानुभव और आनन्दश्रुति में विरोध न होने से आनन्दश्रुति में प्रामाण्य की सिद्धि ही हो जाती है। जैसे खण्डनकार ने कहा है–

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि। अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम्।।

तात्कालिकबाधधी के विषय (खपुष्पादि) का भी ज्ञान शब्द के द्वारा होता है। परन्तु सर्वत्र ज्ञान को प्रमा नहीं माना जाता है। जहाँ बाध नहीं होता है, वहाँ पर प्रमा माना जाता है और जहाँ बाध हो जाता है, वहाँ प्रमा नहीं माना जाता है। प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रामाण्य की ज्ञप्ति इन दोनों में स्वतस्त्व के अपवादक जो दोष और बाध है, उन दोनों का अभाव होने से अद्वैतश्रुति उत्पत्ति और ज्ञाप्ति में जो स्वतस्त्व है, उस स्वतस्त्व का आश्रयीभूतप्रामाण्य (प्रमात्व) की उत्पत्तिरूप–कार्य को करने में सक्षम है। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी अपने वार्तिक में कहा है–

ब्रह्मरूपत्वेनाद्वैतश्रुतिविरोधाभावेन तदप्रामाण्यप्रयोजकाभावात्। अत एव नानन्दश्रुतेरप्रामाण्यम्। तदुक्तं खण्डने—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम्।। इति।

उक्तञ्च सुरेश्वरवार्तिके—

अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात्।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः।। इति।

अत्र चाक्षादिवदिति निदर्शनं व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रेणेति द्रष्टव्यम्। एवञ्च तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमात् न स्वक्रियाव्याघातः। न वा—प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमाः। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।। इत्यादिस्मृतिविरोधः। तस्मात्सिद्धं बाधनिश्चयेन तच्छङ्कया वा प्रत्यक्षादेरद्वैतागमानुमानाद्यविरोधित्वम् ।। ८।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात्। अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः।।

अद्वैतश्रुति अज्ञात ज्ञापक है, दोषवत्कारण से जन्य नहीं है और अबाधित है। अतः अद्वैतश्रुति स्वप्रमेय की सिद्धि में प्रमाण मानी जाती है। ('दुष्टकारणवर्जनात्' इस विशेषण से प्रामाण्य उत्पत्ति में स्वतस्त्व के अपवादकदोष का वारण किया जाता है। 'अबाधात्' इस विशेषण से प्रामाण्यज्ञप्ति में स्वतस्त्व के अपवादक बाधरूपदोष का वारण किया गया है)। जैसे प्रत्यक्षप्रमाण स्वप्रमेय की सिद्धि में प्रमाण माना जाता है, क्योंकि वह अज्ञात का ज्ञापक होता है, दोष से रहित होकर अबाधितविषय को बतलाता है। इस वार्तिक में व्यावहारिकप्रामाण्य को लक्ष्य करके अक्षादि प्रत्यक्ष को दृष्टान्त बनाया गया है। अतः प्रत्यक्षनिष्ठतात्त्विकप्रामाण्य का निराकरण करते हुए भी प्रत्यक्ष को व्यावहारिकप्रमाणरूप से उद्धृत करने पर अद्वैतवाद में स्वप्रक्रिया का व्याघात नहीं होगा, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्ती ने प्रत्यक्ष में व्यावहारिकप्रामाण्य स्वीकार किया है। मनुस्मृति में यह जो कहा गया है—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमाः।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।

वैगुण्यरहितधर्म का सम्पादन करने की इच्छावाले के द्वारा ये तीन प्रमाण सुविदितकरणीय है। वे हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और विविधागम। प्रत्यक्षादिनिष्ठतात्त्विकप्रामाण्य का निराकरण करने पर, इस स्मृतिवाक्य से भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादि के व्यावहारिकप्रामाण्य को ही दृष्टि में रखकर मनु ने वैगुण्यरहितधर्म के सम्पादन करने के लिए प्रत्यक्षादि—प्रमाणों की आवश्यकता बतलायी है। अतः प्रपञ्चसत्यत्वावगाहिप्रत्यक्षादि में बाध का निश्चय हो गया हो अथवा भाविकाल की शङ्का हो, दोनों ही अवस्थाओं में प्रत्यक्षादि अद्वैतागम अथवा अद्वैतसाधकमिथ्यात्वानुमानादि का विरोधी नहीं हो सकता, यह सिद्ध हो गया।। ८।।

— इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः—

२६: मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः।

स्यादेतत्— अध्यक्षस्य भिन्नविषयत्वादिना बाधाक्षमत्वेऽप्यनुमानमेव बाधकं स्यात्। तथा हि ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वाऽबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, विमतं वा, सत्, परमार्थसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे

कैलासविद्याप्रकाशिका

शङ्का— प्रत्यक्ष भिन्नविषयत्वादि से (मिथ्यात्वानुमान के) बाध में प्रत्यक्ष अक्षम होने पर भी प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्त्वसाधक— अनुमान ही मिथ्यात्वनुमान का बाधक होगा। जैसे ब्रह्मप्रमाभिन्न ज्ञान से अबाध्य होता हुआ अथवा वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यज्ञान से भिन्न ज्ञान द्वारा अबाध्य होता हुआ अथवा मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान से भिन्नज्ञान द्वारा अबाध्य होता हुआ तथा असत्त्व का अनधिकरण होता हुआ ब्रह्मभिन्न विप्रतिपत्तिविशिष्ट (प्रपञ्च सत् अथवा परमार्थसत् है, क्योंकि उसमें प्रातिभासिकत्व का अधिकरणत्व न

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि समानविषयकप्रमाणों में ही बाध्य—बाधकभाव होता है, भिन्नविषयकप्रमाणों में नहीं। जैसे घटविषयकप्रत्यक्ष से पटविषयकानुमान का बाध नही होता है, ठीक इसी प्रकार प्रपञ्चगतव्यावहारिकसत्त्वविषयकप्रत्यक्ष से प्रपञ्चगतपारमार्थिकसत्त्वनिषेधविषयकानुमान का बाध यद्यपि नहीं हो सकता है (क्योंकि दोनों में समानविषयकत्व नहीं है), तथापि प्रपञ्चगतपारमार्थिकसत्त्वसाधक—अनुमान के द्वारा प्रपञ्चगतमिथ्यात्वसाधकानुमानों का बाध हो ही सकता है। प्रपञ्चगतसत्त्वसाधकानुमानों का प्रदर्शन पूर्वपक्षी इस प्रकार से कर रहा है। प्रथम—'ब्रह्मप्रमान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, सत् परमार्थसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवत्'। अर्थात् जो ब्रह्मप्रमा से भिन्नज्ञान के द्वारा बाधित नहीं है, ऐसा असत्त्वानधिकरण तथा ब्रह्मभिन्नप्रपञ्च, सत् अथवा पारमार्थिकसत् होता है, क्योंकि वह शुक्तिरजतादि प्रातिभासिकत्व का अधिकरण नहीं होता हुआ वन्ध्यासुतादि असत् से विलक्षण है। इसमें अन्वयी उदाहरण ब्रह्म और व्यतिरेकी उदाहरण शशशृङ्ग को बनाया जा सकता है। शशशृङ्ग में साध्याभाव है और हेतु का भी अभाव है, क्योंकि प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्वाभाव ही हेतु का अभाव है। यह विशिष्टाभाव है। अतः शशशृङ्ग में विशेष्य (असद्विलक्षणत्व) के न होने से विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव के रूप से हेतु का अभाव रह गया। इस प्रकार शशशृङ्ग में साध्य और हेतु का अभाव रह जाने से शशशृङ्ग व्यतिरेकी उदाहरण बन जायेगा। द्वितीय— 'वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्य – ज्ञानान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, सत् परमार्थसद्वा प्रतिभासिकत्वान– धिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवत्'। अर्थात् वेदान्त का तात्पर्य ब्रह्म में है, ऐसी तात्पर्यप्रमिति से जन्य अखण्डाकारचित्तवृत्ति (शाब्दबोध) से भिन्नज्ञान के द्वारा बाध्निहीं है, ऐसा असत्वानधिकरण और ब्रह्मभिन्नप्रपञ्च, सत् अथवा पारमार्थिकसत् होता है, क्योंकि वह प्रातिभासिकत्व का अधिकरण न होता हुआ असद् से विलक्षण है। इसमें भी अन्वयी उदाहरण ब्रह्म और व्यतिरेकी उदाहरण शशशृङ्ग को बनाया जा सकता है। तृतीय— 'मोक्षहेतुज्ञानान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानाधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, सत् पारमार्थसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवत्'। अर्थात् मोक्ष का हेतुभूतज्ञान अखण्डाकारचित्तवृत्ति से भिन्नज्ञान के द्वारा बाधित नहीं है, ऐसा असत्त्वान–धिकरण और ब्रह्म से भिन्नप्रपञ्च, सत् अथवा परमार्थसत् होता है, क्योंकि वह प्रातिभासिकत्व का अधिकरण न होता हुआ असद् से विलक्षण है। यहाँ पर भी अन्वयी उदाहरण ब्रह्म और व्यतिरेकी उदाहरण शशशृङ्ग है। तीनों अनुमानों के पक्षों को संक्षेप से कहने के लिए 'विमतम्' पद दिया गया है। प्रातिभासिकपदार्थों में व्यभिचार वारण करने के लिए हेतु में 'प्रतिभासिकत्वान–धिकरणत्व' कहा गया है।

सत्यसद्विलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवद्वेति चेत्।। १ ।।

न, त्वन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन व्यर्थविशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धेः। अस्मन्मतमाश्रित्य हेतूकरणे च देहात्मैक्ये ब्रह्मज्ञानेतराबाध्ये व्यभिचारात्। न हि प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्य–

कैलासविद्याप्रकाशिका

रहता हुआ असद्विलक्षणत्व है। इसमें अन्वयी उदाहरण ब्रह्म और व्यतिरेकी उदाहरण शशश्रृङ्ग है।।१ ।।

समाधान– नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में प्रातिभासिकत्व का सत्त्व न होने से व्यर्थ विशेषणता के कारण हेतु व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त है। यदि सिद्धान्त मत का आश्रय लेकर हेतु करते हैं तब ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यदेहात्मैक्य में व्यभिचार है। ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व से भिन्न प्रातिभासिकत्व नहीं है। पूर्वपक्षी ने ही शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक पदार्थों को पक्ष कोटि से बाहर रखने के लिए आद्य सत्यन्त विशेषण त्रय विकल्प से पक्ष में प्रक्षिप्त किया है। उनमें से आद्य विशेषण ''ब्रह्म वृत्ति व्याप्य है।'' इस मत से दिया है। ब्रह्म को वृत्तिव्याप्य न मानने वालों के मत से तो शब्द जन्यप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसी प्रकार अलीक वन्ध्यासुतादि में व्यभिचारवारण करने के लिए हेतु में असद्विलक्षणत्व कहा गया है। पक्ष में 'ब्रह्मप्रमान्येन अबाध्यत्वे सति' यह विशेषण और 'असत्त्वानधिकरणत्वे सति' यह विशेषण, बाधदोष से बचने के लिए दिये गये है। अर्थात् इन विशेषणों को न देने पर प्रातिभासिक और अलीक पदार्थों का भी पक्ष में प्रवेश हो जाता और उसमें साध्य का अभाव हो जाने से बाधदोष होता। सिद्धसाधनदोष से बचने के लिए पक्ष का विशेषण ब्रह्मान्यत् कहा गया है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का सत्प्रतिपक्ष अनुमान प्रस्तुत किया गया है।। १ ।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत सत्प्रतिपक्ष अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि द्वैतवादी के द्वारा प्रस्तुत अनुमान समीचीन नहीं है, क्योंकि माध्व के मत में रज्जूसर्पादि प्रातिभासिकपदार्थों को अलीक (तुच्छ) ही माना जाता है। अतः असद्विलक्षणत्व को ही हेतु बनाने पर भी कोई व्यभिचारादिदोष नहीं होता है। इसलिए हेतु का विशेषण भाग– 'प्रातिभासिकत्वानधिरणत्व' व्यर्थ है। व्यर्थविशेषण से घटित हेतु के होने के कारण हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष माना जाता है। अर्थात् व्याप्यत्व कहते है व्याप्ति को वह स्वसमानाधिकरणप्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर से अघटित व्याप्यतावच्छेदकावच्छेदेन गृहीत होती है और जहाँ ऐसी व्याप्ति जिस हेतु में गृहीत नहीं है, वहाँ उस हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष होता है। इसलिए नीलधूमत्वावच्छेदेन वह्निनिरूपित व्यप्ति का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि वह स्वसमानाधिकरण– व्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर से अघटित नहीं है, किन्तु घटित ही है, जैसे 'स्व' शब्द से लिया नीलधूम, तत्समानाधिकरणप्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्म है नील और धर्मान्तर शुद्धधूमत्व है। शुद्धधूमत्वरूपधर्मान्तिर से घटित ही है नीलधूम, न कि अघटित। अतः नीलधूम हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। इस प्रकार प्रकृत में 'स्व' शब्द से लिया 'प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्व', तत्समानाधिकरणप्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्म है, प्रतिभासिकत्वानधिकरणत्व और धर्मान्तर है असद्विलक्षणत्वत्व। असद्विलक्षणत्वत्वरूपधर्मान्तर से घटित ही है प्रातिभासिकत्वानाधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्व, न कि अघटित। अतः प्रातिभासिकत्वा- नधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अद्वैतवेदान्ती के मत को लक्ष्य कर के उक्त विशेषण (प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व) से घटित हेतु को बनाया है। अर्थात् अद्वैतवेदान्ती असद् से विलक्षण प्रातिभासिकपदार्थ मानते है। उस प्रातिभासिकपदार्थ में व्यभिचार वारण करने के लिए प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व को हेतु में विशेषण दिया गया है। अतः विशेषण सार्थक है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे है कि पूर्वोक्त प्रकार से विशेषण को सार्थक

त्वादन्यत्। त्वया हि प्रातिभासिकस्य शुक्तिरूप्यादेरपक्षत्वाय सत्यन्तमाद्यं विशेषणत्रयं विकल्पेन पक्षे प्रक्षिप्तम्। तत्र ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमिति मतेनाद्यम्, तदनभ्युपगमे तु शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमा

कैलासविद्याप्रकाशिका

हेतु है— इस मत से द्वितीय विशेषण पक्ष में दिया है। अन्योन्याश्रयदोष होने से शब्दप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा हेतु नहीं है—इस मत से तृतीय विशेषण पक्ष में दिया गया है। फलतः प्रातिभासिक का असत्त्वानाधिकरणत्व तुमसे अङ्गीकृत ही है। प्रातिभासिक को स्वीकार न करने पर तो तुच्छ निवारक असत्त्वानधिकरणत्व विशेषण से ही प्रातिभासिक की व्यावृत्ति होने पर विकल्प से उक्त तीनों विशेषणों

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्ध कर देने पर भी ब्रह्मज्ञान से इतर के द्वारा अबाध्य व्यावहारिकसत्तावाले देहात्मैक्य में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व को ही प्रातिभासिक कहा जाता है। ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व से भिन्न प्रकार का प्रातिभासिक होता नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञानमात्र से बाध्य होने के कारण देहात्मैक्य प्रातिभासिक नहीं है, अपितु व्यावहारिकसत्तावाला है। इस लिए देहात्मैक्य में व्यभिचार होगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती के द्वारा बनाये गये प्रातिभासिक के लक्षण को हम स्वीकार नहीं करते है, क्योंकि हमारे मत में शुक्तिरूप्यादि को अलीक माना गया है और अलीक का किसी के द्वारा बाध नहीं होता है। अतः ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व भी अलीक शुक्तिरूप्यादि में नहीं जायेगा। तब ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व को प्रातिभासिक और ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व को व्यावहारिक मान कर व्यावहारिकसत्तावाले देहात्मैक्य में व्यभिचारदोष का उद्‌भावन करना उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि पूर्वपक्षी ने स्वयं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व को प्रातिभासिक माना है और प्रातिभासिकपदार्थों को अलीक से पृथक माना है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि द्वैतवादी ने प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि को पक्ष से बाहर रखने के लिए सत्यन्त आद्यविशेषणत्रय को विकल्प से पक्ष में प्रक्षिप्त किया है। अर्थात् 'ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सति' यहाँ तक पक्ष का विशेषणभाग प्रातिभासिकपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए ही दिया गया है। इनमें से शुद्धब्रह्म वृत्तिव्याप्य होता है— विवरणाचार्य के इस मतानुसार 'ब्रह्मप्रमान्याबाधित' यह विशेषण पक्ष में दिया गया। यहाँ ब्रह्मप्रमा का अर्थ है शुद्धब्रह्मविषयक अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान। इससे व्यावहारिकजगत् का बाध होता है। इससे भिन्न ज्ञान से प्रातिभासिकपदार्थों का बाध होता है। अतः शुद्धब्रह्मविषयक अखण्डाकारचित्तवृत्तिरूपज्ञान से भिन्नज्ञान के द्वारा अबाध्य जो व्यावहारिकजगत् है, इसको पक्ष बनाया गया है। इस विशेषण से प्रातिभासिकपदार्थ को पक्ष से बाहर रखा गया है। अतः पूर्वपक्षी ने अलीक से पृथक ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूप प्रातिभासिकपदार्थ को मान ही लिया। लेकिन भामतीकार के मत को अनुसरण करने वाले जो लोग शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषय नहीं मानते है, अपितु वृत्ति का विषय (वृत्ति) उपहित ब्रह्म को मानते हैं और शाब्दप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा को हेतु मानते है, उस मत से 'वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्याबाधित' यह विशेषण पक्ष में प्रातिभासिकपदार्थों की व्यावृत्ति के लिए दिया गया है। अर्थात् वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्य— अखण्डाकारचित्तवृत्तिज्ञान से भिन्नज्ञान के द्वारा बाधित प्रातिभासिकपदार्थ होता है। उसकी पक्ष से व्यावृत्ति करने के लिए वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्याखण्डाकारचित्तवृत्तिज्ञान से अन्य के द्वारा अबाधित कहा। ऐसा कहने से व्यावहारिकजगत् ही पक्ष में प्रविष्ट हो पायेगा और प्रातिभासिकपदार्थ प्रविष्ट नहीं होगा। इस प्रकार पक्ष के इस विशेषण को देकर पूर्वपक्षी ने अलीक से पृथक ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूपप्रातिभासिकपदार्थों को मान लिया। जो लोग भामतीकार का उक्त मत को नहीं मानते है, वे लोग इस मत में अन्योन्याश्रयदोष देते हैं कि शाब्द निश्चय हो, तब तात्पर्यनिश्चय होगा और तात्पर्यनिश्चय हो तो शाब्द निश्चय होगा। इस प्रकार

हेतुरितिमतेन द्वितीयम्। अन्योन्याश्रयत्वान्न सा हेतुरितिमतेन तृतीयम्। तथा च प्रातिभासिकस्यासत्त्वानधिकरणत्वमङ्गीकृतमेव, अन्यथा तुच्छवारकासत्त्वानधिकरणत्वविशेषणेनैव

कैलासविद्याप्रकाशिका

के देने का प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। उक्त प्रकार से देहात्मैक्य भी पक्ष में प्रविष्ट होने से बाध दोष भी है। बाध होने पर पक्ष के विशेषणरूप पक्षत्व की असिद्धि होने से आश्रयासिद्धि भी है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्योऽन्याश्रयदोष होने के कारण तात्पर्यप्रमा को शाब्दप्रमा के प्रति हेतु नहीं माना जा सकता है और तात्पर्यप्रमा से वहीं शाब्दनिश्चय में सहायता मिलती है जहाँ एक ही शब्द के दो अर्थ है, जैसे 'सैन्धवमानय' में सैन्धवशब्द का दो अर्थ है। ऐसे स्थल पर कौन सा अर्थ किया जाय? ऐसे संशय की निवृत्ति जब तक तात्पर्यनिश्चय से नहीं होती है, तब तक शाब्दबोध नहीं हो सकता, इसलिए तात्पर्यनिश्चय को शाब्दबोध के प्रति कारण उक्त स्थल पर ही माना जा सकता है। किन्तु जहाँ शब्द का एक ही अर्थ है, जैसे 'घटमानय' में घटशब्द का एक ही अर्थ है, वहाँ पर शाब्दप्रमा में तात्पर्यप्रमा की आवश्यकता ही नहीं पडती है। अत: शाब्दप्रमा के अव्यवहितपूर्व में सर्वत्र तात्पर्यप्रमा के न होने के कारण शाब्दप्रमा के प्रति तात्पर्यप्रमा को कारण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार के मत को ध्यान में रखकर तृतीयविशेषण 'मोक्षहेतुज्ञानान्याबाध्य' दिया गया, अर्थात् मोक्ष का हेतु ब्रह्मज्ञान, उस से अन्यज्ञान के द्वारा बाध प्रातिभासिकपदार्थो का होता है। अत: उसकी व्यावृत्ति के लिए मोक्ष का हेतु जो ब्रह्मज्ञान उस से अन्यज्ञान के द्वारा अबाध्य कहा गया। ऐसा कहने से पक्ष में केवल व्यावहारिकजगत् ही रहेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने इस विशेषण को देकर अलीक से पृथक् ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यरूपप्रातिभासिकपदार्थ को मान लिया। इस प्रकार पक्ष में पूर्वोक्त तीनों विशेषणों को देकर पूर्वपक्षी ने यह मान लिया कि असत्त्व का अनधिकरण प्रातिभासिकपदार्थ होता है। यदि प्रातिभासिक और असत् एक ही होता, तो असद्वारक असत्त्वानधिकरण, इस विशेषण से ही प्रातिभासिकपदार्थों की व्यावृत्ति हो जाती और उसके वारण करने के लिए पक्ष में सत्यन्तपर्यन्त उक्त तीनों विशेषणों को देने का जो प्रयास किया गया, उस की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इस प्रकार उक्त तीनों विशेषणों को पक्ष में देने से यही सिद्ध होता है कि पूर्वपक्षी ने अद्वैतवेदान्तमतानुसार ही अनुमान के पक्ष, साध्य, हेतु आदि को रखा है। अत: अनुमान के पक्ष में अद्वैतवेदान्तमतानुसार व्यावहारिकपदार्थों को रखा गया है। व्यावहारिकपदार्थो में देहात्मैक्य के भी होने के कारण देहात्मैक्य भी पक्ष में प्रविष्ट हो जाने से बाधदोष होगा, क्योंकि देहात्मैक्य को वादी, प्रतिवादी कोई भी परमार्थसत् नहीं मानते हैं। साध्य का बाध हो जाने पर साधकबाधकमानाभावरूपपक्षता की सिद्धि नही हो पायेगी। अर्थात् पक्षता का लक्षण है—साधकबाधकप्रमाणाभाव। जिस पक्ष में साध्य का साधकप्रमाण भी नहीं है, अर्थात् साध्य के साधकप्रमाण का अभाव है और 'पक्ष में साध्य नहीं है' ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् साध्य के बाधकप्रमाण का भी अभाव है, उसको पक्षता कहते है। प्रकृत में देहात्मैक्य पक्ष का एक भाग है और ऐसे पक्ष (देहात्मैक्य से घटित प्रपञ्चरूपपक्ष) में जो साध्य (सत्यत्व) नहीं है, इस में उभयवादी सम्मत प्रमाण है। इस प्रकार बाधकप्रमाण का अभाव न होने से देहात्मैक्यरूप पक्ष में पक्षत्व ही नहीं रहा। पक्षस्थानापन्न पदार्थ में पक्षत्व के न रहने से आश्रयासिद्धिदोष होगा। यदि पूर्वपक्षी—'ब्रह्मप्रमान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सति' इन तीनों पक्ष के विशेषणों को हटा कर इनके स्थान पर 'स्वबाधकाभिमता- बाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधाविषयत्वे सतीति वा स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वा'—इन विशेषणों को प्रातिभासिकपदार्थों की व्यावृत्ति करने के लिए देता है तो भी कोई लाभ नहीं होगा।

तद्व्यावृत्तावेतावत्प्रयासवैयर्थ्यापत्ते:। एवञ्च देहात्म्यैक्यस्यापि पक्षत्वेबाध एव। बाधे च सति पक्षविशेषणस्य पक्षत्वस्यासिद्ध्याऽऽश्रयासिद्धिरपि। अत एव स्वबाधकाभिमता बाध्यदोष–जन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा, स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधाविषयत्वे सतीति वा, स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वा विशेषणप्रक्षेपेऽपि न निस्तार:।

कैलासविद्याप्रकाशिका

अतएव=व्यभिचार तथा बाध और आश्रयासिद्धि–आदि दोषों के होने से ही निम्नलिखित विशेषण त्रय के प्रक्षेप से भी निस्तार नहीं है। प्रथम विशेषण–स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानविषयत्व। द्वितीय विशेषणस्वबाधकाभिमताबाध्यबाधकविषयत्व। तृतीय विशेषण–स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभाव–

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रथम विशेषण का समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–प्रातिभासिक शुक्तिरजत, इसका अद्वैतवेदान्त के द्वारा स्वीकृत जो बाधकज्ञान– 'नेदं रजतम्', इस बाधकज्ञान से अबाध्यदोष–चाकचिक्यादिदोष, इस दोष से जन्यज्ञान– 'इदं रजतम्' इस प्रकार का ज्ञान, इस ज्ञान का विषय रजत हुआ। अर्थात् अविषय (प्रातिभासिकरजत) नहीं हुआ। अत: प्रातिभासिकपदार्थों का पक्ष में प्रवेश नहीं हो पायेगा। व्यावहारिकपदार्थ जिसे पक्ष बनाया गया है उसमें इस विशेषण का समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–व्याहारिकपदार्थ, इसका अद्वैतवेदान्ती के द्वारा स्वीकृत जो बाधक ब्रह्मज्ञान, इसके द्वारा सभी दोषों का बाध हो जाता है। अत: अबाध्यदोष बचा ही नहीं। अत: अबाध्यदोष से जन्यज्ञान का विषय व्यावहारिकपदार्थ नहीं बनता है। अर्थात् अबाध्यदोष से जन्यज्ञान का अविषय ही घटादि व्यावहारिकपदार्थ बन गया। द्वितीय विशेषण का समन्वय इस प्रकार होगा– स्व–प्रतिभासिकजरत, उसका अद्वैतवेदान्ती के द्वारा स्वीकृत जो बाधक 'नेदं रजतम्', यह अबाध्यबाध भी है, क्योंकि 'नेदं रजतम्' के द्वारा 'नेदं रजतम्' का बाध नहीं होता है, अर्थात् स्व, स्व का बाध नहीं करता है। इसका विषय ही रजत है, न कि अविषय। अत: प्रातिभासिकरजत का पक्ष में प्रवेश नहीं हो पायेगा। घटादिव्यावहारिकपदार्थ जिसे पक्ष बनाया गया है, उसमें इस विशेषण का समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–व्यावहारिकघटादिपदार्थ, इसका बाधक ब्रह्मज्ञान (ब्रह्माकारवृत्ति) जो अबाध्यबाध नहीं है, अपितु बाध्यबाध ही है, क्योंकि ब्रह्माकारवृत्ति से अपना भी बाध हो जाता है। अत: बाध्यबाध का विषय घटादि है, अर्थात् अबाध्यबाध का अविषय व्यावहारिक घटादिपदार्थ है। तृतीयविशेषण का समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–बाधकज्ञान (नेदं रजतम्) जो देवदत्त को हुआ। उसी देवदत्त में उसी काल में (बाधकज्ञानकाल में) कर्म का प्रागभाव भी है। क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस बाधकज्ञान के पश्चात् देवदत्त का मोक्ष तो होता नहीं है। अत: उक्त बाधकज्ञान के पश्चात् देवदत्त कुछ न कुछ कर्म करेगा ही, अर्थात् उक्त बाधकज्ञानकाल में देवदत्तीयकर्म का प्रागभाव रहेगा ही। इसलिए 'नेदं रजतम्' इस बाधक ज्ञान को स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीन कहा जायेगा। 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से 'इदं रजतम्' यह बाध्य है, न कि अबाध्य। अत: अबाध्य न होने से प्रातिभासिकरजत पक्ष के अन्त:प्रविष्ट नहीं हो पायेगा। व्यावहारिकपदार्थ जो पक्ष में प्रविष्ट है, उसमें इस विशेषण का समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–व्यावहारिकपदार्थों का बाधकज्ञान (ब्रह्मज्ञान) जो देवदत्त को होगा, उसी काल में कर्म का तो प्रागभाव रहेगा नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से देवदत्त के कर्तृत्वादि का बाध हो जाने से ब्रह्मज्ञान के पश्चात् कोई कर्म नहीं हो सकता है। अत: स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावकालीनत्व ब्रह्मज्ञान में नहीं आया। इसलिए स्वसमानाधि– करणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञान से अबाध्य व्यावहारिकघटादि है। इस प्रकार पक्ष के इन तीन विशेषणों के द्वारा प्रातिभासिकपदार्थों की व्यावृत्ति की गयी है। अत: यह मानना पडेगा कि अद्वैतवेदान्ती के मतानुसार ही प्रातिभासिकादिपदार्थों को ध्यान में रखकर ही अनुमान का प्रयोग किया गया

देहाम्यैक्ये पूर्वोक्तदोषाव्यावृत्तेरेव ।। २।।

यत्तु प्रथमे साध्ये व्यावहारिकसत्त्वमादाय सिद्धसाधनम्। द्वितीयसाध्ये तु वादिनः परमार्थत्वविशेषणं व्यर्थम्, व्यावर्त्याप्रसिद्धेरिति। तन्न, व्यावहारिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारमात्रमिति मतेन प्रथमप्रयोगात्। अनुगतं पृथग्व्यावहारिकं सत्त्वमिति तु मते द्वितीयः प्रयोगः। न च विशेषणं व्यर्थं, परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धारस्य तत्प्रयोजनत्वात्। ईश्वरानुमाने जन्यकृत्यजन्यमित्यत्र

कैलासविद्याप्रकाशिका

समानकालीनज्ञानाबाध्यत्व। इस प्रकार इन विशेषणों के देने पर भी देहात्मैक्य में पूर्वोक्त बाधादि दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती है।।२।।—।।३।।—।।४।।—।।५।।—।।६।।—।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इसलिए अद्वैतवेदान्ती के मतानुसार व्यावहारिकसत्तावाले पक्ष से बहिभूर्त देहात्मैक्य में व्यभिचारदोष और देहात्मैक्य को पक्ष के अन्तर्गत मानने पर बाध और आश्रयसिद्धिदोष होगा।। २ ।।

उक्त अनुमान में पूर्वपक्षी के द्वारा सत्त्व और परमार्थसत्त्व, दो प्रकार के साध्य रखे गये हैं, उस पर शङ्का उठाते हुए कह रहे है कि अद्वैतवेदान्तीयों में से कुछ लोगों के द्वारा यह दोष दिया जाता है कि उक्त अनुमान में सत्त्व को साध्य के रूप से रखने पर प्रपञ्चगतव्यावहारिकसत्त्व को लेकर सिद्धसाधनदोष दिया जा सकता है और परमार्थसत्त्व को साध्य रखने पर परमार्थपद की व्यर्थता का दोष दिया जा सकता है, क्योंकि माध्वमत में सर्वत्र एक ही सत्ता मानी जाती है। अत: परमार्थ विशेषण से किसी की व्यावृत्ति न होने के कारण परमार्थ विशेषण व्यर्थ है। यदि अद्वैतवेदान्ती की तरह पारमार्थिक—व्यावहारिक—प्रातिभासिक तीन प्रकार की सत्ता होती तो परमार्थ विशेषण से अन्य दो सत्ताओं की व्यावृत्ति हो पाती, किन्तु माध्वमत में तीनप्रकार की सत्ता नहीं मानी जाती है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि इस प्रकार का दोष देना समीचीन नहीं है, क्योंकि सत्त्वेन प्रतीतिमात्र का नाम है व्यावहारिकसत्त्व। स्वतन्त्ररूप से प्रपञ्च में कोई सत्त्व नहीं है। इस प्रकार अद्वैतसिद्धान्त में जो लोग एक ही सत्त्व मानते है और उसी सत्त्व को लेकर व्यावहारिकपदार्थों में भ्रम से सत्त्व का प्रयोग करते है। अर्थात् व्यावहारिकपदार्थों में सत्त्व नहीं है। एसे मानने वालों को लक्ष्य कर के व्यावहारिकपदार्थों में सत्त्व बतलाने के लिए सत्त्व को साध्य बनाया गया है। अद्वैतसिद्धान्त में जो लोग तीन प्रकार का सत्त्व स्वीकार कर घटपटादि में पारमार्थिकसत्त्व नहीं मानते है उनको उद्देश्य कर के परमार्थसत्त्व को साध्य बनाया गया है। इस प्रकार से साध्य बनाने पर परमार्थत्वरूपविशेषण माध्वमत से व्यर्थ होने पर भी अद्वैतवेदान्ती के मत में व्यर्थ नहीं है। क्योंकि परार्थानुमान पर मत को लक्ष्य कर के किया जाता है। इसलिए प्रकृत में परमार्थत्वरूप विशेषण की यही सार्थकता है कि अद्वैतवेदान्ती प्रपञ्चगतव्यावहारिकसत्त्व की इष्टापत्ति के द्वारा सिद्धसाधनदोष नहीं दे सकते है। परकीयमतानुसार सिद्धसाधनवारक—विशेषण का भी उपादान होता है, इसे नैयायिकों के द्वारा किये गये ईश्वरानुमान के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि ईश्वरानुमान— '(जीव) जन्यकृत्यजन्यानि क्षित्यङ्कुरादीनि, कर्तृजन्यानि, कार्यत्वात्, घटवत्'। यह अनुमान नैयायिकों ने अनीश्वरवादी पूर्वमीमांसकों को लक्ष्य कर के किया है। अनीश्वरवादी मीमांसक कृति (प्रयत्न) मात्र को ही जन्य मानते है, किसी भी कृति को नित्य नहीं मानते है। अत: मीमांसक के मत में कृति का जन्यत्वविशेषण व्यर्थ है, क्योंकि उसका व्यावर्त्य नित्यकृति की प्रसिद्धि मीमांसक के मत में है ही नहीं। लेकिन नैयायिक कृति दो प्रकार का मानता है— जीव की कृति अनित्य और ईश्वर की कृति नित्य। अत: नैयायिक की दृष्टि से जन्यकृति, नित्यकृति का व्यावर्तक होने से कृति का विशेषण जन्यत्व देना सार्थक है। मीमांसकमत

जन्यत्वस्येव विश्वपरमार्थत्ववादिनं प्रति परमार्थत्वस्य प्रमेयत्वादिवदुपरञ्जकत्वेन विशेषणत्वोपपत्तेश्च।। ३।।

तस्मात् पूर्वोक्त एव दोषः, हेतौ च व्यर्थविशेषणत्वदोषः। यद्यपि मतद्वयेऽप्यप्रामाणिकस्यापि निषेधप्रतियोगित्वाभ्युपगमादारोपितत्वेनोभयसम्मतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्ति, अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वानुमाने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्वाद् दोषसाम्यं स्यात्।।४।।

तथापि हेतौ प्रातिभासिकत्वविशेषणं व्यर्थम्, अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वमात्रस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

में कृति का जन्यत्वविशेषण किसी का व्यावर्तक न होने पर भी उपरञ्जकत्वेन, अर्थात् उपरक्त (सम्बद्ध) बुद्धि जनकत्वेन सार्थक माना जाता है, जैसे 'प्रमेयो घटः' में प्रमेयत्वविशेषण किसी का व्यावर्तक नहीं है, सभी घट प्रमेय है। फिर भी प्रमेयत्व से सम्बद्ध घट की बुद्धि को उत्पन्न करने वाला होने से प्रमेयत्वविशेषण सार्थक माना जाता है। कहने का आशय यह है कि यदि किसी विशेषण का कोई व्यावर्त्त्य न भी मिले तब भी यदि वह विशेषण उपरञ्जक है तो भी उस विशेषण को सार्थक माना जाता है। अतः विश्व को परमार्थसत् माननेवाले माध्वमत में परमार्थत्वविशेषण किसी का व्यावर्तक न होने पर भी उपरञ्जक होने से, अर्थात् परमार्थत्व के सम्बद्ध सत्त्वबुद्धि को उत्पन्न करने वाला होने से सार्थक माना जाता है।। ३।।

इसलिए माध्वमत के ऊपर परमार्थपद की व्यर्थता का दोषारोपरण नहीं किया जा सकता है। अपितु देहात्मैक्य को पक्ष से बाहर रखने पर उसमें व्यभिचार और पक्ष के अन्तर्गत रखने पर उसमें बाध ा और आश्रयासिद्धिदोष ही देना उचित है और 'प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्व' हेतु में विशेषण 'प्रातिभासिकत्व' के वैयर्थ्यरूपदोष का प्रदर्शन भी उचित है। प्रातिभासिकत्वरूप विशेषण को व्यर्थ बतलाने पर प्रश्न होगा कि वह क्यों व्यर्थ है? क्या वन्ध्यासुत जैसा प्रातिभासिकत्व अप्रामाणिक है? अतः प्रसिद्ध न होने से प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वरूप हेतु का भाग व्यर्थ है? अर्थात् प्रातिभासिकत्व के निषेध का प्रतियोगी प्रातिभासिकत्व के प्रसिद्ध न होने के कारण प्रातिभासिकत्व का निषेध नही किया जा सकता है? अतः प्रातिभासिकत्व का निषेध न होने से प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वरूप हेतु का घटक प्रातिभासिकत्व व्यर्थ है? अथवा प्रातिभासिकत्व विशेषण के देने से सार्थकता कोइ दिखलायी नहीं देती हैं? इसलिए व्यर्थ है? इसमें से दूसरे पक्ष को स्वीकार करेंगे। अतः प्रथम पक्ष को खण्डन करने के लिए 'यद्यपि' से बोल रहे है। वादी—प्रतिवादी दोनों मतों में अप्रामाणिक पदार्थ भी निषेध के प्रतियोगी माने जाते है। अर्थात् प्रमित (प्रामाणिक) मात्र का ही निषेध होता है— ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु प्रसिद्धमात्र का भी निषेध ा होता है। आरोपितत्त्वेन उभयसम्मतरूप से अथवा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूप से प्रातिभासिकत्व की प्रसिद्धि दोनों के मतों में है। अतः प्रातिभासिकत्व की प्रसिद्धि होने से प्रातिभासिकत्वानाधिकरणत्व की भी प्रसिद्धि हो जायेगी। अन्यथा (प्रमाणसिद्धपदार्थों का ही निषेध मानने पर) सिद्धान्ती के द्वारा किये गये प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में प्रातिभासिकभिन्नप्रपञ्च को पक्ष बनाया गया है। अतः वहाँ पर भी प्रातिभासिकपदार्थों का निषेध न हो पायेगा, क्योंकि शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकपदार्थ प्रमाणसिद्धपदार्थ नहीं माने जाते है। अतः दोनों पक्षों में समानरूप से दोष आयेगा।। ४।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम प्रातिभासिकत्व की अप्रसिद्धि के कारण हेतु के भाग 'प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व' को असिद्ध नहीं बतला रहे हैं, किन्तु हेतु में प्रातिभासिकत्वविशेषण व्यर्थ है। क्योंकि हेतु में प्रातिभासिकत्वविशेषण न देने पर हेतु का आकार होगा— 'अनधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वम्'। इसके द्वारा भी परमार्थसत्त्व की सिद्धि हो जायेगी। यहाँ

परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तेः, शुद्धमेव हि ब्रह्म दृष्टान्तत्वेनाभ्युपेयम्, धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्यवैकल्यापत्तेः। साध्यन्तु बाधाभावरूपत्वादधिकरणस्वरूपमेव न धर्मः, धर्म्यतिरिक्ताभावानभ्युपगमस्योक्तत्वात्। तथा च चक्षुस्तैजसत्वानुमाने रूपादिषु मध्य इत्यस्यासिद्धिवारकस्यापि व्याप्तिग्रहौपयिकत्वेन व्यभिचारवारकविशेषणतुल्यतया यद्यपि सार्थकत्वम्, व्यभिचारवारकस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्वयिदृष्टान्त शुद्धब्रह्म को लेंगे। वह धर्ममात्र का अनधिकरण है और असत्त्व का भी अनधिकरण है, अतः दृष्टान्त में हेतु गया। यहाँ पर सधर्मकविशिष्टब्रह्म को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें साध्य परमार्थसत्त्व सिद्धान्ती के अनुसार नहीं माना जाता है। शुद्धब्रह्म में साध्य का समन्वय हो जायेगा, क्योंकि सत्त्व का अर्थ है— त्रैकालिकबाधाभाव। वह ब्रह्म का स्वरूप है, क्योंकि अभाव अधिकरणस्वरूप माना जाता है, न कि अधिकरण का धर्म। अभाव धर्मी (अधिकरण) से पृथक् नहीं माना जाता है, यह द्वितीयमिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी का कथन है कि हेतु का प्रातिभासिकत्वविशेषण स्वरूपासिद्धिवारक है, क्योंकि उक्त अनुमान का पक्ष प्रपञ्च है। वह प्रपञ्चत्वादि धर्मों का अधिकरण ही है, अनधिकरण नहीं है। अतः अनधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व को हेतु बनाने पर पक्ष में हेतु नहीं जायेगा। अतः हेतु में विशेषण प्रातिभासिकत्व को देना सार्थक है। क्योंकि प्रातिभासिकत्व को देने पर हेतु पक्ष में चला जाता है। इस प्रकार स्वरूपासिद्धिवारक प्रातिभासिकत्व विशेषण सार्थक है। इसको पूर्वपक्षी चक्षु में तैजसत्व के अनुमान को दृष्टान्त देकर स्पष्ट कर रहा है— 'चक्षुः तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, आलोकवत्'। इस अनुमान के हेतु में 'रूपादिषु मध्ये' इतना मात्र न देने पर स्वरूपासिद्धिदोष होता है, क्योंकि चक्षु केवल रूप का ही व्यञ्जक नहीं होती है। अपितु रूपत्व और रूपाभाव की भी अभिव्यञ्जक होती है। क्योंकि यह नियम है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है, उसी इन्द्रिय के द्वारा उस वस्तु में रहने वाली जाति और उस वस्तु का अभाव का भी ग्रहण होता है। 'रूपादिषु मध्ये' यह विशेषण देने से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पाँच विशेष गुणों में चक्षु केवल रूप का ही अभिव्यञ्जक होती है, ऐसा हेतुवाक्य का अर्थ हो जाने पर हेतु पक्ष में चला गया। इस प्रकार 'रूपादिषु मध्ये' यह विशेषण देने पर स्वरूपासिद्धिदोष का वारण हो गया। 'रूपादिषु मध्ये' यह भाग व्याप्तिग्रह का भी साधक है। यदि 'रूपादिषु मध्ये' यह भाग हेतु से निकाल कर व्याप्ति बनाते है, तब व्याप्ति का आकार होगा— 'यत्र यत्र केवलरूपव्यञ्जकत्वं तत्र तत्र तैजसत्वम्'। इस व्याप्ति का भङ्ग आलोकरूप दृष्टान्त में हो जाता है, क्योंकि आलोक केवल रूप का ही व्यञ्जक नहीं होता है, अपितु घटादि द्रव्यों का भी व्यञ्जक होता है। 'रूपादिषु मध्ये' यह भाग देने पर पूर्वोक्तदोष नहीं होगा, क्योंकि आलोक गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द में से केवल रूप का ही अभिव्यञ्जक होता है। इस प्रकार यह देखा गया कि 'रूपादिषु मध्ये' यह विशेषण असिद्धिवारक होता हुआ व्याप्तिग्रह का साधक है, अतः सार्थक है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि व्याप्तिग्रह का साधकत्वेन ही असिद्धिवारक या व्यभिचारवारक विशेषण सार्थक होता है। यहाँ अनुमान का आकार होगा— 'असिद्धिवारकं पदं सार्थकं व्याप्तिग्रहौपयिकत्वाद् व्यभिचारवारकपदवत्। किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं है। क्योंकि प्रकृत में प्रातिभासिकत्वविशेषण केवल असिद्धिवारक ही है, व्याप्तिग्रह का साधक नहीं है। क्योंकि हेतु में प्रातिभासिकत्व विशेषण न देने पर हेतु का आकार होगा— 'अनधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वम्'। ऐसा हेतु भी परमार्थसत्त्व का साधक हो जायेगा, क्योंकि दृष्टान्त निर्धर्मकब्रह्म में अनधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व और परमार्थसत्त्व के होने से व्याप्तिग्रह हो जाता है। अतः प्रातिभासिकत्व विशेषण व्याप्तिग्रह का साधक न होता हुआ केवल असिद्धिवारक होने से व्यर्थ है। जैसे 'क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वात्, आकाशादिवत्' इस अनुमान

सार्थकत्वेव्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रस्य तन्त्रत्वात्, तथापि 'क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वात्' इत्यत्र शरीरस्येव व्याप्तिग्रहानुपयोगित्वेन प्रातिभासिकत्वस्य वैयर्थ्यमेव, आकाशादावजन्यत्व-कर्तृजन्यत्वाभावयोरिव निर्धर्मके ब्रह्मण्यनधिकरणत्वपरमार्थसत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहोपपत्तेः। तथा चैकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्ध्यापात्तिः। स्वरूपासिद्धिपरिहारार्थं विशेषणं प्रक्षिपतो व्याप्यत्वासिद्धिरित्यर्थः, व्याप्तावनुपयोगस्य दर्शितत्वात्। किञ्च व्यावहारिकसत्त्वमात्रेणैवोपपत्तेः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में हेतु का विशेषण (शरीर) व्याप्तिग्रह का साधक न होता हुआ केवल असिद्धिवारक होने से व्यर्थ है। अर्थात् यदि हेतु में शरीर पद नहीं देते है, तो अजन्यत्व हेतु पक्ष में नहीं जायेगा, क्योंकि नैयायिक क्षित्यादि को जन्य मानता है। अतः शरीरविशेषण दिया गया। शरीर विशेषण देने पर नैयायिक भी क्षित्यादि को किसी जीव से जन्य नहीं मानता है। अतः हेतु पक्ष में चले जाने से असिद्धि का वारण हो गया। किन्तु शरीरपद न देने पर भी व्याप्तिग्रह हो जाता है, क्योंकि दृष्टान्त आकाश में हेतु अजन्यत्व और साध्य कर्तृजन्यत्वाभाव दोनों ही है। अतः शरीरविशेषण व्याप्तिग्रह का साधक न होता हुआ केवल असिद्धिवारक होने से व्यर्थ है। जहाँ पर विशेषण व्यर्थ होता है, वहाँ पर व्याप्यत्वासिद्धिदोष होता है। यहाँ पर प्रातिभासिकत्व विशेषण व्यर्थ होने से व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने स्वरूपासिद्धिदोषवारण करने के लिए प्रातिभासिकत्व विशेषण दिया, किन्तु उसको देने पर व्यर्थविशेषण होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धिदोष हो गया। अतः विशेषण न देने पर स्वरूपासिद्धि और देने पर व्याप्यत्वासिद्धि को ध्यान में रखकर जो श्री उदयनाचार्य ने कहा है– 'एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्ध्यापत्तिः' यह कथन यहाँ पर भी चरितार्थ होता है। अर्थात् स्वरूपासिद्धि का परिहार करने के लिए हेतु में प्रातिभासिकत्व विशेषण देने पर व्याप्यत्वासिद्धिदोष होता है, क्योंकि विशेषण (प्रातिभासिकत्व) का व्याप्तिग्रह में कोई उपयोग नहीं है, यह इसी खण्ड के प्रारम्भ में दिखाया जा चुका है। यहाँ पर भी व्याप्यत्वासिद्धिदोष इसलिए होगा कि व्याप्यत्व व्याप्ति का ही नाम है। वह स्वसमानाधिकरण– प्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर से अघटित व्याप्यतावच्छेदकावच्छेदेन गृहीत होती है। इस लिए दृष्टान्त शरीराजन्यत्व में व्याप्ति गृहीत नहीं होती है। क्योंकि स्वपद से लिया शरीराजन्यत्व। तत्समानाधिकरणप्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर अजन्यत्व हुआ। उस अजन्यत्व से शरीराजन्यत्व घटित ही है, न कि अघटित। अतः शरीराजन्यत्वावच्छेदेन कर्तृजन्यत्वाभावनिरूपित व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। अतः शरीराजन्यत्व में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। दृष्टान्त में स्वशब्द से लिया–प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व। तत्समानाधिकरणप्रकृत–साध्यव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तर अनधिकरणत्वे सति असत्त्वाधिकरणत्वत्व। इस धर्मान्तर से प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व घटित ही है, अघटित नहीं है। अतः प्रातिभासकत्वानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वत्वावच्छेदेन पारमार्थिकसत्त्वनिरूपितव्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। अतः इस हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। पूर्वपक्षी के इस अनुमान में दूषणान्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे कि यह नियम है– जिस साध्य की सिद्धि के विना जो हेतु अनुपपन्न हो जाता है, वह हेतु उसी साध्य की सिद्धि का साधक होता है और जिस साध्य की सिद्धि के विना भी जो हेतु उपपन्न हो जाता है वह हेतु, उस साध्य की सिद्धि का साधक नहीं होता है। प्रकृत अनुमान के पक्ष व्यावहारिकप्रपञ्च में साध्य (पारमार्थिकसत्त्व) की सिद्धि के विना भी व्यावहारिकसत्त्वमात्र की सिद्धि से ही, अर्थात् प्रपञ्च को व्यावहारिकसत् मानने पर ही हेतु (प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व) उत्पन्न हो जाता है। अतः प्रकृत हेतु व्यावहारिकसत्त्व की ही सिद्धि कर सकता है, पारमार्थिकसत्त्व की नहीं। अतः परमार्थसत्त्व की सिद्धि के प्रति उक्त हेतु में अप्रयोजकत्व है। अर्थात् 'पक्षे उक्तहेतुः स्यात् परमार्थसत्त्वं न

उक्तहेतोरप्रयोजकत्वम्, परमार्थसत्त्वे बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराघाताच्च ॥ ५॥

ननु ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपं हेतुं प्रति व्यावर्तकतया प्रयोजकत्वेन परमार्थसत्त्वं क्लृप्तम्, अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येवासद्व्यावृत्तिं प्रति तद्विरुद्धसत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वात्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिकन्तु न तत्प्रयोजकम्, साक्षादसत्त्वाविरोधित्वात्, प्रपञ्चे तदभावाच्च, तथा च ब्रह्मविश्वसाधारणं परमार्थसत्त्वमेव तत्प्रयोजकम्॥ ६॥

न च विश्वमिथ्यात्वात्परमार्थसत्त्वमपि न विश्वसाधारणम्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिवदिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्यात्' इत्याकारक यदि व्यभिचारशङ्का हो तो उसका वारक कोई तर्क पूर्वपक्षी के पास नहीं है और प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व मानने पर 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा. उ. ७) इस श्रुति से अनूदित जो बाध, उस बाध की अनुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्क से पूर्वपक्षीकृत अनुमान पराहत भी है– 'यदि घटादिप्रपञ्चः पारमार्थिकः स्यात् तर्हि वेदान्तजन्यज्ञानबाध्यो न स्यात्'। अतः प्रपञ्च के मिथ्यात्वसाधक अनुमान में व्यभिचार शङ्का निवर्तक तर्क है और प्रपञ्च के परमार्थसत्त्वसाधक–अनुमान में व्यभिचारशङ्का वारक तर्क नहीं है। इसलिए समानबल का अभाव होने से सिद्धान्ती के प्रबल प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान से पूर्वपक्षी के दुर्बल प्रपञ्चसत्यत्वानुमान का बाध हो जायेगा।।५।।

उक्त अनुमान के दृष्टान्त ब्रह्म में असत् और प्रातिभासिक, इन दोनों की व्यावृत्ति (भेद) रूप जो हेतु है, उस हेतु के प्रति साधकतया क्लृप्त परमार्थसत्त्व ही प्रयोजक है। अर्थात् प्रपञ्चसत्यत्व–साधक–अनुमान में प्रातिभासिकानधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्व हेतु दिया गया है। यह हेतु असत् और प्रातिभासिक, इन दोनों की व्यावृत्ति (भेद) रूप है। अतः हेतु का अर्थ होगा–'प्रातिभासिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वे सति असत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्'। यह हेतु ब्रह्म में है और परमार्थसत्त्व भी ब्रह्म में है। अतः इस हेतु के प्रति साधकतया परमार्थसत्त्व ही प्रयोजक है। यहाँ अनुमान का आकार होगा– 'ब्रह्म असत्प्रातिभासिकभेदद्वयवत्, परमार्थसत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा असदादिकम्'। इस प्रकार परमार्थसत्त्व वैसे ही उक्त उभयभेद का साधक है, जैसे पृथिवी में स्वेतरभिन्नत्व का प्रयोजक पृथिवीत्व होता है (न कि गन्धवत्त्व, क्योंकि उत्पत्तिक्षण में पृथिवी में गन्धवत्त्व नहीं होता है)। असत् की व्यावृत्ति (भेद) के प्रति असद्विरुद्धसत्त्व ही प्रयोजक होता है, ब्रह्मवृत्ति ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि तो असद्व्यावृत्ति के प्रयोजक नही हो सकते है, क्योंकि वे साक्षात् असत्त्व के विरोधी नहीं है और प्रपञ्च में असद्भेद के रहने पर भी ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि का अभाव है। अतः ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि को हेतु बनाने पर प्रपञ्च में साध्य (असद्भेद) के रहने पर भी हेतु (ज्ञानत्वानन्दत्वादि) नहीं रहेगा। फलतः ब्रह्म और प्रपञ्च, एतदुभयसाधारणपरमार्थसत्त्व ही असद् और प्रातिभासिक की व्यावृत्ति का प्रयोजक है। अर्थात् असद् और प्रातिभासिक की व्यावृत्ति, जैसे ब्रह्म में है, उसी प्रकार प्रपञ्च में भी है। परमार्थसत्त्व के कारण ब्रह्म में असत् और प्रातिभासिक की व्यावृत्ति सिद्ध हुई है। इसलिए प्रपञ्च में भी परमार्थसत्त्व के कारण ही असत् और प्रातिभासिक की व्यावृत्ति माननी चाहिए। यही पूर्वपक्षी का आशय है।। ६।।

इस पर यदि कोई शङ्का करे कि प्रपञ्च मिथ्या है। इसलिए परमार्थसत्त्व ब्रह्म और प्रपञ्च, इन दोनों का साधारणधर्म नहीं हो सकता है। अर्थात् यद्यपि ब्रह्म में परमार्थसत्त्व रहता है और वहाँ पर असत् और प्रातिभासिक का भेद भी रहता है, किन्तु व्यावहारिकसत्तावाला प्रपञ्च मिथ्या है। उसमें परमार्थसत्त्व नहीं है। किन्तु असत् और प्रातिभासिक का भेद रहता है। इसलिए परमार्थसत्त्व, असत् और प्रातिभासिक के भेद का प्रयोजक नहीं हो सकता है। जैसे ज्ञानत्व आनन्दत्वादि असत् और प्रातिभासिक भेद के प्रयोजक नही हो सकते है। इस शङ्का का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि वैसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि

वाच्यम्, अन्योन्याश्रयापत्तेरिति चेत्? अयुक्तमेतत्; न हि प्रातिभासिकासतोरेका व्यावृत्तिरुभयो वा समव्याप्ता, येनैकप्रयोजकप्रयोज्या भवेत्, किन्तु प्रातिभासिकव्यावृत्तिप्रयोजकं ब्रह्मविश्वासत्सा-धारणमेव वक्तव्यम्, असत्यपि प्रातिभासिकत्वाभावात्, एवमसद्व्यावृत्तावपि प्रयोजकं ब्रह्मविश्वप्रातिभासिकसाधारणमेव वक्तव्यम्, प्रातिभासिकेऽप्यसत्त्वाभावात्। तथा च प्रयोजकद्वयस–मावेशादेव ब्रह्मण्युभयव्यावृत्त्युपपत्तौ नीलत्वघटत्वरूपावच्छेदकद्वयसमावेशोपपन्ननी–

सत्यानन्दप्रबोधिका

वैसा मानने पर अन्योऽन्याश्रयदोष होगा– 'विश्वमिथ्यात्वे सिद्धे व्यावहारिकसत्त्वसिद्ध्या तेनैव विश्वसत्यत्वसा–धकहेतोरुपपत्त्या हेतोरप्रयोजकत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ च विश्वसत्यत्वसाधकानुमानस्य दुष्टत्वेन तद्बा–धाभावाद् विश्वमिथ्यात्वसिद्धिः। अर्थात् विश्व में मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर विश्व में व्यावहारिकसत्त्व की सिद्धि होगी। विश्व में व्यावहारिकसत्त्व की सिद्धि के द्वारा ही विश्व में परमार्थसत्त्व सिद्ध करने वाला हेतु उपपन्न हो जाने पर, हेतु में अप्रयोजकत्व आ जायेगा। हेतु में अप्रयोजकत्व की सिद्धि हो जाने पर विश्व में परमार्थसत्त्व सिद्ध करनेवाला अनुमान के दुष्ट होने के कारण उससे प्रपञ्चगतमिथ्यात्व सिद्ध करनेवाले अनुमान का बाध नहीं होगा। विश्वमिथ्यात्वानुमान का बाध न होने से उससे विश्व में मिथ्यात्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयदोष होगा। अतः ब्रह्म–विश्वसाधारणपरमार्थसत्त्व को ही असदादिभेद का प्रयोजक मानना चाहिए। सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिभासिकभेद और असद्भेद, ये दोनों एकरूप अथवा समनियत नहीं है। यदि उक्त दोनों भेद एकरूप अथवा समनियत होते, तब प्रपञ्च–ब्रह्मसाधारण परमार्थसत्त्वरूप एक प्रयोजक से प्रयोज्य होते, किन्तु उक्त दोनों भेद एकरूप अथवा समनियत नहीं है। अतः प्रपञ्चब्रह्मसाधारण- परमार्थसत्त्वरूप एक प्रयोजक से प्रयोज्य भी नहीं है। अपितु असद्भेद और प्रातिभासिकभेद के प्रयोजक भिन्न–भिन्न हैं। वे प्रयोजक क्या है? इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि प्रातिभासिकभेद का प्रयोजक वही होगा, जो ब्रह्म प्रपञ्च और असत् में रहता हो। क्योंकि जैसे प्रातिभासिकत्व ब्रह्म और प्रपञ्च में नहीं रहता है, उसी प्रकार असत् में भी नहीं रहता है। ब्रह्म, प्रपञ्च और असत् में प्रातिभासिकभेद का प्रयोजक ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व है, इसी प्रकार असद्भेद का प्रयोजक वही होगा जो ब्रह्म, प्रपञ्च और प्रातिभासिक में रहता हो, क्योंकि जैसे असत्त्व ब्रह्म और प्रपञ्च में नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार प्रातिभासिक में भी नहीं रहता है। ब्रह्म, प्रपञ्च और प्रातिभासिक में असद्भेद का प्रयोजक सत्त्वेन प्रतीयमानत्व है। इस प्रकार प्रातिभासिकभेद और असद्भेद के प्रयोजकद्वय (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व और सत्त्वेन प्रतीयमानत्व) का समावेश होने से ही ब्रह्म में दो प्रयोज्य (प्रतिभासिकभेद और असद्भेद) की उपपत्ति हो जाती है, तब उन दोनों प्रयोजकों से भिन्न परमार्थसत्त्व नामक एक प्रयोजक प्रातिभासिकभेद और असद्भेद का माना जा नहीं सकता है, क्योंकि उनमें कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कपालीयनीलरूपादिघटित सामग्रिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकनीलत्व है और दण्डादिघटितसामग्रिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदक घटत्व है। यहाँ पर नीलत्वावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकताश्रयीभूत उक्त द्विविधसामग्री से अतिरिक्त नीलघटत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकताश्रयीभूत कोई एक ही सामग्री नहीं मानी जाती है। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अपितु क्लृप्तसामग्रिद्वय कपालीयनीलरूप और दण्डादि से ही नीलघट की उत्पत्ति मानी जाती है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि ब्रह्म में असद्भेद और प्रातिभासिकभेदद्वय का प्रयोजक एक परमार्थसत्त्व यदि नहीं है तो एक प्रयोजक क्या है? इस का तुष्यतुदुर्जनन्यायानुसार समाधान यह है कि असद्भेद और प्रातिभासिकभेद के साथ जिसका सामानाधिकरण्य है ऐसा जो ब्रह्मविश्वान्यतरत्व है, उस ब्रह्मविश्वान्यतरत्वरूप प्रयोजक के द्वारा ही ब्रह्म में असद्भेद और प्रातिभासिकभेदद्वय की सिद्धि हो जायेगी।

लघटत्ववन्नातिरिक्तप्रयोजककल्पनायामस्ति किञ्चिन्मानमिति कृतबुद्धय एव विदांकुर्वन्तु। नित्यत्वं चोपाधि:, तुच्छप्रातिभासिकयोर्नित्यत्वव्यतिरेके साध्यव्यतिरेकदर्शनात्।।७।।

अत एवानिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद् विषयत्वादित्यपि न हेतु:। किञ्च प्रमात्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम्? तत्त्वावेदकत्वं वा? आद्ये दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यम्। न हि परमार्थसत: शुद्धस्य ब्रह्मण: सप्रकारकज्ञानविषयत्वम्। न च धर्मवतो दृष्टान्ततेत्युक्तम्, तस्य पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

अतएव= प्रतिकूलतर्क तथा नित्यत्वरूप उपाधि के होने से ''अनिषेध्यत्व रूप से प्रमा के प्रति साक्षाद्विषयत्व'' को भी प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व का साधक हेतु नहीं बनाया जा सकता है। किञ्च हेतु घटक प्रमात्व क्या है? तद्वति तत्प्रकारकत्व है क्या? अथवा तत्त्वावेदकत्व? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर दृष्टान्त (ब्रह्म) में साधनवैकल्य होगा, क्योंकि परमार्थसत् शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ सप्रकारकज्ञानविषयत्व नहीं रहता है और धर्मवत् ब्रह्म को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है—इसको पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, क्योंकि सधर्मक ब्रह्म (ईश्वर) पक्ष कुक्षि में निक्षिप्त होने से उसमें निश्चित साध्यवत्त्व का अभाव

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुमान का आकार होगा— 'ब्रह्म उक्तभेदद्वयवत्, ब्रह्मविश्वान्यतरत्वात्, प्रपञ्चवत्'। इस अनुमान से प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार व्यावृत्तिप्रयोजकतारूप इस अर्थ को सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ही समझ सकते है। 'विमतं परमार्थसत्, प्रातिभासिकानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षत्वात्, ब्रह्मवत्'— पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये प्रपञ्चगतसत्यत्वसाधक इस अनुमान में नित्यत्व उपाधि भी है। क्योंकि नित्यत्व (अनित्यत्वाभाव जो अधिकरणस्वरूप होने के कारण) ब्रह्म में तादात्म्येन है। अत: साध्य का व्यापक उपाधि हो गया। पक्ष व्यावहारिकप्रपञ्च में नित्यत्वरूप उपाधि नहीं है, किन्तु हेतु है। अत: उपाधि में साधन का अव्यापकत्व भी है। इस प्रकार सोपाधिक हेतु होने के कारण हेतु व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि जहाँ पर उपाधि लगती है, वहाँ पर उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान होता है उसमें दृष्टान्त की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ पर उपाधि के अभाव से साध्याभाव के अनुमान में किसको दृष्टान्त बनाया जाय? इसका उत्तर देते हुए कह रहे है कि जब उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान किया जायेगा, तब उसके लिए असत् और प्रातिभासिकपदार्थ दृष्टान्त बन जायेंगे। जैसे— 'विमतं परमार्थसत्त्वाभाववत्, नित्यत्वाभावात्, वन्ध्यासुतवत् शुक्तिरूप्यवद् वा'।।७।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चगतपरमार्थसत्त्वसाधक छ: हेतु दिये गये है— (१) प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्वानधिकरणत्वम्' (२) 'अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वम्' (३) 'अनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वम्' (४) 'सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्वम्' (५) 'आरोपितमिथ्यात्वकत्वम्' (६) 'कल्पकरहितत्वम्'। इनमें से प्रथम हेतु का खण्डन कर दिया गया। अब द्वितीय हेतु का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि नित्यत्वरूप उपाधि का सद्भाव होने से और प्रतिकूलतर्क का सद्भाव होने से प्रथम हेतु जैसे सद्हेतु नहीं सिद्ध हो सका। उसी प्रकार उन्ही दोषों के कारण यह द्वितीय हेतु भी सद्हेतु नहीं है। जैसे यहाँ अनुमान का आकार होगा— 'विमतं परमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, ब्रह्मवत्'। इस हेतु के सभी विशेषणों की सार्थकता का निरूपण नवमखण्ड में किया गया है। किन्तु पूर्वोक्तप्रकार से इस द्वितीय हेतु में भी नित्यत्व उपाधि है और यह हेतु प्रतिकूलतर्क से पराहत है। अत: यह द्वितीय हेतु भी दुष्ट है। इस द्वितीय हेतु में अन्य दूषणान्तर भी है, इसको दिखलाने की इच्छा से सिद्धान्ती कह रहे हैं कि द्वितीय हेतु का घटक जो प्रमा है, उसका क्या अर्थ विवक्षित है? 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' अथवा 'तत्त्वावेदकत्व'। प्रथमपक्ष के अनुसार प्रमा का अर्थ लेने पर हेतु दृष्टान्त में नहीं

निश्चितसाध्यवत्त्वाभावात्। द्वितीये तत्त्वावेदकत्वस्याबाधितविषयत्वरूपत्वेन साध्याविशेषपर्यवसानाद्धेतुग्रहे सिद्धसाधनम्, हेत्वग्रहे तु स्वरूपासिद्धिः॥ ८॥

यत्तु प्रमाविषयत्वमात्रेणैव परमार्थत्वोपपत्तौ विशेषणे व्यर्थे, इति। तन्न, पुरोवर्तिनं रजततया जानमीत्याद्यनुव्यवसायरूपप्रमाविषये प्रातिभासिके व्यभिचारवारकत्वात् साक्षात्पदस्य,

कैलासविद्याप्रकाशिका

है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर तो तत्त्वावेदकत्व= अबाधितविषयकत्वरूप है। अत: परमार्थसत्त्वरूप साध्य से अविशेष में ही पर्यवसान होगा। ऐसा होने पर पक्ष में हेतु का ज्ञान होने पर साध्य का ज्ञान स्वत: ही हो जायेगा। अत: सिद्धसाधनदोष होगा। यदि पक्ष में हेतु का ज्ञान नहीं मानेंगे तब स्वरूपासिद्धिदोष होगा।।८।।–।।९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जायेगा, क्योंकि परमार्थसत् शुद्धब्रह्म किसी सप्रकारकज्ञान का विषय नहीं होता है। अर्थात् तद्वति तत्प्रकारकज्ञान सविकल्पक (सप्रकारक) ज्ञान होता है और शुद्धब्रह्म सप्रकारकज्ञान का विषय नहीं होता है, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से जन्य निष्प्रकारकज्ञान का विषय शुद्धब्रह्म होता है। सर्वज्ञत्वादिधर्मो से विशिष्ट ब्रह्म यद्यपि सप्रकारकज्ञान का विषय है, तथापि विशिष्टब्रह्म को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उसमें परमार्थसत्त्वरूप साध्य को अद्वैतसिद्धान्त में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस का निरूपण पञ्चम खण्ड में किया जा चुका है। विशिष्टब्रह्म को दृष्टान्त बनाने पर यह भी दोष है कि विशिष्टब्रह्म की व्यावहारिकसत्ता है, क्योंकि पारमार्थिकसत्ता केवल शुद्धब्रह्म की ही मानी जाती है। अत: विशिष्टब्रह्म पक्ष में अन्तर्गत होने के कारण उसको निश्चितसाध्यवान् कहा नहीं जा सकता है। जब कि निश्चितसाध्यवान् को ही दृष्टान्त बनाया जाता है। अत: विशिष्टब्रह्म को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। द्वितीय पक्ष के अनुसार प्रमा का अर्थ यदि तत्त्वावेदकत्व किया तो उसका पर्यवसान अबाधितविषयत्वरूप अर्थ में होगा। अर्थात् तत्त्व कहते है अबाधित को। अबाधि– तविषयकज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहा जाता है। अबाधितत्व ही परमार्थसत्त्व है। इस प्रकार हेतु और साध्य में वैलक्षण्य का अभाव होने से पक्ष में हेतु का निश्चय मानने पर साध्य का निश्चय मानना पडेगा और उसके बाद साध्य की अनुमिति होने पर सिद्धसाधनदोष होगा। यदि सिद्धसाधनदोष से बचने के लिए पक्ष में हेतु का निश्चय नहीं मानते है तो पक्ष में हेतु का ज्ञान न होने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा।। ८।।

इस द्वितीय हेतु में कुछ लोगों के द्वारा यह जो दोष दिया जाता है कि उक्त अनुमान के साध्य परमार्थसत्त्व की सिद्धि, हेतु के घटक प्रमाविषयत्व से ही हो जायेगी। हेतु के शेष घटक अनिषेध्यत्वेन और साक्षात् व्यर्थ है। ऐसा दोष देना समीचीन नहीं है, क्योंकि हेतु के उक्त दोनों घटक (साक्षाद् और अनिषेध्यत्व) व्यभिचारवारक होने के कारण सार्थक है। जैसे 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के पश्चात् होने वाला 'इदं रजतमहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसायरूपप्रमा का परम्परया विषय रजत भी है। अत: प्रमाविषयत्व को हेतु बनाने पर रजत में भी हेतु चला जायेगा, किन्तु रजत में साध्य परमार्थसत्त्व के न होने से व्यभिचारदोष होगा। साक्षात् पद देने पर उक्त अनुव्यवसायरूप प्रमा का साक्षाद्विषय रजत न होने से रजत में हेतु के न जाने से व्यभिचारदोष का वारण हो जाता है। साक्षात् पद देने पर भी 'नेदं रजतम्' इत्याकारक प्रमा का साक्षाद्विषय रजत है। अत: रजत में हेतु के चले जाने से व्यभिचारदोष होगा। अनिषेध्यत्वेन पद देने पर व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस प्रमा का साक्षाद् विषय रजत निषेध्यत्वेन है, न कि अनिषेध्यत्वेन। अत: रजत में हेतु नहीं जायेगा। उक्त अनुव्यवसायज्ञान को और 'नेदं रजतम्' इत्याकारकज्ञान को यदि भ्रमज्ञान माना जाता, तब तो 'प्रमा' इस विशेषण से ही

तत्रैव च मिथ्यात्वप्रमितेः साक्षाद् विषये व्यभिचारवारकत्वादनिषेध्यत्वेनेत्यस्य। न ह्यनुव्यवसायमिथ्यात्वप्रमे भ्रमे भवतः ।। ९।।

नाप्यनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वं हेतुः, सत्यत्वसिद्धिं विनाऽनिषेध्यत्वेनेत्य-स्यासिद्धेः। तथा चान्योन्याश्रयः। न चेश्वरज्ञानविषयस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, मिथ्याभूतस्य मिथ्यात्वेनैव ग्रहणात्, ऐन्द्रजालिकवद् भ्रान्तत्वायोगात्, अन्यथा सविषयकभ्रमज्ञातृत्वेन

कैलासविद्याप्रकाशिका

अनिषेध्यत्वेन ईश्वर के प्रति साक्षात् अपरोक्षत्व को भी प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व का साधक हेतु नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्त्वत्व सिद्धि के बिना ''अनिषेध्यत्व'' इस विशेषण की सिद्धि न होने से अन्योन्याश्रयदोष है। ईश्वर ज्ञान का विषयीभूत जो प्रपञ्च है, उसमें मिथ्यात्व स्वीकार करने पर ईश्वर में भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग भी प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि मिथ्याभूत प्रपञ्च का मिथ्यात्वरूप से ही ग्रहण है। अतः जादूगर के समान ईश्वर में भ्रान्तत्व असङ्गत है। अन्यथा=यदि मिथ्याभूत वस्तुओं को मिथ्याभूतत्त्वेन जानते हुए ज्ञाता में भी भ्रान्तत्व स्वीकार किया जाय तब तो बाधितविषयक भ्रम के ज्ञाता में भी भ्रान्तत्व स्वीकार करना पड़ेगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त व्यभिचारदोषों का वारण हो जाता, किन्तु उक्त अनुव्यवसायज्ञान और 'नेदं रजतम्' इत्याकारकज्ञान को भ्रमज्ञान माना नहीं जाता है, अपितु प्रमाज्ञान माना जाता है। अतः प्रमा पद के देने पर भी उक्त व्यभिचारदोषों का वारण नहीं हो सकता। उसके वारण करने के लिए हेतु के घटक 'साक्षात्' और 'अनिषेध्यत्वेन' को दिया गया है। इस प्रकार हेतु के घटक 'साक्षात्' और 'अनिषेध्यवेन' के सार्थक होने पर भी इस द्वितीय हेतु में पूर्वोक्त दोष, प्रतिकूलतर्क का सद्भाव और नित्यत्वरूप उपाधि का सद्भाव ही है। इसी के कारण द्वितीय हेतु भी दुष्ट है।। ९।।

'विमतं परमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वात्, ब्रह्मवत्'– इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा प्रतिपक्षप्रयोग में तृतीय हेतु दिया गया है। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमज्ञान के विषय रजत में भी अनिषध्यत्वेन साक्षादपरोक्षत्व है, उसके वारण करने के लिए द्वितीय हेतु में 'प्रमा' कहा गया था। इस तृतीय हेतु में प्रमा के स्थान पर ईश्वर कहा गया है। ईश्वर को रजत का निषेध्यत्वेन साक्षादपरोक्ष होता है। अतः रजत में व्यभिचारदोष नहीं होगा। इस तृतीय हेतु में दोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि यह हेतु भी अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्यत्व की सिद्धि के बिना हेतु के घटक अनिषेध्यत्व की सिद्धि न होने से अन्योऽन्याश्रयदोष है। अर्थात् पहले जब सत्यत्व सिद्ध हो तब हेतु के घटक अनिषेध्यत्व की सिद्धि होगी। अनिषेध्यत्वसिद्ध हो जाने पर ही तद्घटित हेतु से सत्यत्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयदोष आयेगा। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि ईश्वरज्ञान का विषयभूत जो प्रपञ्च है, उस प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर प्रपञ्च के ज्ञाता ईश्वर में भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी। ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि मिथ्यावस्तु को मिथ्यात्वेन ग्रहण करने वाले को भ्रान्त नहीं माना जाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक स्वमाया से निर्मित मिथ्याभूत वस्तुओं को मिथ्याभूतत्वेन जानता हुआ भ्रान्त नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी शुद्धब्रह्म से अतिरिक्त को मिथ्याभूतत्वेन जानता हुआ भ्रान्त नहीं हो सकता है। अर्थात् स्वसमानाधिकरण जो विशेषदर्शन, तादृशविशेषदर्शन-अनधिकरणीभूतकालाधिकरणक जो बाधितविषयकज्ञान, उस ज्ञान के आश्रयीभूत व्यक्ति को भ्रान्त कहा जाता है। स्व शब्द से बाधितविषयकभ्रमज्ञान का ग्रहण है। ईश्वर को जो बाधितविषयकज्ञान होता है, वह उक्त विशेषदर्शन अनधिकरणीभूतकालाधिकरणक नहीं है, अपितु उक्त विशेषदर्शनाधिकरणीभूतकालाधिकरणक है। अर्थात् ईश्वर को जिस काल में 'अयं घटः'

भ्रान्तत्वस्य दुर्वारत्वापत्तेः। अथ निषेध्यत्वेन ज्ञाने तत्पालनार्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्? न, ऐन्द्रजालिकप्रवृत्तिवदीश्वरप्रवृत्तेरपि तथाविधत्वात् ।।१०।।

नापि सप्रकाराबाध्यार्थक्रियाकारित्वं हेतुः, सप्रकारकजाग्रद्बोधाबाध्यस्वप्नजलावगाहनप्रिया—

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्च का निषेध्यत्वेन ज्ञान होने पर प्रपञ्च के पालन के लिए ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जादूगर की प्रवृत्ति के जैसे ही ईश्वर की प्रवृत्ति में भी मिथ्यात्वेन ज्ञायमान होने से व्यवहार मात्र है।।१०।।

सप्रकारक ज्ञान से अबाध्य अर्थक्रियाकारित्व को भी प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व का साधक हेतु नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि सप्रकारक (सविकल्पक) जाग्रद्बोध से अबाध्य जो स्वप्नजलावगाहन प्रिया सङ्गमनादि से विशिष्ट अप्रमाणीभूतज्ञान होता है और उस ज्ञान का अर्थ क्रियाकारित्व भी देखा

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस प्रकार बाधितविषयकज्ञान होता है, उसी काल में ईश्वर को 'नायं घट:' किन्तु 'इदं ब्रह्म' ऐसा विशेषदर्शन भी होता है। अत: तादृशज्ञान का आश्रयीभूत ईश्वर में भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। उक्त विशेषदर्शनकालीनबाधितविषयकभ्रमज्ञान को लेकर भ्रान्तत्व की आपत्ति देने पर तो जीव को होने वाला 'इदं रजतम्' इत्याकारक जो बाधितविषयक भ्रमज्ञान है, उसको भ्रमरूप से जानने वाले ईश्वर में भी भ्रान्तत्व का प्रसङ्ग आयेगा, क्योंकि यहाँ पर ईश्वर का ज्ञान भी परम्परया बाधितविषयक है। अथवा देवदत्त को जब ''दर्पण में मेरा मुख है'' ऐसा बाधित विषयक भ्रम होता है, तब देवदत्त को कोई भी भ्रान्त नहीं करता है, किन्तु पूर्वपक्षी के कथनानुसार देवदत्त को भी भ्रान्त मानना पड़ेगा और उसमें भ्रान्तत्व व्यवहार भी होना चाहिए। जबकि ऐसा होता नहीं है। अत: पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि ईश्वर को निषेध्यत्वेन प्रपञ्चविषयकज्ञान होने पर निषेध्यरूपप्रपञ्च के पालन के लिए ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जैसे जादूगर की अपने द्वारा रचित वस्तुओं को कल्पितरूप से जानते हुए भी उसके संरक्षण में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा रचित मायिकसृष्टि को कल्पित जानते हुए भी उसके पालन करने के लिए ईश्वर की प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी।। १०।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चनिष्ठपरमार्थसत्त्व को सिद्ध करने के लिए जो चतुर्थ हेतु दिया गया—सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्व। बाध्यार्थक्रियाकारित्व जादूगरनिर्मित पदार्थों में भी है, किन्तु वहाँ पर साध्य (परमार्थसत्त्व) नहीं है। अत: अर्थक्रिया का विशेषण 'अबाध्य' दिया गया। अद्वैतवेदान्ती के मत में अबाध्यार्थक्रिया की प्रसिद्धि नहीं है। अत: सप्रकारक विशेषण दिया गया। सप्रकारकज्ञान से अबाध्यार्थक्रिया अद्वैतवेदान्ती के मत से भी प्रपञ्च में प्रसिद्ध है, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती के मत में निष्प्रकारक जो ब्रह्मज्ञान, उसके द्वारा अर्थक्रियाकारिरूप प्रपञ्च का बाध माना जाता है। इस प्रकार सप्रकारकाबाध्यार्थक्रिया (सुखादि) की कारिता प्रपञ्च में होने से हेतु पक्ष में चला जायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो चतुर्थ हेतु दिया गया वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिन आचार्यों के मत में स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म माना जाता है, उनके मत में स्वप्न का बाध जाग्रत्—बोध से नहीं माना जाता है। ऐसे आचार्यों के मतानुसार स्वप्न के पदार्थों में व्यभिचार होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सप्रकारकजाग्रद्बोध ('जाग्रत्—अवस्थावाला मै देवदत्त हूँ' ऐसा बोध) से अबाध्य है, 'मै स्नान कर रहा हूँ', प्रिया के साथ संगमन कर रहा हूँ' ऐसा अप्रमाणीभूतज्ञान (स्वाप्निकज्ञान), इस ज्ञान का विषय स्वप्नजलावगाहन, प्रियासङ्गगमन। अत: उक्त

सङ्गमादिविशेषिताप्रमाणीभूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र व्यभिचारात्।। ११।।

अथ तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकं तच्चाबाध्यमेवेति मतम्, तदसत्, ज्ञानमात्रस्य हि तादृक्सुखाजनकत्वेन किञ्चिद्विशेषितस्यैव तथात्वं वाच्यम्, ज्ञाने च विशेषो नार्थातिरिक्तः। तदुक्तम्— 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' इति। अर्थेनेत्यर्थ एवेत्यर्थः। तथा च मिथ्याभूतविशेषितस्य जनकत्वाभ्युपगमे मिथ्याभूतस्यापि जनकत्वाद् व्यभिचार एव ।।१२।।

तथा चोक्तं शास्त्रदीपिकायां बौद्धं प्रति— 'अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया, तच्चाव्यभिचार्येव।

कैलासविद्याप्रकाशिका

जाता है। इसलिए स्वप्न जलावगाहनादिरूप स्वाप्निक ज्ञान के विषय में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचार दोष है।।११।।—।।१२।।—।।१३।।—।।१४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वाप्निकज्ञान इन विषयों (स्वप्नजलावगाहनादि) से विशिष्ट है। ऐसे विशिष्टज्ञान की अर्थक्रिया सुख है। उक्त अर्थक्रिया की जनकता विशिष्टज्ञान में है। जब उक्त जनकता विशिष्टज्ञान में है, तब तो विशेषणरूप विषय में भी उक्त जनकता रहेगी। अर्थात् उक्त अर्थक्रियाकारित्व स्वाप्निक विषय में भी है। अतः हेतु स्वाप्निकविषय जलावगाहनादि में गया, किन्तु वहाँ पर साध्य के न होने से व्यभिचारदोष है।। ११।।

स्वप्न का विषय मिथ्या होने पर भी स्वाप्निकज्ञान सत्य होता है और ज्ञान में ही उक्त अर्थक्रियाकारित्व है। अतः उक्त हेतु में व्यभिचारदोष नहीं होगा। इस दृष्टि से पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है। उक्त स्वप्नावस्था में विषय से अविशिष्टज्ञानमात्र ही सुखादि का जनक होता है। प्रियासङ्गमनादि विषय से विशिष्टज्ञान सुखादि का जनक नहीं होता है और वह विषय से अविशिष्टज्ञानमात्र तो अबाध्य ही है। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि स्वप्न में होनेवाला विषयरहितज्ञानमात्र उक्त सुखादि का जनक नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानमात्र को सुख का जनक मानने पर दुनिया के सभीज्ञान ही सुख के जनक हो जायेंगे, जब कि प्रियावियोगादिज्ञान सुख के जनक नहीं होते हैं। अतः किसी न किसी विशेषता से युक्त ज्ञान को ही उक्त सुखादि का जनक मानना पडेगा। ज्ञान में जो विशेषता है, वह विषय से ही आती है, विषय से भिन्न किसी अन्य प्रकार से ज्ञान में विशेषता नहीं आती है। इसमें श्री उदयनाचार्य के वाक्य को प्रमाणरूप से उद्धृत कर रहे हैं—

अर्थेनैव विशेषो ही निराकारतया धियाम्।
क्रियैव विशेषो ही व्यवहारेषु कर्मणाम्।। (न्या. कु. ४—४)

'अर्थेन' यहाँ पर जो तृतीयाविभक्ति है, उसके स्थान पर प्रथमाविभक्ति लगा कर 'अर्थ एव' करके अर्थ करना चाहिए। अर्थात् ज्ञान स्वयं निराकार या निर्विशेष होता है। उसमें विषय के कारण ही विशेषता आती है। इसलिए मिथ्याभूतविषय (जलावगाहनादि) के द्वारा विशिष्ट जो ज्ञान है, इस ज्ञान में ही सुखादि की जनकता (उक्त अर्थक्रियाकारित्व) है। अतः विषय से विशिष्टज्ञान में जनकता होने से विशेषण (विषय) में भी उक्त जनकता रहेगी। इस प्रकार स्वाप्निकविषय (जो मिथ्या है) में हेतु के जाने से और वहाँ साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष हो गया ।।१२।।

इसी प्रकार शास्त्रदीपिकाकार ने बौद्धों के प्रति कहा है— यदि बौद्ध कहता है कि सुखज्ञान ही अर्थक्रिया है, जलाहरणादिरूप कार्य अर्थक्रिया नहीं। वह सुखज्ञान अर्थाव्यभिचारी है, क्योंकि कहीं पर भी सुख के न होने पर सुख का ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् सिद्धान्ती ने सुख को अर्थक्रिया कहा था। इस पर बौद्ध का कहना है, सुख अर्थक्रिया नहीं है, किन्तु सुखज्ञान है। अतः बौद्ध के मतानुसर स्वाप्निकज्ञान

न हि क्वचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्तीत्याशङ्क्य सत्यमेतन्न तु तेन पूर्वज्ञानप्रामाण्याध्यवसानं युक्तम्, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्' इति। ननु विषयविशेषोपलक्षितस्यैव ज्ञानस्य सुखजनकत्वमस्तु, तत्कुतो विषयस्य जनकत्वमिति चेन्न, स्वरूपाणामननुगततया ज्ञानत्वादेश्चातिप्रसक्ततयाऽनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावा–दुपलक्षणत्वासम्भवात्। ननु विशेषणत्वमप्यसम्भवि, अनागतज्ञानजन्यैतत्कालाविद्यमानस्य विषयस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

में सुखज्ञान की जनकता है। सुखज्ञान सत्य है, इसका जनकीभूत जो स्वाप्निकज्ञान वह भी सत्य है, क्योंकि सत्यज्ञान का जनक भी सत्य होता है। अतः उस स्वाप्निकज्ञान में हेतु और साध्य दोनों के होने से व्यभिचारदोष नहीं होगां। बौद्धमत में एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान में विशेषता ज्ञान के आकार के कारण मानी जाती है, न कि विषय के कारण। अतः पूर्वोक्त प्रकार से विषय को पकड कर सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित व्यभिचारदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है। यही पूर्वपक्षी का आशय है ऐसी आशङ्का कर के सिद्धान्तपक्ष से कहा गया कि 'सुखज्ञान सुख का अव्यभिचारी है'– ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक है, किन्तु सुखज्ञान में प्रामाण्य रहने मात्र से सुखज्ञान के जनकज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अप्रमाणीभूत–प्रियासङ्गमनविज्ञान से भी स्वप्नावस्था में सुख की अनुभूति देखी जाती है। अर्थात् 'सुखज्ञान सत्य है' इतना मानने पर भी सुखज्ञान के जनकीभूत स्वाप्निकज्ञान को सत्य नहीं माना जा सकता है। अतः स्वाप्निकज्ञान में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष बना ही रहेगा। पूर्वपक्षी विषय को ज्ञान का विशेषण इसलिए न मान रहा था कि विशेषण कार्यान्वयी होता है। यहाँ पर कार्य है, उक्त अर्थ क्रियाकारित्व। उसमें विषय अन्वित होने से जनकता (उक्तार्थक्रियाकारित्व) विषय में भी जायेगी, इस प्रकार हेतु विषय में चला जायेगा, किन्तु वहाँ साध्य के न होने से व्यभिचारदोष होगा। इस दोष से बचने के लिए पूर्वपक्षी विषय को ज्ञान का उपलक्षण मान रहा है। उपलक्षण कार्यानन्वयी होता है। अतः जनकता (अर्थक्रियाकारित्व) में विषय अन्वित नहीं होने से हेतु और साध्य दोनों ही विषय में न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषयविशेष से उपलक्षित ज्ञान ही सुखादि का जनक होगा। विषय के उपलक्षण होने से विषय में उक्त अर्थक्रियाकारित्व (जनकता) नहीं रहेगी। अतः विषय में व्यभिचारदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषय को उपलक्षण मानने पर उपलक्ष्यज्ञान में अर्थक्रियाकारणताग्रह के लिए अनुगतानतिरिक्तवृत्तिधर्मरूप उपलक्ष्यतावच्छेदक बतलाना पडेगा। उस अवच्छेदक से अवच्छिन्नज्ञान में उक्त कारणताग्रह होगा। प्रकृत में विषय से उपलक्षितज्ञानों का स्वरूप भिन्न–भिन्न होने के कारण अननुगत वे स्वरूप उपलक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो सकते और ज्ञानत्वादि अतिप्रसक्त धर्म होने के कारण वे भी उपलक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो सकते हैं। अतः उपलक्ष्यज्ञान में अर्थक्रियाकारणताग्रह नहीं हो सकता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि विषय को अर्थक्रिया का जनकीभूत ज्ञान का उपलक्षण नहीं बनाया जा सकता है तो, विषय को ज्ञान का विशेषण भी नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि विशेषण का लक्षण है–'कार्यान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति इतरव्यावर्तकत्वम्'। अतः जो विशेषण बनता है, उसे ज्ञानकाल में वर्तमान रहना पडता है और कार्य (अर्थक्रियाजनकता) से अन्वयी होना चाहिए। किन्तु जहाँ अतीत अथवा अनागतविषयकज्ञान से जन्य सुखादि होते है जैसे मृतपुत्र के स्मरण से दुःख अथवा 'पुत्र होगा' इस प्रकार भावीपुत्र के शाब्दबोध से सुख होता हुआ देखा जाता है। अतः उन ज्ञानों में अर्थक्रिया जनकता है। परन्तु वहाँ ज्ञानकाल में अविद्यमान विषय में कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वरूप जनकता नहीं रहेगी। अतः कार्यानन्वयी (अर्थक्रियाजनकता से अनन्वयी) अवर्तमानविषय को ज्ञान का विशेषण नही माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह

पूर्वभावित्वरूपजनकत्वासम्भवादिति चेन्न, स्वव्यापारजन्ये व्यापारिणोऽसतो जनकत्ववत् स्वज्ञानजन्येऽप्यसतो जनकत्वसम्भवात्। अतीतानागतावस्थस्यासत्त्वधर्माश्रयत्वेनैवाभ्युपगमात्, अन्यथा ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वतज्ज्ञानविषयत्वादीनामनाश्रयत्वापत्तेः, प्रमाणबलात् कारणत्वाभ्युपगमस्यात्रापि तुल्यत्वात्। ॥१३॥

किञ्च स्वरूपाबाध्यस्य विषयाबाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपबाधस्यावश्यकतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहे हैं कि जनक को जन्य से अव्यवहित पूर्वकाल में विद्यमान रहने का सार्वत्रिक नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कही कही पर जन्य से अव्यवहितपूर्वकाल में जनक स्वयं विद्यमान नहीं रहता है, किन्तु जनक का व्यापार विद्यमान है, उस स्थल पर भी दर्शनकारों ने उसे जनक माना है। जैसे पूर्वमीमांसा में याग को स्वर्ग का जनक माना गया है। वहाँ जन्मान्तर में मिलनेवाला स्वर्ग के अव्यवहित पूर्वकाल में इस जन्म का अनुष्ठेययाग विद्यमान नहीं रहता है, किन्तु याग का व्यापार अपूर्व स्वर्ग के अव्यवहितपूर्व में रहता है। अतः स्वर्ग के अव्यवहितपूर्व में याग के न रहने पर भी याग में जनकता मानते है। इसी प्रकार अनागतविषयकज्ञान से जन्य सुखादि की जनकता विषय में रहेगी, क्योंकि विषय से जन्यज्ञान और ज्ञान से जन्य सुख है। अतः सुखादि के अव्यवहितपूर्व में विषय के न रहने पर भी विषय का ज्ञान रहता है। अतः विषय का व्यापार ज्ञान के रहने से सुखादि उत्पन्न होने पर उस सुखादि की जनकता विषय में भी मानी जायेगी। मूल का दृष्टान्त में समन्वय ऐसा होगा—स्व—याग, उसका व्यापार—अपूर्व, उससे जन्य—स्वर्ग, अतः व्यापारी—याग जो, असत्—स्वर्गप्राप्तिकाल में अविद्यमान है, उसमें जनकत्व— स्वर्ग की जनकता है। दार्ष्टान्त में समन्वय—स्व—विषय, उसका व्यापार—विषय का ज्ञान, उससे जन्य—सुख, असत्—सुख के अव्यवहितपूर्वकाल में अविद्यमान जो विषय, उसमें जनकत्व—जनकता सम्भव है। यदि कार्य के अव्यवहितपूर्व में रहने वाले को ही जनक माना जाय, तो भी कोई भी दोष नहीं है, क्योकि सुख के अव्यवहितपूर्वकाल में अतीतादिविषय विषयत्वेन वर्तमान न होने पर भी असत्त्वरूपधर्म—अविद्यमानत्वरूपधर्माश्रयत्वेन विषय वर्तमान में रहता है। किसी भी रूप से वर्तमान में विषय न मानने पर अतीतत्वादि धर्म वर्तमान में किस के सहारे रहेंगे। निराश्रित होकर कोई धर्म रहता नहीं है, जैसे अलीक शशशृङ्गादि में कोई धर्म (ऋजुवक्रत्वादि) नहीं रहता है। अतः अविद्यमानत्वादि- धर्माश्रयत्वेन विषयवर्तमान में (ज्ञानकाल में) होने से उसमें जनकता की सिद्धि हो जायेगी। अविद्यमानत्वादिधर्माश्रयत्वेन विषय वर्तमान में है, ऐसा यदि नहीं मानोगे, तो घटध्वंस का प्रतियोगी घट है उसमें जो प्रतियोगित्वधर्म रहता है, अर्थात् अतीतघट में जो प्रतियोगिता रहती है, वह नहीं रह पायेगी। क्योंकि धर्म (प्रतियोगित्व) तो वर्तमान में है और धर्मी (घट) को पूर्वपक्षी अतीत में मान रहा है। वर्तमान में रहने वाला धर्म वर्तमान में अविद्यमान अतीत धर्मी में कैसे रह सकता? इसी प्रकार अनागतघट के प्रागभाव की प्रतियोगिता अनागतघट में नहीं रह पायेगी और अतीत और अनागत विषय के ज्ञान की विषयता अतीत और अनागत विषय में नहीं रह पायेगी। यदि कहो कि 'स्वर्गकामो यजेत' इस आगमप्रमाण के बल पर स्वर्गादि के प्रति याग को कारण माना जाता है, तो अविद्यमानविषयकज्ञान से सुखादि का ज्ञान होता है ऐसा जो अपरोक्ष—अनुभव होता है, इस अनुभवप्रमाण के बल पर सुखादि का जनक अविद्यमानविषय को भी माना जा सकता है। इस प्रकार स्वाप्निकविषय जलावगाहनादि में उक्त अर्थक्रियाकारित्वरूप हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष बना ही रहा॥ १३॥

अब तक स्वप्न में होने वाले जलावगाहन—प्रियासङ्गमनादि ज्ञान को अबाध्य माना गया और उसके विषय जलावगाहनादि को बाध्य मान कर उसमें सिद्धान्ती के द्वारा व्यभिचारदोष दिया गया। अब

स्वप्नादिज्ञानं सदेवेत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अनादित्वस्य विषमव्याप्तस्योपाधित्वाच्च। न चार्थक्रियाकारित्वं प्रति परमार्थत्वस्य ब्रह्मणि प्रयोजकत्वेनावधारणादकारणककार्योत्पत्तिरूपविपक्ष—बाधकतर्केण हेतोः साध्यव्यापक(व्याप्य)तया तदव्यापकतयोपाधेः साध्याव्यापकत्वमिति वाच्यम्। प्रातिभासिकरज्जुसर्पादौ भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शनेन प्रातिभासिकसाधारणस्य तुच्छव्यावृत्तस्य प्रतीतिकालसत्त्वस्यैवार्थक्रियाकारित्वं प्रति प्रयोजकत्वात्। प्रातिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वानभ्युपगमे

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्याविषयकज्ञान सत्य नहीं होता है, अपितु मिथ्या ही होता है। अतः ज्ञान में भी व्यभिचारदोष है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जहाँ जहाँ ज्ञान का स्वरूप से बाध नहीं होता है, वहाँ विषय का भी बाध नहीं होता है। क्योंकि प्रमात्व का लक्षण है—अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्। इस नियम से स्वरूपाबाध्यत्व विषयाबाध्यत्व का व्याप्य है। अतः जहाँ पर व्यापक विषयाबाध्यत्व नहीं है, वहाँ पर व्याप्यरूप स्वरूपाबाध्यत्व नहीं रह सकता है। इस लिए स्वाप्नवस्तु (जलावगाहनादि) के ज्ञान को सत् नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसका विषय बाधित है। अतः स्वाप्नपदार्थों के ज्ञान में भी व्यभिचारदोष है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो चतुर्थ हेतु दिया गया है, उसमें 'अनादित्व' धर्म उपाधि भी है। ब्रह्मरूप दृष्टान्त में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से साध्य का व्यापक उपाधि हो गया और घटपटादि प्रपञ्चरूप पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से उपाधि में साधन का अव्यापकत्व भी है। यद्यपि उपाधि के साथ साध्य की समव्याप्ति नहीं है, क्योंकि 'यत्र यत्र परमार्थसत्त्वं तत्र तत्र अनादित्वम्' यह व्याप्ति ब्रह्म में घटने पर भी 'यत्र यत्र अनादित्वं तत्र तत्र परमार्थसत्त्वम्' यह व्याप्ति नहीं घटती है, क्योंकि अविद्यादि छः पदार्थों में से पञ्च अनादि पदार्थों में अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार परमार्थसत्त्व न रहने के कारण व्यभिचारदोष आता है। तथापि उपाधि को विषमव्याप्त भी स्वीकार किए जाने के कारण अनादित्वरूपविषमव्याप्त—उपाधि के द्वारा यह चतुर्थ हेतु भी सोपाधिक होकर व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त हो जाता है। अतः इस हेतु के द्वारा प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। पूर्वपक्षी का कथन है कि 'यत्र यत्र अर्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र परमार्थसत्त्वम्' इस व्याप्ति का समन्वय दृष्टान्त ब्रह्म में होने से यह निश्चय हो गया कि अर्थक्रियाकारित्वरूप हेतु का व्यापक परमार्थसत्त्वरूप साध्य है। अतः अर्थक्रियाकारित्व जब घटादि में है तब उसका प्रयोजक (व्यापक) परमार्थसत्त्व भी घटादि में मानना पडेगा। इस पर यदि कोई कहे कि— 'घटे अर्थक्रियाकारित्वमस्तु परमार्थसत्त्वं मास्तु'। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा हैं कि इसका खण्डन अकारणककार्योत्पत्ति रूप बाधकतर्क ('घटो यदि सत्यं न स्यात्तर्हि (अर्थक्रियारूपकार्यं प्रति) कारणं न स्यात्') के द्वारा हो जायेगा। इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्वरूप हेतु में साध्य की व्याप्यता सिद्ध हो जाती है। 'हेतोः साध्यव्याप्यतया' के स्थान पर 'हेतोः साध्यव्यापकतया' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। इस पाठान्तर का अर्थ करते समय बहुब्रीहिसमास कर लेना चाहिए। अर्थात् साध्यं व्यापकं यस्य तत् तया। अनादित्व धर्मरूप उपाधि हेतु का अव्यापक, अर्थात् न्यूनदेशवृत्ति है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से हेतु के व्यापकीभूत साध्य का व्यापक अर्थात् अधिकदेशवृत्ति अनादित्वरूप उपाधि नहीं हो सकता है क्योंकि उपाधि हेतु से भी न्यून देश में रहती है। इसलिए साध्य का व्यापक न होने से अनादित्व धर्म को उपाधि नहीं बना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने यह जो व्याप्ति बनाया— 'यत्र यत्र अर्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र परमार्थसत्त्वम्'। यह व्याप्ति प्रातिभासिकपदार्थ रज्जुसर्पादि में व्यभिचरित है। क्योंकि प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि में भयकम्पनादि अर्थक्रिया की जनकता है, किन्तु उसमें परमार्थसत्त्व नहीं हैं। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अर्थक्रियाकारित्व का व्यापक परमार्थसत्त्व होने कारण परमार्थसत्त्वरूप साध्य का व्यापक उपाधि (अनादित्व) नहीं हो सकता है, क्योंकि वह हेतु से भी

सप्रकारकाबाध्येति हेतुविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले केनापि पुरुषेणाबाध्यत्वं हि परमार्थसत्त्वम्, तदपेक्षया प्रतीतिकालसत्त्वस्य लघुत्वाच्च। किञ्च शुद्धस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् साधनविकलत्वमुपहितस्य पक्षनिक्षेपात् साध्यविकलत्वम् ।।१४।।

आरोपितमिथ्यात्वकत्वादित्यपि न हेतुः। आरोपितत्वं प्रातिभासिकत्वञ्चेत्, प्रपञ्चे हेतोरसिद्धिः, तत्सिद्धेः पारमार्थिकत्वसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्। व्यावहारिकत्वञ्चेत्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारः।

कैलासविद्याप्रकाशिका

प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व की सिद्धि आरोपित मिथ्यात्वकत्वरूप हेतु के द्वारा भी नहीं हो सकती है, क्योंकि आरोपितत्त्व का अर्थ प्रातिभासिकत्व करने पर प्रपञ्चरूप पक्ष में हेतु के न रहने के कारण स्वरूपासिद्धि दोष होगा, क्योंकि प्रपञ्च में प्रातिभासिक मिथ्यात्वकत्व की सिद्धि प्रपञ्च में पारमार्थिकत्वसिद्धि

सत्यानन्दप्रबोधिका

न्यूनदेश में है, इसका खण्डन हो गया। क्योकि हेतु का व्यापक साध्य नहीं है, अर्थात् यदि हेतु से अधिकदेश में साध्य होता, तो हेतु से कम देश में रहने वाला उपाधि साध्य से अधिकदेश में न होने के कारण साध्य का व्यापक नहीं बन पाता। किन्तु हेतु से कम देश में भी रहने वाली उपाधि साध्य का व्यापक हो ही सकती है। अतः साध्य का व्यापक और हेतु का अव्यापक होने से अनादित्वधर्म को उपाधि बनाया जा सकता है। प्रश्न होता है कि यदि अर्थक्रियाकारित्व का व्यापक परमार्थसत्त्व नहीं है तो व्यापक कौन है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि तुच्छ में न रहने वाला और प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक इन तीनों में रहने वाला प्रतीतिकालसत्त्व को ही अर्थक्रियाकारित्व का व्यापक मानना चाहिए। प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि में अर्थक्रियाकारित्व न मानने पर चतुर्थ हेतु में जो 'सप्रकारकाबाध्यत्व' विशेषण दिया गया है, वह व्यर्थ हो जोयगा, क्योंकि रज्जुसर्पादिप्रातिभासिकपदार्थों में मिथ्या–अर्थक्रियाकारित्व मान कर के ही उसकी व्यावृत्ति के लिए सप्रकारकाबाध्यत्व विशेषण हेतु में दिया गया है। दूसरी बात यह भी है कि परमार्थसत्त्व का अर्थ होता है– किसी भी देश, किसी भी काल में, किसी भी पुरुष के द्वारा अबाध्यत्व। इस प्रकार के परमार्थसत्त्व की अपेक्षा से प्रतीतिकालसत्त्व में लाघव है। अतः प्रतीतिकालसत्त्व को ही अर्थक्रियाकारित्वरूप हेतु का व्यापक मानना उचित है। अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार शुद्धब्रह्म में जगत्कर्तृत्वादि नहीं माना जाता है। अतः शुद्धब्रह्म को दृष्टान्त बनाने पर उसमें अर्थक्रियाकारित्वरूप हेतु के न जाने से, अर्थात् जगत्रूप कार्य की जनकता उसमें न होने से दृष्टान्त में साधनवैकल्य होगा। मायोपहितब्रह्म पक्ष में प्रविष्ट है। अतः उसको दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि जो पक्ष में प्रविष्ट होता है, वह सन्दिग्धसाध्यवाला होता है, जब कि दृष्टान्त निश्चितसाध्यवाला होता है। यदि मायोपहितब्रह्म को दृष्टान्त बनाओगे तो भी उसमें अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमार्थसत्त्व के न होने से साध्यवैकल्यदोष होगा।। १४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चनिष्ठपरमार्थसत्त्व का साधक पञ्चमहेतु (आरोपितमिथ्यात्वकत्व) दिया जा रहा है– (अद्वैतवेदान्तिना) आरोपितं मिथ्यात्वं यस्मिन् (प्रपञ्चे) तदारोपिमिथ्यात्वकं तस्य भावस्तत्त्वम्। अर्थात् जिस प्रपञ्च में अद्वैतवेदान्ती के द्वारा मिथ्यात्व का आरोप किया गया है वह प्रपञ्च हो गया– आरोपितमिथ्यात्वक। अतः आरोपितमिथ्यात्वकत्व प्रपञ्चरूप पक्ष में गया। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आरोपितमिथ्यात्वकत्व भी प्रपञ्चनिष्ठपरमार्थसत्त्व की सिद्धि में हेतु नहीं हो सकता है, क्योंकि यहाँ पर प्रश्न होगा कि आरोपितत्व का क्या अर्थ है? प्रातिभासिकत्व अथवा व्यावहारिकत्व अथवा उभयसाधारण। आरोपितत्व का अर्थ प्रातिभासिकत्व करने पर प्रपञ्चरूप पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि अभी तक प्रपञ्च में प्रातिभासिकमिथ्यात्व (वस्तुतस्तु प्रपञ्च में मिथ्यात्व नहीं

उभयसाधारण्येऽप्ययमेव दोषः। कल्पकरहितत्वादित्यपि न हेतुः, असति व्यभिचारात्, यथाश्रुतस्यासिद्धेश्च। ननु नासिद्धिः, शुद्धं हि चैतन्यं न कल्पकमदृष्टत्वात्, नोपहितम्, कल्पितत्वादेवान्यथानवस्थानात्, तथा च यावद्विशेषाभावे कल्पकसामान्याभावसिद्धिरिति चेन्न, शुद्धस्याप्यनाद्यविद्योपधानवशेन कल्पकत्वोपपत्तेः। कल्पकत्वं हि कल्पनां प्रत्याश्रयत्वं, विषयत्वं,

कैलासविद्याप्रकाशिका

के उत्तरकाल में होगी। यदि आरोपितत्त्व का अर्थ व्यावहारिकत्व करते हैं तब तो शुक्तिरजतादि में व्यभिचारदोष होगा। यदि आरोपितत्त्व का अर्थ प्रातिभासिकत्वव्यावहारिकत्वान्यतरत्व करते हैं तब भी स्वरूपासिद्धि और व्यभिचारदोष बना ही रहेगा। इसी प्रकार प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व की सिद्धि कल्पकरहितत्त्वरूप हेतु के द्वारा भी नहीं की जा सकती हैं, क्योंकि शशशृङ्गादि में व्यभिचारदोष है और हेतु का यथाश्रुत अर्थ लेने पर स्वरूपासिद्धि दोष होगा।

शङ्का— हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है,क्योंकि शुद्ध चैतन्य कल्पकत्त्वेन श्रुति—आदि में देखा नहीं गया है और उपहित चैतन्य स्वयं कल्पित होने के कारण कल्पक नहीं हो सकता है। यदि कल्पिक

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहता है, यह) सिद्ध नहीं हो पाया है। प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व की सिद्धि के पश्चात् ही प्रपञ्च में प्रातिभासिकमिथ्यात्व की सिद्धि होगी, अर्थात् जब प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व सिद्ध हो जाय तब प्रपञ्चनिष्ठ—मिथ्यात्व को प्रातिभासिक कह सकते है। जैसे जिस भूतल में जब व्यावहारिकघट सिद्ध हो जाता है, तब उस भूतल में प्रातिभासिकघटाभाव माना जाता है। प्रकृत में पूर्वपक्षी अभी तक प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व सिद्ध ही नहीं कर पाया है। अतः प्रपञ्चनिष्ठमिथ्यात्व को प्रातिभासिक नहीं कह सकता है। अतः स्वरूपासिद्धिदोष अवश्यंभावी है। आरोपितत्व का व्यावहारिक अर्थ करने पर शुक्तिरजत में व्यभिचारदोष होगा। क्योंकि शुक्तिरजत में व्यावहारिकमिथ्यात्व माना जाता है। अर्थात् शुक्तिनिष्ठरजताभाव का ब्रह्मज्ञान के विना बाध होता नहीं है, इसलिए वह व्यावहारिक है। अतः शुक्तिरजत में व्यावहारिकमिथ्यात्वकत्वरूप हेतु के रहने और साध्य (परमार्थसत्त्व) के न रहने से व्यभिचारदोष है। आरोपितत्व का अर्थ उभयसाधारण, अर्थात् व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक उभयसाधारण कहने पर भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रातिभासिककल्प में स्वरूपासिद्धिदोष और व्यावहारिककल्प में शुक्तिरजत में व्यभिचारदोष विद्यमान ही रहेगा। 'विमतं परमार्थसत्, कल्पकरहितत्वात्' पूर्वपक्षी के द्वारा इस छठे हेतु को देने का आशय यह है कि अद्वैतवेदान्ती प्रपञ्च में कल्पितत्व मानते है। कल्पना कल्पक के विना हो नहीं सकती है। कल्पितप्रपञ्च का कल्पक शुद्धचैतन्य अथवा अन्य कोई हो नहीं सकता है। अतः कल्पक के अभाव के कारण प्रपञ्च में कल्पितत्व सिद्ध नहीं होगा। अपितु प्रपञ्च के अकल्पित होने से उसमें परमार्थसत्त्व की ही सिद्धि हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि कल्पकरहितत्व (कल्पकाभाववत्त्व) भी प्रपञ्चनिष्ठपारमार्थिकसत्त्व को सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि अलीकवन्ध्यासुतादि में कल्पकाभाववत्त्वरूप हेतु है, किन्तु परमार्थसत्त्वरूपसाध्य के न होने से व्यभिचारदोष है। अतः 'यद् यत् कल्पकरहितं तत्तत्परमार्थसत्यम्' ऐसी व्याप्ति मानी नहीं जा सकती है। शुद्धब्रह्म भी अनाद्यविद्या से उपहित होकर कल्पितप्रपञ्च का कल्पक माना जाता है। अतः यथाश्रुत अर्थ के अनुसार कल्पकरहितत्व हेतु प्रपञ्चरूप पक्ष में न होने से स्वरूपासिद्धिदोष से ग्रस्त है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि कल्पकरहितत्व हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष नहीं है, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में शुद्धचैतन्य को कल्पक के रूप से कहीं पर भी स्वीकार नहीं किया गया है और मायोपहितब्रह्म स्वयं कल्पित होने के कारण कल्पक नहीं हो सकता है, क्योंकि

भासकत्वं वा, तच्च सर्वं कल्पनासमसत्ताकत्वेन शुद्धत्वाव्याघातकम्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके— आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।

कैलासविद्याप्रकाशिका

को भी कल्पकरूप से स्वीकार करेंगे तो अनवस्था दोष होगा। इस प्रकार से यावद् विशेष कल्पक का अभाव होने से कल्पकसामान्याभाव की सिद्धि हो जाती है।

समाधान— नहीं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य भी अनादि—अविद्यारूप उपाधि के माध्यम से प्रपञ्च का कल्पक हो सकता है। प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी को कल्पकत्व से क्या अर्थ विवक्षित है? क्या वह कल्पना के प्रति आश्रयत्व है? या विषयत्व है? अथवा भासकत्व है? ये तीनों ही कल्पनासमसत्ताकत्त्वेन मिथ्या होने से शुद्धत्व के व्याघातक नहीं है। इस अर्थ को संक्षेपशारीरक में इस प्रकार से कहा गया

सत्यानन्दप्रबोधिका

मायोपहितब्रह्म को प्रपञ्च का कल्पक मानने पर अनवस्थादोष होगा। जैसे प्रपञ्च का कल्पक मायोपहितब्रह्म और उसका कल्पक द्वितीय मायोपहितब्रह्म और द्वितीय मायोपहितब्रह्म का कल्पक तृतीय मायोपहितब्रह्म, इसी प्रकार मानते रहने पर परम्परा की समाप्ति न होने से अनवस्थादोष आयेगा। अत: मायोपहितब्रह्म को भी कल्पक नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार शुद्धचैतन्य और मायोपहितब्रह्म, दो ही प्रकार के कल्पक हो सकते थे, किन्तु वे दोनों ही कल्पक नहीं सिद्ध हो सके, तब कल्पकसामान्याभाव प्रपञ्चरूपपक्ष में अवश्य मानना पड़ेगा। अर्थात् यावत्कल्पकविशेषाभाव के होने पर कल्पकसामान्याभाव की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि यावद्विशेषाभावकूट का सामान्याभाव व्यापक है। अत: जब व्याप्य है तब व्यापक तो अवश्य ही रहेगा। पूर्वपक्षी का ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च का कल्पक शुद्धब्रह्म और मायोपहितब्रह्म दोनों ही हो सकते है। शुद्धब्रह्म काल्पनिक—अनाद्यविद्यारूप उपाधि के माध्यम से प्रपञ्च का कल्पक हो जायेगा। क्योंकि कल्पकत्व का अर्थ होता है— कल्पना के प्रति आश्रयत्व, विषयत्व और भासकत्व, उक्त तीनों प्रकार का कल्पकत्व मिथ्या है। अत: कल्पना के समानसत्तावाला होने से कल्पकत्व शुद्धत्व का व्याघातक नहीं होता है। अर्थात् कल्पना और कल्पकत्व, ये दोनों धर्म व्यावहारिक है। अत: दोनों से ब्रह्म के शुद्धत्व की हानि नहीं हो सकती है। इस प्रकार कल्पनाओं का आश्रयादि होने से शुद्धब्रह्म को कल्पक माना जा सकता है। शुद्धब्रह्म कल्पनाओं का आश्रयादि होता है। इसको संक्षेपशारीरककार श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने भी कहा है— जीवेशभेदशून्यशुद्धचिद्रूपब्रह्म ही अविद्या का आश्रय भी है और विषय भी। कल्पनादि के पहले से ही सिद्ध अज्ञान का पश्चात् होने वाला अहङ्कारादि से अवच्छिन्न आत्मा आश्रय और विषय नहीं होता है, क्योंकि अनादि-अज्ञान का प्रकाशस्वरूप अनादिपदार्थ ही आश्रय और विषय हो सकता है, सादि पदार्थ नहीं। फलत: जब शुद्ध चैतन्य अविद्या का आश्रय और विषय है, तब अविद्या प्रयुक्त प्रपञ्च का भी आश्रय और विषयादि होकर उसका कल्पक हो ही सकता है। इस प्रकार से शुद्धब्रह्म में कल्पकत्व का प्रतिपादन हो जाने के पश्चात् उपहितब्रह्म में कल्पकत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहें हैं कि मायोपहितब्रह्म को भी कल्पक मानने पर कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षी ने मायोपहितब्रह्म को कल्पक मानने पर जो अनवस्थादोष दिया था, वह दोष यहाँ इसलिए नहीं लगता है, क्योंकि अहङ्कारादि कार्यो का अध्यास (कल्पना) अध्यासान्तर (अविद्या का अध्यास) की अपेक्षा रखता है, क्योंकि यह नियम है कि कार्य का अध्यास कारण के अध्यास की अपेक्षा रखता है। अर्थात् कारण के अध्यास के विना कार्य का अध्यास नहीं हो सकता है। यहाँ अहङ्कारादि अध्यास कार्य है, इसका कारणाध्यास जो अविद्या का अध्यास है, उसकी आवश्यकता होती है। किन्तु अविद्या अनादि होने से किसी

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।। इति।
अस्तु वोपहितस्य कल्पकत्वम्, न चानवस्था, अविद्याध्यासस्याध्यासान्तरानपेक्षत्वात्, स्वपरसाधारणसर्वनिर्वाहकत्वोपपत्तेः, अकल्पितस्य कल्पकत्वादर्शनाच्च। कल्पितप्रतिबिम्ब– विशिष्टादर्शादेरादर्शान्तरे प्रतिबिम्बकल्पकत्वदर्शनाच्च। बिम्बस्य द्वितीयादर्शसम्मुखत्वाभावेन तत्र

कैलासविद्याप्रकाशिका

है–जीव–ईशादि भेद से रहित केवल शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय है, क्योंकि पूर्वसिद्ध अविद्या का पश्चाद्भावी अहङ्काराद्यवच्छिन्न आत्मा आश्रय और विषय नहीं हो सकता है। अथवा उपहित चेतन को भी कल्पक माना जा सकता है। ऐसा स्वीकार करने पर भी अनवस्थादि दोष नहीं होंगे, क्योंकि अविद्या का अध्यास अध्यासान्तर की उपेक्षा नहीं करता है। अविद्याध्यास स्व–पर साधारणरूप से सभी अध्यासों का निर्वाहक हो ही सकता है। दूसरी बात यह है कि अकल्पित कल्पक देखा नहीं गया है। जबकि कल्पित को ही कल्पक माना जाता है। जैसे कल्पित प्रतिबिम्ब से विशिष्ट दर्पणादि को दर्पणान्तर में स्थित प्रतिबिम्ब के कल्पकत्वरूप से स्वीकार किया जाता है, क्योंकि बिम्ब

सत्यानन्दप्रबोधिका

का कार्य नहीं है। अतः अविद्या–अध्यास से पूर्व में अविद्या– अध्यास के कारण–अध्यास की आवश्यकता ही नहीं होती है। इसलिए अनाद्यविद्या स्व और पर कल्पना की निर्वाहिका मानी जाती है। अतः अनवस्थादोष नहीं होगा। कहने का आशय यह है कि अध्यास दो प्रकार का होता है– कार्याध्यास और कारणाध्यास। अविद्याध्यास को कारणाध्यास कहा जाता और इससे भिन्न सभी अध्यासों को कार्याध्यास कहा जाता है। अध्यास के और भी दो भेद है ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास। बाधितविषयकज्ञान को ज्ञानाध्यास कहा जाता है और ज्ञानाध्यास का विषय जो पदार्थ होता है, उसे अर्थाध्यास कहते हैं, अर्थात् मिथ्याज्ञान को ज्ञानाध्यास और मिथ्याज्ञान के विषय को अर्थाध्यास कहते है और जो धर्माध्यास, धर्मविशिष्टधर्म्याध्यास, इतरेतराध्यास आदि जितने अध्यास है, वे सभी उक्त दोनों अध्यासों के अन्तर्गत है। ये सभी अध्यास अविद्या प्रयुक्त है। अविद्या स्व–पर सभी अध्यासों की निर्वाहिका है। अविद्या अपने अध्यास की निर्वाहिका इसलिए है कि अविद्या का कल्पक का अर्थ है अनादि–अविद्या का भासक और वह भासक अविद्योपहितचित् ही है। उससे भिन्न कोई न होने से अविद्या अपने अध्यास का निर्वाह कर देती है। अतः अविद्या के अध्यास के कारणों की अन्वेषण न होने से अनवस्थादोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि कल्पित कल्पक नहीं हो सकता है, उसका खण्डन करते हुए कह रहें है कि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अकल्पित में कल्पकत्व न सिद्ध हो कर कल्पित में ही कल्पकत्व सिद्ध होता है। जैसे जो लोग अपने हाथ से शिर की हजामत करते है, वे लोग दो दर्पण रखते है। एक शिर के पिछे और एक शिर के आगे। यहाँ पर कल्पितप्रतिबिम्बविशिष्टादर्श–शिर के पृष्ठभाग के प्रतिविम्ब से युक्त जो दर्पण वह आदर्शान्तर (शिर के सम्मुख स्थित दर्पण) में प्रतिबिम्ब का कल्पक है, अर्थात् शिर के सम्मुख में जो दर्पण में प्रतिबिम्ब है उस प्रतिबिम्ब का कल्पक है, अर्थात् पृष्ठभाग के दर्पण में स्थित जो प्रतिबिम्ब स्वयं कल्पित है और कल्पित होते हुए भी शिर के सम्मुख स्थित दर्पण में अपने कल्पितप्रतिबिम्ब की कल्पना कर रहा है। अर्थात् कल्पितप्रतिबिम्ब से युक्त दर्पण एक और कल्पितप्रतिबिम्ब की कल्पना कर रहा है। बिम्ब (शिर के पृष्ठभाग) को कोई भी शिर के सम्मुख रहने वाले दर्पण में रहनेवाले प्रतिबिम्ब का कल्पक नही मान सकता है, क्योंकि शिर का पृष्ठभाग शिर के सम्मुख स्थित दर्पण के सामने ही नहीं है। अतः बिम्ब (शिर का पृष्ठभाग) में कल्पकत्व नहीं माना जा सकता है। साम्मुख्याभाव होने पर भी यदि बिम्ब

कल्पकत्वायोगात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः। तदेवं निराकृताः परमार्थसत्त्वे साध्ये षडमी हेतवः। एवमन्येऽपि निराकार्याः॥ १५॥

अथ विमतं न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वादात्मवदित्यनुमानान्तरम्भविष्यतीति मतम्। तन्न, प्रातिभासिके शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारात्। न च तत्रासद्विलक्षणत्वहेतुरेव नास्तीति वाच्यम्, असद्विलक्षणत्वाभावे ह्यपरोक्षतया प्रतीतिरेव न स्यात्। ननु तर्ह्यसद्विलक्षणत्वे तद्विरुद्धसद्विलक्ष-

कैलासविद्याप्रकाशिका

द्वितीय दर्पण के सम्मुख न होने से द्वितीय दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब का कल्पक हो नहीं सकता है। अन्यथा =दर्पणसाम्मुख्याभाव होने पर भी बिम्ब को प्रतिबिम्ब का कल्पक मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा। इस अर्थ को विस्तार से आगे कहा जायेगा। इस प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व के साधक को षड् हेतु दिये गये थे, उनका निराकरण हो गया। ऐसे ही अन्य हेतु भी निराकरणीय हैं॥ ॥१५॥—॥१६॥—॥१७॥—॥१८॥—॥१९॥— ॥२०॥ —॥२१॥—॥२२॥—॥२३॥—॥२४॥ —॥२५॥ —॥२६॥— ॥२७॥—॥२८॥—॥२९॥—॥३०॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

को प्रतिबिम्ब के प्रति कल्पक मानोगे तो जो वस्तु दर्पण के सामने है ही नहीं, उसका भी प्रतिबिम्ब पड़ने की आपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार कल्पित में ही कल्पकत्व देखा गया है। अतः मायोपहितब्रह्म कल्पित होते हुए भी कल्पितप्रपञ्च का कल्पक हो सकता है। कल्पित ही कल्पक होता है, इस पर विस्तार से चर्चा आगे के प्रसङ्ग (''असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः'' और ''अज्ञानवादेऽविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः'' प्रकरण) में की जायेगी। इस प्रकार प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व के साधक जो छः हेतु पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये थे, उन सभी का निराकरण कर दिया गया। इसी प्रकार प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व के साधक और भी जो हेतु हो उनका भी पूर्वोक्त युक्तियों से निराकरण कर देना चाहिए। इस प्रकार प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकस्थापनानुमान के प्रतिरोध के लिए पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये छः हेतुओ का निराकरण हो जाने से पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया प्रपञ्चसत्यत्व– साधक–अनुमान हीनबलवाला (दुर्बल) होने से प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकस्थापनानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता है, क्योंकि बलवान ही प्रतिरोध करता है, हीनबलवाला नहीं ॥ १५॥

प्रपञ्च मे सत्त्व सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया द्वितीय–अनुमान का आकार यह है– 'विमतं न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्'। सिद्धान्ती प्रपञ्च में सद्वैलक्षण्य और असद्वैलक्षण्य दोनों ही मानते है। अतः सद्वैलक्षण्य के अभाव को साध्य बनाने पर सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। हेतु असद्विलक्षणत्व दृष्टान्त (आत्मा) में है और साध्य भी है। अतः व्याप्ति मिल गयी और पक्ष मे हेतु के रहने से पक्षधर्मता भी है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्ष–धर्मतारूप परामर्श के होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में सद्विलक्षणत्वाभाव सिद्ध होने पर पक्ष (प्रपञ्च) में सत्यत्व की सिद्धि हो जायेगी। यह पूर्वपक्षी का आशय है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यह हेतु प्रातिभासिक शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचारी है, क्योंकि शुक्तिरूप्य में असद्विलक्षणत्व है, किन्तु साध्य सद्विलक्षणत्वाभाव नहीं है। इस पर यदि कोई कहता है कि असद्ख्यातिवादी माध्व के मत में भ्रम का विषय शुक्तिरजत असद् ही है। अतः असद् शुक्तिरूप्य में असद्विलक्षणत्वरूप हेतु नहीं है। इसलिए व्यभिचारदोष नहीं है। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत को असद्विलक्षण न मानने पर, अर्थात् असत् मानने पर उसकी अपरोक्षरूप से प्रतीति ही नहीं होगी। जैसे असत् शशशृङ्गादि की अपरोक्षरूप से प्रतीति नहीं होती है। पूर्वपक्षी सत् और असत् दो ही पदार्थ माननेवाला है। अतः उक्त दो पदार्थों को ध्यान

णत्वायोगः, तथा च साध्यस्यापि विद्यमानत्वान्न व्यभिचार इति चेन्न, सत्त्वे सर्वजनसिद्धबाधविरोधात्। गजादौ गोवैलक्षण्येऽपि तद्विरुद्धाश्ववैलक्षण्ययोगवत् सद्वैलक्षण्येऽप्यसद्वैलक्षण्ययोगोपपत्तेः प्रथममिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तत्वात् ॥१६॥

ननु विमतं न चैतन्याज्ञानकार्यम्, न तत्कार्यधीविषयः, न तत्कार्यसत्त्ववत्, न तज्ज्ञानबाध्य–सत्त्ववद्वा, तस्मिन्नपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

में रखकर पुनः शङ्का कर रहा है कि यदि शुक्तिरजत में असद्विलक्षणत्व मानोगे तो असद्विलक्षणत्व से विरुद्ध सद्विलक्षणत्व उसमें नहीं रहेगा और सद्विलक्षणत्व का अभाव ही साध्य है। अतः शुक्तिरजत में साध्य भी रह गया। इसलिए व्यभिचारदोष नहीं होगा। सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व परस्पर विरुद्ध इसलिए है कि सद्विलक्षणत्व उस असद् में है जहाँ असद्विलक्षणत्व नहीं है, और असद् विलक्षणत्व उस सत् में है जहाँ सद्विलक्षणत्व नहीं है। यहाँ पर पूवपक्षी के अनुसार व्याप्ति यह बनी कि जो जिससे विलक्षण है, वह उससे विरुद्ध से विलक्षण नहीं हो सकता है। शुक्तिरजत असत् से विलक्षण है। अतः शुक्तिरजत में असद्विलक्षणत्व से विरुद्ध सद्विलक्षणत्व भी नहीं रहेगा। पूर्वपक्षी की ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि प्रातिभासिक–शुक्तिरजत में सत्यत्व मानने पर शुक्तिरजत का 'नेदं रजतम्' अथवा 'नात्र रजतम्' इत्याकारक जो सर्वजनसिद्ध बाध होता है, उससे विरोध होगा। पूर्वपक्षी ने जो यह व्याप्ति बनायी की जो जिस से विलक्षण है, वह उससे विरुद्ध से विलक्षण नहीं हो सकता है। ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है, क्योंकि गजादि में गोभिन्नत्व रहने पर भी गजादि में गोभिन्नत्व से विरुद्ध अश्वभिन्नत्व भी रहता है। अतः पूर्वपक्षी की व्याप्ति खण्डित हो गयी। इस पर विशेषरूप से चर्चा प्रथममिथ्यात्व की निरुक्ति के अवसर पर इन शब्दों से किया गया है– 'गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरुद्धव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोरुष्ट्रादावेकत्र सहोपलम्भात्'। इसलिए शुक्तिरजत में असद् विलक्षणत्व रहने पर भी शुक्तिरजत में असद्विलक्षणत्व से विरुद्ध सद्विलक्षणत्व भी रहेगा। अतः व्यभिचारदोष होगा ही॥ १६॥

पूवपक्षी के द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्वसाधक तृतीय अनुमान किया जा रहा है। इस तृतीय अनुमान में भी व्यावहारिकप्रपञ्च ही पक्ष है। सिद्धान्त में प्रपञ्च को चैतन्यविषयक–अज्ञान का कार्य माना जाता है। अतः उसको निषेध करने के विचार से प्रथम साध्य बनाया गया– 'न चैतन्याज्ञानकार्यम्'। अद्वैतसिद्धान्त के जिन आचार्यों के मत में घटाद्याकारवृत्तिज्ञानमात्र अज्ञान का कार्य होता है और उस अज्ञान का कार्य वृत्तिज्ञान का विषय घटादिप्रपञ्च माना जाता है। उसको निषेध करने के विचार से द्वितीय साध्य का उल्लेख किया गया– 'न तत्कार्यधीविषयः' यहाँ तत् पद से चैतन्याज्ञान लेना है। सिद्धान्ती के मत में प्रपञ्च व्यावहारिकसत्तावाला है और वह व्यावहारिकसत्त्व चैतन्यविषयक–अज्ञान का कार्य है। इसको निषेध करने की दृष्टि से तृतीय साध्य को रखा गया– 'न तत्कार्यसत्त्ववत्'। अर्थात् प्रपञ्च में अज्ञान का कार्य व्यावहारिकसत्त्व नहीं है, अपितु पारमार्थिकसत्त्व है। यह पूर्वपक्षी का आशय है। सिद्धान्ती के मत में प्रपञ्च व्यावहारिकसत्तावाला है और उसका चैतन्यविषयकज्ञान से बाध हो जाता है। उसको निषेध करने के अभिप्राय से चतुर्थ साध्य का निर्देश किया गया– 'न तज्ज्ञानबाध्य – सत्त्ववत्'। इस चतुर्थसाध्य में तत् पद से चैतन्य लेना है। इस अनुमान में हेतु दिया गया– 'तस्मिन्नपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वात्'। 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान के प्रति निषेध्यत्वेन साक्षाद्विषय प्रातिभासिकरजत और 'इदमहं जानामि' इत्यादि अनुव्यवसाय का परम्परया विषय प्रातिभासिकरजत में व्यभिचारवारण के लिए अनिषेध्यत्वेन और साक्षात् यह दोनों विशेषण दिये गये हैं। जिसका अपरोक्षज्ञान होने पर जो अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमान होता है वह उसके अज्ञान का कार्य नहीं होता है। जैसे घट का अपरोक्षज्ञान होने पर भी अनिषेध्यत्वेन

घटेऽपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानः पटो न घटाज्ञानकार्यादिः, विपक्षे च तदापरोक्ष्ये तदज्ञानव्याहतिरेव बाधिका। न चासिद्धिः, अधिष्ठानतया सुखादिसाक्षित्वेन च तदानीमपि चैतन्यापरोक्ष्यादिति चेन्न, सामान्याकारेणापरोक्ष्येऽपि शुक्त्यादौ रजतादेरनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानतया तत्र व्यभिचारात्। अथ व्यावृत्ताकारेण यस्मिन् भासमाने यदनिषेध्यत्वेन साक्षाद् भासते तन्न तदज्ञानकार्यादीति व्याप्तिरिति मन्यसे तर्ह्यसिद्धिः। न हि चैतन्यमिदानीं भ्रमनिवर्तकत्वाभिमतव्यावृत्ताकारापरोक्षप्रतीतिविषयः, तथा सत्यधिष्ठानमेव न स्यात्। यदा तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

साक्षाद्भासमानपट घट के अज्ञान का कार्य नहीं होता है। यदि कोई कहता है— 'पक्षे हेतुरस्तु साध्यं मास्तु', इस पर कह रहे हैं कि इस अनुमान में विपक्षबाधकतर्क भी है— 'यदि चैतन्ये अपरोक्षतया भासमानेऽपि चैतन्याज्ञानं तत्कार्यं चानिषेध्यत्वेन साक्षात् प्रतीयेत तर्हि ज्ञानाज्ञानयो— र्विरोध उच्छिद्येत'। अर्थात् चैतन्य का अपरोक्षज्ञान होने पर भी यदि चैतन्य का अज्ञानादि मानोगे तो आपको व्याघातदोष होगा, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में अधिष्ठानचैतन्य के अपरोक्षज्ञान से अज्ञानादि की निवृत्ति मानी गयी है। यदि कोई कहता है कि प्रपञ्च के प्रतिभासकाल में, अर्थात् व्यवहारकाल में चैतन्य का अपरोक्षज्ञान ही नहीं होता है, अतः पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा, तो उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रपञ्च के प्रतीतिकाल में भी 'घटः सन्' इस प्रकार से घटादि के अधिष्ठानरूप से चैतन्य का और सुषुप्ति काल में 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रकार सुखादि सक्षित्वेन चैतन्य का अपरोक्षज्ञान व्यवहारकाल में माना जाता है। अतः पक्ष में हेतु की असिद्धि भी नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस अनुमान के हेतु में 'यस्मिन्नपरोक्षे' इस भाग से अधिष्ठान का सामान्याकारेण अपरोक्षज्ञान विवक्षित है? अथवा भ्रमनिवर्तकतायोग्य— अधिष्ठान का अपरोक्षज्ञान विवक्षित है? प्रथमकल्प स्वीकार करने पर इदन्तारूप सामान्याकार से अधिष्ठान शुक्ति आदिविषयक—अपरोक्षज्ञान होने पर भी रजतादि की अनिषेध्यत्वेन साक्षात्प्रतीति होती है। अतः प्रातिभासिकरजतादि में हेतु रह गया किन्तु उसमें उक्त साध्यों में से कोई भी साध्य नहीं है, क्योंकि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य के अज्ञान की कार्यता ही प्रातिभासिकरजतादि में है, न कि कार्यता का अभाव। द्वितीयकल्प स्वीकार करने पर व्याप्ति का आकार होगा— व्यावृत्ताकार से जिसके भासमान होने पर (भ्रमनिवर्तकतायोग्य—अपरोक्षज्ञान होने पर) जो अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमान होता है, वह उसके अज्ञान का कार्य नहीं है। जैसे घटादि का व्यावृत्ताकाररूप से अपरोक्षज्ञान होने पर भी अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानपट घटादि के अज्ञान का कार्य नहीं है। ऐसी व्याप्ति को मानने पर स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि भ्रमनिवर्तकरूप से सिद्धान्ती को मान्य व्यावृत्ताकारविषयक—अपरोक्षप्रतीति ('अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा विशेषाकार अपरोक्षज्ञान) का विषय चैतन्य बद्धकाल में नहीं होता है। अर्थात् बद्धदशा में 'घटः सन्' इस प्रकार से चैतन्य का सामान्यतः भान होने पर भी अद्वैतानन्दत्वादिविशेषाकार के रूप से अपरोक्ष नहीं होता है। अतः चैतन्य के विशेषाकार—अपरोक्षज्ञानकालीन—अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानता घटादिप्रपञ्च में न होने से स्वरूपासिद्धिदोष है। यदि बद्धकाल में भी चैतन्य का विशेषाकाररूप से भान माना जायेगा तो चैतन्य प्रपञ्च का अधिष्ठान ही नहीं बन पायेगा। क्योंकि सामान्यरूप से ज्ञात और विशेषरूप से अज्ञात ही अधिष्ठान हुआ करता है। जिस काल में वेदान्तमहावाक्यों से जन्य अखण्डाकारचित्तवृत्ति में विशेषाकाररूप से चैतन्य का अपरोक्ष होता है, उस काल में प्रपञ्च में त्रैकालिकनिषेध्यता आ जाने के कारण अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानता प्रपञ्च में हो ही नहीं सकती है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि प्रपञ्च यदि चैतन्य के अज्ञान का कार्य है, तब 'सन् घटः' इस रूप से चैतन्य का अपरोक्षज्ञान हो जाने पर भी निषेध्यत्वेन घटादि प्रपञ्च प्रतीत न होकर अनिषेध्यत्वेन क्यों प्रतीत होता है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे

वेदान्तवाक्यजन्यवृतौ व्यावृत्ताकारतयाऽपरोक्षम्, तदाऽनिषेध्यत्वेन प्रपञ्चे आपरोक्ष्यशङ्कापि नास्ति। अतः प्रमाणजन्यासाधारणाकारभानस्यैवाज्ञानविरोधित्वान्नापरोक्षतामात्रेणाज्ञानपराहतिप्रसङ्गः। यत्त्वज्ञानपदेन ज्ञानाभावोक्तौ सिद्धसाधनमनिर्वचनीयाज्ञानोक्तौ च तस्य खपुष्पायमाणत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति तत्तुच्छम्, असत्प्रतियोगिकाभावं स्वीकुर्वतः पराभ्युपगममात्रेणैव प्रतियोगिप्रसिद्धिसम्भवात्।। १७।।

ननु विमतं नात्मन्यध्यस्तम्, आत्मसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो पटो न तत्राध्यस्तः, न चासिद्धिः, ईशजीवन्मुक्तयोरात्मसाक्षात्कार–

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं कि प्रमाणजन्यचैतन्य का विशेषाकारावगाही अपरोक्षभान ही अज्ञान का विरोधी होता है। अर्थात् प्रमाण दो प्रकार होता है, एक तत्त्वावेदक और दूसरा अतत्त्वावेदक। अतत्त्वावेदकप्रमाण से जन्य जो असाधारण आकार का भान, अर्थात् शुक्तित्वेन शुक्ति या शुक्ति–अवच्छिन्नचैतन्य का भान, वह शुक्ति आदि अवच्छिन्नचैतन्य के आश्रित तूलाज्ञान का नाशक होता है और तत्त्वावेदकप्रमाण (तत्त्वमस्यादि महावाक्य) से जन्य जो असाधारण आकार का भान (ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान), वह ब्रह्माश्रित–मूलाज्ञान का नाशक होता है। सामान्याकारेण चैतन्य का अपरोक्षज्ञान अज्ञान का नाशक नहीं होता है। अतः 'घटः सन्' इत्यादि रूप से सामान्याकरेण चैतन्य का अपरोक्षज्ञान होने पर भी उसके द्वारा मूलाज्ञान का नाश नहीं होता है। अतः मूलाज्ञान का नाश न होने से मूलाज्ञान के कार्य प्रपञ्च का नाश नही होता है। इसलिए सामान्याकारेण चैतन्य का अपरोक्षज्ञान होने पर भी प्रपञ्च की अनिषेध्यत्वेन प्रतीति होती है। पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये इस अनुमान में कुछ लोगों के द्वारा यह जो शङ्का की जाती है कि साध्यस्थ अज्ञान पद से क्या अर्थ विवक्षित है? ज्ञानाभाव अथवा अद्वैतवेदान्तसम्मत अनिर्वचनीय–अज्ञान। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि सिद्धान्त में भी ज्ञानाभावरूप–अज्ञान का कार्य प्रपञ्च को नहीं माना जाता है। द्वितीयपक्ष को स्वीकार करने पर माध्वमत में अनिर्वचनीय–अज्ञान को आकाशकुसुम के समान माना जाता है। इसलिए साध्यस्थ अज्ञानकार्यरूप प्रतियोगी की अप्रसिद्धि के कारण साध्याप्रसिद्धिदोष आयेगा। इस प्रकार का दोष अत्यन्त नगण्य है, क्योंकि असतख्यातिवादी माध्व के सिद्धान्त में असत्प्रतियोगिकाभाव स्वीकार किया जाता है, क्योंकि माध्व का सिद्धान्त है– 'यदत्यन्ताभावप्रतियोगि तदसत्'। अतः माध्व कह सकता है कि यद्यपि हमारे मत में अनिर्वचनीय–अज्ञान अलीक है, किन्तु हम असत्प्रतियोगिकाभाव को मानते है। दूसरी बात यह है कि यह परार्थानुमान है। परार्थानुमान में वादी–प्रतिवादी दोनों मे से किसी एक के सिद्धान्तानुसार पदार्थ की प्रसिद्धि होनी चाहिए। प्रकृत में अद्वैतवेदान्ती के मतानुसार अनिर्वचनीय–अज्ञान की प्रसिद्धि है ही। अतः साध्याप्रसिद्धिदोष नहीं होगा।।१७।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्वसाधक चतुर्थ अनुमान किया जा रहा है। इस अनुमान का पक्ष व्यावहारिकप्रपञ्च है। सिद्धान्ती के द्वारा व्यावहारिकप्रपञ्च आत्मा में अध्यस्त माना जाता है। इसलिए उसके अभाव को साध्य बनाये जाने से सिद्धसाधनदोष नहीं आयेगा। हेतु का अर्थ है– शुद्धात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले ईश्वर और शुकदेवादि जीवन्मुक्तपुरुष, ऐसे लोगों की प्रवृत्ति (जगतपालन, भिक्षाटनादि) का विषय होने से। जो यद्विषयकसाक्षात्कारवत् प्रवृत्ति का विषय होता है वह उस साक्षात्कार के विषय में कल्पित नहीं होता है। जैसे घटविषयकसाक्षात्कारवाले पुरुष की प्रवृत्ति का विषय जो पट है वह घट में कल्पित नहीं माना जाता है। इस हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष भी नहीं है, क्योंकि शुद्धतत्त्व का साक्षात्कार करनेवाले ईश्वर की जगद्रक्षा और शुकदेव–वामदेवादि तत्त्वदर्शी महापुरुषों की तत्त्वोपदेश–भिक्षाटनादि में प्रवृत्ति देखी गयी है। यह हेतु विपक्ष में न होने से व्यभिचारी भी नहीं है, क्योंकि शङ्खनिष्ठश्वेतत्व का साक्षात्कार

वतोरपि जगद्रक्षणभिक्षाटनादौ प्रवृत्तेः। शङ्खेऽध्यस्तमपि पीतत्वं न शङ्खश्वेतत्वसाक्षात्कार– वत्प्रवृत्तिविषय इति न तत्र व्यभिचार इति चेन्न, प्रतिबिम्बे व्यभिचारात्। स हि मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो मुखेऽध्यस्तः। तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्योपाधित्वाच्च ॥ १८॥

एवञ्च विमतं नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा चैत्रं प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः। विमतं न जीवकल्पितम्, तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वात्, आत्मवत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

करने वाले पुरुष के प्रवृत्ति का विषय शङ्ख में अध्यस्त पीतादिरूप नहीं होते है। अतः शङ्ख में अध्यस्त पीतरूपादि में व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता है। सिद्धान्ती इस हेतु को व्यभिचार और उपाधि के द्वारा दूषित करते हुए कह रहे है कि यह हेतु प्रतिबिम्ब में व्यभिचरित है, क्योंकि मुखैक्यसाक्षात्कारवान् जो पुरुष उसकी प्रवृत्ति का विषय प्रतिबिम्ब होता है। अतः प्रतिबिम्ब में हेतु गया किन्तु प्रतिबिम्ब में साध्य नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बरूप मुख में अध्यस्त ही है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि प्रतिबिम्ब का अधिष्ठान बिम्ब (मुख) है। उसका साक्षात्कार होने पर अध्यस्त प्रतिबिम्ब की निवृत्ति क्यों नहीं होती है? इसका समाधान यह है कि दर्पणादि उपाधियों का सानिध्यरूप जो दोषविशेष है, उससे अजन्य भ्रमज्ञान का ही विशेषदर्शन विरोधी होता है। प्रकृत में दर्पणादिरूप उपाधियों के सानि–ध्यरूपदोषविशेष से जन्य भ्रमज्ञान (प्रतिबिम्ब का ज्ञान) है। अतः बिम्ब (मुख) आदि का विशेषदर्शन होने पर भी उसके प्रतिबिम्बज्ञान का बाध नहीं होता है। प्रपञ्चसत्यत्वसाधक इस चतुर्थ हेतु में 'तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्व' उपाधि है। पटादि दृष्टान्त में घटव्यतिरेकेण उपलभ्यमानत्व रहेने के कारण साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है। पक्षीभूतप्रपञ्च में अधिष्ठान (ब्रह्म) व्यतिरेकेण उपलभ्यमानत्व नहीं है। अतः साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में है। इसलिए यह हेतु सोपाधिक है। अतः यह हेतु अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है, अपितु उपाधि के अभाव से साध्याभाव की ही सिद्धि हो जायेगी। अनुमान का आकार होगा— 'विमतमात्मन्य- ध्यस्तम्, तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वाभावात्, शुक्तिरूप्यवत्'॥ १८॥

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्वसाधक पञ्चम अनुमान किया जा रहा है। जिन अद्वैत–आचार्यो के मत में प्रपञ्च ईश्वर की माया से कल्पित है, उनको ध्यान में रखकर अनुमान किया गया— व्यावहारिकप्रपञ्च ईश्वर की माया से कल्पित नहीं है। क्योंकि वह ईश्वर के प्रति अपरोक्ष होता है। जो पदार्थ जिस पुरुष को अपरोक्ष होता है वह पदार्थ उस पुरुष की माया से कल्पित नहीं होता है। जैसे चैत्र के प्रति जो अपरोक्ष घट है, वह चैत्र की माया से कल्पित नहीं होता है। जिन अद्वैत–आचार्यो के मत में प्रपञ्च जीव की माया से कल्पित है, उनको लक्ष्य करके अनुमान किया गया कि प्रपञ्च जीव की माया से कल्पित नहीं है, क्योंकि जीव के सो जाने पर भी प्रपञ्च विद्यमान रहता है, जैसा आत्मा। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि जीव के सो जाने पर प्रपञ्च विद्यमान नहीं रहता है। अतः हेतु पक्ष में न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा, तो उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सुषुप्तिकाल में घटादिप्रपञ्च का विलय नहीं होता है, क्योंकि घटादि प्रपञ्च का सुषुप्तिकाल में अभाव मानने पर— 'यदेव घटादिकं सुषुप्तेः प्राङ्मयानुभूतं तदेव सुषुप्त्यनन्तरमपि अनुभूयते' ऐसी प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति हो जायेगी। दूसरी बात यह भी है कि सुषुप्ति–अवस्था में प्रपञ्च का विलय मानने पर सुषुप्ति से जीव के उत्थापक अदृष्टादिरूप प्रपञ्च का भी विलय मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर सुषुप्ति से जीव का उत्थापक कोई नहीं होने से जीव का कभी उत्थान ही सिद्ध नहीं होगा। अतः सुषुप्ति अवस्था में भी अदृष्टादिरूप प्रपञ्च की स्थिति माननी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि प्रथम अनुमान का हेतु ऐन्द्रजालिक के प्रति अपरोक्ष उसकी माया के द्वारा कल्पित पदार्थों में व्यभिचारी है। अर्थात् ऐन्द्रजालिकपुरुष स्वमाया से कल्पित

न चासिद्धिः, प्रत्यभिज्ञानात्, अदृष्टादेरभावे पुनरुत्थानायोगाच्चेत्यपि निरस्तम्, आद्ये ऐन्द्रजालिकं प्रत्यपरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचारात्। मायाविद्ययोरभेदेन देहात्म्यैक्यभ्रमे व्यभिचाराच्च। द्वितीये त्वसिद्धेः। न च प्रत्यभिज्ञया प्रपञ्चस्य स्थायित्वसिद्धेर्नासिद्धिः सुषुप्तिकालस्थायित्वासाधक—त्वस्य प्रत्यभिज्ञाया दृष्टिसृष्टिसमर्थने वक्ष्यमाणत्वात्, अदृष्टादेः कारणात्मनाऽवस्थिततत्वेन पुनरुत्थानसम्भवाच्च ।।१९।।

मिथ्यात्वं आत्मान्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, इत्यपि न, मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वस्योपाधित्वात्। मिथ्यात्वञ्च सदसद्विलक्षणत्वम्, सद्विलक्षणत्वमात्रं वा?

सत्यानन्दप्रबोधिका

आम्रवृक्षादि के छेदन और उसके फलादि के ग्रहण में प्रवृत्त देखा जाता है। प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के विना हो ही नहीं सकती है। अतः ऐन्द्रजालिक की माया के द्वारा कल्पित पदार्थों में हेतु है, किन्तु साध्य के न होने से व्यभिचारदोष है। जिन अद्वैत—आचार्यों के मतानुसार माया और अविद्या में अभेद माना जाता है। उनके मतानुसार देहात्मैक्य में भी व्यभिचार है, क्योंकि देहात्मैक्य में जीव के प्रति अपरोक्षता होने से देहात्मैक्य में हेतु है किन्तु जीवकल्पितत्वाभावरूप साध्य नहीं है। 'अथ हैतत् पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति' (बृ. उ. २. २. ७) 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति' (कै.उ. १. १३) इन श्रुतियों के अनुसर सुषुप्तिकाल में समस्त प्रपञ्च का विलय हो जाता है। अतः द्वितीय हेतु (तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थिततत्व) भी स्वरूपासिद्धिदोष से ग्रस्त है। यदि कहो कि प्रत्यभिज्ञा से प्रपञ्च के स्थायित्व की सिद्धि होने के कारण स्वरूपासिद्धिदोष नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा सुषप्ति के समय प्रपञ्च की विद्यमानता को सिद्ध नहीं कर सकती है और जीव को जगने पर जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह 'सेयं दीपशिखा' के समान सादृश्य मूलक होती है, यह बात दृष्टिसृष्टिपक्ष का समर्थन के प्रसङ्ग पर विस्तार से कही जायेगी। सुषुप्ति में भी अदृष्टादि कारण (माया) गतसंस्कार (तत् तत् पदार्थों का सुक्ष्मरूप) से अवस्थित होने से जीव का सुषुप्ति से उत्थान सम्भव हो जायेगा ।। १९।।

पूर्वपक्षी के द्वारा सामान्यरूप से आत्मा से व्यतिरेक किसी अनात्मपदार्थ में सत्यत्व सिद्धि करने के लिए षष्ठ अनुमान किया जा रहा है— 'मिथ्यात्वं, आत्मान्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्'। इस अनुमान के दृष्टान्त में हेतु है, क्योंकि शुक्तिरूप्यत्व मिथ्यामात्रवृत्ति है। अतः शुक्तिरूप्यत्व में मिथ्यामात्रवृत्तित्व गया। आत्मा से अन्य व्यावहारिक, प्रातिभासिक और असत् सभी में शुक्तिरूप्यत्व नहीं रहता है। अतः दृष्टान्त में साध्य भी है। इस प्रकार व्याप्ति मिल गयी। मिथ्यात्व मिथ्यामात्रवृत्ति है, अतः मिथ्यात्व में मिथ्यामात्रवृत्तित्व होने से हेतु पक्ष मे गया। अतः पक्षधर्मता भी है। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। अर्थात् आत्मा से अन्य सभी में मिथ्यात्व न होने से आत्मा से अन्य पदार्थ भी सत्य है। यही पूर्वपक्षी का आशय है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि इस अनुमान में 'मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्व' उपाधि है। दृष्टान्त में मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्व है, क्योंकि रज्जूसर्पादि सभी मिथ्यापदार्थों में मिथ्यात्व रहता है, किन्तु सभी मिथ्यापदार्थों में शुक्तिरूप्यत्व नहीं रहता है। अतः दृष्टान्त में मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्व के रहने के कारण साध्य का व्यापक उपाधि है और मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वरूप उपाधि पक्ष में नहीं है। अतः साधन (हेतु) का अव्यापक भी उपाधि है। अतः यह हेतु सोपाधिक होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त है। इसलिए अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। दूसरा दोष यह भी है कि पक्षरूप से निर्दिष्ट मिथ्यात्व का अर्थ सदसद्विलक्षणत्व रूप है? अथवा सद्विलक्षणत्वरूप है? यदि मिथ्यात्व का अर्थ सदसद्विलक्षणत्व कहते हो तो सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि आत्मा से भिन्न व्यावहारिक, प्रातिभासिक और असत् है। इनमें से

आद्ये सिद्धसाधनम्, तस्यात्मान्यसर्वमध्यपतितासद्वृत्तित्वाभावात्। द्वितीये तु हेतौ मिथ्यापदस्य सदद्वैलक्षण्यपरत्वे स्वरूपासिद्धिः, सद्वैलक्षण्यरूपे पक्षे तुच्छसाधारणे सदसद्विलक्षणेतरा— वृत्तित्वरूपहेत्वभावात्। तस्यापि सद्वैलक्षण्यमात्रपरत्वे सन्दिग्धानैकान्तिकता, साध्याभाववत्यात्मभेदे हेतुसन्देहात्। अप्रयोजकत्वादिकञ्च पूर्वोक्तं दूषणमनुवर्तत एव ॥ २०॥

आत्मा परमार्थसदन्यः, पदार्थत्वादनात्मवत्। न च कल्पितात्मप्रतियोगिकभेदेनार्थान्तरम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यावहारिकि और प्रातिभासिक में सदसद्विलक्षणत्व के रहने पर भी असत् में सदसद्विलक्षणत्व नहीं है, क्योंकि असद् में सद् का भेद रहने पर भी असद् का भेद नहीं है। यदि पक्षरूप से निर्दिष्ट मिथ्यात्व का अर्थ सद्विलक्षणत्वमात्र करते हो तो 'मिथ्यामात्रवृत्तित्व' इस हेतु का घटक मिथ्या पद का अर्थ सदसद्वैलक्षण्य करने पर अनुमान का आकार होगा— 'सद्विलक्षणत्वम्, आत्मान्यसर्ववृत्ति न, सदसद्विलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्'। इस अनुमान में स्वरूपासिद्धिदोष है, क्योंकि सद्विलक्षणत्वरूप पक्ष में सदसद्विलक्षणमात्रवृत्तित्वरूप हेतु नहीं है। तात्पर्य यह है कि हेतु— सदसद् विलक्षणमात्रवृत्तित्व का अर्थ होता है— 'सदसद्विलक्षणेतरावृत्तित्वे सति सदसद्विलक्षणवृत्तित्वम्। सद्विलक्षणत्वरूप पक्ष व्यावहारिक, प्रातिभासिक और असत्पदार्थ में रहता है। उसमें से असत्पदार्थ में पक्ष के रहने के कारण पक्ष में उक्त हेतु का विशेषणभाग नहीं जायेगा, क्योंकि सदसत् से विलक्षण—व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ है, इनसे इतर सद् और असद् है। इसमें से असद् में सद्विलक्षणत्व की वृत्तिता ही है, अवृत्तिता नहीं है। हाँ, हेतु का विशेष्यभाग में समन्वय हो जायेगा, क्योंकि सदसद् से विलक्षण व्यावहारिक और प्रातिभासिक है, उसमें सद्विलक्षणत्व की वृत्तिता है। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। हेतुघटक मिथ्या पद का भी अर्थ सद्विलक्षणत्व करने पर सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष आयेगा, क्योंकि साध्याभाव का जहाँ निश्चय होता है, वहाँ पर हेतु का सन्देह होने पर सन्दिग्धानैकान्तिकतादोष होता है। प्रकृत में साध्याभाव आत्मान्यसर्ववृत्तित्व है। अर्थात् आत्मा से भिन्न व्यावहारिक, प्रातिभासिक और असद्वृत्तिता वह आत्मभेद में रहती है, अतः आत्मभेद हो गया साध्याभावनिश्चयवाला। हेतुघटक मिथ्या पद का अर्थ सद्विलक्षणत्व करने पर हेतु का सन्देह साध्याभावनिश्चयवाले आत्मभेद में है, क्योंकि हेतु है सद्विलक्षणमात्रवृत्तित्व, अर्थात् सद्विलक्षणेतरावृत्तित्वे (सदवृत्तित्वे) सति सद्विलक्षणवृत्तित्व, सिद्धान्ती के मत में सत् में आत्मभेद नहीं माना जाता है, अतः उसके मत में आत्मभेद में सद्विलक्षणेतरावृत्तित्व रहेगा, परन्तु पूर्वपक्षी प्रपञ्च को सत् मानता है। अतः उस सत्प्रपञ्च में उसके मतानुसार आत्मभेद रहेगा। अतः उसके मत में आत्मभेद में सद्विलक्षणेतरावृत्तिता नहीं रहेगी। इस प्रकार से साध्याभावनिश्चय वाले में हेतु का सन्देह होने से सन्दिग्धानैकान्तिका दोष है। इस हेतु में विपक्षबाधक तर्क भी नहीं है। 'अप्रयोजकत्वादिकम्' में आदि पद से— 'सत्यत्वं प्रातिभासिकान्यसर्ववृत्ति न, सत्यमात्रवृत्तित्वात्, आत्मवत्' इत्यादि आभाससाम्यता भी है ॥२०॥

आत्मा में परमार्थसत्यप्रतियोगिकभेद के सिद्ध हो जाने पर द्वैत में सत्यत्व की सिद्धि हो जायेगी। इस आशय से प्रपञ्च में सत्यत्वसाधक सप्तम अनुमान पूर्वपक्षी के द्वारा किया जा रहा है। 'आत्मा परमार्थसदन्यः, पदार्थत्वात्, अनात्मवत्'। दृष्टान्त अनात्मा में परमार्थसत्स्वरूपब्रह्म का भेद रहता है। अतः दृष्टान्त में साध्य है। अनात्मा पदार्थ है, अतः पदार्थत्वरूप हेतु भी दृष्टान्त में है। अतः व्याप्ति मिल गयी और पक्षधर्मता भी है। क्योंकि पक्ष में हेतु है। अर्थात् आत्मा एक पदार्थ है, अतः उसमें पदार्थत्व रहेगा ही। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श का मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। पक्ष में साध्य की सिद्धि मानने का अर्थ यह होगा कि आत्मा से भिन्न कोई परमार्थसद्वस्तु है, जिसका भेद आत्मा में है। ऐसा होने से अद्वैतसद्धिान्त की हानि हो जायेगी। (भावाद्वैतमत में अभाव को परमार्थसत्

कल्पितमिथ्यात्वेन मिथ्यात्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनापत्तेरित्यपि न,व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधनेऽतिप्रसङ्गाभावात्। अनानन्दत्वस्योपाधित्वाच्च ।। २१ ।।

अथ आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा, स्वज्ञानाबाध्यानात्मवान्, स्वज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मवान् वा पदार्थत्वात्, भावत्वाद्वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

माना जाता है। इस लिए उसका भेद आत्मा में रहने से सिद्धसाधनदोष होगा। इस आशय से न्यायामृताकार ने इस अनुमान में दूसरा साध्य—'परमार्थसद्भावान्य:' को बनाया है। परन्तु यह पाठ किसी कारणवश अद्वैतसिद्धि में नहीं है)। इस पर यदि कोई शङ्का करें कि साध्य के अन्तर्गत जो भेद है, उसका विशेषण कल्पित—अकल्पित कुछ भी नहीं दिया गया है। अत: कल्पित—आत्मप्रतियोगिकभेद आत्मा में है ही और वह भेद परमार्थसत्प्रतियोगिक भी है। अत: इस प्रकार के भेद को लेकर सिद्धसाधनरूप अर्थान्तरदोष आयेगा। तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से तो दोष अद्वैतवादी के 'विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्' इस मिथ्यात्वानुमान में भी दिया जा सकता है कि प्रपञ्च में काल्पनिकमिथ्यात्व हम भी मानते है। अत: मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाध— नरूप अर्थान्तरदोष है। इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से अद्वैतवादी और द्वैतवादी दोनों के पक्ष में अर्थान्तररूपदोष होने के कारण किसी एक ही पक्ष में उसका उद्भावन नहीं किया जा सकता है। जैसे कि वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्ट ने कहा है—

तस्माद् ययो: समो दोष: परिहारोऽपि वा सम:।
नैकस्तत्र नियोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।।

पूर्वपक्षी के इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब तक ज्ञान नहीं होता है तब तक सिद्धान्ती के द्वारा व्यावहारिकपदार्थो को लौकिपरमार्थसद्रूप माना जाता है। अत: सिद्धान्तमत में भी आत्मा में लौकिकपरमार्थसत् का भेद रह जाने से सिद्धसाधनदोष होगा। मिथ्यात्वानुमान में अतिप्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि मिथ्या को व्यावहारिकसत् मानने पर, अर्थात् मिथ्या को मिथ्या मानने पर प्रपञ्च परमार्थसत् सिद्ध नहीं होगा। यह बात मिथ्यात्व के मिथ्यात्व विचार के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। इस अनुमान में 'अनानन्दत्व' उपाधि भी है। दृष्टान्त अनात्मा में साध्य और अनानन्दत्व के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है और पक्ष आत्मा में पदार्थत्वरूपहेतु के रहने और अनानन्दत्व के न रहने से साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में है। अत: सोपाधिकपदार्थत्वरूप हेतु के द्वारा आत्मा में परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है।। २१ ।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्वसाधक अष्टम अनुमान किया जा रहा है। इस अनुमान में चार प्रकार से साध्य रखा गया है। प्रथम—'आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, पदार्थत्वात्, भावत्वाद् वा, घटादिवत्। अर्थात् आत्मा के स्वरूप की जब तक अनुवृत्ति होती है, तब तक अनात्मपदार्थ से युक्त होकर के ही होती है, क्योंकि आत्मा भी पदार्थ है अथवा भावपदार्थ है, जैसे घटादि। घटादि भावपदार्थ है। अत: दृष्टान्त घटादि में पदार्थत्व अथवा भावत्व हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा— घट के स्वरूप की जब तक अनुवृत्ति होती है, तब तक अनात्मपदार्थरूपादि से युक्त होकर के ही होती है। पक्ष में हेतु भी है। अत: व्याप्तिविशिष्टपक्षध— र्मतारूपपरामर्श के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। पक्ष में साध्य की सिद्धि मानने पर आत्मा के जैसे ही अनात्मपदार्थ भी नित्य (सत्य) सिद्ध हो जायेगा। द्वितीय— 'आत्मा यावत्स्वरूपानुवर्तमानभावरूपानात्मवान्, पदार्थत्वात् भावत्वाद् वा, घटादिवत्'। अर्थात् आत्मा के स्वरूप की जब तक अनुवृत्ति होती है, तब तक भावरूप—अनात्मपदार्थ से युक्त हो करके ही होती है। क्योंकि आत्मा एक भावपदार्थ है, जैसे घटादि। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय

घटादिवदिति। अत्र पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमपक्षे सिद्धसाधनपरिहाराय साध्ययोर्भावरूप- पदमनात्मविशेषणदित्यपि मन्दम्। 'यावत्स्वरूपम्'इत्यस्य यत्किञ्चित्स्वरूपपरत्वे सिद्धसाधनात्, आत्मस्वरूपपरत्वे साध्याप्रसिद्धेः। न हि यावदात्मस्वरूपमनुवर्तमानोऽनात्मा प्रसिद्धोऽस्ति तथा सत्यनुमानवैयर्थ्यात्। अथ स्वरूपपदस्य समभिव्याहृतपरत्वाद् व्याप्तिग्रहदशायां दृष्टान्तस्वरूपं

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्तप्रकार से हो जायेगा, क्योंकि घट का स्वरूप जब तक रहता है, तब तक भावरूप अनात्मपदार्थ रूप—रसादि से युक्त होकर के ही रहता है। तृतीय—आत्मा स्वज्ञानाबाध्यानात्मवान्, पदार्थत्वाद् भावत्वाद् वा, घटादिवत्। अर्थात् आत्मा अपने ज्ञानद्वारा अबाधित—अनात्मपदार्थ से युक्त है, क्योंकि आत्मा एक भाव पदार्थ है, जैसे घटादि। घटादि भावपदार्थ होने के कारण उसमें हेतु है और घटादि के ज्ञान से अबाध्य जो घटादि का रूप है, उस रूप से युक्त घट के होने से दृष्टान्त में साध्य भी है। चतुर्थ— 'आत्मा स्वज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मवान्, पदार्थत्वात्, भावत्वाद्वा, घटादिवत् अर्थात् आत्मा अपने ज्ञानद्वारा अबाधितभावरूप—अनात्मपदार्थ से युक्त है। क्योंकि वह आत्मा भी एक भाव पदार्थ है। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय पूर्वोक्त प्रकार से हो जायेगा। भावाद्वैतवादी इष्टसिद्धिकारादि कुछ आचार्यो के मत में पञ्चमप्रकारक—अविद्यानिवृत्ति मानी गयी है। इस मतानुसार आत्मा का जब तक स्वरूप रहता है, तब तक अविद्यानिवृत्ति भी रहती है और उसका आत्मज्ञान से बाध भी नहीं माना जाता है। अतः अविद्यानिवृत्ति को लेकर सिद्धसाधनदोष होता। उसको वारण करने के लिए द्वितीय और चतुर्थ साध्य में अनात्म पदार्थ का भावरूप विशेषण दिया गया है। व्यभिचारदोष वारण करने के लिए भावत्व को हेतु बनाया गया है, क्योंकि पदार्थत्व को हेतु बनाने पर उक्त अविद्यानिवृत्ति में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि उक्त अविद्यानिवृत्ति जब तक रहती है तब तक उसके साथ कोई भी अनात्मपदार्थ नहीं रहता है। भावत्व को हेतु बनाने पर उक्त अविद्यानिवृत्ति एक अभावपदार्थ है। अतः उसमें हेतु भी नहीं रहेगा। अतः व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन भी उसकी मन्दबुद्धि को ही दर्शाता है। क्योंकि साध्य का घटक 'यावत्स्वरूपम्' इस विशेषण से यत्किञ्चित् स्वरूप विक्षित है? अथवा आत्मस्वरूप? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर सिद्धसाधनदोष होगा क्योंकि यत्किञ्चित् स्वरूप से घट के स्वरूप को लेंगे, घट का स्वरूप जब तक रहता है तब तक अनात्मपदार्थ घट के रूप—रसादि से युक्त होकर ही रहता है और उनका आश्रय (अधिष्ठान) आत्मा है, ऐसा हम भी मानते है। द्वितीयपक्ष को स्वीकार करने पर साध्याप्रसिद्धिदोष है, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में जब तक आत्मा का स्वरूप रहता है तब तक अनात्मपदार्थ रहता है, ऐसी प्रसिद्धि ही नहीं है। अपितु मुक्तिदशा में आत्मस्वरूप के विद्यमान होने पर भी अनात्मपदार्थ का बाध माना जाता है। यदि मोक्षदशा में किसी अनात्मवस्तु की उपस्थिति मानी जाती तब अनुमान से पूर्व ही यावत्—आत्मस्वरूप—अनुवर्तमान—अनात्मा की प्रसिद्धि हो जाने पर, अर्थात् उस अनात्मवस्तु में अनुमान से पहले ही सत्यत्व सिद्ध हो जाने से सिद्धसाधनदोष होगा और उस अनात्मवस्तु में सत्यत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान करना व्यर्थ हो जायेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि स्वरूप पद अपने समीपवर्ती उच्चरित पदार्थ का बोधक होता है। जैसे पटः स्वरूपेण वर्तते, मठः स्वरूपेण वर्तते—इत्यादि स्थलों पर स्वरूप पद कभी पट का और कभी मठ का बोधक होता है। इसलिए प्रकृत में भी स्वरूप पद अपने समीपवर्ती का बोधक होगा। अतः स्वरूप पद व्याप्तिग्रहण— काल में दृष्टान्त के स्वरूप का बोधक होगा और हेतु में पक्षधर्मताग्रहकाल में आत्मस्वरूप का बोधक होगा। इसलिए साध्याप्रसिद्धिदोष भी नहीं होगा और सिद्धसाधन भी नहीं होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द के स्वभाव का उपन्यास शाब्दबोधस्थल में ही माना जाता है, अनुमानस्थल पर नहीं। अर्थात् जहाँ एक

पक्षधर्मताग्रहदशायां चात्मस्वरूपमेव प्राप्यत इति न साध्याप्रसिद्धिर्न वा सिद्धसाधनमिति चेन्न, शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानेऽनुपयोगात्। स्वज्ञानाबाध्येत्यत्र स्वशब्देऽपि तुल्योऽयं दोषः ॥ २२॥

अत एव विमता बन्धनिवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानाबाध्यानात्मसमकालीना, उक्तज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमकालीना वा, बन्धनिवृत्तित्वात्, निगडबन्धनिवृत्तिवदित्यपि निरस्तम्, पक्षदृष्टान्तयोर्बन्धपदार्थस्यैकस्याभावेन स्वरूपासिद्धिसाधनवैकल्यान्यतरापातात्। स्वपदे चोक्तः साध्याप्रसिद्धिदोषः। हेतौ च बन्धेति विशेषणवैयर्थ्याद् व्याप्यत्वासिद्धिः। अप्रयोजकत्वञ्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही शब्द का अनेक अर्थ होता है, वहाँ भिन्न–भिन्न वाक्यों में भिन्न–भिन्न अर्थों को लिया जा सकता है। लेकिन अनुमान करते समय अनुमानघटक–शब्द यदि कोई अनेकार्थक हो तो पक्ष और दृष्टान्त में ले जाते समय भिन्न–भिन्न अर्थ न लेकर केवल एक ही अर्थ लिया जाता है। प्रकृत में पूर्वोक्त प्रकार से एक ही अर्थ लेने पर साध्याप्रसिद्धि और सिद्धसाधनदोष आयेगा। इसी प्रकार तृतीय और चतुर्थ साध्य के घटक 'स्व' पद से यत्किञ्चिद्वस्तु के लेने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि यत्किञ्चिद्वस्तु से घट लेंगे, घटज्ञान से अबाध्य घटगतरूपरसादि है तादृश रूप–रसादिवाले घट का आश्रय (अधिष्ठान) आत्मा को हम भी मानते है। 'स्व' पद से आत्मा लेने पर अद्वैतसिद्धान्तानुसार साध्याप्रसिद्धिदोष आयेगा और पूर्वोक्त प्रकार से अनुमान को व्यर्थ भी मानना पडेगा। अविद्यानिवृत्ति को लेकर पूर्वपक्षी के पदार्थत्व हेतु में व्यभिचारदोष आ रहा था। अतः भावत्व को हेतु बनाया था, किन्तु सिद्धान्ती के अनुसार आत्मा निर्धर्मक है, अतः उसमें भावत्वधर्म के न रहने से स्वरूपासिद्धिदोष भी है।।२२।।

प्रपञ्चसत्यत्वसाधक–अनुमानान्तर पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है। पूर्वपक्षी इस अनुमान से यह सिद्ध करना चाहेगा कि जैसे अन्य बन्ध के ध्वंस के साथ–साथ सभी पदार्थो का ध्वंस नहीं होता है, वैसे ही जीव के संसारबन्ध के ध्वंस होने पर भी संसार के सभी पदार्थो की निवृत्ति नहीं होती है। अतः प्रपञ्चसत्य है। इस अनुमान में अज्ञान तत्कार्य संसारादिरूपबन्धन की निवृत्ति को पक्ष बनाया गया है। 'स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानाबाध्यानात्मसमकालीना', इस साध्य को पक्ष में ले जाते समय 'स्व' शब्द से बन्धनिवृत्ति लेना है। उस निवृत्ति का प्रतियोगी बन्ध है। उस बन्ध का विषय बन्धकर्मीभूतबन्ध्य, एतादृश आत्मा होगा। तद्विषयकज्ञान–आत्मसाक्षात्कार उससे अबाध्य जो अनात्मपदार्थ। उसके समकालीन बन्ध की निवृत्ति है। (अर्थात् मुक्तिकाल में भी आत्मज्ञान से बाध न होनेवाला अनात्मपदार्थ भी रहता है) भावाद्वैतमत में मोक्ष के समय पञ्चमप्रकारक अविद्यानिवृत्ति रहती है। अतः उक्त अबाध्यनिवृत्ति (अभाव) को लेकर जो सिद्धसा–धनदोष आ रहा था, उससे बचने के लिए अनात्मा का विशेषण 'भाव' दे दिया गया है। अर्थात् 'स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमकालीना' ऐसे साध्य का आकार होगा। इस अनुमान में हेतु दिया गया है–बन्धनिवृत्तित्व, दृष्टान्त –निगडबन्धनिवृत्ति में बन्ध ानिवृत्तित्वरूप हेतु है और दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा–स्व–निगडब– न्धनिवृत्ति, उसका प्रतियोगी निगडबन्ध, उसका विषय–निगडबन्ध का कर्मीभूतबन्ध्य देवदत्तादि। तद्विषयकज्ञान (मै देवदत्त हूँ इत्याकारकज्ञान) से अबाध्य घटपटादि अनात्मपदार्थ, उसके समानकालीन निगडबन्धनिवृत्ति है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वोक्त दोषों के सद्भाव के कारण ही यह अनुमान भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि यदि हेतुघटक बन्धपद का अर्थ निगडबन्ध करते हैं तो, हेतु पक्ष में नहीं जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि पक्ष में बन्धपद का अर्थ है, अज्ञानादिबन्ध। यदि हेतुपरक बन्ध पद का अर्थ अज्ञानादि बन्ध कहते है तो दृष्टान्त में हेतु नही जायेगा, क्योंकि दृष्टान्त में बन्धपद का अर्थ निगडब–न्ध ा है। यदि कहते हो कि हेतुघटक बन्धपद से पक्ष में हेतु ले जाते समय अज्ञानादिबन्ध लेंगे और दृष्टान्त

कस्याश्चिन्निवृत्तेरनात्मसमानकालीनत्वदर्शनं निवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने संसारकालीनाया दुःखनिवृत्तेः समानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्वदर्शनमिव दुःखनिवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने ॥ २३॥

नन्वेवं सामान्यानुमानेषु निराकृतेषु विशिष्यानुमानं भविष्यति। आत्मधीः न स्वविषयविषयक–धीबाध्या, धीत्वात्, शुक्तिधीवदित्यपि बालभाषितम्, स्वविरोध्यविषयकत्वस्योपाधित्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में हेतु ले जाते समय निगडबन्ध अर्थ करेंगे, तो ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि शब्द के स्वभावविशेष का प्रतिपादन शाब्दबोध के समय ही उपयोगी होता है, अनुमान में नहीं। साध्यघटक स्वपद से अज्ञानादि बन्ध की निवृत्ति लेने पर अद्वैतसिद्धान्तानुसार साध्याप्रसिद्धिदोष होगा, क्योंकि स्व–अज्ञानादिबन्ध की निवृत्ति उसका प्रतियोगी अज्ञानादिबन्ध, उसका विषय– बन्धकर्मीभूत बन्ध्य। एतादृश आत्मा होगा। आत्मविषयकज्ञान से सम्पूर्ण अनात्मपदार्थ का बाध ही हो जाता है। उस समय कोई अनात्मपदार्थ अद्वैतसिद्धान्त में माना ही नहीं जाता है। यदि साध्य की प्रसिद्धि के लिये आत्मज्ञान होने पर भी, अर्थात् मुक्तिकाल में भी यदि कोई अनात्मपदार्थ मानोगे तो इस अनुमान से पूर्व ही उस अनात्मपदार्थ में सत्यत्व सिद्ध हो जाने से सिद्धसाधनदोष होगा और इस अनुमानप्रयोग में व्यर्थतादोष भी प्राप्त होगा। इसी प्रकार हेतुघटकबन्धपद न देने पर भी दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल जाती है। अतः बन्ध पद व्यर्थ है। व्यर्थ विशेषण से घटित हेतु होने के कारण हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। इस अनुमान में विपक्षबाधकतर्क का अभाव होने के कारण अप्रयोजकतारूपदोष भी है। क्योंकि संसारकालीन किसी एक निवृत्ति के समकालीन अनात्मपदार्थ को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी निवृत्तियाँ अनात्मपदार्थ के समकालीन होती है। जैसे संसारकालीन दुःखध्वंस में स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्व देखा गया है। अतः आत्यन्तिकदुःख की निवृत्ति के समय (मोक्षकाल) में भी दुःखप्रागभावकालीनत्व मानना पडेगा। किन्तु ऐसा नहीं माना जाता है, क्योंकि चरमदुःख की निवृत्ति के समय भी दुःख का प्रागभाव मानोंगे तो मुक्ति की कथा ही समाप्त हो जायेगी। अर्थात् इस प्रकार का अनुमान नहीं किया जा सकता है– 'आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः समानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानकालीना, दुःखनिवृत्तित्वात्, संसारकालीनदुःखनिवृत्तिवत्'। यदि कहो कि इस अनुमान में अप्रयोजकतादोष है, तो ठीक इसी प्रकार पूर्वपक्षी के अनुमान में भी अप्रयोजकतादोष मानना पड़ेगा।।२३।।

सम्पूर्ण व्यावहारिकप्रपञ्च को सत्य बतलानेवाले अनुमान को प्रकृत में सामान्य–अनुमान कहा गया है और सम्पूर्ण व्यावहारिप्रपञ्च में से किसी एक पदार्थ को सत्य बतलानेवाले अनुमान को प्रकृत में विशेष–अनुमान कहा गया है। प्रकृत में विशेष–अनुमान का फल यह है कि एक विशेषपदार्थ (घटादि) को सत्य सिद्ध कर देने पर उसको दृष्टान्त बनाकर अनुमान से सभी व्यावहारिकपदार्थ को सत्य सिद्ध कर दिया जा सकता है। जैसे 'घटेतरप्रपञ्चः सत्यः, अनात्मत्वात्, घटवत्'। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी कह रहा है कि पूर्वोक्त सामान्य–अनुमान के खण्डन हो जाने के कारण उनके द्वारा सम्पूर्णप्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध न होने पर भी विशेष–अनुमान से प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो जायेगा। प्रपञ्चसत्यत्वसाधक प्रथम विशेषानुमान पूर्वपक्षी के द्वारा किया जा रहा है–'आत्मर्धीर्न स्वविषयविषयकधीबाध्या, धीत्वात्, शुक्तिधीवत्। यहाँ पर 'आत्मधीः' का अर्थ है–आत्माकार (ब्रह्माकार) वृत्त्यात्मकज्ञान। पक्ष में साध्य का समन्वय ऐसा होगा–स्व=आत्म–धी, उसका विषय–आत्मा, तद्विषयकज्ञान–आत्मज्ञान, उससे आत्मधी का बाध नहीं होता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर अनात्मविशेषरूप आत्मधी में मिथ्यात्व सिद्ध न होने से द्वैतापत्ति होगी। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–स्व=शुक्तिधी, उसका विषय–शुक्ति, तद्विषयकज्ञान–शुक्ति का ज्ञान, उससे शुक्तिधी का बाध नहीं होता है। इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि उक्त

अन्धोऽयं रूपज्ञानवानित्यन्धस्य रूपविषयतया कल्पितं यज्ज्ञानं तस्य रूपं नान्धगम्यमिति स्वविषयविषयकप्रत्ययबाध्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात्। कल्पितत्वात्तत्र तद्बाधने प्रकृतेऽपि वृत्तेः कल्पितत्वं समम्। धीपदेन चैतन्यमात्रविवक्षायान्तु सिद्धसाधनमेव ।। २४।।

आत्माधिष्ठानकभ्रमहेतुः न स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञानबाध्यः, भ्रमहेतुत्वात्, यदेवं तदेवम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुमान आपाततः रमणीय है, परन्तु वस्तुतः निस्सार है, क्योंकि इसमें स्वविरोध्यविषयकत्व उपाधि है। दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में मिल जायेगा। दृष्टान्त में उपाधि का समन्वय—स्व—शुक्तिज्ञान, उसका विरोधि—शुक्ति का अज्ञान, उसको विषय न करनेवालाशुक्ति का ज्ञान है। पक्ष में हेतु है, किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि स्व—ब्रह्माकारचित्तवृत्ति, उसका विरोधि ब्रह्म का अज्ञान और ब्रह्माकारवृत्ति, यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जैसे ब्रह्माकारचित्तवृत्ति ब्रह्म—अज्ञान का विरोधि है। वैसे ही ब्रह्माकारवृत्ति ब्रह्म—अज्ञान के कार्य ब्रह्माकारचित्तवृत्ति का भी विरोधि है। अतः स्व ब्रह्माकारचित्तवृत्ति उसका विरोधि ब्रह्माकारचित्वृत्ति उसको विषय करनेवाला ब्रह्माकारवृत्ति स्वयं है। क्योंकि ब्रह्माकारादिवृत्ति जैसे अपने विषय ब्रह्मादि को विषय करती है, उसी प्रकार स्वयं को भी विषय करती है, अन्यथा वृत्ति को विषय करनेवाली दूसरी वृत्ति मानने पर अनवस्थादोष होगा। अतः ब्रह्माकारवृत्ति स्वविरो—ध्यविषयक न होने से पक्ष में उपाधि नहीं है। अतः साधन का अव्यापकत्व उपाधि में है। अतः उक्त हेतु सोपाधिक होने से अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है, अपितु उपाधि के अभाव को हुतु बनाकर उसी पक्ष पर साध्याभाव की सिद्धि हो जायेगी। जैसे—'आत्मधीः स्वविषयविषयकधीबाध्या, स्वविराध्यविषयकत्वाभावात्। पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में व्यभिचारदोष भी है। उसको दिखला रहे हैं। कोई भ्रान्तव्यक्ति आप्तपुरुष से कह रहा है कि यह अन्धाव्यक्तिविशेष रूपज्ञानवाला है, अर्थात् रूप को देखता है। इस प्रकार उस भ्रान्तव्यक्ति को 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्' इत्याकारक वृत्ति बनी। उसके पश्चात् आप्तपुरुष ने उस भ्रान्तव्यक्ति से कहा—'रूपं नान्धगम्यम्'। इस वाक्यघटक अन्धशब्द से अन्धव्यक्तिविशेष को न लेकर अन्धव्यक्ति सामान्य को लेना है। इस प्रकार से आप्तपुरुष के कहने पर उस भ्रान्त—व्यक्ति को 'रूपं नान्धगम्यम्' इत्याकारक रूपविषयकज्ञान उत्पन्न होता है और उस ज्ञान ('रूपं नान्धगम्यम्') से ' अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्' इत्याकारक भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाती है। अतः 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्' इत्याकारक ज्ञान में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि स्व से 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान् इत्याकारक—वृत्यात्मकज्ञान लिया। उसका विषय रूप है, तद्विषयकज्ञान—रूपविषयकज्ञान— 'रूपं नान्धगम्यम्' इत्याकारकज्ञान, उसके द्वारा 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्' इत्याकारकज्ञान का बाध हो जाता है। अतः व्यभिचारदोष है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्' यह कल्पितज्ञान है। अतः स्वविषयविषयकज्ञान से बाध हो जाता तो है, इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस प्रकार से उक्त व्यभिचारस्थल पर उक्तज्ञान के कल्पित होने से उसका बाध होता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृत में ब्रह्माकारचित्तवृत्ति भी अज्ञान का कार्य होने से कल्पित है। अतः उसका भी बाध होता है। यदि आत्मधी का अर्थ शुद्धचैतन्य लेंगे तो सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि शुद्धचैतन्य का हम भी बाध नहीं मानते है।।२४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेष में सत्यत्वसाधक द्वितीय अनुमान किया जा रहा है। आत्मा है अधिष्ठान जिस भ्रम का ऐसा जो भ्रम उस को कहेंगे आत्माधिष्ठानकभ्रम (प्रपञ्चभ्रम) इसका हेतु—अज्ञान है, यह पक्ष है। साध्य—स्व—अज्ञान, उसका कार्य—प्रपञ्चभ्रम, उसका अधिष्ठान—आत्मा, उसका ज्ञान—आत्मा का ज्ञान, उसके द्वारा अज्ञान का बाध नहीं होता है। इस प्रकार से साध्य पक्ष में जायेगा। शुक्ति है अधिष्ठान जिस रजतभ्रम का उसको कहेंगे शुक्ति—अधिष्ठानकभ्रम, इस भ्रम का हेतु जो काचकामलादि है, यहीं

यथा शुक्त्यधिष्ठानकभ्रमहेतुकाचादीत्यपि न साधु, व्यावृत्त्याकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्वस्य, स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्वस्य वा उपाधित्वात्। दूरादिदोषादुपलादौ यत्र चाकचिक्यकल्पना तेन चाकचिक्यदोषेण शुक्ताविव रजतकल्पना तत्राधिष्ठानज्ञानेन चाकचिक्यरूप्ययोरुभयोरपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टान्त है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा—स्व—काचकामलादि, उसका कार्य—रजतभ्रम, उसका अधिष्ठान—शुक्ति, उसका ज्ञान—शुक्ति का ज्ञान, उसके द्वारा काचकामलादि का बाध नहीं होता है। काचकामलादि भ्रम का हेतु है। अत: उसमें भ्रमहेतुत्वरूप हेतु भी है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से और पक्ष में हेतु के रहने से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श के होने से पक्ष में साध्य की अनुमिति होनी चाहिए। यही पूर्वपक्षी का आशय है। इस अनुमान का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यह अनुमान उपाधि और व्यभिचारदोष से ग्रस्त होने के कारण अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। सर्वप्रथम उपाधिदोष दे रहे हैं। प्रथम उपाधि है— व्यावृत्ताकाराधिष्ठानज्ञानानवधित्व। इस उपाधि को समन्वय करने से पहले अवधिक किसे कहते है? और अनवधिक किसे कहते है? इसे समझना चाहिए। अधिष्ठानज्ञान तक रहनेवाला, अर्थात् जब तक अधिष्ठान ज्ञान न हो तब तक रहता हो और अधिष्ठानज्ञान के होते ही नष्ट हो जाता है उसे अधिष्ठानज्ञानावधिक कहते है, क्योंकि उसका अधिष्ठानज्ञान ही अवधि है। जैसे शुक्ति में रजत, इसकी अधिष्ठानशुक्ति के ज्ञान तक अवधि है। अनवधिक उसे कहते है, जो अवधिरूप अधिष्ठानज्ञान के बाद भी रहता है, जैसे शुक्तिज्ञान के बाद भी काचकामल चाकचिक्यादि रहते है। उपाधिघटक व्यावृत्ताकार का अर्थ है—विशेषाकार। अर्थात् सामान्याकारज्ञान भ्रम का हेतु होता है और विशेषाकार जो अधिष्ठान का ज्ञान, वह भ्रम का निवर्तक होता है। इस विशेषाकार को ही यहाँ पर व्यावृत्ताकार कहा गया है। उपाधि दृष्टान्त में है, क्योंकि विशेषाकार—अधिष्ठानज्ञान के बाद भी काचकामलादिदोष रहते है, अत: उसमें उक्त अनवधित्व चला गया। इसलिए साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है। पक्ष में उपाधि नहीं है, क्योंकि विशेषाकार जो आत्मा का ज्ञान है, उस ज्ञान के होते ही भ्रम का हेतु अज्ञान नष्ट हो जाता है। अत: आत्माधिष्ठानकभ्रम हेतुभूत अज्ञान (पक्ष) में उक्त अनवधित्वरूप उपाधि के न होने से साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में है। इस प्रकार प्रथम उपाधि का समन्वय हो गया। द्वितीय उपाधि—स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्व है। दृष्टान्त में उपाधि का समन्वय—स्व—भ्रम हेतु (काचकामलादि), उसका कार्यभ्रम—इदं रजतम्, उसका अधिष्ठान—शुक्ति, उस शुक्ति में काचकामलादि अनारोपित है। अत: उक्त अनारोपितत्व काचकामलादि में गया। इस प्रकार से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है। पक्ष में उपाधि नहीं है, क्योंकि स्व—आत्माधिष्ठानकभ्रमहेतु (अज्ञान), उसका कार्यभ्रम—प्रपञ्चभ्रम, उसका अधिष्ठान ब्रह्म। ब्रह्म में अज्ञान आरोपित है, अनारोपित नहीं है। अत: उक्त अनारोपितत्वरूप उपाधि पक्ष में न होने से साधनाव्यापकत्व उपाधि में है। इस प्रकार द्वितीय उपाधि का समन्वय हो गया। अब सिद्धान्ती व्यभिचारदोष दिखा रहें है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि भ्रम का हेतु चाकचिक्य, काचकामलादि का बाध नहीं होता है। सिद्धान्ती उसका बाध दिखाकर व्यभिचारदोष देंगे। उसके लिए कह रहे हैं कि समुद्र के बीच में काला समतल पत्थर पडा है। जो समुद्रतल से अधिक ऊँचा न होने से उसके ऊपर जलतरङ्ग जा रही है। ऐसे जल से सिञ्चित उस पत्थर के ऊपर सूर्य की किरण पडने से वह पत्थर चमकता है, ऐसा भ्रमज्ञान होता है। (क्योंकि वह पत्थर काला होने से चमकिला नहीं है)। उसके चमकने से उसका कालारूप दिखायी नहीं पडेगा, किन्तु वह एक सफेद चमकिला वस्तु है, ऐसी कल्पना होने से वह रजत है, ऐसा भी भ्रम हो जाता है। ऐसे स्थल पर जो भ्रम का हेतुभूत चाकचिक्यदोष है, वह व्यभिचारस्थल है। क्योंकि उसमें हेतु (भ्रमहेतुत्व) है? किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि काले पत्थर का ज्ञान होने पर रजत और चाकचिक्य दोनों

बाधदर्शनेन व्यभिचाराच्च ।। २५।।

ब्रह्मान्यदनादि परमार्थसत्, अनादित्वात्, ब्रह्मवदित्यपि न भद्रम्, ध्वंसाप्रतियोगित्व–स्योपाधित्वात् ।। २६।।

ब्रह्म देशकालसम्बन्धं बिना नावतिष्ठते, पदार्थत्वात्, घटवदित्यपि न, कालसम्बन्धं विना नावष्ठित इत्यस्य यदा ब्रह्म तदावश्यं कालसम्बन्ध इत्येवंरूपा व्याप्तिरित्यर्थः। तथा च सुस्थिरं सिद्धसाधनम्। न हि यस्मिन् काले ब्रह्म तस्मिन काले ब्रह्मणः कालसम्बन्धो नास्ति। एवं यत्रात्मा तत्र देशसम्बन्धः (कालसम्बन्धः) इति दैशिकव्याप्तावपि सिद्धसाधनम्। न हि देशकालासम्बन्धः कदाप्यस्ति। परममुक्तौ तु न देशो न काल इति सुस्थिरं सिद्धसाधनम्।।२७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का ही बाध हो जाता है। अर्थात् स्व–चाकचिक्य, उसका कार्यभ्रम–रजतभ्रम, उसका अधिष्ठान–काला पत्थर, उसका ज्ञान होने पर चाकचिक्य और रजतभ्रम दोनों का ही बाध हो जाता है। अतः साध्याभाववद्वृत्तित्व हेतु में होने से व्यभिचारदोष है।।२५।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेष पाँच अनादिपदार्थों में सत्यत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जा रहा है– ब्रह्म को छोडकर शेष पाँच अनादिपदार्थों को पक्ष बनाया गया है। परमार्थसत्त्व को साध्य और अनादित्व को हेतु बनाया गया है। दृष्टान्त ब्रह्म में अनादित्व और परमार्थसत्त्व होने से व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु के रहने से पक्षधर्मता भी है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षध– र्मतारूप परामर्श होने से पक्ष मे साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। यही पूर्वपक्षी का आशय है। इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यह अनुमान ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप उपा–धिदोष से ग्रस्त है, क्योंकि दृष्टान्त ब्रह्म में ध्वंसाप्रतियोगित्व रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है, किन्तु पक्ष में उपाधि नहीं है, क्योंकि उक्त पाँच अनादिपदार्थो को अनादि और सान्त माना जाता है। अतः उसमें ध्वंसप्रतियोगित्व ही है। इस प्रकार साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में है। सोपाधिक होने के कारण उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रस्त हो जाने के कारण अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अपितु उपाधि के अभाव को हेतु बनाकर उक्त पक्ष पर साध्याभाव का ही सिद्धि हो जायेगी। अनुमान का आकार होगा–'ब्रह्मान्यदनादि परमार्थसत्त्वाभाववत्, ध्वंसप्रतियोगित्वात्, घटवत्।।२६।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेषदेश और काल में सत्यत्वसाधक अनुमान किया जा रहा है। ब्रह्म देश और काल के सम्बन्ध के बिना नहीं रहता है। क्योंकि पदार्थ होने से, जैसे घट। पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि जो जो (घटादि) पदार्थ है वह देश–कालसम्बन्ध के बिना नहीं रहता है। अतः ब्रह्म भी एक पदार्थ है, इसलिए देश–काल के सम्बन्ध के बिना नहीं रहेगा। अतः देश–काल का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अविनाभाव होने के कारण देश–काल भी ब्रह्म के समान सत्य होने चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से पूछ रहे हैं कि–'कालसम्बन्धं विना नावतिष्ठते' इसका अर्थ–जिस काल में ब्रह्म है, उस काल में ब्रह्म के साथ काल का सम्बन्ध अवश्य रहेगा ऐसी कालिकव्याप्ति ले रहे हो? तब तो सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि जिस काल में ब्रह्म है उस काल में ब्रह्म के साथ काल का सम्बन्ध (आध्यासिकसम्बन्ध) हम भी मानते है। इसी प्रकार जिस देश में ब्रह्म है, उस देश में ब्रह्म के साथ देश का सम्बन्ध (ब्रह्म के साथ काल का सम्बन्ध) है। ऐसी दैशिकव्याप्ति लेने पर भी सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि बह्म के साथ देश और काल के सम्बन्ध का अभाव किसी भी काल में या देश में नहीं माना जाता है, क्योंकि व्यवहारकाल में ब्रह्म के साथ देशकाल का सम्बन्ध (अध्यासिकसम्बन्ध) माना ही जाता है। मुक्ति–अवस्था में देश–कालादि का अभाव

ब्रह्मान्यद्वेदैकगम्यं धर्मादि, परमार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वात्, ब्रह्मवदित्यपि न साधु; पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्योपाधित्वात् ।। २८।।

साक्षिवेद्यं सुखादि, परमार्थसत्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वात्, आत्मवदित्यपि न, शुक्तिरूप्यादिषु व्यभिचारात्। तेषां दोषजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि दोषाजन्यसाक्षिविषयत्वात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानभ्युपगमे दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। दोषजन्यज्ञानाविषयत्वविवक्षायां वाऽसिद्धो हेतुः, साक्ष्यवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, असद्गोचरशाब्दज्ञानात्मकविकल्पस्य दोषाजन्यत्वेनासति व्यभिचाराच्च। आत्मनो

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने से देश और काल के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार करना ही सम्भव नहीं है। अतः पूर्वोक्त सिद्धसाधनदोष बना ही रहेगा।।२७।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेष—घटादि में परमार्थसत्त्वसाधक—अनुमान का उपन्यास किया जा रहा है। ब्रह्म से भिन्न केवल वेद से गम्य धर्मादि परमार्थसत् है, क्योंकि उसमें श्रुति के तात्पर्य की विषयता है, जैसे ब्रह्म। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि, जैसे वेदों का मुख्य—तात्पर्य ब्रह्म में है, ठीक उसी प्रकार धर्म में भी है। अतः यदि श्रुतितात्पर्य के एक विषय ब्रह्म को परमार्थसत् माना जा सकता है, तब दूसरा धर्मरूप विषय को भी परमार्थसत् मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि इस अनुमान में 'पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व' उपाधि है। दृष्टान्त ब्रह्म में पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है और पक्ष धर्मादि में व्यावहारिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व है। अर्थात् जब तक तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता है तब तक व्यवहारदशा में धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का परिवर्जन करना चाहिए, यहीं व्यावहारिक श्रुतितात्पर्य है। ऐसा श्रुतितात्पर्यविषयत्व पक्ष में है, किन्तु पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व नहीं है। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में है। अतः सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्धिदोष से यह हेतु ग्रस्त है। अतः यह हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है।।२८।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेष—सुखादि में परमार्थसत्त्वसाधक अनुमानप्रयोग किया जा रहा है। इस अनुमान में साक्षिवेद्यसुखादि को पक्ष बनाया गया है। परमार्थसत्त्व को साध्य और दोषाजन्यज्ञान के प्रति अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्विषयत्व को हेतु बनाया गया है। इसमें दृष्टान्त आत्मा है। वेदान्तमहावाक्य से जन्य अखण्डाकारचितवृत्तिज्ञान दोष से अजन्य है और उसकी अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्विषयता आत्मा में है। इस प्रकार हेतु दृष्टान्त में गया और आत्मा में परमार्थसत्त्व है, अतः साध्य और हेतु दोनों ही दृष्टान्त में होने से व्याप्ति मिल गयी। साक्षी (साक्षिरूपज्ञान) नित्य होने के कारण दोष से अजन्य है, उसकी अनिषेध्यत्वेन साक्षाद् विषयता सुखादि में है। अतः पक्ष में हेतु होने से पक्षधर्मता भी है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श होने के कारण पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। यही पूर्वपक्षी का आशय है। हेतु के घटक अनिषेध्यत्व और साक्षादादि पदों का प्रयोजन नवम खण्ड में कहा जा चुका है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त हेतु में व्यभिचारदोष है, क्योंकि शुक्तिरजतादि में चाकचिक्यादि दोषजन्य—अविद्यावृत्ति की अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्विषयता होने पर भी दोषाजन्यसाक्षिज्ञान की अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्विषयता भी शुक्तिरूप्यादि में है। अतः शुक्तिरूप्यादि में हेतु के रहने और साध्य परमार्थसत्त्व के न रहने से व्याभिचारदोष है। उक्त अनुमान में शुद्धात्मा (ब्रह्म) को दृष्टान्त बनाने पर भामतीकार के मत में शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषय माना नहीं जाता है, क्योंकि भामतीकार के मत में वृत्ति का विषय वृत्ति—उपहितब्रह्म होता है। अतः दोषाजन्यवृत्तिज्ञान का विषय शुद्धब्रह्म न रहने के कारण दृष्टान्त में साधनविकलता भी है। यदि 'अनिषेध्यत्वेन दोषजन्यज्ञानं प्रति साक्षादविषयत्वात्' ऐसा हेतु बनायेंगे तो

वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे दोषजन्यदेहात्मैक्यभ्रमविषयत्वात् साधनविकलो दृष्टान्तः। तदनभ्युपगमे त्वविषयत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपतौ दोषजन्यज्ञानेति विशेषणवैयर्थ्याद् व्याप्यत्वासिद्धिः। तावन्मात्रञ्च पक्षे स्वरूपासिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः॥ २९॥

विमतं परमार्थसत्, स्वविषयज्ञानात्पूर्वभावित्वात्, आत्मवदित्यपि न, दृष्टिसृष्टिपक्षेऽसिद्धेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टान्त में साधनविकलता नहीं रहेगी, क्योंकि उक्त अविषयत्व शुद्धब्रह्म में है, किन्तु स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि अविद्यावृत्ति–उपहित (अवच्छिन्न) चैतन्य को साक्षी कहा जाता है। अतः सुख का साक्षी ज्ञान का अर्थ होगा–सुखाकार– अविद्यावृत्ति–उपहितचैतन्य। यहाँ पर अवच्छेदक अविद्यावृत्ति है। वृत्ति कार्य होती है। इसका कारण अविद्या है और अविद्या को दोष कहा जाता है। अतः अविद्यारूपदोष से जन्य सुख का ज्ञान है, क्योंकि अवच्छेदक सुखाकाराविद्यावृत्ति अविद्यारूपदोष से जन्य है। अतः अविद्यावृत्ति से अवच्छिन्न सुखादि का साक्षिज्ञान को भी दोष से जन्य मानना पडेगा। अतः सुख में दोषजन्यज्ञानविषयत्व होने से पक्ष में हेतु नहीं जायेगा। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इसी प्रकार वन्ध्यासुतादि असत्पदार्थों में हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि उनमें परमार्थसत्त्वरूप साध्य के न रहने पर भी हेतु है, क्योंकि शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्य–असत् की विकल्पात्मिका–वृत्तिरूप ज्ञान होता है, वह न तो चाकचिक्यादिदोष से जन्य होता है और वह अविद्यावृत्तिरूप न होने से अविद्यारूपदोष से जन्य भी नहीं होता है। अर्थात् असत् का कोई आकार–प्रकार होता ही नहीं। इसलिए तदाकार अविद्यावृत्ति नहीं बनती है। अतः असत् में दोष से जन्य ज्ञान की विषयता नहीं है, अर्थात् दोष से जन्य ज्ञान की अविषयता है। इस प्रकार असद्वन्ध्यासुतादि में हेतु चला जायेगा। दृष्टान्तरूप शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषय मानने पर दृष्टान्त में हेतु नहीं जायेगा, क्योंकि दोषजन्यदेहात्मैक्यरूप भ्रमज्ञान की विषयता ही उसमें है, अविषयता नहीं, क्योंकि उक्त भ्रमज्ञान का विषय देह और आत्मा दोनों ही है। शुद्धब्रह्म को वृत्ति का विषय न मानने पर हेतु का घटक 'दोषजन्यज्ञान' व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि 'अविषयत्व' इतना ही हेतु रखने पर दृष्टान्त में हेतु और साध्य दोनों के होने से व्याप्ति मिल जायेगी। अतः व्यर्थविशेषण होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धिदोष होगा। 'अविषयत्व' इतने ही भाग को हेतु बनाने पर पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि साक्षिज्ञान के विषयीभूत सुखादि में अविषयत्वरूप हेतु नहीं रहेगा॥२९॥

पूर्वपक्षी के द्वारा व्यावहारिकप्रपञ्च में सत्यत्वसाधक–अनुमान किया जा रहा है। 'विमतं परमार्थसत्, स्वविषयज्ञानात्पूर्वभावित्वात्, आत्मवत्'। यहाँ न्यायामृतानुसार हेतुस्थ ज्ञानपद से साक्षात्कारात्मकज्ञान लेना चाहिए। अर्थात् व्यावहारिकप्रपञ्च में परमार्थसत्त्व है, क्योंकि वह अपने प्रत्यक्षज्ञानकाल के पूर्व में रहता है, जैसे आत्मा। यहाँ पर पूर्वपक्षी का आशय यह है कि असत्पदार्थ की किसी काल में सत्ता ही नहीं होती है और प्रातिभासिकरजतादि पदार्थ की सत्ता प्रतीतिकाल में ही होती है, प्रतीति के पूर्वकाल में नहीं, किन्तु घटादि व्यावहारिकपदार्थ और पारमार्थिक–आत्मा अपनी प्रत्यक्षप्रतीति के जनक होने के कारण ज्ञान से पूर्वभावी होते है। अतः जब अपनी प्रतीति के पूर्वभावी आत्मा को सत् माना जाता है, तब अपनी प्रतीति के पूर्वभावी प्रपञ्च को भी सत् मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टिसृष्टिपक्ष में, अर्थात् जिन आचार्यों के मत में दृष्टिसमानकालीन सृष्टि मानी जाती है, उनके मत में दृष्टि अर्थात् स्वविषयकज्ञान के पूर्वकाल में प्रपञ्च की सत्ता न होने से हेतु पक्ष में न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष है। उक्त अनुमान में 'अनादित्व' उपाधि भी है। दृष्टान्त आत्मा में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है और पक्ष घटादिप्रपञ्च में अनादित्व के न रहने से साधनाव्यापकत्व भी है। अतः सोपाधिक होने के कारण उक्त हेतु में व्याप्यत्वासिद्धिदोष है। अतः वह अपने

विषमव्याप्तस्यानादित्वस्योपाधित्वाच्च ।। ३०।।

अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्वम्, एतद्घटसमान–कालीनावृत्ति, अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्तित्वात्,

कैलासविद्याप्रकाशिका

अन्योन्याभाव से भिन्न एतद्घटसमानाधिकरण और एतद्घटप्रतियोगिक जो अभाव, तादृश अभाव में रहने वाला जो अभावत्व, वह एतद्घटसमानाधिकरण पदार्थ में अवृत्ति है, क्योंकि उस अभावत्व की अन्योन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घटसमानाधिकरण और एतद्घटप्रतियोगिक अभाव मात्र में वृत्तिता है। जैसे एतद् घटप्रागभावत्व। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव मानने वालों के मत में पटत्वेन एतद्घटात्यन्ताभाव को लेकर व्यभिचारदोष होगा। इसलिए एतद्घटप्रतियोगिकाभाव का

सत्यानन्दप्रबोधिका

साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है, अपितु उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान ही उसी पक्ष पर हो जायेगा–' विमतं परमार्थसत्त्वाभाववत्, अनादित्वाभावात्', शुक्तिरूप्यवत्। यहाँ पर विशेष बात यह भी है कि उक्त उपाधि साध्य की केवल विषमव्याप्त है, समव्याप्त नही है। अर्थात् जहाँ–जहाँ साध्य है वहाँ उपाधि है, ऐसी व्याप्ति ही मिल सकती है और जहाँ–जहाँ उपाधि है वहाँ साध्य है, ऐसी व्याप्ति नहीं मिल सकती है। क्योंकि ब्रह्म को छोडकर अनादि पाँच पदार्थों में उपाधि (अनादित्व) है, किन्तु साध्य (परमार्थसत्त्व) नहीं है।। ३०।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अनात्मविशेषघट में सत्यत्वसाधक–अनुमान किया जा रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतसिद्धान्त में जिसकाल में जो वस्तु जहाँ रहती है, वहीं पर उसका अभाव मानकर उसको मिथ्या कहा जाता है, किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व–एतद्घटसमानकालीन जो पदार्थ उसमें अवृत्ति होता है, क्योंकि अन्योन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिकाभावमात्र में उसकी वृत्तिता रहती है जैसे एतद्घटप्रागभावत्व। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घट का जो अधिकरण कपाल है, उसमें एतद्घटप्रतियोगिकप्रागभाव रहता है। ऐसे प्रागभावमात्र में रहने वाला प्रागभावत्व ही होता है। अतः एतद्घटप्रागभावत्व उक्तप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्ति है। इसलिए उक्त वृत्तित्व एतद्प्रागभावत्व में चले जाने से हेतु दृष्टान्त में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–एतद्घटप्रागभाव एतद्घटसमानकालीन नहीं होता है। अतः एतद्घटप्रागभावत्व भी एतद्घटसमकालीनपदार्थ में नही रहेगा। अर्थात् एतद्घटसमकालीनावृत्ति होगा। अतः एतद्घटसमानकालीनावृत्तित्व एतद्घटप्रागभावत्व में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय–उक्त अभावत्वरूप जो पक्ष है, वह अन्योऽन्याभावातिरिक्त–एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिक–अभावमात्र में रहता है। अतः उक्त अभावत्व उक्त अभावमात्रवृत्ति हुआ। इसलिए उक्त अभावमात्रवृत्तित्वरूप हेतु उक्त अभावत्वरूप पक्ष में चला गया। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्ष–धर्मतारूप परामर्श के मिल जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। यही पूर्वपक्षी का आशय है। पक्ष में एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिक जो अभाव, उसका विशेषण अन्योऽन्याभावातिरिक्तत्व बाधदोष वारण करने के लिए दिया गया। अन्यथा 'एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व' इतना कहने पर अभाव पद से अन्योऽन्याभाव ले लेंगे। एतद्घट के अधिकरण कपाल में एतद्घटप्रतियोगिकान्योऽन्याभाव–एतद्घटकाल में रहता है, ऐसा पूर्वपक्षी भी मानता है। एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिक–अन्योन्याभाव है एतद्घटसमानकालीन, अतः उक्त अन्योन्याभावत्व हो गया एतद्घटसमानकालीनवृत्ति। अतः एतद्घटसमानकालीनवृत्तित्व ही एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिकान्योऽन्याभावत्व में रहने से बाध

एतद्घटप्रागभावत्ववत्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणीयम्। अत्र च स्वसमानाधिकरणः स्वसमानकालीनो योऽत्यन्ताभावस्तद–

कैलासविद्याप्रकाशिका

विशेषण ''व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्न'' देना चाहिए। इस प्रकार इस अनुमान से एतद्घटसमानाधिकरण और एतद्घटसमानकालीन जो अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्वरूप सत्त्व एतद्घट में सिद्ध होगा। ऐसा सिद्ध होने से स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि एतद्घट में नहीं हो पायेगी। यही पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का यह अनुमान भी समीचीन नहीं है, क्योंकि साधनावच्छिन्न साध्य के व्यापक

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष होगा, क्योंकि साध्य है एतद्घटसमानकालीनावृत्तित्व। अन्योऽन्याभावातिरिक्तत्व विशेषण देने से अभाव पद से अन्योऽन्याभाव को लेकर उक्त प्रकार से बाध दोष नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार उक्त अभाव का विशेषण एतद्घटसमानाधिकरण भी बाधदोष वारण करने के लिए दिया गया है। अन्यथा घट के अनधिकरणीभूत तन्तु आदि में एतद्घटप्रतियोगिकाभाव एतद्घटकाल में रहने से एतद्घटप्रतियोगिकाभाव हो गया एतद्घटसमानकालीन। एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व हो गया एतद्घटसमानकालीनवृत्ति। अतः उक्त वृत्तिका चला गया एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व में, इसलिए बाध दोष होगा। क्योंकि साध्य है–एतद्घट के समानकाल में अवृत्तित्व। एतद्घटसमानाधिकरण कहने पर तन्तु–आदि में रहनेवाला अभाव एतद्घटसमानाधिकरण नहीं होता है। अतः तन्त्वादिगत अभाव को लेकर बाधदोष नहीं होगा। इसी प्रकार एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व न कह कर अन्योऽन्याभावातिरिक्त–एतद्घटसमानाधिकरणत्वम्–इतना ही कहने पर एतद्घटसमानाधिकरण होगा–कपालनिष्ठरूपादि जो कि एतद्घटसमानकालीन भी है। अतः एतद्घटसमानाधिकरणत्व हो गया एतद्घटसमानकालीनवृत्ति। अतः तादृशवृत्तित्व–एतद्घटसमानाधिकरणत्व में चला गया। जब कि साध्य है तादृश अवृत्तित्व। अतः बाधदोष होगा। एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व कहने पर कपाल के रूपादि को नहीं ले सकते है, क्योंकि रूपादि भावपदार्थ है। अतः बाधदोष का वारण हो जायेगा। इसी प्रकार अभावत्व का विशेषण एतद्घटप्रतियोगिकत्व न देने पर, अर्थात् 'अन्योऽन्याभावातिरिक्त एतद्घटसमानाधिकरणाभावत्वम्' इतना ही पक्ष बनाने पर एतद्घट के अधिकरण कपाल में पट का अत्यन्ताभाव लेंगे, वह एतद्घट के काल में रहता है। अर्थात् तादृश–एतद्घटसमानाधिकरणाभाव हो गया उक्त पटाभाव, जो कि एतद्घटसमानकालीन भी है। अतः तादृश समानाधि– करणाभावत्व होगा एतद्घटसमानकालीनवृत्ति। अतः तादृशवृत्तित्व, तादृश–अभावत्व (पक्ष) में गया, तादृश अवृत्तित्वरूप साध्य नहीं गया। अतः बाधदोष होगा। एतद्घटप्रतियोगिकत्व कहने पर पटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव लेकर बाधदोष नहीं होगा। इसी प्रकार अभात्व न कहने पर, अर्थात् अन्योऽन्याभावातिरिक्त–एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिकत्वम्' इतना ही पक्ष बनाने पर एतद्घट के अधिकरण कपाल में एतद्घटप्रतियोगिकसमवाय एतद्घटकाल में ही रहता है, क्योंकि अभाव के समान ही सम्बन्ध, सादृश्यादिपदार्थ भी सप्रतियोगिक और सानुयोगिक माने जाते है। अर्थात् तादृश एतद्घटप्रतियोगिक होगा तादृश–समवाय, जोकि एतद्घटसमानकालीन भी है, अतः तादृश–प्रतियोगिकत्व होगा तादृशसमानकालीनवृत्ति। अतः तादृशवृत्तित्व चला गया तादृशप्रतियोगिकत्व (पक्ष) में, तादृश अवृत्तित्वरूप साध्य नहीं गया। अतः बाधदोष होता। इसलिए अभावत्व कहा गया है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि पूर्वोक्त प्रकार का पक्ष रखने पर भी बाध दोष होगा, क्योंकि जो लोग व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव मानते है, उनके मत में पटत्वेन घट का अभाव लेंगे, वह अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घट के अधिकरण कपाल में है और घटप्रतियोगिकाभाव भी है, किन्तु वह घट के समानकाल में रहता है। अतः उक्त पटत्वेन

प्रतियोगित्वलक्षणसत्त्वसिद्धिरित्यपि न साधुः। साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्यैतद्घटप्रतियोगिक–जन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वस्योपाधित्वात्। न च पक्षीभूतधर्मस्यात्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहे

कैलासविद्याप्रकाशिका

एतद्घटप्रतियोगिक जन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि इस अनुमान में है।

शङ्का– पक्षीभूतधर्म (अन्योन्याभावातिरिक्त–एतद्घटसमानाधिकरण–एतद्घटप्रतियोगिक जो अभाव उसमें रहने वाला जो अभावत्व) के अत्यन्ताभाववृत्तित्व का सन्देह होने पर साधनाव्यापकत्व का सन्देह होता है।

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट का अत्यन्ताभाव में जो अभावत्व है, वह घटसमकालीनवृत्ति है। इसलिए उक्त अभावत्व में एतद्घटसमानकालीनावृत्तित्व न होने से, अर्थात् वृत्तित्व होने से बाधदोष होगा। इसका समाधान देते हुए पूर्वपक्षी कर रहा है कि जो लोग व्याधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाव मानते है, उनके मतानुसार प्रसक्त बाधदोष का निराकरण करने के लिए पक्ष का विशेषण व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक दे देनाा चाहिए। अर्थात् पक्ष का आकार होगा–'अन्योऽन्याभावातिरिक्तैतद्घट–समानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकव्यधि–करणधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वम्'। इस अनुमान से पूर्वपक्षी यह सिद्ध कर रहा है कि एतद्घट का अत्यन्ताभाव स्वसमानकालीन नहीं है। घट को मिथ्या मानने वालों के मत में एतद्घट का अत्यन्ताभाव को एतद्घटसमानकालीन माना जाता है। इसलिए पूर्वपक्षी एतद्घटसमाना– धिकरणएतद्घटसमानकालीन जो एतद्घट का अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व एतद्घट में सिद्ध कर रहा है, जिससे एतद्घट सत्य सिद्ध हो सके। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी का उक्त अनुमानप्रयोग भी समीचीन नहीं है। अर्थात् उक्त अनुमान घटादि अनात्मविशेष में सत्यत्व का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि इस अनुमान में एतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्व उपाधि है। अर्थात् एतद्घटप्रतियोगिक और एतद्घट का जनक–एतद्घट का प्रागभाव और एतद्घटप्रतियोगिक और एतद्घट से जन्य–एतद्घट का ध्वंसाभाव। इन दोनों (प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव) में से अन्यतरमात्र में रहनेवाला। दृष्टान्त में पूर्वोक्त प्रकार से साध्य है और उपाधि भी है, क्योंकि एतद्घटप्रागभाव–एतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतर है। अतः एतद्घटप्रागभावत्व–एतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरवृत्ति होगा। उक्त प्रागभावत्व में वृत्तित्व रहेगा। अतः उक्त वृत्तित्व एतद्घटप्रागभावत्व में चले जाने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में मिल जायेगा। पक्ष में हेतु है, किन्तु अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घटसमानाधिक– रणैतद्घटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वरूप पक्ष में उपाधि नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती एतद्घट के अधिकरण में एतद्घट का अत्यन्ताभाव मानते हैं। अतः एतद्घटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्व पक्ष के अन्तर्गत है, किन्तु उक्त अत्यन्ताभावरूपपक्ष में एतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वरूप उपाधि नहीं हैं, क्योंकि उक्त उपाधि प्रागभावत्व और प्रध्वंसाभावत्व में ही रहती है। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता भी मिल गयी। इस प्रकार उक्त हेतु सोपाधिक हो जाने से व्याप्यत्वासिद्धिदोष से ग्रसित हो गया। अतः वह हेतु अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। प्रश्न होता है कि मूल में साधनावच्छिन्नसाध्य का व्यापक उपाधि को क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि यदि 'साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकता' यह उपाधि विशेषण नहीं देते तो उपाधि में साध्य की व्यापकता नहीं मिलती, क्योंकि आकाश कहीं नहीं रहता है, ऐसा पूर्वपक्षी मानता है। अतः आकाश एतद्घटसमानकालीनपदार्थों में भी नहीं रहेगा। इसलिए आकाश एतद्घटसमानकालीनावृत्ति है। अतः उक्त अवृत्तित्वरूपसाध्य आकाश में है किन्तु आकाश में उपाधि नहीं हैं, क्योंकि उक्त अन्यतरमात्रवृत्तित्व

साधनाव्यापकत्वसन्देह इति वाच्यम्, विपक्षसाधकतर्कानवतारदशायां सन्दिग्धोपाधेरपि दूषणत्वसम्भवात्; घटात्यन्ताभावत्वे च व्यभिचारात्, संयोगसंबन्धेन घटवत्यपि भूतले

कैलासविद्याप्रकाशिका

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि साध्यसाधनव्यभिचारशङ्कारूप विपक्ष के बाधकतर्क की अनवतार दशा में सन्दिग्ध उपाधि को भी दूषण के रूप से मानना सम्भव है और घटात्यन्ताभाव में व्यभिचारदोष भी है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से घट वाले भूतल में समवायसम्बन्ध से घटात्यन्ताभाव होने से साध्याभाव वाले भूतल में हेतु की वृत्ति है। इस प्रकार से सुचतुर ब्रह्मवादी गण पूर्वपक्षियों के प्रपञ्चगत सत्यत्व साधक अनुमानों का सुगमतापूर्वक निराकरण कर सकते हैं। इस विषय में विस्तार

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपाधि है। जबकि आकाश की कही पर वृत्तिता ही नहीं मानी जाती है। जब साधनावच्छिन्नसाध्य का व्यापक उपाधि लेंगे तोसाधनावच्छिन्नसाध्य, अर्थात् उक्तवृत्तित्व से अवच्छिन्न साध्य का व्यापक उपाधि लेने पर साध्य आकाश में नहीं जायेगा, क्योंकि आकाश की वृत्तिता कही पर मानी ही नहीं जाती है। इसलिए आकाश में साध्य और उपाधि दोनों के ही न रहने से कोई भी दोष नहीं है। इसी प्रकार यदि उपाधिघटक मात्रपद नहीं देते तो उपाधि प्रमेयत्व में चली जाती क्योंकि प्रमेयत्व केवलान्वयिधर्म है। अतः उक्त अन्यतर में भी प्रमेयत्व रहेगा। इसलिए प्रमेयत्व उक्त अन्यतरवृत्ति है। अतः उक्तवृत्तित्वरूप उपाधि प्रमेयत्व में चली गयी, किन्तु प्रमेयत्व में साध्य नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्व जब सर्वत्र रहता है, तब तो एतद्घटसमानकालीन सभी पदार्थों में रहेगा ही। अतः प्रमेयत्व एतद्घटसमानकालीनवृत्ति होगा। इसलिए उक्त वृत्तित्व ही प्रमेयत्व मे गया, अवृत्तित्व नहीं गया। इस प्रकार प्रमेयत्व में उपाधि रह गयी किन्तु साध्य नहीं रहा। प्रश्न होता है कि 'यत्र यत्र साध्यः तत्र तत्र उपाधिः' ऐसी व्याप्ति मिल रही है तो हानि क्या हुयी? जिसके वारण के लिए मात्र पद दे रहे हो। इसका समाधान यह हे कि उपाधि का साध्य का समव्याप्त दिखाना पड़ता है। अतः जब 'यत्र यत्र उपाधिः तत्र तत्र साध्यः' ऐसी व्याप्ति लेंगे तब प्रमेयत्व में उपाधि के रहने पर भी साध्य के न रहने से व्याप्तिभङ्ग हो जायेगी। मात्रपद देने पर उपाधि प्रमेयत्व में नही जायेगी, क्योंकि प्रमेयत्व उक्त अन्यतर में ही नहीं रहता, अपितु अन्यत्र भी रहता है। अतः प्रमेयत्व में उपाधि और साध्य दोनों के ही न होने से उक्त दोष का वारण हो जायेगा। अर्थात् उपाधि में साध्य की समव्याप्ति की सिद्धि के लिए मात्र पद दिया गया है। प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी एतद्घटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव को एतद्घटसमानाधिकरण नहीं मानता है। अतः उक्त अभावत्वधर्म पूर्वपक्षी के मत से एतद्घटसमाना–धिकरण एतद्घट के अत्यन्ताभाव में नहीं रहेगा। किन्तु सिद्धान्ती एतद्घटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव को एतद्घटसमानाधिकरण मानते है। अतः उक्त अभावत्व–धर्म सिद्धान्ती के मत से एतद्घटसमानाधि– करण एतद्घट के अत्यन्ताभाव में रहेगा। अतः एक के मत से है और दूसरे के मत से नहीं होने से संदेह होगा। इसलिए पक्ष में उपाधि नहीं है, इसका भी संदेह होगा। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व है, इसमें भी संदेह हो जायेगा। सन्दिग्ध उपाधि के अभाव को हेतु बनाकर पक्ष में साध्याभाव का अनुमान, अथवा हेतु में व्यभिचारित्व का अनुमान नहीं किया जा सकता है। इसका समाधान यह है कि स्थापनानुमान में विपक्षबाधकतर्क की अस्फूर्ति होने पर सन्दिग्ध उपाधि भी व्यभिचारादि की उन्नायक मानी जाती है। विपक्षबाधकतर्क के सद्भाव में सन्दिग्ध उपाधि व्यभिचारादि की उन्नायक नहीं होती है। कहने का तात्पर्य है कि सिद्धान्ती के द्वारा पक्षीभूत–धर्म (अभावत्व)) में अत्यन्ताभाववृत्तित्व जो माना गया, उसका जब तक खण्डन नहीं हो जाता तब तक अभावत्व में

समवायसम्बन्धेन घटात्यन्ताभावसत्त्वात्, साध्याभाववति हेतोर्वृत्तेरित्यलमतिविस्तरेण ।।३१।।

— इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गः —

कैलाशविद्याप्रकाशिका

से अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।।३१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामि–विशुद्धानन्दगिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां कैलासविद्याप्रकाशिकायां विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गपर्यन्तविवरणं समाप्तम्।

।। श्रीशङ्करः प्रीयताम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अत्यन्ताभाववृत्तित्व को मानकर साधनाव्यापकत्व उपाधि में दिखाया जा सकता है। उक्त अनुमान के हेतु में व्यभिचारदोष भी है, क्योंकि जिस भूतल में संयोगसम्बन्ध से घट है, उसी भूतल में समवायसम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव भी है। उसके धर्मभूतघटात्यन्ताभावत्व में एतद्घटसमानकालीनावृत्तित्वरूप साध्य नहीं है, क्योंकि उसमें तो एतद्घटसमानकालीनवृत्तित्व ही है। ऐसे साध्याभाववाले उक्त घटात्यन्ताभाव में उक्त अभावमात्रवृत्तित्व ही है। अतः व्यभिचारदोष से भी हेतु ग्रस्त है।। ३१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्य–स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गपर्यन्तविवरणं समाप्तम्।

।। श्री शङ्करः प्रीयताम्।।

॥ ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्॥

अद्वैतसिद्धिः

श्रीस्वामिविशुद्धानन्दगिरिप्रणीता प्रश्नोत्तरी

प्रश्नः१— **सदसद्विलक्षणत्वरूपं मिथ्यात्वं यथाशास्त्रं समीक्ष्यताम्?**

उत्तरम्— सिद्धान्तिना पक्षान्तरनिषेधेन मिथ्यात्वं पञ्चधा उक्तम्। तत्र प्रथमं लक्षणम्- 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' इति पञ्चपादिकारीत्या सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपानिर्वाचयत्वं मिथ्यात्वम्। पूर्वपक्षी त्रिधा विकल्प्य तद् दूषयितुमाह- न तावत् सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्। तद्धि सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावो वा सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावधर्मद्वयं वा सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वं वा? नाद्यः मन्मते सदेकस्वभावे जगति तस्याप्रसिद्धत्वात्। अतः विशिष्टाभावसाधने सिद्धसाधनदोषापत्तिः स्यात्। न द्वितीयः- परस्परविरहरूपयोर्धर्मयोरेकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनाऽन्तरीयकत्वात् सत्त्वात्यन्ताभावे साध्येऽसत्त्वस्यैव प्राप्त्या पुनरसत्त्वात्यन्ताभावे साध्ये व्याघातः। परस्पराभावरूपत्वेन विरुद्धयोरेकत्र युगपन्निषेधायोगात्। एवमसत्त्वात्यन्ताभावे साध्ये सत्त्वस्यैव प्राप्त्या पुनः सत्त्वात्यन्ताभावे साध्ये पूर्ववदेव व्याघातः। इत्थं प्रकारेण व्याघातमुक्त्वाऽर्थान्तरमाह—यथा निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्त्वासत्त्वयोरभावेऽपि तस्य सद्रूपत्वं सिद्धान्तिभिरङ्गीक्रियते, तथैव प्रपञ्चस्यापि सत्त्वासत्त्वराहितत्वेन सद्रूपत्वं स्यात्। प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे च तस्य सद्रूपत्वविरोधिमिथ्यात्वासिद्ध्याऽर्थान्तरं स्यात्। अर्थान्तरमुक्त्वा साध्यवैकल्यमाह—शुक्तिरूप्यस्य बाध्यत्वेनाबाध्यत्वरूपसत्त्वस्याभावेऽपि बाध्यत्वरूपा—सत्त्वस्याभावासम्भवात् दृष्टान्तीकृते शुक्तिरजते सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयसाध्य—स्याभावेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। द्वितीयकल्पवदेव तृतीयकल्पोऽपि न समीचीनः। अर्थात् यथा द्वितीयः कल्पः उक्तव्याघातादिदूषणत्रयग्रस्तत्वान्न युक्तस्तथाऽयं तृतीयोऽपि कल्पः पूर्वोक्तव्याघातादिदूषणत्रयग्रस्तत्वादेव न युक्तः। इत्थं प्रकारेण पूर्वपक्षिणा सदसत्त्वानधि—करणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वं त्रिधा विकल्प्य त्रिषु विकल्पेषु दोषाः प्रदर्शिताः। तदनन्तरं सिद्धान्ती पूर्वपक्षिप्रदर्शितदूषणसमाधानार्थमाह- यद्यपि सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभावपक्षो न क्षोदक्षमः, तथापि द्वितीयतृतीयपक्षौ विचारसहावेवेति न मिथ्यात्वनिर्वचनासम्भवः। तथाहि- सत्त्वासत्त्वयोरेका—भावेऽपरसत्त्वस्यावश्यकत्वेन या व्याहतिरूक्ता सा किं सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया? अथवा परस्परविरहव्यापकतया? अथवा परस्परविरहव्याप्यतया? नाद्यः सिद्धान्तिमते त्रिकालाबाध्यत्वरूपं सत्त्वं, तद्व्यतिरेकः नासत्त्वमित्यभ्युपगतम्। तदभ्युपगमे हि परस्पराभावरूपतया व्याघातः स्यात्। यदि सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वं सिद्धान्तिना नाङ्गीक्रियते, तर्हि सत्त्वमसत्त्वञ्च सिद्धान्तिमते कीदृग् भवति? इत्याह सिद्धान्ती-त्रिकालाबाध्यत्वं सत्त्वम्। क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानाधिकरणत्वमसत्त्वञ्च, तयोरभावः साध्यत्वेन विवक्षितः। तथा च सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वाभावेन व्याघातशङ्का निरस्ता। पूर्वोक्त प्रकारेण सत्त्वासत्त्वयोः परस्पर विरहरूपतया व्याघातो न सम्भवतीत्युक्त्वा सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहव्यापकतयाऽऽशङ्कित व्याघातं निराकुर्वन् सिद्धान्ती आह- सत्त्वाभावस्य व्यापकमसत्त्वं न भवति, यतः त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वस्याभाववति शुक्तिरजते माध्वमते बाध्यत्वरूपासत्त्वस्य विद्यमानत्वेन व्यापकतालाभेऽपि सिद्धन्तिना विवक्षितस्यासत्त्वस्य क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वस्य शुक्तिरजतेऽभावात् व्यापकताभङ्गः। शुक्तिरजते त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वं नास्ति,

क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूपासत्त्वमपि नास्ति। शुक्तिरजतं सदिति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वात्। सत्त्वाभाववति शुक्तिरजते यद्यसत्त्वं स्यात्तर्हि सत्त्वाभावव्यापकताऽसत्त्वस्य लभ्येत। सा तु नास्ति। तथा च सत्त्वाभावः शुक्तिरजतान्तर्भावेऽसत्त्वव्यभिचारी। एवमसत्त्वाभाववति ब्रह्मणि अबाध्यत्वरूपसत्त्वस्य विद्यमानत्वेन सत्त्वस्याप्यसत्त्वव्यभिचारत्वमपि बोध्यम्। तथा च परस्परविरहव्यापकत्वरूपो द्वितीयोऽपि विकल्पो निरस्तः। अत एव परस्परविरहव्याप्यत्वपक्षोऽपि निरस्तः। गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोर्गजे सामानाधिकरण्यदर्शनेन तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात्। 'केवलो निगुर्णः' इति श्रुत्या निर्धर्मकत्वेनावगतस्य ब्रह्मणः श्रुतिप्रमितत्वेन सद्रूपत्वाङ्गीकारेऽप्यतादृशस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपाङ्गीकारायोगात्। एकपक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानेकध—र्मसाधने सिद्धसाधनाभावस्य भवदीयग्रन्थ एव प्रतिपादनात्, कस्यापि दोषस्याभावेन द्वितीयः पक्षः समीचीन एव। यदि तु प्रत्यक्षप्रमितत्वेन प्रपञ्चस्यापि सद्रूपत्वसिद्धिः स्यात्, प्रत्यक्षमेवाऽऽगमात् प्रबलमिति च विभाव्यते, तदापि तुष्यतुदुर्जनन्यायेनार्थान्तराभावोपपादनार्थं सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं साध्यमिति भेदघटितसाध्यमङ्गीकृतं सिद्धान्तिना। अत एव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं साध्यमिति तृतीयपक्षेऽप्युक्तव्याघातादीनां नावसरः। एवं शुक्तिरूप्ये सत्त्वाभावविशिष्टासत्त्वाभावप्रसिद्ध्या नाप्रसिद्धविशेषणत्वमिति सर्वथापि सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिरप्रत्यूहैव॥ १ ॥

प्रश्नः२— द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणमुपपाद्यताम्?

उत्तरम्— पञ्चपादिकाविवरणकृतां प्रकाशात्मश्रीचरणानां मतमनुसृत्य मिथ्यात्वं निरूपयन् विवरणवाक्यमेव तात्पर्यतो दर्शयति सिद्धान्ती—प्रतिपन्नोनाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। विवरणे हि प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वम्, बाधकज्ञानसिद्धस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्यात्वस्येत्यादिकमुक्तम्। अस्मिन् मिथ्यात्वानुमाने 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुत्यर्थे विवदमानं प्रति विवरणाचार्यैरिदं मिथ्यात्वलक्षणमुक्तम्। प्रतिपन्नः स्वप्रकारकधीविशेष्यो य उपाधिरधिकरणं तन्निष्ठो यः त्रैकालिकात्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वमित्यर्थः। अत्रोपाधिपदम्- उप समीपे आधीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्याधिकरणपरम्। प्रतिपन्नत्वं चात्र न प्रमितत्वम्, तथा सति प्रतियोग्याधारत्वेन प्रमितेऽधिकरणे प्रतियोगिनः त्रैकालिकात्यन्ताभावे विरोधः स्यात्। नापि भ्रान्तिप्रतिपन्नत्वम्, तथा सति प्रतियोग्याधारत्वेन भ्रान्त्या प्रतीतेऽधिकरणे प्रतियोगिनः त्रैकालिकाभावस्य इष्टत्वेन सिद्धसाधनं स्यात्। तथा चात्र प्रतिपन्नत्वं प्रतिपत्तिर्न प्रमारूपा, नापि भ्रान्तिरूपा, अपितु भ्रमप्रमासाधारणी प्रतीतिरेव। तस्मात्प्रतिपन्नत्वं प्रतीतत्वं स्वप्रकारकधीविशेष्यमिति यावत्। अत्र पूर्वपक्षी शङ्कते—सिद्धान्तिना मिथ्यात्वघटकतया यस्त्रैकालिकनिषेध उक्तः सःतन्मते तात्त्विको वा प्रातिभासिको वा व्यावहारिको वा? प्रथमपक्षस्वीकारे प्रपञ्चतादात्म्यापन्ने ब्रह्मणि प्रपञ्चनिषेधस्य तात्त्विकत्वे पारमार्थिकत्वेऽद्वैतसिद्धान्तस्य हानिः स्यात्। कस्मात्? ब्रह्मणः प्रपञ्चनिषेधस्य च तात्त्विकत्वेन पारमार्थिकवस्तुद्वयाङ्गीकारात्। सिद्धान्तहानिभिया निषेधस्य तात्त्विकत्त्वमद्वैतसिद्धान्तिना नाङ्गीकर्तुं शक्यत इति भावः। द्वितीये त्रैकालिकनिषेधस्य प्रातिभासिकत्त्वे सिद्धसाधनमेव स्यात्। कथम्? ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य प्रातिभासिकत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वे प्रतियोगिप्रपञ्चस्य सत्यत्वाविरोधेन तादृशप्रतियोगित्वसाधने माध्वमतसिद्धस्य साधनमेव स्यात्। तृतीयपक्षस्वीकारे प्रपञ्चप्रतियोगिकत्रैकालिकनिषेधस्य व्यावहारिकत्वेन ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वे प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वाविरोधादर्थान्तरम्। ब्रह्मज्ञानबाध्यप्रपञ्चनिषेधाधिकरणे प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य सर्वथाऽ-बाध्यत्वेनाप्युपपत्त्याऽर्थान्तरम्। व्यावहारिकनिषेधेन प्रतियोगिना व्यावहारिकत्वापहारेऽपि

पारमार्थिकत्वानपहारादिति भावः। निषेधस्य व्यावहारिकत्वपक्षे दोषान्तरमप्यस्ति। विप्रतिपत्तिविवेचनावसरे सिद्धान्तिना प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं यन्मिथ्यात्वं तत् 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतिप्रतिपाद्यमित्युक्तम्। प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य च व्यावहारिकत्वाङ्गीकारे ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वेन मिथ्यात्वात्। मिथ्याभूतार्थतात्पर्यिकायाः 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्याद्यद्वैतश्रुतेरबाधितार्थप्रतिपादकत्वाभावेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अस्मिन्नेव तृतीयपक्षे दूषणान्तरमाह– प्रपञ्चप्रतियोगिकव्यावहारिकनिषेधस्य प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वं स्यात्। तथा च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकत्वे प्रातिभासिकत्वे व्यावहारिकत्वे वा पूर्वोक्तदुषणगणग्रासात्तादृशो निषेधो न निरूपयितुं शक्यत इति पूर्वपक्षिण आशयः। यद्दूषणं पूर्वपक्षिणोक्तं तत्समाधातुमाह सिद्धान्ती- ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य यस्त्रैकालिको निषेधः स च तात्त्विकोऽपि निषेधाधिकरणीभूतब्रह्मणोऽत्यन्ताभिन्नः। अत्यन्ताभिन्नत्वादेव च निषेधस्य नाद्वैतहानिकरत्वम्। ब्रह्मभिन्नस्य तात्त्विकवस्तुनः सत्त्व एवाद्वैतहानिरिति भावः। ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य यः त्रैकालिको निषेधः स च न प्रातिभासिकः किन्तु व्यावहारिकः। व्यावहारिकत्वेऽपि निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकस्यैव तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वमिति स्वाप्ननिषेधबाधितस्वाप्नार्थदृष्टान्ते नाभ्युपगमनीयतया निषेधबाध्यत्वस्य तात्त्विकसत्ता, विरोधित्वाभावेनोक्तार्थान्तिरबाधयोरनवकाशः एवं यत्र हि निषेधस्य निषेधेन प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते तत्रैव निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिनोऽधिकसत्ताकत्वमिति प्रकृते प्रपञ्चनिषेधनिषेधेनानुमानेन श्रुत्या वा प्रपञ्चस्यापि निषेधान्न प्रपञ्चाधिकसत्त्वापत्तिः, एवमतात्त्विकं प्रपञ्चमतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेर्न प्रामाण्यानुपपत्तिः। पुनः पूर्वपक्षी शङ्कते–किं स्वरूपावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्रैकालिकनिषेधः पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्रैकालिकनिषेधो वा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुत्यैतद्द्वितीयमिथ्यात्वानुमानेन वा बोध्यते। उक्तद्विविधस्यापि धर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वासम्भवोऽस्ति। कुतोऽसम्भवः? इत्याह– वियदादिव्यावहारिकप्रपञ्चस्य प्रातिभासिकशुक्तिरजतादेश्च स्वरूपमसद्विलक्षणमेवेतिप्रदर्शनाय श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकत्वमर्थक्रियासमर्थत्वमविद्योपादानकत्वं तत्त्वज्ञाननाश्यत्वञ्चेति विशेषणचतुष्टयं पक्षदृष्टान्तसाधारणमुपात्तम्। स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वे प्रपञ्चस्यासद्वैलक्षण्यं न स्यात्। द्वितीयः कल्पोऽपि समीचीनो नास्ति। कस्मात्? मिथ्यात्वज्ञानं विना न मिथ्यात्वघटितस्य पारमार्थिकत्वस्य ज्ञानं, पारमार्थिकत्वज्ञानं विना पारमार्थिकत्वघटितमिथ्यात्वस्य न ज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात्। पारमार्थिकत्वस्य पारमार्थिकत्वेन निषेधेऽनवस्था स्यादिति चेत्, मैवम्। स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये चाङ्गीकारात्। शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरमधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे 'रूप्यं नास्ति, नासीन्न भविष्यति' इति स्वरूपेणैव निषेधप्रतियोगित्ववत्, प्रपञ्चे 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः। भ्रमबाधयोर्वैयाधिकरण्यापत्त्यादिना लौकिकरजस्यैव भ्रमे भानमित्यङ्गीकारासम्भवात् "त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थरूप्यं प्रातिभासिकं वा पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधप्रतियोगि" इत्याचार्यवचनस्यापि स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वाऽऽपणस्थरूप्यतादात्म्यापन्न–प्रातिभासिकरूप्यनिषेधबोधन एव तात्पर्येण मतहान्यभावात्। सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य तुच्छानिर्वाच्यसाधारण्येऽपि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वतदभावरूपसत्तादात्म्याभ्यां तयोः वैषम्यसत्त्वेनात्र सत्तादात्म्यसमानाधिकरणोक्तत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वसाधनेनात्यन्ता–सत्त्वापत्त्यसम्भवाच्च। द्वितीय पक्षेऽपि न दोषः, बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यतयैव पारमार्थिकत्वनिर्वचनसम्भवेनान्योन्याश्रयानवकाशात्। अनवस्थां विनैव पारमार्थिकत्वेन पारमार्थिक

निषेधस्यापि लघुचन्द्रिकाकारोक्तरीत्योपपादनसम्भवात्। उपाधिपदेनाधिकरणस्यैव विवक्षणेना– ध्यस्ताधिष्ठानविवक्षणनिबन्धनान्योन्याश्रयोऽपि नास्ति। निर्धर्मके ब्रह्मणि पारमार्थिकत्वस्येव तदवच्छिन्नप्रतियोगित्वस्याभावोऽस्ति। अतः निर्धर्मके ब्रह्मणि न मिथ्यात्वलक्षणस्यातिव्याप्तिरिति सर्वं स्पष्टम्।।

प्रश्नः३— ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमिति लक्षणं यथाग्रन्थं समालोचनीयम्?

उत्तरम्— पञ्चपादिकाटीकाकृतां विवरणाचार्याणां प्रकाशात्मश्रीचरणानां वचनानुसारेण बाध्यमेवानिर्वाच्यत्वम्, तच्च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपं वा, तत्र पूर्वं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वमुपपाद्य ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपं मिथ्यात्वमुपपादितुमाह सिद्धान्ती-ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्। 'तरति शोकमात्मवित्' 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादिश्रुतिस्वारस्येन ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपं मिथ्यात्वं निरूपयत्याचार्यः। निवृत्तिपदस्य तु नाश एव यथाश्रुतोऽर्थः। तथा च ज्ञाननाश्यत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। नाशकं ज्ञानम्, नाश्यं मिथ्यावस्तुमात्रम्। पूर्वपक्षी शङ्कते— ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमिति लक्षणं नास्ति समीचीनम्। कस्मात्? योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिविशेषगुणनाश्यत्वेनोत्तरज्ञाननाश्ये पूर्वज्ञाने ज्ञाननाश्यत्वरूपमिथ्यात्वसत्त्वान्मिथ्यात्वलक्षणस्यातिव्याप्तिः। प्रकृतानुमाने सिद्धसाधनमिति भावः। मिथ्यात्वलक्षणस्यातिव्यप्तिमुक्त्वाऽव्याप्तिमप्यारोपयति। तस्याह—ज्ञानेन विनाऽपि मुद्गरपातादिनिवर्त्ये घटादावव्याप्तिः। अद्वैतवेदान्तिमते घटस्यापि मिथ्यात्वेन लक्ष्यत्वात्। ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमिति विवक्षायामुत्तरज्ञाननाश्ये पूर्वज्ञानेऽतिव्याप्तिवारणेऽपि मुद्गरपातादिनिवर्त्ये घटादावव्याप्तिरूपो दोषोऽस्त्येव। आरोपितशुक्तिरजतादेः तदधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वेन नाश्यत्वान्नाशकतावच्छेदकमधिष्ठानतत्वसाक्षात्कारत्वं न तु ज्ञानत्वम्। तथा च शुक्तिरजतादौ मिथ्यात्वलक्षणस्यागमनात् कुत्राऽप्यारोपिते वस्तुनि ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावाल्लक्षणस्यासम्भवः। मिथ्यात्वानुमानस्य दृष्टान्ते शुक्तिरजतादौ ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपसाध्याभावात् साध्यवैकल्यमप्यस्ति। यदि ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमुच्यते तर्हि पूर्वोक्तो दोषो न सम्भवति। तथापि ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण स्मृतित्वेन स्मृतिनाश्ये संस्कारे मिथ्यात्वलक्षणस्यातिव्याप्तिर्भवत्येव। अतः सिद्धान्तः— ज्ञाननिवर्त्यत्वं हि ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वम्। एवञ्च कार्यात्मना कारणात्मना च द्विविधाऽवस्थितित्वावच्छिन्नविरहस्य ज्ञानप्रयुक्तस्यैवात्र विवक्षणात्। अतो मुद्गरप्रहारादिना घटस्य स्वरूपेण निवृत्तावपि कारणात्मनावस्थानान्नाऽतीतघटादेरवस्थितिसामान्यविरहः। घटादेरवस्थितिसामान्यविरहस्तु घटाधिष्ठानब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारादेव भवति। अतोऽतीतघटादावपि नाव्याप्तिः। शुक्तिज्ञाने रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति प्रतीतेरानुभविकत्वेन रूप्यस्यापि मिथ्यात्वात् साध्यवैकल्याभावात्, उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य स्वात्मनाऽवस्थितिविरहस्य प्रयुक्तत्वेऽपि कारणात्मनाऽवस्थितिविरहस्य तत्राभावादर्थान्तरस्यापि नावकाशात्। अवस्थितिद्वैविध्ये विरहस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वे चाचार्याणामपि सम्मतिं दर्शयति- अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीने वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः। अत्र निवृत्तिपदमत्यन्ताभावार्थकोऽस्ति। विवरणोक्तनिवृत्ति-पदस्यात्यन्ताभावार्थकत्वे वार्तिककृतां सम्मतिमपि दर्शयतिः—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।

अतो ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वपक्षे न कोऽपि दोषः। एवं ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण निवर्तकतापक्षोऽप्यदुष्ट एव। स्मृतित्वेन स्मृतेः संस्कारनिवर्तकतायाऽनङ्गीकारात्। स्मृतौ सत्यां संस्कारो दृढो भवतीत्येवानुभवात्। तेषां दृढत्वञ्च समानविषयकसंकारानेकत्वमित्यर्थः। नैयायिकादिमते यदि स्मृतेः संस्कारनाशकत्वं प्रामाणिकं तर्ह्यनुभवत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वोक्तौ न पूर्वोक्तदोष इति ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वं स्पष्टं भवति।

प्रश्नः४— स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमिति लक्षणं समीक्ष्यताम्?

उत्तरम्— तत्त्वप्रदीपिकाकृतां चित्सुखचार्याणां वचनानुसारेण मिथ्यात्वस्य लक्षणम्- स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। अत्र स्वपदं यत्र मिथ्यात्वं स्थाप्यं तद्बोधकम्। तार्किकादिमते स्वाश्रये स्वस्यात्यन्ताभावासम्भवात् स्वाश्रयशब्दः स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमानबोध—को व्याख्येयः। तथा च स्वाश्रयत्वेन प्रतीयमाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। पटाश्रयत्वेन भ्रमात्मकप्रतीतिविशेष्ये घटादौ पटात्यन्ताभावस्य सिद्धत्वात्सिद्धसाधनम्। अतः तद्वारणाय स्वाश्रयत्वेन प्रतीतिविशेष्यताया व्यापकीभूतो योऽत्यन्ताभावः तत्प्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वमिति भावः। एवञ्च सति प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमिति द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणेन सहैतस्य पौनरूक्त्यं स्यात्, तत्रापि प्रतिपन्नपदस्य स्वप्रकारकधीविशेष्यबोधकत्वात्। अतो विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेन पौनरूक्त्यं परिहरति सिद्धान्ती। अर्थात् द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणे प्रतीतिविशेष्यत्वं विशेषणम्, चतुर्थमिथ्यात्वलक्षणे तु प्रतीतिविशेष्यत्वं विशेष्यमिति विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासः। अतः द्वितीयलक्षणतश्चतुर्थलक्षणस्य वैलक्षण्यं सिद्धं भवति। यथा प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वमिति द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणे त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनम्, व्यावहारिकत्वे तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वापत्तिरित्यादि यादि दूषणानि पूर्वपक्षिभिरुद्भावितानि तान्यत्राप्यत्यन्ताभावस्य तात्त्विकादिपक्षे योजयितुं शक्यन्ते। अर्थादत्यन्ताभावस्य तात्त्विकत्त्वेऽद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनम्, व्यावहारिकत्वे तादृशात्यन्ताभावप्रतियोगिनः, प्रपञ्चस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः स्यात्। अतः तद्दूषणनिरासो द्वितीयलक्षणोक्तदूषणपरिहारवदेव भवति। अर्थात् प्रपञ्चनिषेधाधिकरणी-भूतब्रह्माभिन्नत्वादत्यन्ताभावस्य पारमार्थिकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्। उक्तात्यन्ताभावस्या—तात्त्विकत्वेऽपि न प्रातिभासिकत्वमपितु व्यावहारिकत्वम्। उक्तात्यन्ताभावस्य व्यावहारिकत्वेऽपि निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकस्यैव तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वमिति स्वाप्ननिषेध— बाधितस्वाप्नार्थदृष्टान्तेन स्पष्टम्। प्रकृते तु तादृशं नास्ति। अतः कोऽपि दोषो नास्ति। पूर्वपक्षी शङ्कते- घटसंयोगिनि देशे संयोगसम्बन्धेन घटात्यन्ताभावानुमाने बाधः स्यात् प्रतियोग्यभावयो— र्विरोधात्। एवं घटसमवायिनि देशे समवायेन घटात्यन्ताभावानुमानेऽपि बाधः स्यात्। घटसमवायिनि कपाले समवायेन घटस्यात्यन्ताभावसत्त्वे कपालस्य घटोपादनत्वानुपपत्तिरिति भावः। घटसमवायिनि देशे समवायेन घटात्यन्ताभावसत्त्वे तु घटात्यन्ताभाववतो घटोपादानत्वे घटात्यन्ताभाववतां तन्त्वादीनामपि घटोपादानत्वापत्तिः स्यात्। सिद्धान्ती समाधत्ते— काले कालिकसम्बन्धेन प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोः सहसम्भववत् संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्यन्तभावोऽपि सम्भवति। कस्मात्? अत्यन्ताभावस्य स्वप्रतियोगिविरोधग्राहकप्रत्यक्षादिप्रमाणापेक्षया मिथ्यात्वग्राहकागमप्रमाणस्य प्राबल्यात्। प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरसमानसत्ताकतया रजततदत्यन्ताभाववदेकस्मिन् देशेऽपि सहसम्भवाविरोधात्- अर्थात् विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधादित्यर्थः। ननु स्वात्यन्ताभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वं न मिथ्यात्वमपित्वसत्त्वमेव तदित्याशङ्क्याह- अस्मिन् लक्षणे

प्रतिपन्नोपाधिपदाभावेऽपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य विवक्षणान्नात्यन्ताासत्त्वापत्तिः। असतोऽपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' इति श्रुत्या सिद्धमिति तु न वर्णनीयम्, तत्र सदेवेदमिति श्रुत्यर्थाभाव एव बोध्यते न त्वसतः सत्त्वम्, विरोधात्। अर्थादघटो घट इति ज्ञानस्येवासतः सत्त्वप्रकारकबोधस्याहार्यत्वापत्या शाब्दबाधत्वानुपपत्तेः। अतो दोषाभावात्। अर्थात् 'सदेवेदम्' इति वाक्येनेदं पदार्थे जगत्यग्रकालसत्त्वप्रकारकोऽद्वितीयसत्प्रकारकश्च बोधो जन्यते। 'असदेवेदम्' इति वाक्येन तु तत्रैव जगति अग्रकाल सत्त्वाभावप्रकारकोऽद्वितीय सदभावप्रकारकश्च बोधो जन्यते। एवञ्च 'असदासीत्' इत्यस्य 'सत् नासीत्' इत्येव फलितोऽर्थः। तथा च कारणं विनैव जगदुत्पद्यत इत्यभिप्रायः। बौद्धमते कारणं विनैव कार्यमुत्पद्यत इत्येव स्वीकारात्। पूर्वपक्षिणामाशयस्तु स्वात्यन्ताभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वस्य मिथ्यात्वे प्रतियोगिनोऽत्यन्तासत्त्वमेव स्यान्न तु मिथ्यात्वम्। सिद्धान्ती तु स्वात्यन्ताभावाधिकरणे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात् प्रतियोगिनो नासत्त्वम्, किन्तु मिथ्यात्वमेव। असतः सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्यासम्भवात्। अतः स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वलक्षणस्य निर्दुष्टं सिद्धम्।

प्रश्नः५— सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वमितिलक्षणं सत्त्वादिविवेचनपूर्वमुपपाद्यताम्?

उत्तरम्— न्यायदीपावलीकृतामानन्दबोधभट्टारकानां सम्मतं मिथ्यात्वलक्षणम्—सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्। सद्विविक्तत्वमित्यस्य सत्तावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदोऽर्थः, विविक्तपदस्य भेदार्थकत्वात्। सद्रूपब्रह्मभिन्नतया घटादिप्रपञ्चे लक्षणसमन्वयः। पूर्वपक्षी शङ्कते- घटादिप्रपञ्चे सद्रूपब्रह्मभेदस्य सिद्धत्वेन तादृग्भेदसाधने सिद्धसाधनमेव स्यादित्याशङ्कां निराकरोति-भेदप्रतियोगितावच्छेदकं सत्त्वं प्रमाणसिद्धत्वम्, तच्च प्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वम्। ननु प्रमाणसिद्धत्वावच्छिन्न—प्रतियोगिताकभेदो घटादिप्रपञ्चे न सम्भवति, घटादिनां यथायथं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् तथा च मिथ्यात्वलक्षणस्याव्याप्तिरेव स्यादित्याशङ्क्याह सिद्धान्ती—दोषाजन्यं यज्ज्ञानं प्रमारूपं तत्करणत्वम्, तथा च दोषाजन्यं यज्ज्ञानं तत्करणं प्रमाणम्, तज्ज्ञानविषयो यः सः प्रमाणसिद्धः। स एवात्र मिथ्यात्वलक्षणे सत्पदेन विवक्षितः। एवञ्च दोषाजन्यज्ञानकरणजन्यज्ञानविषयभिन्नत्वं मिथ्यात्वमिति फलितम्। भ्रमज्ञानस्य दोषजन्यत्वेन प्रपञ्चज्ञानस्याप्यविद्यादोषजन्यत्वं कल्प्यते। तस्माद् दोषाजन्यज्ञानकरणजन्यज्ञानविषयभिन्नत्वेन स्वप्नदृष्टगजादिवद् जाग्रत्दृष्टघटादिप्रपञ्चस्यापि मिथ्यात्वं तादृशज्ञानविषयभिन्नत्वरूपं सिध्यति। प्रमाणसिद्धत्वञ्चाबाध्यत्वव्याप्यमन्यदेतत्। अद्वैतसिद्धान्तेऽसतां शशविषाणादीनां ज्ञानविषयत्वेन शशविषाणादावेतल्लक्षणस्यातिव्याप्तिः। एवं शुद्धं ब्रह्म न वृत्तिविषय इति भामतीकारमते दोषाजन्यज्ञानकरणजन्यज्ञानविषयभेदस्य शुद्धे ब्रह्मणि सम्भवाद् मिथ्यात्वलक्षणस्यातिव्याप्तिरित्याह—ब्रह्मणि शशशृङ्गादौ चातिव्याप्तिवारणाय सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं विशेष्यते। सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति दोषाजन्यज्ञानकरणजन्यज्ञानविषयभिन्नत्वं मिथ्यात्वमिति फलितम्। असद्ब्रह्मणोः सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति भावः। अतः पूर्वपक्षिभिर्यद् दूषणजातमुक्तं सद्विविक्तत्वमित्यत्र किं सत्पदेन सत्ताजातिमद्विवक्षितम्? उता- बाध्यत्वम्? उत ब्रह्मरूपत्वम्? आद्य आविद्यकसत्ताजातिमति सत्तावच्छिन्नप्रतियोगिता—कभेदस्याभावेन लक्षणस्यासम्भवो ब्रह्मण्यतिव्याप्तिश्च। द्वितीये विकल्पे दोषमाह-यद्यबाध्यत्वमेव सत्त्वं तर्ह्यबाध्यभिन्नं मिथ्येत्यायातम्। अबाध्यभिन्नञ्च बाध्यम्। तथा च बाध्यत्वमेव मिथ्यात्वमिति फलितम्। एवञ्चास्मिन् लक्षणे बाध्यत्वेतरांशवैयर्थ्यम्। तृतीये तु यदि ब्रह्मरूपत्वं सत्त्वं तर्हि ब्रह्मभिन्नत्वमेव मिथ्यात्वमित्यायातम्। ब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रपञ्चस्य उभयमतसिद्धत्वात् सिद्धसाधनम्, सद्रूपत्वाभावविवक्षणे च निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्त्वरूपधर्मरहिते सद्रूपत्वस्याभावादतिव्याप्तिः।

सिद्धान्ती समाधत्ते—उक्तविकल्पत्रयमपि नास्माभिरङ्गीकृतमिति नोक्तदूषणानामत्रावकाशः। ननु सत्त्वेन प्रतीयमानत्वे सति सद्भिन्नत्वस्य मिथ्यात्वे प्रकृतमिथ्यात्वानुमाने अंशतः सिद्धसाधनम्। घटादि प्रपञ्चे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य साध्यविशेषणांशस्य सिद्धत्वादित्याशङ्कां निराकरोति सिद्धान्ती सदसद्विलक्षणत्वपक्षोक्तयुक्तयश्चात्रानुसन्धेयाः। अर्थात् गुणादि ग्रन्थे हि 'गुणादिकं गुण्यादिनाभिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वादिति भेदाभेदवादिप्रयोगे तार्किकाद्यङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावप्युद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेः यथा न सिद्धसाधनं तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतिरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनम्। अतः सद्विविक्तत्वस्य मिथ्यात्वलक्षणस्य सिद्धिर्भवति।

प्रश्नः६— मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिः। तस्य सत्यत्वे चाद्वैतव्याघात इत्याक्षेपं यथाग्रन्थं समाधाय तस्य मिथ्यात्वमुपपादनीयम्?

उत्तरम्— मिथ्यात्वं किं मिथ्या? उत सत्यम्? आद्ये सिद्धसाधनम्, जगन्मिथ्यात्वस्य बाध्यतायाः द्वैतवादिभिरप्यङ्गीकारात्, श्रुतेरतत्त्वावेदकत्त्वं चापद्येत। एकस्मिन्धर्मिणि प्रसक्तयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः मिथ्यात्वमिथ्यात्वे सत्यत्वसत्यत्वस्य नियमेन दृष्टत्वात्। तथा च जगत्सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वादात्मवत्। न चात्मत्वमुपाधिः, उपाधिव्यतिरेकेण साध्याभावसाधने सत्यत्वानुमान इव व्याघातरूपानुकूल तर्कस्याभावेनोपाधेरप्रयोजकत्वात्, न द्वितीयः, मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे दृश्यत्वहेतोरत्रैव मिथ्यात्वव्यभिचारित्वात्। अर्थात् दृश्यत्वादिहेतोः मिथ्यात्वासाधकत्वादिति भावः। प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वानुमानेनाद्वैतव्याघातः। एवं मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे सदन्तरस्वीकारेणाप्यद्वैतव्याघात इति पूर्वपक्षिणामाशयः। मिथ्यात्वस्य सत्यत्वपक्षन्त्व—नभ्युपगममात्रेणैव निरस्य मिथ्यात्वपक्षे प्रदर्शितदोषाणां निरसनाय सिद्धान्त्याह- प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य बाध्यत्वेऽपि प्रपञ्चसत्यत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। अर्थात् मिथ्यात्वमिथ्यात्वपक्षे न दोषः। मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्य द्वैतवादिभिरङ्गीकारेऽस्मन्मतप्रवेशापत्तेः। मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वाभावा- ज्जगत्सत्यत्वस्याप्यसम्भवाच्च। न हि परस्परविरुद्धयोरेकत्र प्रसक्तधर्मयोरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वमिति नियमः सम्भवदुक्तिकः। एकत्र गजे प्रसक्तयोर्गोत्वाश्वत्व—योरेकमिथ्यात्वेऽपरसत्यत्वाभावेन व्यभिचारात्। एतेन जगत् सत्यं मिथ्यात्वभूत—मिथ्यात्वकत्वादित्यनुमानमप्यप्रयोजकमिति सूचितं भवति। तत्रैव धर्मिणि प्रसक्तयोर्विरुद्धयार्धर्मयोर्मध्य एकस्य मिथ्यात्वेऽपरस्य धर्मस्य तत्रैव सत्यत्वं यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकं (दृश्यत्वादि) एकधर्मिप्रसक्तविरुद्धधर्मद्वयवृत्ति न स्यात्। यथा शुक्तिकारूपे धर्मिणि प्रसक्तयोः परस्परविरहरूपयो रजतत्वरजतत्वात्यन्ताभावयोर्धर्मयोर्मध्य एकस्य धर्मस्य निषेधेऽपरधर्मस्य सत्वमायाति। तस्य कस्य हेतोः? निषेध्यतावच्छेदकभेदात्। रजतत्वस्य निषेधे निषेध्यतावच्छेदकध र्मो रजतत्वत्वं रजताभावस्य निषेधे निषेध्यतावच्छेदकधर्मो रजतत्वाभावत्वम्। रजतत्वरजतत्वाभावत्वयोर्भेदाद् निषेध्यतावच्छेदकभेदः। एवं निषेध्यता— वच्छेदकधर्मभेदेनैकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः परस्परविरहरूपयोर्धर्मयोरेकनिषेधेऽपरसत्त्वं प्रदश्र्य परस्परात्यन्ताभावव्यापकयोः धर्मयोरेकनिषेधेऽपरधर्मस्य सत्त्वं दर्शयितुमाह सिद्धान्ती-तत्रैव शुक्तिरूप्येधर्मिणि परस्परविरहव्यापकयोरत एव विरुद्धयोर्धर्मयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोरेकधर्मस्य निषेधेऽपरधर्मस्य सत्त्वमायाति निषेध्यतावच्छेदक धर्मभेदात्। प्रकृते तु सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्दृश्यत्वा—दिरूपैकनिषेध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेन मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि न मिथ्यात्वसत्यत्वम्। मिथ्यात्वसत्त्वयोः परस्परविरहरूपत्वस्य परस्परविरहव्यापकत्वस्य चाभावेनैकनिषेध्यता—वच्छेदकवच्छिन्नत्वसम्भवः। किन्तु सत्यत्वमिथ्यात्वयोः गोत्वाश्वत्वयोरिव विरुद्धमात्रं बोध्यम्। तथा च मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे न तस्य सत्यत्वम्। गोत्वाश्वत्ववत्सत्यत्वमिथ्यात्वयोः

परस्परविरहरूपत्वेऽपि विषमसत्ताकयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोरेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वेऽपि विरोधा-भावात्। तथा च प्रपञ्चमिथ्यात्वं प्रपञ्चसमसत्ताकत्वेन व्यावहारिकम्। व्यावहारिकमिथ्यात्ववति सत्यत्वं न व्यावहारिकं भवितुमर्हति तुल्यसत्ताकत्वेन विरोधात्। अपितु मिथ्यात्ववति प्रपञ्चे मिथ्यात्वविषमसत्ताकमेव सत्यत्वमङ्गीकरणीयं तच्च पारमार्थिकं प्रातिभासिकं वा। प्रकृते च पारमार्थिकं सत्यत्वं न सम्भवति। अतः काल्पनिकं सत्यत्वमवशिष्यते। व्यावहारिकमिथ्यात्ववति जगति काल्पनिकसत्यत्वेन प्रतीतिरुपपद्यते। व्यावहारिकमिथ्यात्वेन सह प्रातिभासिकसत्यत्वस्य विरोधाभावात्। व्यावहारिकमिथ्यात्ववति शुक्तिरजते काल्पनिकसत्यत्ववत्। तथा च प्रपञ्चे स्वसमानसत्ताकमिथ्यात्वसिद्धौ न सिद्धसाधनादिरिति भावः। यथा तार्किकाः समसत्ताकयोः संयोगतदत्यन्ताभावयोः समुच्चयं स्वीकुर्वन्ति। तथा वयमपि व्यावहारिकयोः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समसत्ताकयोः समुच्चयं स्वीकुर्मः एवञ्च प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोः समानसत्ताकत्वात् प्रपञ्चगतमिथ्यात्वबाधकेन ब्रह्मज्ञानेन प्रपञ्चमिथ्यात्ववत् प्रपञ्चस्य तद्गतसत्यत्वस्यापि बाधाद् नाद्वैतक्षतिरिति भावः।

प्रश्नः७— दृश्यत्वहेतुः सम्भावितदोषनिरसनमुखेन स्थिरीक्रियताम्?

उत्तरम्— जगतो मिथ्यात्वसाधनाय सिद्धान्तिना परार्थानुमानं प्रदर्शितम्—विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। मिथ्यात्वसाधकानां त्रयाणां हेतूनां मध्ये प्रथमस्य हेतोर्दृश्यत्वस्य निर्वचनाय दृश्यत्वशब्दस्य यावन्तोऽर्थाः सम्भाव्यन्ते तान् सम्भावितान्नर्थानुपादाय विकल्पयति पूर्वपक्षी। अर्थाद् मिथ्यात्वे साध्ये यद् हेतूकृतं द्रव्यत्वं तत्किम्? (१) वृत्तिव्याप्यत्वं वा? (२) फलव्याप्यत्वं वा? (३) साधारणं वा? (४) कदाचित्कथञ्चिच्चिद्विषयत्वं वा? (५) स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिर्वा? (६) अस्वप्रकाशत्वं वा? दृश्यत्वशब्दस्य व्युत्पद्यमानस्य ये येऽर्थाः सम्भवन्ति तान्नर्थान् क्रमशो दूषयति पूर्वपक्षी—वृत्तिव्याप्तमेव दृश्यत्वमित्याद्यो विकल्पोऽस्ति। वृत्तिव्याप्यत्वेन हेतुना मिथ्यात्वेऽनुमीयमान आत्मन्यस्य हेतोर्व्यभिचारः स्यात्। 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वेदान्तवाक्यजन्याया मनपरिणामरूपाया अखण्डाकाराया वृत्तेर्विषयत्वमात्मन्यपि वर्तत इति सिद्धान्तिनाऽङ्गीक्रियते। तस्य मत आत्मन एव परमार्थसत्यत्वम्। अथ च परमार्थसत्यात्मनि साध्ये मिथ्यात्वरहिते दृश्यत्वहेतोर्विद्यमानत्वाद् व्यभिचारः स्यात्। साध्याभाववद्वृत्तित्वमेव हेतोर्व्यभिचारः। यत आत्मनि वृत्तिव्याप्यत्वरूपं दृश्यत्वमस्ति, अतो वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः साधारणं दृश्यत्वरूपसामान्यमप्यात्मन्यस्ति। अतः पूर्ववदेवाऽऽत्मनि दृश्यत्व हेतोर्व्यभिचारोऽस्ति। फलव्याप्यत्वरूपं दृश्यत्वमपि न सम्भवति। फलपदेन वृत्तिप्रतिफलितस्य तदभिव्यक्तविषयाधिष्ठानस्य वा चैतन्यस्य विवक्षणीयतया नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च भागासिद्धेः। नापि कदाचित्कथञ्चिच्चिद्विषयत्वं दृश्यत्वम्। तद् व्यवहारे तद्विषयत्वस्य तन्त्रत्वेन कल्पितभेदेनापि ब्रह्मणोऽपि चिद्विषयत्वस्य 'ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातम्' इति व्यवहारोपपत्त्यर्थमङ्गीकरणीयत्वेन ब्रह्मणि व्यभिचारात्। नापि स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरिति पञ्चमो विकल्पः सम्भवति। स्वपदेन स्वरूपमात्रविवक्षणे निर्विकल्पकानङ्गीकर्तृमते घटादावसिद्धेः। आत्मनोऽपि कालादि-विशिष्टत्वेनैतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्समिति ज्ञानविषयत्वेन स्वातिरिक्तविशेषण ज्ञानानपेक्षत्वेन व्यभिचारात्। स्वांशे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षाविवक्षणे नियतिपदवैयर्थ्यान्नाप्यस्वप्रकाशत्वं दृश्यत्वम्। फलाव्याप्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपस्य तस्य विशेषणविशेष्योभयवति शुक्तिरूप्यादावसत्त्वेन शुक्तिरजतादिदृष्टान्तः साधनविकलः। एवं दृश्यत्वहेतुनिर्वचने षड्विकल्पाः पूर्वपक्षिणा प्रदर्शिताः, तेषां षण्णां विकल्पानां मध्ये केवलं फलव्याप्यत्वरूपं पक्षं विहाय सर्वोऽपि पक्षो विचारसह एव। 'यत्तदद्रेश्यम्' इति श्रुत्या वृत्तिविषयत्वनिषेधाद् वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे

न ब्रह्मणि व्यभिचारः। अर्थाद् वृत्तिविषयत्वोपहितं ब्रह्म वृत्तेर्विषयः, अनुपहितं शुद्धं ब्रह्म न वृत्तेर्विषयः। उपहितस्य वृत्तिविषयत्वेऽप्युपहितस्य मिथ्यात्वान्न हेतोर्व्यभिचारः। शुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्यविषयत्वे सति शुद्धस्य ब्रह्मणः सिद्धिर्न स्यादिति पूर्वपक्षिणा एवं न च वाच्यम्। कुतः? स्वप्रकाशत्वेन ब्रह्मणः स्वत एव सिद्धत्वात्। स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्धे ब्रह्मणि दृश्यत्वनिषेधस्य श्रुत्या बोधनसम्भवेन तदर्थं शुद्धज्ञानानपेक्षणात्। शुद्धं स्वप्रकाशमिति वाक्यजन्यवृत्तौ शुद्धस्याभासमानत्व एतस्माद् वाक्यात् शुद्धस्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्यति। अस्य वाक्यस्य वैयर्थ्यं स्यात्। वाक्यजन्यवृतौ शुद्धाप्रकाशस्येष्टापत्त्या निराकरोति सिद्धान्ती- शुद्धं स्वप्रकाशमित्यादिवाक्यजन्यवृत्तिकाले ब्रह्मणो वृत्तिरूपेण धर्मेणोपहिततया शुद्धत्वासम्भवेन शब्दजन्यवृत्तौ शुद्धाप्रकाशस्येष्टत्वात्। वृत्तिविषयत्वे ब्रह्मणः शुद्धत्वहानिः स्वप्रकाशत्वविरोधोऽपि स्यात्। अतो वाक्यस्य लक्ष्यार्थ एव ग्राह्यः। अतो वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः साधारणमिति तृतीयपक्षोऽपि समीचीन एव। कदाचित्कथञ्चिच्चिद्विषयत्वपक्षोऽप्युपपन्न एव। चिद्विषयत्वरूपं दृश्यत्वञ्च न शुद्धचिति। कुतः शुद्धचिति चिद्विषयत्वं नास्ति? इत्याह सिद्धान्ती—अभेदेन भेदे निरस्ते भेदव्याप्तः सम्बन्धोऽपि निरस्तो भवति। अतः चित्सम्बन्धित्वरूपं दृश्यत्वं शुद्धे ब्रह्मणि नास्तीति न हेतोर्व्यभिचारः। एवं स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपदृश्यत्वमपि हेतुः। ब्रह्मण आनन्दादिव्यवहारे वेदान्तजन्यवृत्त्यपेक्षणेऽपि स्फुरणेऽनपेक्षणेन नियतिपदेनोक्तव्यभिचारवारणात्। एवमस्वप्रकाशत्वरूपमपि दृश्यत्वं हेतुरेव। तच्च स्वप्रकाशत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्। अतो न ब्रह्मणि व्यभिचारः। यद्वाऽवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपमस्वप्रकाशत्वम्। अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वञ्चाज्ञाननिवर्तक— वृत्तिविषयत्वयोग्यत्वरूपमिति न ब्रह्मणिव्यभिचारः। पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिव्यभि— चारवारणार्थन्त्वज्ञानकालवृत्तित्वं विशेषणं देयं तेनैव तुच्छेऽपि न व्यभिचारः। एवं पूर्वपक्षिणामुत्पेक्षितानां दोषाणां निरासाद् दृश्यत्वहेतोर्मिथ्यात्वबोधकत्वमेवेति सिद्धं भवति।

प्रश्नः८— जडत्वहेतौ दोषान् प्रदर्श्य निराकृत्य च तान् जडत्वं परिष्क्रियताम्?

उत्तरम्— प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसाधनायाचार्येण परार्थानुमानं प्रदर्शितम्—विमतं मिथ्या, जडत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। प्रपञ्चे धर्मिणि सिषाधयिषितस्य मिथ्यात्वस्य सिद्धये मिथ्यात्वानुमापकत्वेनोपन्यस्तं यद् जडत्वं तत्प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमितौ हेतुः सम्भवति। जडत्वशब्दस्य व्युत्पद्यमानस्य ये येऽर्थाः सम्भवन्ति तेष्वर्थेषु ये च दोषाः सम्भवेयुस्तान् प्रदर्शयितुं पूर्वपक्षी पृच्छति— मिथ्यात्वे साध्ये यद् हेतूकृतं जडत्वम्, तत्किम्? (१) अज्ञातृत्वं वा? (२) अज्ञानत्वं वा? (३) अनात्मत्वं वा। नाद्यः— विमतं मिथ्याऽज्ञातृत्वात्, शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगेऽहमर्थस्यापि ज्ञातुर्मिथ्यात्वानुमाने पक्षान्तर्गतत्वात् तत्र चाज्ञातृत्वस्य हेतोरभावाद् भागासिद्धिः स्यात्। अद्वैतसिद्धान्ते शुद्धस्यात्मनोऽज्ञातृत्वेन परमार्थसत्त्वे शुद्ध आत्मन्यज्ञातृत्वस्यहेतोः सत्त्वाद् व्यभिचारश्च स्यात्। न द्वितीयः- ज्ञानभिन्नत्वमेवाज्ञानत्वम्, ज्ञानञ्च वृत्त्युपरक्तचैतन्यमेव, न केवलावृत्तिर्ज्ञानं न वा केवलं चैतन्यं ज्ञानम्। एवमज्ञानत्वस्य हेतोर्वृत्तौ सत्त्वाद् भागासिद्धिदोषपरिहारेऽपि सत्स्वरूपे चैतन्येऽज्ञानत्वस्य हेतोः सत्त्वादस्याप्यज्ञानत्वस्य हेतोर्व्यभिचार एव स्यात्। नाप्यनात्मत्वं जडत्वमिति तृतीयप्रकारः सम्भवति। कस्मात्? आत्मत्वस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्। अर्थादात्मत्वावच्छिन्न— प्रतियोगिताकभेदवत्त्वमनात्मत्वम्। भेदप्रतियोगितावच्छेदकस्यात्मत्वस्यैव निर्वचना— सम्भवेऽनात्मत्वमपि प्रतिपादयितुं न शक्यत इति भावः। भेदप्रतियोगितावच्छेदकस्यात्मत्वस्य कुतो निरूपयितुं न शक्यते? इति जिज्ञासायामाह पूर्वपक्षी—आत्मत्वं न द्रव्यत्वव्याप्यजातिविशेषः। आत्मत्वं कुतो न जातिविशेष इत्याह—अद्वैतवादिना भेदमात्रस्य प्रत्याख्यातत्वादे—

कस्यात्मत्वाभ्युपगमात्। एकव्यक्तिमात्रवृत्तिधर्मस्य जातित्वासम्भवाद् जातेरनेका–नुगतत्वावश्यम्भावात्, अत आत्मत्वं न जातिः। विशिष्टानां जीवानां नानात्वेऽपि तेषां जीवानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् तत्र चानात्मत्वस्य हेतोरसत्त्वेन भागासिद्धि स्यात्। नाप्यनात्मत्वमनानन्दत्वरूपमस्ति, आनन्दस्य आत्मरूपत्वाभावादानन्दभिन्नत्वं नानात्मत्वम्। वैषयिकानन्द आनन्दभिन्नत्वस्यानानन्दरूपत्वस्य हेतोरभावाद् भागासिद्धिः स्यात्। सिद्धान्ती समाधत्ते-अज्ञानत्वस्यानात्मत्वस्य वा जडत्वस्य विवक्षणे न कस्यापि दोषस्य प्रसङ्गः। परोक्षवृत्तावपि चित्प्रतिफलनस्यान्तःकरणाश्रितासत्त्वापादकाज्ञानावरणाभिभवार्थत्वेन स्वीकृतत्वेन जडभूताया वृत्तेर्ज्ञानरूपत्वाभावेनात्मन एव श्रुत्यनुसारेण ज्ञानरूपत्वस्याङ्गीकरणीयतया भागासिद्धि-व्यभिचारयोरप्रसङ्गात्। शुक्तौ रूप्यस्येव ज्ञाने विषयसम्बन्धस्याऽऽध्यासिकत्वेन तदीयस्यैव सविषयकत्वस्येच्छायामपि सत्त्वेन सप्रतियोगिकेऽभाव इव ज्ञानेच्छयोः सविषयकत्व–स्वभावेनार्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन च मोक्षदशायामपि तदनपायात्। अर्थाद् यथा शुक्तौ रजतसम्बन्धो न स्वाभाविको न शुक्तिसमसत्ताकः, किन्त्वाध्यासिक एव। अतो रजतसम्बन्धं परित्यज्यापि शुक्तिर्वर्तते, नहि रजतसम्बन्धाभावे शुक्तेः शुक्तित्वं हीयते। तथा मोक्षदशायामात्मस्वरूपज्ञान आध्यासिकविषयसम्बन्धाभावेऽपि तस्य ज्ञानत्वं न हीयते। अतोऽज्ञानत्वस्य हेतोर्मोक्षदशायामात्मस्वरूपज्ञानेऽसत्त्वाद् न व्यभिचारः। एतेना–नन्दापुमर्थतावादोऽपिपराहतः। आनन्दस्यैव मोक्षदशायां प्रकाशरूपत्वेन पुमर्थत्वोपपत्तेः। जातेः कदाचिद् व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तदनिरूप्यत्ववद् ज्ञानस्य कदाचित् कर्तृसापेक्षत्वेऽपि कदाचित् तन्निरपेक्षतायाः सम्भवेन मोक्षदशायां ज्ञात्रभावेऽपि ज्ञानत्वोपपत्तेः। 'अस्ति ब्रह्म'' इति श्रुतिवाक्येन ब्रह्मसत्तां प्रति ब्रह्मणः कर्तृत्वं न बोध्यते ब्रह्मसत्ताया नित्यत्वात्। अपितु पदसाधुत्वमात्रार्थं लट्लकारस्य प्रयोगः। एवमनात्मत्वं जडत्वमिति हेतुः सम्भवति। उत्पत्तिविनाशप्रत्ययस्य तारतम्याद्यनुभवस्य चोपाधिविषयत्वेन वैशयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपतया ब्रह्मणि व्यभिचाराभावात्। अनौपाधिकस्य वा ब्रह्मावृत्तिरूपस्य भेदस्य विवक्षणेनैव काल्पनिकभेदमादाय व्यभिचारवारणात्। तुच्छे पञ्चमप्रकारकाविद्यानिवृत्तौ च व्यभिचारवारणायाज्ञानकालवृत्तित्वं हेतुविशेषणं देयम्। एवमस्वप्रकाशत्वरूपमपि जडत्वं हेतुरेव। अस्मिन् पक्षेऽप्युक्तव्यभिचारवारणायाज्ञानकालवृत्तित्वं हेतुविशेषणं देयम्।

प्रश्नः९— मिथ्यात्वसाधकपरिच्छिन्नत्वहेतुः पक्षप्रतिपक्षाभ्यां सम्यक् परिष्क्रियताम्?

उत्तरम्— प्रदर्शिते मिथ्यात्वानुमाने मिथ्यात्वरूपस्य साध्यस्य सिद्धये मिथ्यात्वानुमापकत्वेनोपन्यस्तं यत् परिच्छिन्नत्वं तदपि समीचीनमेव। प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकत्वेनोपन्यस्तं परिच्छिन्नत्वं त्रिविधमस्ति। देशतः परिच्छिन्नत्वम्, कालतः परिच्छिन्नत्वम्, वस्तुतः परिच्छिन्नत्वम्। अर्थात् क्वचिद्देश एव विद्यमानत्वं देशतः परिच्छेदः। यथा ह्यारुण्यादिगुणेन क्रयसाधनगवादिकं परिच्छिन्नमिति व्यवहारः, आरुण्यादेस्तादृशगवादेस्तदन्यस्माद् व्यावर्तकत्वात् तथा तत्तद्देशो घटादेराधारविधया तदन्याधारविशेषिताद् व्यावर्तक इति घटादिस्तत्परिच्छिन्न इति व्यवह्रियते। एवमेव क्वचित्काल एव विद्यमानत्वं कालपरिच्छेदः। अर्थात् तत्तत्कालोऽपि कालान्तरावच्छिन्नादा– धारविधया घटादेर्व्यावर्तक इति स तत्परिच्छिन्नो व्यवह्रियते। एवं केनचिदेव वस्तुना तादात्म्यापन्नत्वं वस्तुपरिच्छेदः। अर्थात् किञ्चिद् वस्तुतादात्म्येन घटादेर्विशेषणं सत् तदितरवस्त्वात्मकाद् व्यावर्तकं सत् तत्परिच्छिन्नमित्युच्यते। देशतः परिच्छिन्नत्वमित्यादेरार्थिकमर्थमादायाद्वैतसिद्धिकारः आह—तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, कालतः परिच्छिन्नत्वं ध्वंसप्रतियोगित्वम्, वस्तुतः परिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वम। पूर्वपक्षी शङ्कते-समवायसम्बन्धेनात्यन्ताभाव–

प्रतियोगित्वमात्मन्यस्ति। आत्मनः कुत्राप्यसमवेतत्वात्। तथा चात्मनि देशतः परिच्छिन्नत्वस्य हेतोर्व्यभिचार एव। यथाऽऽकाशादिकं न कुत्रापि समवैत्येवमात्माऽपि। यदि संयोगसम्बन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव देशतः परिच्छिन्नत्वं तच्चात्मनि नास्ति तर्हि मिथ्याभूतेष्वाकाशादिषु तदसिद्धम्, आकाशादेर्यावन्मूर्तसंयोगित्वनियमात्। यदि सर्वासम्बन्धित्वमेवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशतः परिच्छिन्नत्वं तर्हि सर्वसम्बन्धशून्ये परमात्मन्यस्य हेतोर्व्यभिचारः स्यात्। अद्वैतसिद्धान्ते परमात्मनोऽसङ्गत्वेन सर्वासम्बन्धित्वात्। एवं ध्वंसप्रतियोगित्वरूपं कालतः परिच्छिन्नत्वमपि न मिथ्यात्वसाधकमस्ति। मिथ्यात्वेनाभिमत आकाशादौ ध्वंसप्रतियोगित्वस्य हेतोरभावात्। कुतः? वैशेषिकादिभिराकाशादीनां नित्यत्वाभ्युपगमात्। एवमेवान्योन्याभावप्रतियोगित्वरूपं वस्तुतः परिच्छिन्नत्वमपि हेतुर्न सम्भवति। कुतः? परमार्थभूतस्यात्मनो जडनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वात्। यदि जडेष्वात्मप्रतियोगिको भेदो नाङ्गीक्रियते तर्ह्यात्मनोऽपि जडत्वमापद्येत। अत आत्मन्यस्य हेतोर्व्यभिचारोऽस्ति। सिद्धान्ती समाधत्ते— अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशतः परिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावप्रतियोगित्वञ्च वस्तुतः परिच्छिन्नत्वं हेतुर्यदस्माभिरुक्तम्, तत्र हेतुघटकात्यन्ताभावेऽन्योन्याभावे च प्रतियोगिसमसत्ताकत्वं विशेषणं देयम्। तेनात्मनि व्यभिचारपरिहारात्। अज्ञानात्यन्ताभाव आकाशाद्यत्यन्ताभावे च प्रतियोगिसमानसत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वसत्त्वाद् नास्य हेतोरसिद्धिः। यच्च पूर्वक्षिणोक्तं- ध्वंस—प्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धं तत्समाधानायाह सिद्धान्ती— आकाशादीनां नित्यत्वासिद्धेः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इति श्रुत्याऽऽकाशस्य जन्यत्वावगमात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यत्राकाशस्य नित्यत्वमप्याभूतसम्प्लवावस्थायित्वेन सृष्टिकालाविनाशित्वेनोपपद्यते। सर्वथा नित्यत्वाभ्युपगम एकमेवाद्वितीयमित्यादि श्रुतिविरोधः स्यात्। 'अतोऽन्यदार्तम्' इति श्रुत्याऽऽकाशाद्यनात्ममात्रस्य विनाशित्वप्रतिपादनात्। अत आकाशस्य वास्तवं नित्यत्वं न सम्भवतीत्यर्थः। अत एव घटादयः स्वानुगततत्प्रतिभासे वस्तुनि कल्पिता विभक्तत्वादित्यानन्दबोधोक्तमनुमानमपि समीचीनमेव। विभक्तपदेन त्रिविधपरिच्छेदविवक्षेणेऽपि दोषाभावात्। एवञ्च विवादाध्यासितं सद्रूपे कल्पितं प्रत्येकं तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वादिति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तानुमानेऽपि न दोषः। खण्डो गौरित्यादि प्रत्यये यथागोत्वसामान्यमनुगततया भासते, पर्यालोच्यमाने सद्रूपं ब्रह्मैव गोत्वसामान्यरूपेणानुगततया भासते। अतः सद्रूपे ब्रह्मणि खण्डमुण्डादिव्यक्तीनां कल्पितत्वान्न व्यभिचारः। 'खण्डः सन्, मुण्डः सन्' इत्यादि प्रतीतिवत् 'खण्डो गौर्मुण्डो गौः' इत्यादिप्रतीतावपि सत्सामान्यरूपगोत्वस्यैवानुगततया प्रतिभासनात्। लघुचन्द्रिकायामुक्तं— 'मन्मते घटत्वादिजातिः सद्रूपब्रह्मैव'। सदात्मना ब्रह्मणो घटाद्यवच्छिन्नशक्त्यज्ञानेनाऽऽवृतत्वेन चक्षुरादिजन्यवृत्त्या तादृशावरणभङ्गे सर्वेन्द्रियग्राह्यस्य रूपादिहीनस्यापि ब्रह्मणः सत्तायाः परमते कालस्य च मीमांसकमत इव चाक्षुषत्वोपपत्त्या स्वरूपासिद्धेरभावात्। स्वभावतो योग्यस्य केनचिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्यावच्छेदकादिना योग्यतासम्पादनेऽपि स्वभावतोऽयोग्येऽपि तदसम्पादनेन गगनचाक्षुषत्वासम्भवाद् नानुपत्तिः। अतः सर्वोऽपि समीचीन ऐवति।

प्रश्नः१०— अपच्छेदन्यायेनागमप्राबल्यं व्युत्पाद्यताम्?

उत्तरम्— प्रत्यक्षागमयोर्विरोधेऽपच्छेदन्यायेन प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यमागमस्य प्राबल्यमस्ति। ब्रह्मसिद्धौ श्रीमण्डनमिश्रेणोक्तम्— पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य परेणागमेनापच्छेदन्यायेन बाधः। श्रीमण्डनोक्तमनुस्मृत्य श्रीवाचस्पतिमिश्रेणापि भामत्यामपच्छेदन्यायेनागमस्य प्रत्यक्षबाधकत्वमुक्तम्। तथा च पारमार्षसूत्रम्- 'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' (जै. सू. ६/५/५४) अर्थात् परस्परनिरपेक्षयोर—

पच्छेदनिमित्तकविरुद्धप्रायश्चित्कर्तव्यताग्राहकप्रमाणयोः पूर्वापरीभूतत्वेनोत्पत्तौ पूर्वोत्पन्नप्रमाणस्य दौर्बल्यं पश्चादुत्पन्नप्रमाणेन बाध्यते। यथा हि प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकाः कुशाः प्रथममतिदेशेन विकृतावुपकाराकांक्षिण्यां प्राप्ताः कल्प्योपकारकतया चरमभाविभिरपि शरैर्निरपेक्षैर्बाध्यन्ते। ज्योतिष्टोमे बहिष्पवमानार्थमन्योन्यं सम्बध्य यज्ञशालातां बहिर्विनिर्गच्छतां ऋत्विजां गमनं श्रूयते— अध्वर्युं विनिष्क्रान्तं प्रस्तोता सन्तनुयात् तं प्रतिहर्ता तमुद्गाता तं ब्रह्म तं यजमान इत्यध्वर्यादि कच्छं धृत्वा प्रस्तोतादीनां गमनमुक्तम्। सन्तनुयदिति—कच्छं धृत्वाऽनुगच्छेदित्यर्थः। तत्र विच्छेदे प्रायश्चितं श्रूयते- 'यदि प्रस्तोताऽपच्छिन्द्याद् ब्रह्मणे वरं दद्यात्, यदि प्रतिहर्ता सर्ववेदसं दद्याद् यद्युद्गताऽदक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद् दद्याद् यत्पूर्वस्मिन् स्यात्'। तत्र क्रमेण प्रतिहर्त्रुद्गात्रोरपच्छेदे किं पूर्वनिमित्तकं सर्वस्वदक्षिणारूपं प्रायश्चितं कार्यमुतोत्तरनिमित्तकोऽदक्षिणको यागः कार्य इति संशये पूर्वस्यासञ्जातविरोधित्वेन प्रबलत्वात् प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकं सर्वस्वदक्षिणारूपं प्रायश्चितं कार्यमिति पूर्वपक्षे 'नानुपमृद्य पूर्वं तद्विरोध्युत्तरमुत्पत्तुमर्हति' इतिन्यायेन पूर्वोपमर्देन परप्राबल्यस्यैव न्याय्यत्वादुद्गात्रपच्छेदनिमित्त—कोऽदक्षिणको याग एव कार्य इति परेण पूर्वस्य बाध इति सिद्धान्तः। तद्वत्प्रकृतेऽप्युत्तरभा—विनाऽद्वैतागमेन पूर्वस्य द्वैतसत्यत्वग्राहिप्रत्यक्षस्य बाध इत्यद्वैतवादिनां सिद्धान्तः। एतन्न्यायवैषम्यं दर्शयिष्यन् पूर्वपक्ष्याह—परभाव्युद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन पूर्वभाविप्रतिहर्त्र—पच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य सावकाशस्यैव बाधः, न निरवकाशस्य। निरवकाशस्य बाधे तद्बोधकशास्त्रस्यात्यन्तमप्रामाण्यं स्यात्। प्रकृते त्वागमेन निरवकाशप्रत्यक्ष- बाधा—सम्भवात्। किञ्च सर्वस्वदक्षिणयागस्य सावकाशस्यापि न बाधः, किन्तु प्रयोगान्तरे निक्षेपः। तथा चागमेन प्रत्यक्षबाधे नायं न्यायः सम्भवति। तथा चापच्छेदस्थले बाध्यबाधकभावाभावात् तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षस्य श्रुतिबाध्योक्तिरयुक्तेतिभावः। अपि च क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः सम्भवेन क्रमिकनिमित्तकापच्छेदद्वयेनैकप्रयोगासम्भवेऽपि क्रमिकप्रयोगद्वये नास्ति विरोधः। यथैकस्मिन् बदरीफले क्रमिकनिमित्तवतो श्यामरक्तरूपयोः क्रमिकयोः न विरोधः। अत एव हि तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेप इति टुप्टीकादिवचनं सङ्गच्छते। सिद्धान्ती समाधत्ते— प्रतिहर्त्रुद्गात्रपच्छेदयोः कुत्रचित् प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य साकाशत्ववदेकप्रयोग एव विरोधवच्च प्रत्यक्षागमयोरपि प्रत्यक्षस्य व्यावहारिकप्रामाण्ये सावकाशत्वस्य तात्त्विकत्वांशे विरोधस्य च तुल्यत्वाद् नापच्छेदन्यायवैषम्यम्। एतदभिप्रायेणैवानन्दबोधाचायैरप्युक्तम्- तत्परत्वात् परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्। पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्याप्तवाक्यवत्।। प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति तत्परत्वस्य सिद्धत्वात्। ' न क्त्वा सेट्' इति सूत्रस्य पाठतः परत्वेऽप्यर्थतः पूर्वत्वेन 'मृडमृदगुधकुष...' एतद्बाधकत्वेऽपि व्यभिचाराभावादिति युक्तमेवापच्छेदन्यायेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधनम्।

प्रश्नः११— विमतं प्रातिभासिकं दृश्यत्वात्, ब्रह्म मिथ्या व्यवहारविषयत्वादित्याद्याभाससाम्यं निरस्यताम्?

उत्तरम्— व्यावहारिकप्रपञ्चः प्रातिभासिकः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवदित्येकमनुमानम्। अननानुमानेन व्यावहारिकत्वेन प्रसिद्धस्यापि घटादेः सिद्धान्त्यनभिमतं प्रातिभासिकत्वमेव साध्यते। शुक्तिरजतदृष्टान्ते प्रातिभासिकत्वमपि वर्तते, दृश्यत्वहेतुरपि वर्तते। अतः प्रातिभासिकत्वस्य दृश्यत्वव्यापकत्वम्। अतो दृश्यत्वहेतुना व्यावहारिकप्रपञ्चस्यापि प्रातिभासिकत्वमनुमीयते। एवं ब्रह्म मिथ्या व्यवहारविषयत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। प्रातिभासिके शुक्तिरजतदृष्टान्ते ज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वमस्ति मिथ्यात्वमप्यस्ति। तस्माद् मिथ्यात्वव्याप्येन व्यवहारविषयत्वेन

ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वमनुमीयते। अथवा ब्रह्म मिथ्याऽसद्विलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। प्रातिभासिके शुक्तिरजतदृष्टान्तेऽसद्वैलक्षण्यमस्ति, मिथ्यात्वरूपञ्च साध्यमप्यस्ति। तस्माद् मिथ्यात्वव्याप्येनासद्विलक्षणत्वेन हेतुना ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वमनुमीयते। एवमेव दृश्यत्वादिहेतुकं जगन्मिथ्यात्वानुमानमपि प्रदर्शिताभासानुमानतुल्ययोगक्षेममिति भावः। सिद्धान्ती समाधत्ते—प्रपञ्चस्या – व्यावहारिकत्वे सति व्यवहारानुपपत्तिः। अर्थात् प्रपञ्चस्य व्यावहारिकसत्त्वं नाम- अज्ञातसत्त्वम्। प्रपञ्चस्याज्ञातसत्त्वमस्ति— इतिकृत्वैव चक्षुरादिप्रमाणानां प्रामाण्यनिर्वाहः। अनधिगतार्थविषयकज्ञानकरणं प्रमाणम्। प्रपञ्चस्य प्रातिभासिकत्वे तस्याज्ञातसत्ताभावेन तद्ग्राहकप्रमाणानां प्रामाण्यमेव भज्येत। ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्च। अतः प्रदर्शितप्रतिकूलतर्कपराघातेनाभासानुमानानां साध्यासाधकत्वात्। प्रकृते च दृश्यत्वादिहेतुकप्रपञ्चमिथ्यात्वानुमाने पूर्वपक्षिणोत्प्रेक्षिता ये प्रतिकूलतर्कास्तेषां निरसिष्यमाणत्वाद् न सिद्धान्त्यभिमतानुमाने प्रतिकूलतर्कपराघातः। अत एवाभासानुमानात् सिद्धान्त्यभिमतदृश्यत्वादिलिङ्गकप्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानस्य वैलक्षण्यादाभाससाम्यभङ्गः। किञ्चाभासप्रथमानुमाने प्रातिभासिकत्वं साध्यम्। तच्च ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वा वाच्यम्। आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः। देहात्मैक्ये दृश्यत्वहेतुरस्ति, किन्तु ब्रह्मज्ञानेतर-बाध्यत्वरूपं साध्यं नास्ति। द्वितीये साध्ये दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम्। अर्थात् विमतं प्रतिभासमात्रशरीरम् दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवदस्मिन्ननुमाने दृष्टिसृष्टिमतेन घटादिप्रपञ्चस्य प्रतिभासमात्रशरीरत्वाभ्युपगमाद् दृश्यत्वने हेतुना तस्यैव साधनेन सिद्धसाधनमेव। एवं मिथ्या-व्यवहारविषयत्वादित्यनुमाने सोपाधिके ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सिद्धसाधनमेव। निरुपाधिके ब्रह्मणि भामतीमते व्यवहारविषयत्वरूपो हेतुरसिद्धः। विवरणाचार्यमते निरूपाधिकस्यापि ब्रह्मणो वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽपि हेतोर्विपक्षवृत्तित्वबाधकतर्काभावाद् हेतुरप्रयोजक एव। एवं ब्रह्म मिथ्याऽसद्विलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवदित्याभासानुमानम्। तत्रासद्विलक्षणत्वस्य हेतोरसिद्धिरेव। कस्मात्? क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमसत्त्वम्। तद्विलक्षणत्वञ्च क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपम्, तच्च शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव। तस्मान्न दृश्यत्वादीनामाभाससाम्यमिति सिद्धम्।

प्रश्नः१— **अद्वैतसिद्धिकारः कः?**

उत्तरम्— आचार्यप्रवरश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती।

प्रश्नः२— **अद्वैतसिद्धिकारस्य परमगुरुः कः?**

उत्तरम्— आचार्यप्रवरश्रीस्वामिरामसरस्वती।

प्रश्नः३— **अद्वैतसिद्धिकारस्य दीक्षागुरुः कः?**

उत्तरम्— आचार्यप्रवरश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वती।

प्रश्नः४— **अद्वैतसिद्धिकारस्य विद्यागुरुः कः?**

उत्तरम्— आचार्यप्रवरश्रीस्वामिमाधवसरस्वती।

प्रश्नः५— **कथा कतिविधा?**

उत्तरम्— कथा त्रिविधा। वादरूपा—जल्परूपा—वितण्डारूपा च।

प्रश्नः६— **वादकथा का?**

उत्तरम्— तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा वादकथा। सा च तत्त्वनिर्णयावसाना।

प्रश्नः७— **जल्पकथा का?**
उत्तरम्— विजिगीषुणा सह कथा जल्पकथा। सा च विजयावसाना।
प्रश्नः८— **वितण्डाकथा का?**
उत्तरम्— स्वपक्षस्थापनाहीना कथा वितण्डाकथा। परपक्षखण्डनमात्रपर्यवसाना।
प्रश्नः९— **प्राचीनमते पक्षत्वं किम्?**
उत्तरम्— सन्दिग्धसाध्यधर्मवत्त्वं पक्षत्वम्।
प्रश्नः१०— **नव्यमते पक्षत्वं किम्?**
उत्तरम्— सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपत्वं पक्षत्वम्।
प्रश्नः११— **अद्वैतमते विप्रतिपत्तिवाक्यजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वमस्ति न वा?**
उत्तरम्— अस्त्येव।
प्रश्नः१२— **प्रपञ्चमिथ्यात्वे विप्रतिपत्तेः स्वरूपं किम्?**
उत्तरम्— ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि न वा? पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि न वा? प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः— वियन्मिथ्या न वा? पृथिवी मिथ्या न वा?
प्रश्नः१३— **प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्राचां प्रयोगाः के?**
उत्तरम्— विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।
प्रश्नः१४— **लक्षणस्य लक्षणं किम्?**
उत्तरम्— अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भदोषत्रयशून्यत्वे सत्यन्यूनानतिप्रसक्तधर्मवत्त्वम्।
प्रश्नः१५— **प्रथममिथ्यात्वलक्षणं किम्?**
उत्तरम्— सदसत्त्वानधिकरणत्वम्।
प्रश्नः१६— **द्वितीयमिथ्यात्वलक्षणं किम्?**
उत्तरम्— प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्।
प्रश्नः१७— **तृतीयमिथ्यात्वलक्षणं किम्?**
उत्तरम्— ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।
प्रश्नः१८— **चतुर्थमिथ्यात्वलक्षणं किम्?**
उत्तरम्— स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।
प्रश्नः१९— **पञ्चममिथ्यात्वलक्षणं किम्?**
उत्तरम्— सद्विविक्तत्वम् (सद्भिन्नत्वम्)।
प्रश्नः२०— **अद्वैतमते मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापत्तिर्भवति न वा?**
उत्तरम्— न भवत्येव।
प्रश्नः२१— **अद्वैतमते दृश्यत्वं किम्?**
उत्तरम्— वृत्तिव्याप्यत्वं वा, कदचित्कथञ्चिच्चिद्विषयत्वं वा, स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा—नियतिर्वा, अस्वप्रकाशत्वं वा दृश्यत्वम्।
प्रश्नः२२— **अद्वैतमते जडत्वं किम्?**

उत्तरम्— अज्ञातृत्वं वा, अनात्मत्वं वा, अस्वप्रकाशत्वं वा जडत्वम्।

प्रश्नः२३— देशतः परिच्छिन्नत्वं किम्?

उत्तरम्— अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशतः परिच्छिन्नत्वम्।

प्रश्नः२४— कालतः परिच्छिन्नत्वं किम्?

उत्तरम्— ध्वसंप्रतियोगित्वं कालतः परिच्छिन्नत्वम्।

प्रश्नः२५— वस्तुतः परिच्छिन्नत्वं किम्?

उत्तरम्— अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुतः परिच्छिन्नत्वम्।

प्रश्नः२६— अद्वैतमते 'सन् घटः' इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया दृश्यत्वादयो हेतवः सन्ति न वा?

उत्तरम्— न सन्त्येव।

प्रश्नः२७— असत्त्वस्य लक्षणं किम्?

उत्तरम्— क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम्।

प्रश्नः२८— अद्वैतमते सत्ता कतिविधा?

उत्तरम्— त्रिविधा। पारमार्थिकसत्ता, व्यावहारिकसत्ता, प्रातिभासिकसत्ता च।

प्रश्नः२९— प्रातिभासिकस्य लक्षणं किम्?

उत्तरम्— ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम्।

प्रश्नः३०— व्यावहारिकस्य लक्षणं किम्?

उत्तरम्— ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वम्।

प्रश्नः३१— सत्त्वस्य लक्षणं किम्?

उत्तरम्— त्रिकालाबाध्यत्वम्।

प्रश्नः३२— लक्षणं कतिविधम्?

उत्तरम्— लक्षणं द्विविधम्। स्वरूपलक्षणं, तटस्थलक्षणञ्च।

प्रश्नः३३— ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं किम्?

उत्तरम्— सच्चिदानन्दात्मकत्वम्।

प्रश्नः३४— ब्रह्मणः तटस्थलक्षणं किम्?

उत्तरम्— जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वम्।

प्रश्नः३५— ब्रह्मज्ञानं किम्?

उत्तरम्— तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यवृत्तिप्रतिफलितज्ञानम्।

प्रश्नः३६— अखण्डपदत्वं किम्?

उत्तरम्— अखण्डार्थविषयकशक्तिनिरूपकत्वम्।

प्रश्नः३७— अखण्डार्थत्वं किम्?

उत्तरम्— सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यार्थत्वं वा, अपर्यायानेकशब्दप्रकाश्यत्वे सत्यविशिष्टत्वं वाऽखण्डार्थत्वम्।

प्रश्नः३८— अखण्डार्थबोधकवाक्यत्वं किम्?

उत्तरम्— संसर्गानवगाहियथार्थज्ञानजनकत्वं वा, प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं वाऽखण्डार्थबोधक—

वाक्यत्वम्।

प्रश्नः३९— लक्षणा का?

उत्तरम्— शक्यसम्बन्धो लक्षणा।

प्रश्नः४०— लक्षणा कतिविधा?

उत्तरम्— लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति।

प्रश्नः४१— जहल्लक्षणा का?

उत्तरम्— शक्यसम्बन्धिमात्रविषया वृत्तिः जहल्लक्षणा।

प्रश्नः४२— अजहल्लक्षणा का?

उत्तरम्— शक्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्ध्यर्थान्तरे वृत्तिरजहल्लक्षणा।

प्रश्नः४३— जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) का?

उत्तरम्— शक्यैकदेशपरित्यागेनैकदेशेवृत्तिर्भागत्यागलक्षणा।

प्रश्नः४४— स्वप्रकाशत्वं किम्?

उत्तरम्— अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्।

प्रश्नः४५— अज्ञानत्वं किम्?

उत्तरम्— अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।

प्रश्नः४६— अध्यासः कः?

उत्तरम्— अधिष्ठानविषमसत्ताकावभासोऽध्यासः।

प्रश्नः४७— अनवस्था का?

उत्तरम्— अप्रामाणिकानन्तप्रवाहमूलकप्रसङ्गोऽनवस्था।

प्रश्नः४८— अनिर्वचनीयत्वं किम्?

उत्तरम्— सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन च यद्विचारं न सहते तदनिर्वचनीयत्वम्।

प्रश्नः४९— प्रमात्वं किम्?

उत्तरम्— अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्।

प्रश्नः५०— आप्तवाक्यं किम्?

उत्तरम्— भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवादिदोषशून्यार्थजनकवाक्यमाप्तवाक्यम्।

प्रश्नः५१— आहार्यज्ञानं किम्?

उत्तरम्— बाधसमानकालीनेच्छाजन्यज्ञानमाहार्यज्ञानम्।

प्रश्नः५२— तूलाविद्या का?

उत्तरम्— घटाद्यवच्छिन्नचैतन्याच्छादिकाऽविद्या तूलाविद्या।

प्रश्नः५३— मूलाज्ञानं किम्?

उत्तरम्— ब्रह्मावरकमज्ञानं मूलाज्ञानम्।

प्रश्नः५४— जीवन्मुक्तः कः?

उत्तरम्— जीवदवस्थायां हर्षशोकादिरहितत्वे सति स्वस्वरूपापरोक्षज्ञानवत्त्वम्।

प्रश्नः५५— तत्त्वज्ञानं किम्?

उत्तरम्— इदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीये चिदानन्दात्मनि मायया कल्पितत्वान्मृषैव, आत्मैवैकः परमार्थसत्यः सच्चिदानन्दाद्वयोऽहमस्मीति ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्।

प्रश्नः५६— तत्त्वदर्शी कः?

उत्तरम्— ब्रह्मवेत्ता।

प्रश्नः५७— प्रमाणं किम्?

उत्तरम्— प्रमाकरणं प्रमाणम्।

प्रश्नः५८— प्रमाणत्वं किम्?

उत्तरम्— अनधिगताबाधितविषयकज्ञानजनकत्वं प्रमाणत्वम्।

प्रश्नः५९— खण्डनखण्डखाद्यकारः कः?

उत्तरम्— आचार्यप्रवरश्रीश्रीहर्षः।

प्रश्नः६०— प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाकारः कः?

उत्तरम्— श्रीचित्सुखाचार्यः।

प्रश्नः६१— लघुचन्द्रिकाकारः कः?

उत्तरम्— आचार्यप्रवर श्रीब्रह्मानन्दसरस्वती।